श्रीमद् पद्मप्रभमलधारिदेवकृत तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका

एवं

डॉ. हुकमचन्द भारिल्लकृत आत्मप्रबोधिनी हिन्दी टीका

सहित

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचित

नियमसार

मंगलाचरण

(अडिल्ल)

पुण्य-पाप से पार अनघ यह आतमा।
और ज्ञानमय निज कारणपरमातमा॥
यह परमतत्त्व परमारथ अक्षय आतमा।
निर्विकार निर्ग्रन्थ अलौकिक आतमा॥१॥

इसी त्रिकाली ध्रुव आतम को जानना।
अज अविनाशी आतम को पहिचानना॥
और इसी में जमना-रमना धर्म है।
अन्य न कुछ बस यही धर्म का मर्म है॥२॥

इसी एक में अपनापन सम्यक्त्व है।
इसी एक का ज्ञान-ध्यान चारित्र है॥
इसको ही नित हितकारक पहिचानिये।
इसमें ही सब धर्म समाहित जानिये॥३॥

यही नियम का सार शेष संसार है।
आतमहित का एकमात्र आधार है।।
इसे जानकर इसमें अपनापन करो।
इसे छोड़कर सबसे अपनापन तजो।।४।।

इसके आराधन से सब अर्हत् बने।
सभी सिद्ध भी इसका आराधन करें।।
सभी साधुगण इसका ही साधन करें।
सभी मुमुक्षु इसका आराधन करें।।५।।

है यही एक आराध्य आतमा जानिये।
एकमात्र प्रतिपाद्य इसी को मानिये।।
यह ही सबकुछ और न कुछ आराध्य है।
एकमात्र यह निज आतम ही साध्य है।।६।।

निजकारण परमातम की कर साधना।
बने कार्यपरमातम जो भव्यातमा।।
उन्हें नमन कर उनसा बनने के लिए।
करूँ निरंतर निज आतम की साधना।।७।।

इसके अनुशीलन अर चिंतन-मनन से।
मिला अलौकिक लाभ न उसकी होड़ है।।
यह नियमसार परमागम ही बेजोड़ है।
इसकी गाथा टीका सभी अजोड़ हैं।।८।।

प्राकृत-संस्कृत नहीं जानते भव्य जो।
वे भी समझें मन में यही विकल्प है।।
नियमसार की टीका आत्मप्रबोधिनी।
भक्तिभाव से लिखने का संकल्प है।।९।।

१

जीव अधिकार

(गाथा १ से गाथा १९ तक)

(मङ्गलाचरण)

(मालिनी)

त्वयि सति परमात्मन्मादृशान्मोहमुग्धान्
कथमतनुवशत्वान्बुद्धकेशान्यजेऽहम् ।
सुगतमगधरं वा वागधीशं शिवं वा
जितभवमभिवन्दे भासुरं श्रीजिनं वा ।।१।।

परम-अध्यात्म के प्रतिपादक इस नियमसार नामक महाशास्त्र की रचना दिगंबर जिन परंपरा के सर्वश्रेष्ठ आचार्य कुंदकुंद ने स्वयं के आम्नाय (पाठ) नामक स्वाध्याय के लिए की थी; वे प्रतिदिन इसका पाठ किया करते होंगे; इस बात के संकेत उनके निम्नांकित कथन से प्राप्त होते हैंह्न

णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं ।
णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं ।।[१]

(हरिगीत)

सब दोष पूर्वापर रहित उपदेश सुन जिनदेव का।
निज भावना के निमित्त से मैंने किया इस ग्रन्थ को।।

पूर्वापर दोष रहित जिनोपदेश को जानकर मैंने निजभावना के निमित्त से इस शास्त्र की रचना की है।

उक्त छन्द में **'णियभावणाणिमित्तं'** पद इस कृति की रचना का उद्देश्य स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

इस अनुपम कृति में जहाँ एक ओर परमवीतरागी विरक्त संत की अन्तरोन्मुखी पावन भावना का तरल प्रवाह है तो दूसरी ओर अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ का उद्दाम वेग भी है। यह अपने प्रकार की अनुपम बेजोड़ कृति है और इसकी प्रतिपादन शैली अन्तरोन्मुखी भावना प्रधान है।

इस कृति की संस्कृत भाषा में लिखी गई 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीका के कर्ता **मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव** भी अन्तरोन्मुखी वृत्ति के धनी, वैराग्यरस से सराबोर भावना प्रधान सन्त थे।

वे इस नियमसार नामक परमागम को **भागवत शास्त्र** कहते हैं और इसके अध्ययन का फल शाश्वत सुख की प्राप्ति बताते हैं।[२]

---

१. नियमसार गाथा १८७ २. नियमसार गाथा १८७ की तात्पर्यवृत्ति टीका

(अनुष्टुभ्)

वाचं वाचंयमीन्द्राणां वक्त्रवारिजवाहनम् ।
वन्दे नयद्वयायत्तवाच्यसर्वस्वपद्धतिम् ।।२।।

इस ग्रंथ की तात्पर्यवृत्ति टीका आरंभ करते हुए मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव मंगलाचरण के रूप में ७ छन्द लिखते हैं; जिसमें पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो मोह में मेरे सदृश हैं मुग्ध वश में काम के।
आपके होते हुए सुगतादि को मैं क्यों नमूँ?
वागीश गिरधर शिव सुगत कुछ भी कहो या न कहो।
जितभवी जिनवरदेव जो उनके चरण में मैं नमूँ।।१।।

हे परमात्मन् ! आपके होते हुए मुझ जैसे मोह में मुग्ध कामविकार के वशीभूत बुद्ध और केशवादि को मैं कैसे पूज सकता हूँ ? जिन्होंने भव (चतुर्गतिरूप संसार परिभ्रमण) को जीता है; उन प्रकाशमान परमात्मा को चाहे श्रीजिन कहो, सुगत कहो, अगधर अर्थात् गिरिधर कहो, वागीश्वर कहो या शिव कहो; मैं तो उनकी ही वन्दना करता हूँ।

यद्यपि सुगत बुद्ध को, गिरधर श्रीकृष्ण को, वागीश्वर ब्रह्माजी या वाणी के अधिपति बृहस्पति को और शिव शंकर को कहा जाता है; तथापि यहाँ उक्त शब्दों का प्रयोग जैन मान्यतानुसार श्रीजिनेन्द्रभगवान के विशेषणों के रूप में किया गया है।

- सुगत अर्थात् मोह-राग-द्वेष का अभाव होने से शोभायमान और केवलज्ञानी होने से सम्पूर्णता को प्राप्त जिनेन्द्र भगवान।
- गिरिधर अर्थात् अनन्तवीर्य के धनी जिनेन्द्र भगवान।
- वागीश्वर अर्थात् दिव्यध्वनि के प्रकाशन में समर्थ जिनेन्द्र भगवान।
- शिव अर्थात् कल्याणस्वरूप मुक्त दशा को प्राप्त जिनेन्द्र भगवान।

इसप्रकार यहाँ उक्त शब्दों को जिनेन्द्र भगवान का विशेषण बनाकर प्रस्तुत किया गया है।

जिनेन्द्र भगवान के लिए **'जितभव'** विशेषण का प्रयोग आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय के मंगलाचरण में स्वयं किया है।

टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव यह कहना चाहते हैं कि जैनेतर दर्शनों में परमात्मा के लिए जिन-जिन शब्दों या नामों का प्रयोग किया जाता रहा है; हमें उन नामों से कोई विरोध नहीं है। **यदि उक्त नामों का प्रयोग ऊपर कहे गये अर्थों में किया जाय तो हमें उनकी**

(शालिनी)

सिद्धान्तोद्धश्रीधवं सिद्धसेनं तर्काब्जार्कं भट्टपूर्वाकलंकम् ।
शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वन्दे तद्विद्याढ्यं वीरनन्दिं व्रतीन्द्रम् ।।३।।

वन्दना करने में भी कोई हिचक नहीं है। नाम कुछ भी हो, पर उन नामों का प्रयोग वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान के अर्थ में होना चाहिए; क्योंकि हम तो वीतरागी-सर्वज्ञ परमात्मा के पुजारी हैं।

इसप्रकार मंगलाचरण के इस छन्द में उन जितभवी वीतरागी-सर्वज्ञ जिनदेव की वन्दना की गई है; जो मिथ्यादर्शन के अभाव से मोह में मुग्ध नहीं है और मिथ्याचारित्र के अभाव से काम के वश में भी नहीं हैं।।१।।

इसप्रकार वीतरागी-सर्वज्ञ जिनदेव की वन्दना करने के उपरान्त अब इस दूसरे छन्द में स्याद्वादमयी जिनवाणी की वन्दना करते हैं। छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

श्री जिनवर का मुखकमल जिसका वाहन दिव्य।
उभयनयों से वाच्य जो वह ध्वनि परम पवित्र।।२।।

मौन सेवन करनेवाले और वाणी के संयमी मुनिराजों के इन्द्र जिनवर देवों का मुखकमल जिसका वाहन है और दो नयों के आश्रय से ही सबकुछ कहने की है पद्धति जिसकी; उस स्याद्वादमयी जिनवाणी की मैं वन्दना करता हूँ।

उक्त छन्द में समागत **'वाचंयमी'** पद का अर्थ मुनि अथवा मौन सेवन करनेवाले अथवा वाणी के संयमी होता है। इस पद का प्रयोग यहाँ जिनवरदेव के विशेषण के रूप में हुआ है। तात्पर्य यह है कि **जिनवरदेव मौन सेवन करनेवाले वाणी के संयमी मुनिराजों के भी इन्द्र हैं।**

इसप्रकार इस छन्द का सीधा-सादा अर्थ यह हुआ कि मैं जिनवरदेव की स्याद्वादमयी द्विनयाश्रित वाणी को नमस्कार करता हूँ।।२।।

प्रथम छन्द में जिनदेव को नमस्कार किया गया था, दूसरे छन्द में जिनवाणी की वन्दना की गई है और अब तीसरे छन्द में गुरुओं को स्मरण किया जा रहा है।

ध्यान रहे देव को नमस्कार करते समय व्यक्ति विशेष का उल्लेख न कर सामान्य रूप से जिनवरदेव को नमस्कार किया गया है। मात्र इतना ही नहीं; 'पर नाम में क्या रखा है, गुण होना चाहिए; क्योंकि पूजनीय तो गुण हैं, नाम नहीं' ह्न यह संकेत भी दिया गया है; किन्तु **गुरुओं को नमस्कार करते समय नामोल्लेखपूर्वक नमस्कार किया है; गुरुओं के सामान्य**

(अनुष्टुभ्)

अपवर्गाय भव्यानां शुद्धये स्वात्मनः पुनः ।
वक्ष्ये नियमसारस्य वृत्तिं तात्पर्य्यसंज्ञिकाम् ।।४।।

गुणों की चर्चा तक नहीं की गई है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि टीकाकार मुनिराज अपने साक्षात् गुरु वीरनन्दि का नामोल्लेखपूर्वक स्मरण करना चाहते थे।

गुरुओं को नमस्कार करने संबंधी मंगलाचरण के तीसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(हरिगीत)

सिद्धान्तलक्ष्मी के पती श्री सिद्धसेन यतीन्द्र को।
तर्काम्बुजों के सूर्य श्री अकलंकदेव मुनीन्द्र को।।
शब्दसागर चन्द्रमा श्री पूज्यपाद यतीन्द्र को।
आढ्य इनसे करूँ वन्दन वीरनन्दि व्रतीन्द्र को।।३।।

श्रेष्ठ सिद्धान्तरूपी लक्ष्मी के पति मुनिराज सिद्धसेन, तर्करूपी कमल को प्रस्फुटित करनेवाले सूर्य भट्टाकलंकदेव, शब्दशास्त्ररूपी समुद्र को वृद्धिंगत करनेवाले चन्द्रमा पूज्यपाद देवनंदी और सिद्धान्त, तर्क और व्याकरण ह्न इन तीनों विद्याओं से समृद्ध मेरे साक्षात् गुरु श्री वीरनंदी मुनिराज की मैं वन्दना करता हूँ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि गुरुओं को स्मरण करनेवाले इस छन्द में सिद्धान्तशास्त्र के ज्ञाता आचार्य सिद्धसेन, न्यायशास्त्र के प्रतिष्ठापक आचार्य अकलंकदेव, शब्दशास्त्र (व्याकरण) के ज्ञाता आचार्य पूज्यपाद और उक्त तीनों के ज्ञाता आचार्य वीरनन्दी की वन्दना की गई है।।३।।

मंगलाचरण में देव-शास्त्र-गुरु की वंदना करने के उपरान्त अब इस चौथे छन्द में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव नियमसार नामक इस शास्त्र की टीका लिखने की प्रतिज्ञा करते हैं। छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

भव्यों का भव अन्त हो निज आतम की शुद्धि।
नियमसार की तात्पर्य वृत्ति कहूँ विशुद्ध।।४।।

भव्यजीवों की मुक्ति के लिए और अपने आत्मा की शुद्धि के लिए मैं इस नियमसार नामक शास्त्र की (संस्कृत भाषा में) तात्पर्यवृत्ति नामक टीका कहूँगा (लिखूँगा)।

इसप्रकार इस छन्द में स्वपरकल्याण के लिए इस तात्पर्यवृत्ति नामक टीका को लिखने की प्रतिज्ञा की गई है, संकल्प किया गया है।।४।।

किं च ह्न

(आर्या)

गुणधरगणधररचितं श्रुतधरसन्तानतस्तु सुव्यक्तम् ।
परमागमार्थसार्थं वक्तुममुं के वयं मन्दाः ।।५।।

अपि च ह्न

(अनुष्टुभ्)

अस्माकं मानसान्युच्चैः प्रेरितानि पुनः पुनः ।
परमागमसारस्य रुच्या मांसलयाऽधुना ।।६।।

नियमसार नामक शास्त्र की तात्पर्यवृत्ति टीका लिखने की प्रतिज्ञा करने के उपरान्त अब आगामी छन्दों में अपनी लघुता प्रगट करते हुए मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव लिखते हैं ह्न

(दोहा)

गुणधर गणधर से रचित श्रुतधर की सन्तान।
परमागम का कथन हम कैसे करें बखान।।५।।

परमागम की पुष्ट रुचि प्रेरित करे अनल्प।
इसीलिये यह लिख रहे और न कोई विकल्प।।६।।

गुणों को धारण करनेवाले गणधरों से रचित और श्रुतधरों की परम्परा से भलीभाँति व्यक्त किये गये इस परमागम के अर्थसमूह का कथन करनेवाले मन्दबुद्धि हम कौन होते हैं?

यद्यपि गणधरादि श्रुतकेवलियों द्वारा निरूपित परमागम का अर्थ करने में हम जैसे मन्दबुद्धि लोग समर्थ नहीं हैं; तथापि इस समय हमारा मन इस परमागम के सार की पुष्ट रुचि से बारम्बार प्रेरित हो रहा है। यही कारण है कि हम इस तात्पर्यवृत्ति टीका लिखने के लिए उद्यत हुए हैं।

आचार्य भगवंतों द्वारा ग्रंथों की रचनायें किसी न किसी की प्रेरणा से की जाती रही हैं। किसी रचना का बाह्य में कोई प्रेरक न भी रहा हो, तब भी परहित की भावना तो प्रेरक बनती ही रही है; किन्तु इस टीका की रचना किसी की प्रेरणा से नहीं की गई है; अपितु **नियमसार में प्रतिपादित विषयवस्तु में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव का मन ऐसा रमा कि उनसे यह टीका सहजभाव से बन गई है।**

तात्पर्य यह है कि उन्होंने यह कार्य मात्र अपने आनन्द के लिए ही किया है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि एक ओर चौथे छन्द में तो यह कहा गया है कि भव्यों की मुक्ति और अपने आत्मा की शुद्धि के लिए यह टीका लिखी जा रही है; वहीं दूसरी ओर इन

(अनुष्टुभ्)

पञ्चास्तिकायषड्द्रव्यसप्ततत्त्वनवार्थकाः ।
प्रोक्ताः सूत्रकृता पूर्वं प्रत्याख्यानादि सत्क्रियाः ।।७।।

अलमलमतिविस्तरेण । स्वस्ति साक्षादस्मै विवरणाय ।

पाँचवें-छठवें छन्दों में यह कहा जा रहा है कि नियमसार की टीका लिखनेवाले मन्दबुद्धिवाले हम कौन होते हैं ? यद्यपि यह बात हम बहुत अच्छी तरह जानते हैं; तथापि इस समय हमारा मन इस परमागम के सार की रुचि से इतना पुष्ट हो रहा है कि वह मानता ही नहीं है। इसप्रकार हम देखते हैं कि हमारी रुचि ही इस ग्रंथ की टीका करने को हमें बाध्य कर रही है।

उक्त प्रश्न का सीधा-सच्चा उत्तर यही है कि यद्यपि मैंने इस टीका का प्रणयन अपनी रुचि को पुष्ट करने के लिए किया है अथवा यह टीका मेरी परिपुष्ट आध्यात्मिक रुचि का ही परिणाम है; तथापि इससे मेरी आत्मशुद्धि के साथ-साथ भव्यों का कल्याण भी तो होगा ही।

इसप्रकार यहाँ कर्तृत्वबुद्धि का निषेध करते हुए भी इससे स्व-पर को होनेवाले लाभ का भी ज्ञान करा दिया गया है। टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि भले ही यह टीका मेरी पुष्ट रुचि का परिणाम हो, पर इससे मुझे व अन्य लोगों को लाभ तो होगा ही। तात्पर्य यह है कि यह स्व-पर हितकारी तात्पर्यवृत्ति टीका इस ग्रंथराज नियमसार की **आध्यात्मिक विषयवस्तु से पुष्ट हुई मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव की रुचि का ही परिणाम है, कार्य है।**

इसप्रकार हम देखते हैं कि उक्त छन्दों में मात्र यही कहा गया है कि गणधर और श्रुतधरों से प्रणीत इस परमागम पर टीका लिखना मेरे पद्मप्रभमलधारिदेव जैसे मंदबुद्धियों का काम नहीं है; तथापि नियमसार में प्रतिपादित अध्यात्म की परिपुष्ट रुचि ही यह कार्य करने के लिए मुझे प्रेरित कर रही है।।५-६।।

अपनी लघुता प्रकट करने के उपरान्त अब टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव इस सातवें छन्द में इस ग्रन्थ में प्रतिपादित विषयवस्तु की चर्चा करते हैं, जो इसप्रकार हैं ह्न

(दोहा)

सात तत्त्व छह द्रव्य अर नवार्थ प्रत्याख्यान।
पाँचों अस्तीकाय का किया गया व्याख्यान।।७।।

इस ग्रन्थ में प्रत्याख्यानादि सत्क्रिया का वर्णन करने के पूर्व गाथा सूत्रकर्ता आचार्यदेव द्वारा पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व और नव पदार्थों का निरूपण किया गया है।

इसप्रकार इस छन्द में नियमसार ग्रन्थ में समागत विषयवस्तु का विवरण संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया गया है। एक प्रकार से यह छन्द इस ग्रन्थ का सूचीपत्र ही है।।७।।

अथ सूत्रावतार: ह्न

णमिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसणसहावं ।
वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलीभणिदं ।।१।।

नत्वा जिनं वीरं अनन्तवरज्ञानदर्शनस्वभावम् ।
वक्ष्यामि नियमसारं केवलिश्रुतकेवलिभणितम् ।।१।।

इसप्रकार टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव मंगलाचरण, टीका करने की प्रतिज्ञा, ग्रन्थ की विषयवस्तु और अपनी स्थिति स्पष्ट करने के उपरान्त अन्त में लिखते हैं ह्न

अधिक विस्तार से बस हो, बस हो। साक्षात् यह विवरण जयवंत वर्ते। तात्पर्य यह है कि टीकाकार अब इस चर्चा से विराम लेते हैं; क्योंकि इस संबंध में अधिक बात करने से क्या लाभ है ? अब तो मूल ग्रन्थ की चर्चा का अवसर है।

आचार्य कुन्दकुन्दकृत मूल ग्रन्थ नियमसार के मंगलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य संबंधी इस प्रथम गाथा की उत्थानिका में टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव ने मात्र इतना ही कहा है ह्न

''अब गाथा सूत्र का अवतरण होता है।''

समयसार की आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने भी प्रथम गाथा की उत्थानिका में इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है।

लोक में 'अवतार' शब्द की महिमा अपार है। इस शब्द का प्रयोग लोककल्याण के लिए भगवान के अवतार के अर्थ में होता है।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव भी उक्त पद के माध्यम से यह कहना चाहते हैं कि यह नियमसार नामक शास्त्र लोककल्याणकारी महान शास्त्र है, भागवत शास्त्र है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

वर नंत दर्शनज्ञानमय जिनवीर को नमकर कहूँ।
यह नियमसार जु केवली श्रुतकेवली द्वारा कथित ।।१।।

अनंत और उत्कृष्ट है ज्ञान-दर्शन जिनका अर्थात् जिनको केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट हो गये हैं; उन भगवान महावीर को नमस्कार करके मैं केवली और श्रुतकेवली द्वारा कहा गया नियमसार कहूँगा।

इस मंगलाचरण की गाथा में वीतरागी सर्वज्ञ भगवान महावीर को नमस्कार करके नियमसार शास्त्र लिखने की प्रतिज्ञा की गई है।

अथात्र जिनं नत्वेत्यनेन शास्त्रस्यादावसाधारणं मङ्गलमभिहितम् ।

नत्वेत्यादि ह्न अनेकजन्माटवीप्रापणहेतून् समस्तमोहरागद्वेषादीन् जयतीति जिन: । वीरो विक्रान्त:, वीरयते शूरयते विक्रामति कर्मारातीन् विजयत इति वीर: ह्न श्रीवर्द्धमानसन्मतिनाथ–महतिमहावीराभिधानै: सनाथ: परमेश्वरो महादेवाधिदेव: पश्चिमतीर्थनाथ: त्रिभुवनसचराचर–द्रव्यगुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकलविमलकेवलज्ञानदर्शनाभ्यां युक्तो यस्तं प्रणम्य वक्ष्यामि कथयामीत्यर्थ: । कम् ? नियमसारम् ।

नियमशब्दस्तावत् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु वर्तते, नियमसार इत्यनेन शुद्धरत्नत्रय–स्वरूपमुक्तम् ।

किंविशिष्टम् ? केवलिश्रुतकेवलिभणितम् । केवलिन: सकलप्रत्यक्षज्ञानधरा:, श्रुत–केवलिन: सकलद्रव्यश्रुतधरास्तै: केवलिभि: श्रुतकेवलिभिश्च भणितं सकलभव्यनिकुरम्ब–हितकरं नियमसाराभिधानं परमागमं वक्ष्यामीति विशिष्टेष्टदेवतास्तवनानन्तरं सूत्रकृता पूर्वसूरिणा श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवगुरुणा प्रतिज्ञातम् । इति सर्वपदानां तात्पर्य्यमुक्तम् ।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अब यहाँ 'जिनं नत्वा' आदि गाथा के द्वारा शास्त्र की आदि में असाधारण मंगल किया गया है और टीका में नत्वा आदि पदों का तात्पर्य बताया जा रहा है ।

अनेक जन्मरूपी अटवी को प्राप्त कराने के कारणरूप मोह–राग–द्वेषादि भावों को जीतनेवाले को ही जिन कहा जाता है । विक्रान्त (पराक्रमी) को वीर कहते हैं । जो वीरता प्रगट करे, शूरता (शौर्य) प्रगट करे, पराक्रम दिखाये, कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे; वह वीर है । जो वर्द्धमान, सन्मति, अतिवीर और महावीर ह्न इन नामों से सनाथ, परमेश्वर, महादेवाधिदेव और अंतिम तीर्थंकर हैं, जो तीन लोक के चराचर द्रव्य–गुण–पर्याय से कहे जानेवाले समस्त पदार्थों को जानने–देखने में समर्थ पूर्णत: निर्मल केवलदर्शन–ज्ञान से संयुक्त हैं ह्न ऐसे वीर भगवान को नमस्कार करके नियमसार नामक ग्रन्थ की रचना करता हूँ ।

यहाँ नियम शब्द सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को सूचित करता है । इसप्रकार नियमसार ह्न ऐसा कहकर शुद्धरत्नत्रय का स्वरूप कहा है ।

मैं सकलप्रत्यक्ष ज्ञान के धारी केवली और सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत के धारी श्रुतकेवली द्वारा कथित, सभी भव्यजीवों के लिए हितकारी नियमसार नामक परमागम को कहता हूँ, लिखता हूँ ।

इसप्रकार विशिष्ट इष्टदेव के स्तवन के उपरान्त गाथा सूत्रों के रचयिता पूर्वाचार्य श्री कुन्दकुन्द गुरुदेव के द्वारा नियमसार शास्त्र लिखने की प्रतिज्ञा की गई है ।

इसप्रकार यहाँ गाथा में समागत सभी पदों का तात्पर्य कह दिया गया ।''

(मालिनी)

जयति जगति वीरः शुद्धभावास्तमारः
त्रिभुवनपूज्यः पूर्णबोधैकराज्यः ।
नतदिविजसमाजः प्रास्तजन्मद्रुबीजः
समवसृतिनिवासः केवलश्रीनिवासः ।।८।।

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।
मग्गो मोक्खउवाओ तस्स फलं होइ णिव्वाणं ।।२ ।।

इसप्रकार इस मंगलाचरण और प्रतिज्ञा संबंधी गाथा में आचार्यदेव ने वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान महावीर को नमस्कार करके, केवली और श्रुतकेवलियों द्वारा कथित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का प्रतिपादक नियमसार नामक शास्त्र लिखने की प्रतिज्ञा की है ।।१।।

इस गाथा की टीका के उपरान्त टीकाकार एक कलश काव्य लिखते हैं, जिसमें गाथा के समान ही भगवान महावीर की स्तुति की गई है। कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

शुद्धभाव से नाश किया है कामभाव का।
तीन लोक में पूज्य देवगण जिनको नमते ।।
ज्ञान राज्य के राजा नाशक कर्मबीज के।
समवशरण के वासी जग में वीर जिनेश्वर ।।८।।

जिन्होंने अपने शुद्धभावों से कामविकार का अभाव किया है, तीन लोक के लोगों द्वारा जो पूज्य है, ज्ञान ही जिनका राज्य है, देवों का समाज जिन्हें नमस्कार करता है, जन्मरूपी वृक्ष का बीज जिन्होंने नष्ट कर दिया है, समवशरण में जिनका निवास है और जिनमें केवलदर्शन-ज्ञानरूपी लक्ष्मी का निवास है; वे वीर भगवान जगत में जयवंत वर्तें।

जिन वीर भगवान को मंगलाचरण संबंधी मूल गाथा में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने नमस्कार किया है; उसी गाथा की टीका लिखने के उपरान्त टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कलश के माध्यम से उन्हीं वीर भगवान का जय-जयकार कर रहे हैं। कह रहे हैं कि **जगत में वे वीर भगवान जयवंत वर्तें; जिन्होंने अपने शुद्धभावों से कामविकार को जीत लिया है, जो सर्वदर्शी-सर्वज्ञ भगवान समवशरण में विराजमान हैं और तीन लोक के द्वारा पूजे जाते हैं ।।८।।**

मंगलाचरण के तत्काल बाद इस दूसरी गाथा में ही आचार्यदेव मोक्ष और मोक्षमार्ग की चर्चा आरंभ कर देते हैं।

मार्गो मार्गफलमिति च द्विविधं जिनशासने समाख्यातम्।
मार्गो मोक्षोपायः तस्य फलं भवति निर्वाणम्।।२।।

मोक्षमार्गतत्फलस्वरूपनिरूपणोपन्यासोऽयम्। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इति वचनात्, मार्गस्तावच्छुद्धरत्नत्रयं, मार्गफलमपुनर्भवपुरन्ध्रिकास्थूलभालस्थललीला-लंकारतिलकता।

द्विविधं किलैवं परमवीतरागसर्वज्ञशासने चतुर्थज्ञानधारिभिः पूर्वसूरिभिः समाख्यातम्।

परमनिरपेक्षतया निजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानशुद्धरत्नत्रयात्मकमार्गो मोक्षोपायः, तस्य शुद्धरत्नत्रयस्य फलं स्वात्मोपलब्धिरिति।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जैन शासन में कहा है मार्ग एवं मार्गफल।
है मार्ग मोक्ष उपाय एवं मोक्ष ही है मार्गफल।।२।।

जैनशासन में मार्ग और मार्गफल ह्न ऐसे दो प्रकार बताये गये हैं। उनमें मोक्ष के उपाय को मार्ग कहते हैं और मार्ग का फल निर्वाण की प्राप्ति है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह मोक्षमार्ग और उसके फल के स्वरूप के निरूपण की सूचना है, प्रस्तावना है।

***सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः* ह्न सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग है ह्न ऐसा महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र का वचन होने से मार्ग तो शुद्धरत्नत्रय है और मार्गफल मुक्तिरूपी रमणी के विशाल मस्तक में अलंकाररूप तिलकपना है। तात्पर्य यह है कि मोक्षमार्ग का फल मुक्तिरूपी रमणी से शादी होना है अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति होना है।**

इसप्रकार इस मार्ग और मार्गफल ह्न इन दो का व्याख्यान परमवीतरागी सर्वज्ञ भगवान के शासन में चतुर्थ ज्ञान अर्थात् मनःपर्यय ज्ञान के धारी पूर्वाचार्यों ने किया है।

निज परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप परम निरपेक्ष शुद्धरत्नत्रयरूप मार्ग मोक्ष का उपाय है और उस शुद्धरत्नत्रय का फल स्वात्मोपलब्धि है।''

इसप्रकार इस गाथा में मात्र यही कहा गया है कि **शुद्धरत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है और मुक्ति की प्राप्ति उसका फल है।।२।।**

इस गाथा की टीका लिखने के उपरान्त मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव खेद व्यक्त करते हुए कहते हैं कि **सारा जगत तो धन की रक्षा और रमणी की संभाल में व्यस्त है; कोई-कोई पण्डितजन ही ऐसे हैं; जो शुद्धात्मा की साधना करते हैं।**

(पृथ्वी)

क्वचिद् व्रजति कामिनीरतिसमुत्थसौख्यं जनः ।
क्वचिद् द्रविणरक्षणे मतिमिमां च चक्रे पुनः ।।
क्वचिज्जिनवरस्य मार्गमुपलभ्य यः पण्डितो ।
निजात्मनि रतो भवेद् व्रजति मुक्तिमेतां हि सः ।।९।।

जिस छन्द में उक्त चर्चा की गई है, उसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

कभी कामिनी रति सुख में यह रत रहता है।
कभी संपती की रक्षा में उलझा रहता।।
किन्तु जो पण्डितजन जिनपथ पा जाते हैं।
हो जाते वे मुक्त आत्मा में रत होकर।।९।।

मनुष्य कभी तो कामिनी के प्रति रति से उत्पन्न होनेवाले सुख की ओर जाता है तो कभी धन की रक्षा में बुद्धि लगा देता है; परन्तु जो पण्डित लोग कभी जिनदेव के मार्ग को प्राप्त करके निज आत्मा में रत हो जाते हैं; वे मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि कंचन और कामिनी में उलझे लोग इस उत्कृष्ट मार्ग को प्राप्त नहीं कर सकते। इस मार्ग को पानेवाले तो पण्डितजन ही हैं; जो इस मार्ग को पाकर निज आत्मा की आराधना करते हैं और मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव की दृष्टि में **पण्डित** शब्द कितना महान है। उनकी दृष्टि में जो जिनवर के मार्ग को प्राप्त कर अपने आत्मा की आराधना करते हैं, वे ही पण्डित हैं।

जिन लोगों को **पण्डित** शब्द से ही एलर्जी है; उन्हें मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव के उक्त कथन पर ध्यान देना चाहिए।

यद्यपि यह सत्य है कि पण्डित नामधारी कुछ लोगों ने अपने जीवन और व्यवहार से इस महान शब्द को बदनाम कर दिया है; तथापि ऐसा तो सभी शब्दों के साथ होता रहा है। कुछ मुनिराजों ने अपने व्यवहार से यदि मुनिधर्म को कलंकित कर दिया हो तो क्या सच्चे मुनिराज स्वयं को मुनिराज कहलाने में लज्जित होंगे ?

यदि नहीं तो हमें भी अपने सत्कर्मों, सद् व्यवहार और सच्चे आत्मार्थीपने से अपने आत्मकल्याण के साथ-साथ इस महान शब्द की प्रतिष्ठा को भी पुनर्स्थापित करना चाहिए।

इस महान शब्द के प्रति अरुचि प्रदर्शित करने या इससे घृणा करने से पण्डित टोडरमल

णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं।।३।।

नियमेन च यत्कार्यं स नियमो ज्ञानदर्शनचारित्रम्।
विपरीतपरिहारार्थं भणितं खलु सारमिति वचनम्।।३।।

अत्र नियमशब्दस्य सारत्वप्रतिपादनद्वारेण स्वभावरत्नत्रयस्वरूपमुक्तम्।

य: सहजपरमपारिणामिकभावस्थित: स्वभावानन्तचतुष्टयात्मक: शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम: स नियम:। नियमेन च निश्चयेन यत्कार्यं प्रयोजनस्वरूपं ज्ञानदर्शनचारित्रम्।

जैसे उन सभी महान पण्डितों के प्रति अरुचि और घृणा व्यक्त होती है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भगवान महावीर के इस उत्कृष्ट अध्यात्म को हिन्दी भाषा में उत्तर भारतीय आत्मार्थी विद्वान पण्डितों ने ही जीवित रखा है।।९।।

इस ग्रन्थ का नाम नियमसार है। अत: यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि **नियम किसे कहते हैं और नियम के साथ जुड़े हुए सार शब्द का क्या प्रयोजन है ?**

इन्हीं प्रश्नों का उत्तर इस तीसरी गाथा में दिया गया है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(हरिगीत)

सद् ज्ञान-दर्शन-चरण ही हैं 'नियम' जानो नियम से।
विपरीत का परिहार होता सार इस शुभ वचन से।।३।।

जो कार्य नियम से करने योग्य हो, उसे नियम कहते हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र नियम से करने योग्य कार्य हैं; इसलिए वे नियम हैं। विपरीतता के परिहार के लिए यहाँ 'नियम' के साथ 'सार' शब्द जोड़ा गया है।

इसप्रकार 'नियमसार' शब्द का अर्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हो जाता है। तात्पर्य यह है कि **इस ग्रंथ में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का निरूपण किया गया है।**

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ इस गाथा में *नियम* शब्द के साथ *सार* विशेषण क्यों लगाया गया है ह्न इस बात के प्रतिपादन द्वारा स्वभावरत्नत्रय का स्वरूप कहा गया है।

जो सहज परमपारिणामिकभाव में स्थित, स्वभाव-अनन्तचतुष्टयात्मक शुद्धचेतना-परिणाम है, वह नियम अर्थात् कारणनियम हैं। जो प्रयोजनभूत ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप कार्य नियम से करने योग्य है; वह कार्यनियम है।

उक्त ज्ञान, दर्शन और चारित्र ह्न इन तीनों का स्वरूप इसप्रकार है ह्न

ज्ञानं तावत् तेषु त्रिषु परद्रव्यनिरवलंबत्वेन निःशेषतोन्तर्मुखयोगशक्तेः सकाशात् निजपरम-तत्त्वपरिज्ञानम् उपादेयं भवति।

दर्शनमपि भगवत्परमात्मसुखाभिलाषिणो जीवस्य शुद्धान्तस्तत्त्वविलासजन्मभूमिस्थान-निजशुद्धजीवास्तिकायसमुपजनितपरमश्रद्धानमेव भवति।

चारित्रमपि निश्चयज्ञानदर्शनात्मककारणपरमात्मनि अविचलस्थितिरेव।

अस्य तु नियमशब्दस्य निर्वाणकारणस्य विपरीतपरिहारार्थत्वेन सारमिति भणितं भवति।

परद्रव्य के अवलम्बन बिना सम्पूर्णतः अन्तर्मुख योग शक्ति से ग्रहण करने योग्य निज परमतत्त्व का परिज्ञान ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) है।

भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले सुख के अभिलाषी जीव को, शुद्ध अन्तस्तत्त्व के विलास की जन्मभूमिरूप जीवास्तिकाय से उत्पन्न होनेवाला परम-श्रद्धान ही दर्शन (सम्यग्दर्शन) है।

निश्चयज्ञानदर्शनात्मक कारणपरमात्मा में इस जीव की अविचल स्थिति ही चारित्र (सम्यक्चारित्र) है।

यह ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप नियम निर्वाण का कारण है। नियम शब्द में जोड़ा गया सार शब्द विपरीतता के परिहार के लिये है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि कारणनियम और कार्यनियम के भेद से नियम (रत्नत्रय) दो प्रकार का होता है। **त्रिकालस्वभावरत्नत्रय कारणनियम है और सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप प्रगट पर्याय कार्यनियम है।**

त्रिकालस्वभावरत्नत्रय को शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम भी कहते हैं। इसकारण शुद्धज्ञान-चेतनापरिणाम को कारणनियम भी कहते हैं। यह शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम उत्पादव्ययनिरपेक्ष एकरूप है, द्रव्यरूप है; अतः द्रव्यार्थिकनय का विषय है। यह स्वयं मोक्षमार्गरूप नहीं है, यह तो त्रिकाली ध्रुव है, इसके आश्रय से मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

ध्यान रहे मूल गाथा में तो मात्र कार्यनियम की ही बात है; पर टीका में टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ने कारणनियम की बात भी उसी में से निकाली है।

यहाँ कारण-कार्यव्यवस्था दो प्रकार से घटित होती है ह्न

१. त्रिकाली ध्रुवशुद्धज्ञान-चेतनापरिणाम कारण है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग कार्य है।

२. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग कारण है और मोक्ष कार्य है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि शुद्धचेतनाज्ञानपरिणाम तो मात्र कारण ही है; क्योंकि उसके आश्रय से मोक्षमार्ग प्रगट होता है। इसीप्रकार मोक्ष केवल कार्य ही है; किन्तु रत्नत्रयरूप

(आर्या)

इति विपरीतविमुक्तं रत्नत्रयमनुत्तमं प्रपद्याहम् ।
अपुनर्भवभामिन्यां समुद्भवमनंगशं यामि ।।१०।।

मोक्षमार्ग कारण भी है और कार्य भी है। मोक्षमार्ग मोक्ष का कारण है और शुद्धज्ञानचेतना-परिणाम का कार्य है।

जिसप्रकार त्रिकाल सदृश एकरूप ध्रुवपरिणाम है; उसीप्रकार उसका सदृशरूप वर्तमान ध्रुवपरिणाम भी है। ये दोनों ही कारणरूप नियम में समाविष्ट हैं। **तात्पर्य यह है कि कारणनियम भी दो प्रकार का है ह्न १. त्रिकाल एकरूप ध्रुव परिणाम और २. वर्तमान ध्रुवपरिणाम।**

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यहाँ 'सार' शब्द विपरीतता के परिहार के लिए प्रयुक्त है। यदि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की बात करें तो इनके विपरीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिहार लिया जायेगा; किन्तु यदि निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निश्चय मोक्षमार्ग की बात करें तो उसके विपरीत व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप व्यवहार मोक्षमार्ग का परिहार अभीष्ट होगा। चूंकि यहाँ निश्चय मोक्षमार्ग की बात चल रही है; अत: यहाँ व्यवहार मोक्षमार्ग को ही विपरीत मानकर, उसी का परिहार अभीष्ट होना चाहिए।।३।।

इस गाथा की टीका के अन्त में टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव अपनी भावना को एक आर्या छन्द में इसप्रकार व्यक्त करते हैं। छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

विपर्यास से रहित अनुत्तम रत्नत्रय को।
पाकर मैं तो वरण करूँ अब शिवरमणी को।।
प्राप्त करूँ मैं निश्चय रत्नत्रय के बल से।
अरे अतीन्द्रिय अशरीरी आत्मीक सुक्ख को।।१०।।

इसप्रकार मैं विपरीतता से रहित अनुत्तम रत्नत्रय का आश्रय करके मुक्तिरूपी रमणी से उत्पन्न अनंग सुख को प्राप्त करता हूँ।

तात्पर्य यह है कि विपरीतता से रहित निश्चयरत्नत्रय अर्थात् विकल्परहित निर्विकल्प-रत्नत्रय को धारण करने से अशरीरी, अतीन्द्रिय, अनंत सुख की प्राप्ति होती है।

इसप्रकार इस कलश में विपरीतता से रहित, सर्वश्रेष्ठ निश्चयरत्नत्रय के प्रताप से अनंत अतीन्द्रिय अनंग सुख की कामना की गई है, अनंत अतीन्द्रिय अनंग सुख की प्राप्ति की सूचना दी गई है।।१०।।

विगत गाथा में नियम और उसके साथ जुड़े हुए सार शब्द की चर्चा की थी। अब इस गाथा में उसी बात को आगे बढ़ाते हैं।

णियमं मोक्खउवाओ तस्स फलं हवदि परमणिव्वाणं।
एदेसिं तिण्हं पि य पत्तेयपरूवणा होई।।४।।

नियमो मोक्षोपायस्तस्य फलं भवति परमनिर्वाणम्।
एतेषां त्रयाणामपि च प्रत्येकप्ररूपणा भवति।।४।।

रत्नत्रयस्य भेदकरणलक्षणकथनमिदम्। मोक्षः साक्षादखिलकर्मप्रध्वंसनेनासादितमहानन्दलाभः। पूर्वोक्तनिरुपचाररत्नत्रयपरिणतिस्तस्य महानन्दस्योपायः। अपि चैषां ज्ञानदर्शनचारित्राणां त्रयाणां प्रत्येकप्ररूपणा भवति। कथम्, इदं ज्ञानमिदं दर्शनमिदं चारित्रमित्यनेन विकल्पेन। दर्शनज्ञानचारित्राणां लक्षणं वक्ष्यमाणसूत्रेषु ज्ञातव्यं भवति।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

है नियम मोक्ष उपाय उसका फल परम निर्वाण है।
इन ज्ञान-दर्शन-चरण त्रय का भिन्न-भिन्न विधान है।।४।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप नियम मोक्ष का उपाय है और उसका फल परम निर्वाण की प्राप्ति है। अतः यहाँ इन तीनों का भिन्न-भिन्न निरूपण किया जा रहा है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह कथन रत्नत्रय के भेद करने के संबंध में और उनके लक्षणों के संबंध में है।

समस्त कर्मों के नाश से साक्षात् प्राप्त किया जानेवाला महा आनन्द ही मोक्ष है। उक्त महानंदरूप मोक्ष का उपाय पूर्वोक्त निरुपचार रत्नत्रय परिणति है। उक्त रत्नत्रय परिणति के अन्तर्गत आनेवाले ज्ञान, दर्शन, चारित्र का यह ज्ञान है, यह दर्शन है और यह चारित्र ह्न इसप्रकार भिन्न-भिन्न निरूपण होता है, इनके लक्षण आगे आनेवाले गाथा सूत्रों में कहे जायेंगे। अतः इन्हें वहाँ से ही जानना चाहिए।''

इसप्रकार इस गाथा में मात्र इतना ही कहा गया है कि **समस्त कर्मों के अभाव से उत्पन्न होनेवाली अनन्त अतीन्द्रिय आत्मीक आनन्दवाली दशा ही मोक्ष है और उसकी प्राप्ति का उपाय अर्थात् मोक्षमार्ग निश्चयरत्नत्रयरूप है।**

रत्नत्रय के भेद सम्यग्दर्शनादि का स्वरूप आगामी गाथाओं में समझाया जायेगा।।४।।

टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इस गाथा के भाव का पोषक एक कलशरूप काव्य लिखते हैं।

(मंदाक्रांता)

मोक्षोपायो भवति यमिनां शुद्धरत्नत्रयात्मा।
ह्यात्मा ज्ञानं न पुनरपरं दृष्टिरन्याऽपि नैव।।
शीलं तावन्न भवति परं मोक्षुभिः प्रोक्तमेतद्।
बुद्ध्वा जन्तुर्न पुनरुदरं याति मातुः स भव्यः।।११।।

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।
ववगय असेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो।।५।।

आप्तागमतत्त्वानां श्रद्धानाद्भवति सम्यक्त्वम्।
व्यपगताशेषदोषः सकलगुणात्मा भवेदाप्तः।।५।।

कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

रत्नत्रय की परिणति से परिणमित आतमा।
श्रमणजनों के लिए सहज यह मोक्षमार्ग है।।
दर्शन-ज्ञान-चरित आतम से भिन्न नहीं हैं।
जो जाने वह भव्य न जावे जननि उदर में।।११।।

शुद्धरत्नत्रय परिणति से परिणमित आत्मा महामुनियों के लिए मोक्ष का उपाय है; क्योंकि आत्मा से न तो ज्ञान अन्य है, न दर्शन अन्य है और न चारित्र ही अन्य है। ह्न यह बात मोक्ष को प्राप्त करनेवाले अरहंत भगवन्तों ने कही है। इसको जानकर जो जीव पुनः माता के उदर में नहीं जाता, वह भव्य है।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि **अभेदरत्नत्रयरूप परिणमित आत्मा मोक्ष का उपाय है।** जो जीव अरहंत भगवान द्वारा कही गई इस बात का विश्वास करता है और तदनुरूप परिणमित होता है, उसे बार-बार माता के उदर में नहीं जाना पड़ेगा, वह दो-चार भव में मोक्ष में चला जायेगा। तात्पर्य यह है कि ऐसे जीव निकटभव्य होते हैं।।११।।

निश्चयरत्नत्रय का निरूपण करने के उपरान्त अब इस गाथा में व्यवहार सम्यग्दर्शन की चर्चा करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

इन आप्त-आगम-तत्त्व का श्रद्धान ही सम्यक्त्व है।
सम्पूर्ण दोषों से रहित अर सकल गुणमय आप्त है।।५।।

व्यवहारसम्यक्त्वस्वरूपाख्यानमेतत्। आप्तः शंकारहितः। शंका हि सकलमोहराग-द्वेषादयः। आगमः तन्मुखारविन्दविनिर्गतसमस्तवस्तुविस्तारसमर्थनदक्षः चतुरवचनसंदर्भः। तत्त्वानि च बहिस्तत्त्वान्तस्तत्त्वपरमात्मतत्त्वभेदभिन्नानि अथवा जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जरा-बन्धमोक्षाणां भेदात्सप्तधा भवन्ति।

तेषां सम्यक्श्रद्धानं व्यवहारसम्यक्त्वमिति।

(आर्या)

भवभयभेदिनि भगवति भवतः किं भक्तिरत्र न समस्ति।
तर्हि भवाम्बुधिमध्यग्राहमुखान्तर्गतो भवसि।।१२।।

आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है और जिसके सम्पूर्ण (अठारह) दोष दूर हो गये हों; सम्पूर्ण गुणों का धारी वह पुरुष आप्त होता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह व्यवहार सम्यग्दर्शन के स्वरूप का व्याख्यान है। सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेषादि भावों को शंका कहते हैं और शंका रहित व्यक्ति को आप्त कहते हैं।

आप्त के मुखारविन्द से निकली हुई समस्त वस्तुओं के स्वरूप को स्पष्ट करने में समर्थ वचन रचना को आगम कहते हैं।

बहिर्तत्त्व और अन्तर्तत्त्वरूप परमात्मतत्त्व के भेद से तत्त्व दो प्रकार के हैं अथवा जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध तथा मोक्ष के भेद से तत्त्व सात प्रकार के हैं।

उक्त आप्त, आगम और तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है।''

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में मात्र इतना ही कहा गया है कि सच्चे आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान को व्यवहारसम्यग्दर्शन कहते हैं। जन्म, जरा आदि अठारह दोषों से रहित और वीतरागता, सर्वज्ञता आदि गुणों के धारी अरहंत-सिद्ध ही सच्चे आप्त (देव) हैं।

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में सात तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है और रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। यहाँ उक्त दोनों बातों को मिलाकर आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कह दिया है।

देव-शास्त्र-गुरु और सप्त तत्त्व, पर और भेदरूप होने से, इनके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन को व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा गया है।।५।।

इस गाथा की टीका के उपरान्त भी टीकाकार, भगवान की भक्ति की प्रेरणा देनेवाला एक कलशकाव्य लिखते हैं।

छुहतण्हभीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू।
सेदं खेदो मदो रइ विम्हिय णिद्दा जणुव्वेगो।।६।।

क्षुधा तृष्णा भयं रोषो रागो मोहश्चिन्ता जरा रुजा मृत्युः।
स्वेदः खेदो मदो रतिः विस्मयनिद्रे जन्मोद्वेगौ।।६।।

अष्टादशदोषस्वरूपाख्यानमेतत्। असातावेदनीयतीव्रमंदक्लेशकरी क्षुधा। असाता-वेदनीयतीव्रतीव्रतरमंदमंदतरपीडया समुपजाता तृषा। इहलोकपरलोकात्राणागुप्तिमरणवेदना-

---

कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

भवभयभेदक आप्त की भक्ति नहीं यदि रंच।
तो तू है मुख मगर के भवसागर के मध्य।।१२।।

यदि भव के भय का भेदन करनेवाले इस भगवान के प्रति तुझे भक्ति नहीं है तो तू भवसमुद्र के मध्य रहनेवाले मगर के मुख में है।

इस कलश में मात्र इतना ही कहा गया है कि यदि तेरे हृदय में भवभयनाशक भगवान की भक्ति नहीं है तो तू यह अच्छी तरह समझ लें कि तू संसार सागर में रहनेवाले मगरमच्छ के मुख में है।।१२।।

पाँचवीं गाथा की दूसरी पंक्ति में कहा था कि आत्मा सम्पूर्ण (अठारह) दोषों से रहित होता है; अतः अब इस छठवीं गाथा में उक्त **अठारह दोषों को गिना रहे हैं।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

भय भूँख चिन्ता राग रुष रुज स्वेद जन्म जरा मरण।
रति अरति निद्रा मोह विस्मय खेद मद तृष दोष हैं।।६।।

क्षुधा, तृषा, भय, रोष, राग, मोह, चिन्ता, जरा, रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, मद, रति, विस्मय, निन्दा, जन्म और अरति ह्न ये अठारह दोष हैं।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह अठारह दोषों के स्वरूप का कथन है।

१. असाता वेदनीय कर्म के उदय से होनेवाले भोजन की तीव्र अथवा मंद इच्छारूप क्लेशभाव को क्षुधा कहते हैं।

२. असाता वेदनीय के उदय से तीव्र, तीव्रतर, मन्द, मन्दतर पानी पीने की इच्छाजन्य पीड़ा को तृषा कहते हैं।

कस्मिकभेदात् सप्तधा भवति भयम् । क्रोधनस्य पुंसस्तीव्रपरिणामो रोषः । रागः प्रशस्तो–ऽप्रशस्तश्च, दानशीलोपवासगुरुजनवैयावृत्त्यादिसमुद्भवः प्रशस्तरागः, स्त्रीराजचौरभक्त–विकथालापाकर्णनकौतूहलपरिणामो ह्यप्रशस्तरागः । चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघवात्सल्यगतो मोहः प्रशस्त इतरोऽप्रशस्त एव । चिन्तनं धर्मशुक्लरूपं प्रशस्तमितरदप्रशस्तमेव । तिर्यङ्मानवानां वयःकृतदेहविकार एव जरा । वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यसंजातकलेवरविपीडैव रुजा । सादि–सनिधनमूर्तेन्द्रियविजातीयनरनारकादिविभावव्यञ्जनपर्यायविनाश एव मृत्युरित्युक्तः । अशुभ–कर्मविपाकजनितशरीरायाससमुपजातपूतिगंधसम्बन्धवासनावासितर्वार्बिन्दुसंदोहः स्वेदः ।

---

३. इसलोक का भय, परलोक का भय, अरक्षाभय, अगुप्तिभय, मरणभय, वेदनाभय और आकस्मिक भय ह्न इसप्रकार ये सात प्रकार के भय हैं ।

४. क्रोधी पुरुष के तीव्र परिणाम को रोष कहते हैं ।

५. राग प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का होता है । दान, शील, उपवास, गुरुजनों की वैयावृत्ति (सेवा) आदि से उत्पन्न होनेवाला राग प्रशस्त राग है और स्त्री, राज, चोर और भोजन संबंधी विकथायें करने और सुनने का कौतुहल परिणाम अप्रशस्त राग है ।

६. प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से मोह भी दो प्रकार का होता है । ऋषि, मुनि, यति और अनगार ह्न इन चार प्रकार के श्रमण संघ के प्रति वात्सल्य संबंधी मोह प्रशस्त मोह है और इनसे भिन्न व्यक्तियों या वस्तुओं से किया गया मोह अप्रशस्त मोह है ।

ऋद्धिधारी श्रमणों को ऋषि; अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानी श्रमणों को मुनि; उपशम व क्षपक श्रेणी में आरूढ़ श्रमणों को यति और सामान्य साधुओं को अनगार कहते हैं ।

७. चिन्ता अर्थात् चिंतन भी प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का होता है । धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप चिन्तन प्रशस्त है और आर्तध्यान और रौद्रध्यानरूप चिन्तन अप्रशस्त है ।

८. तिर्यंचों और मनुष्यों की उम्र की अधिकता के कारण होनेवाली शरीर की जीर्णता को जरा (बुढ़ापा) कहते हैं ।

९. वात, पित्त और कफ की विषमता से उत्पन्न होनेवाली शरीर संबंधी पीड़ा को रुजा या रोग कहते हैं ।

१०. सादि–सनिधन, मूर्त इन्द्रियवाली विजातीय नरनारकादि विभाव व्यंजनपर्याय का विनाश ही मृत्यु है ।

११. अशुभकर्मोदय से उत्पन्न शारीरिक श्रम से उत्पन्न होनेवाला दुर्गंधित जलबिन्दुओं का समूह स्वेद (पसीना) है ।

अनिष्टलाभः खेदः। सहजचतुरकवित्वनिखिलजनताकर्णामृतस्यंदिसहजशरीरकुलबलैश्वर्यै-रात्माहंकारजननो मदः। मनोज्ञेषु वस्तुषु परमा प्रीतिरेव रतिः। परमसमरसीभावभावना-परित्यक्तानां क्वचिदपूर्वदर्शनाद्विस्मयः। केवलेन शुभकर्मणा, केवलेनाशुभकर्मणा, मायया, शुभाशुभमिश्रेण देवनारकतिर्यङ्मनुष्यपर्यायेषूत्पत्तिर्जन्म। दर्शनावरणीयकर्मोदयेन प्रत्यस्त-मितज्ञानज्योतिरेव निद्रा। इष्टवियोगेषु विक्लवभाव एवोद्वेगः। एभिर्महादोषैर्व्याप्तास्त्रयो लोकाः। एतैर्विनिर्मुक्तो वीतरागसर्वज्ञ इति।

तथा चोक्तम् ह्न

सो धम्मो जत्थ दया सो वि तवो विसयणिग्गहो जत्थ।
दसअठ्ठदोसरहिओ सो देवो णत्थि सन्देहो।।१।।[१]

---

१२. अनिष्ट के लाभ से उत्पन्न होनेवाला भाव खेद है।

१३. सर्व जनों के कानों में अमृत उडेलनेवाला सहज चतुराई से भरा कवित्व, सुन्दर शरीर, उत्तम कुल, बल तथा ऐश्वर्य के कारण उत्पन्न होनेवाला अहंकार ही मद है।

१४. मनोज्ञ वस्तुओं में परम प्रीति ही रति है।

१५. परमसमरसीभाव की भावना रहित जीवों को, पहले कभी नहीं देखने के कारण होनेवाला भाव विस्मय (आश्चर्य) है।

१६. शुभकर्म से देवपर्याय में, अशुभकर्म से नारकपर्याय में, माया से तिर्यंचपर्याय में और शुभाशुभ मिश्रकर्म से मनुष्यपर्याय में उत्पन्न होना जन्म है।

१७. दर्शनावरणी कर्म के उदय से ज्ञानज्योति का अस्त हो जाना निद्रा है।

१८. इष्ट के वियोग में घबराहट का होना ही उद्वेग है।

यद्यपि इन अठारह दोषों से तीन लोक व्याप्त है अर्थात् तीन लोक में रहनेवाले सभी संसारी जीव उक्त अठारह दोषों से ग्रस्त हैं; तथापि वीतरागसर्वज्ञदेव इन दोषों से विमुक्त हैं।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार मात्र इतना ही है कि वीतरागी-सर्वज्ञ अरहंतदेव के उक्त अठारह दोष नहीं होते; अतः वे पूर्णतः निर्दोष हैं।।६।।

छठवीं गाथा की उक्त टीका लिखने के उपरान्त मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव '**तथा चोक्तम्** ह्न तथा कहा भी गया है' ह्न लिखकर एक गाथा उद्धृत करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

जहाँ दया वह धर्म है जहाँ न विषय विकार।
वह तप अठारह दोष बिन देव होंय अवधार।।१।।

---

१. अनुपलब्ध है।

तथा चोक्तं श्रीविद्यानन्दस्वामिभिः ह्न

(मालिनी)

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः
स च भवति सुशास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धैः
न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरंति ।।२।।[१]

वह धर्म है, जहाँ दया है; वह तप है, जहाँ विषयों का निग्रह है और वह देव है, जो अठारह दोषों से रहित है ह्न इस संबंध में कोई सन्देह नहीं है ।।१।।

इसके बाद **'तथा चोक्तं श्री विद्यानंदस्वामिभिः ह्न** तथा आचार्य श्री विद्यानंदस्वामी द्वारा भी कहा गया है' ह्न लिखकर टीका में एक छन्द प्रस्तुत किया गया है।

छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

इष्ट अर्थ की सिद्धि होती है सुबोध से।
अर सुबोध उपलब्धी होती है सुशास्त्र से।।
और आप्त से शास्त्र पूज्य हैं आप्त इसलिये।
किया गया उपकार संतजन कभी न भूलें।।२।।

अभीष्ट फल की सिद्धि का उपाय सुबोध (सम्यग्ज्ञान) है; सुबोध सुशास्त्र से प्राप्त होता है और सुशास्त्र की उत्पत्ति आप्त से होती है। आप्त की कृपा के कारण, बुधजनों के लिए वे आप्त पूज्य हैं; क्योंकि किये हुए उपकार को सज्जन पुरुष कभी नहीं भूलते।

उक्त छन्द का अत्यन्त स्पष्ट अभिप्राय यह है कि आप्त अर्थात् वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान की वाणी ही सुशास्त्र हैं; अतः उनसे ही सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिए वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान हमारे पूज्य हैं, हमें उनकी पूजा, स्तुति, वंदना अवश्य करना चाहिए; क्योंकि वे हमारे उपकारी हैं और सज्जन पुरुष कृतघ्न नहीं होते, अपितु कृतज्ञ होते हैं। किये गये उपकार को सच्चे हृदय से स्वीकार करना कृतज्ञता है और उसे भूल जाना कृतघ्नता है।

'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरंति' ह्न यह सूक्ति संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि है।।२।।

उक्त छन्द के उपरान्त मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जिसमें भगवान नेमिनाथ की स्तुति की गई है।

---

१. आचार्य विद्यानन्दिस्वामी रचित श्लोक, श्लोक संख्या अनुपलब्ध है।

तथा हि ह्न

(मालिनी)

शतमखशतपूज्यः प्राज्यसद्बोधराज्यः
स्मरतिसुरनाथः प्रास्तदुष्टाघयूथः ।
पदनतवनमाली भव्यपद्मांशुमाली
दिशतु शमनिशं नो नेमिरानन्दभूमिः ।।१३।।

णिस्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइपरमविभवजुदो ।
सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा ।।७।।

निःशेषदोषरहितः केवलज्ञानादिपरमविभवयुतः ।
स परमात्मोच्यते तद्विपरीतो न परमात्मा ।।७।।

छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

शत इन्द्रों से पूज्य ज्ञान साम्राज्य अधपती।
कामजयी लौकान्तिक देवों के अधिनायक।।
पाप विनाशक भव्यनीरजों के तुम सूरज।
नेमीश्वर सुखभूमि सुक्ख दें भवभयनाशक।।१३।।

सौ इन्द्रों से पूज्य, सम्यग्ज्ञानरूप विशाल राज्य के अधिपति, कामविजयी लौकान्तिक देवों के नाथ, दुष्ट पाप के नाशक, श्रीकृष्ण द्वारा पूजित, भव्यरूपी कमलों को विकसित करनेवाले सूर्य और आनन्द की भूमिरूप नेमिनाथ भगवान हमें शाश्वत सुख प्रदान करें।

उक्त छन्द में भगवान नेमिनाथ की स्तुति की गई है। टीका के बीच में आनेवाले इस स्तुतिपरक छन्द को हम मध्यमंगल के रूप में देख सकते हैं।।१३।।

विगत गाथा में जिन अठारह दोषों की चर्चा की गई है, अब इस गाथा में उक्त दोषों से रहित परमात्मा का स्वरूप समझाते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

सम्पूर्ण दोषों से रहित सर्वज्ञता से सहित जो।
बस वे ही हैं परमातमा अन कोई परमातम नहीं।।७।।

जो निःशेष अर्थात् अठारह दोषों से रहित और केवलज्ञानादि परम वैभव से संयुक्त है; वह परमात्मा है और उससे विपरीत परमात्मा नहीं है।

तीर्थंकरपरमदेवस्वरूपाख्यानमेतत् । आत्मगुणघातकानि घातिकर्माणि ज्ञानदर्शनावरणा–न्तरायमोहनीयकर्माणि, तेषां निरवशेषेण प्रध्वंसान्निश्शेषदोषरहित: अथवा पूर्वसूत्रोपात्ता–ष्टादशमहादोषनिर्मूलनान्नि:शेषदोषनिर्मुक्त इत्युक्त: । सकलविमलकेवलबोधकेवलदृष्टिपरम–वीतरागात्मकानन्दाद्यनेकविभवसमृद्ध: । यस्त्वेवंविध: त्रिकालनिरावरणनित्यानंदैकस्व–रूपनिजकारणपरमात्मभावनोत्पन्नकार्यपरमात्मा स एव भगवान् अर्हन् परमेश्वर: । अस्य भगवत: परमेश्वरस्य विपरीतगुणात्मका: सर्वे देवाभिमानदग्धा अपि संसारिण इत्यर्थ: ।

तथा चोक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवै: ह्न

तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं ।
तिहुवणपहाणदइयं माहप्पं जस्स सो अरिहो ।।३।।[१]

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह तीर्थंकर परमदेव के स्वरूप का कथन है। आत्मगुणों के घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ह्न इन चार घातिया कर्मों का पूर्णत: नाश कर देने के कारण जो सम्पूर्ण दोषों से रहित हैं अथवा पूर्वसूत्र छठवीं गाथा में कहे गये अठारह महादोषों के निर्मूल कर देने के कारण जिन्हें नि:शेषदोष रहित कहा गया है और जो केवलज्ञान, केवलदर्शन एवं परम वीतरागात्मक आनन्दादि विविध वैभव से सम्पन्न हैं; तथा जो त्रिकाल निरावरण, नित्यानन्द, एकस्वरूप, निज–कारणपरमात्मा की भावना से उत्पन्न कार्यपरमात्मा हैं; वे भगवान ही अरहंत परमेश्वर हैं।

इन भगवान अरहंत परमेश्वर से विपरीत गुणोंवाले लोग देवत्व के अभिमान से दग्ध होने पर भी परमात्मा नहीं हैं, संसारी ही हैं ह्न ऐसा गाथा का अर्थ है।''

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में यही कहा गया है कि अठारह दोषों से रहित वीतरागी एवं केवलज्ञानादि वैभव से संयुक्त अर्थात् अनंत सुखी सर्वज्ञ भगवान ही अरहंत परमात्मा हैं, सच्चे देव हैं। उक्त गुणों से रहित और दोषों से संयुक्त होने पर भी स्वयं देव माननेवाले लोग सच्चे देव नहीं हैं।

टीका में एक बात और भी स्पष्ट की गई है कि अरहंत भगवान कार्यपरमात्मा हैं और जिस त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करने से, उसमें लीन होने से आत्मा कार्यपरमात्मा बनता है, उसे कारणपरमात्मा कहते हैं।।७।।

इसके बाद '**तथा चोक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदैवै:** ह्न तथा कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने भी कहा है' ह्न ऐसा कहकर एक गाथा उद्धृत की है।

---

१. आचार्य कुन्दकुन्द : प्रवचनसार, आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति टीका में उपलब्ध ७१वीं गाथा

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

कांत्यैव स्नपयंति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धंति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ।।४।।[१]

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

प्राधान्य है त्रैलोक्य में ऐश्वर्य ऋद्धि सहित हैं।
तेज दर्शन ज्ञान सुख युत पूज्य श्री अरहंत हैं।।३।।

जिनका तेज, केवलदर्शन, केवलज्ञान, अतीन्द्रियसुख, देवत्व और जिनकी ईश्वरता, ऋद्धियाँ, तीन लोक में प्रधानपना और विशेष महिमा है; वे भगवान अरहंत हैं।।३।।

इसके बाद '**तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः** ह्न तथा श्रीमद् आचार्य अमृतचन्द्र ने भी कहा है' ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द उद्धृत किया है; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

लोकमानस रूप से रवितेज अपने तेज से।
जो हरें निर्मल करें दशदिश कान्तिमय तनतेज से।।
जो दिव्यध्वनि से भव्यजन के कान में अमृत भरें।
उन सहस अठलक्षण सहित जिन-सूरि को वन्दन करें।।४।।

वे तीर्थंकर और आचार्यदेव वन्दना करने योग्य हैं, जो कि अपने शरीर की कान्ति से दशों दिशाओं को धोते हैं, निर्मल करते हैं; अपने तेज से उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यादिक को भी ढक देते हैं; अपने रूप से जन-जन के मन को मोह लेते हैं, हर लेते हैं; अपनी दिव्यध्वनि से भव्यजीवों के कानों में साक्षात् सुखामृत की वर्षा करते हैं तथा एक हजार आठ लक्षणों को धारण करते हैं।

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जिसमें भगवान नेमिनाथ की स्तुति की गई है।

---

१. समयसार, कलश २४

तथाहि ह्न

(मालिनी)

जगदिदमजगच्च ज्ञाननीरेरुहान्त–
र्भ्रमरवदवभाति प्रस्फुटं यस्य नित्यम् ।
तमपि किल यजेहं नेमितीर्थंकरेशं
जलनिधिमपि दोर्भ्यामुत्तराम्यूर्ध्ववीचिम् ।।१४।।

तस्स मुहुग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं ।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था ।।८।।

छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

अलिगण स्वयं समा जाते ज्यों कमल पुष्प में।
त्यों ही लोकालोक लीन हों ज्ञान कमल में।।
जिनके उन श्री नेमिनाथ के चरण जजूँ मैं।
हो जाऊँ मैं पार भवोदधि निज भुजबल से।।१४।।

जिसप्रकार कमल के भीतर भ्रमर समा जाते हैं; उसीप्रकार जिनके ज्ञानकमल में लोक और अलोक समा जाते हों, स्पष्टरूप से ज्ञात होते हों; उन नेमिनाथ तीर्थंकर भगवान को मैं पूजता हूँ; जिससे ऊँची तरंगों वाले संसार समुद्र को भी दो भुजाओं से पार कर लूँ।

७वीं गाथा में तीर्थंकर परमदेव का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इसकारण टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ने तीर्थंकर परमदेव की जिसमें स्तुति की गई है ह्न ऐसी प्रवचनसार ग्रंथ की गाथा और समयसार की टीका के कलश को उद्धृत किया है।

नेमिनाथ तीर्थंकर परमदेव की स्तुति संबंधी एक छन्द स्वयं भी बनाकर अपनी भक्ति–भावना प्रस्तुत की है।।१४।।

विगत गाथाओं में सच्चे देव का स्वरूप स्पष्ट किया गया है और अब इस गाथा में शास्त्र का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

पूरवापर दोष विरहित वचन जिनवर देव के।
आगम कहे है उन्हीं में तत्त्वारथों का विवेचन।।८।।

तस्य मुखोद्गतवचनं पूर्व्वापरदोषविरहितं शुद्धम्।
आगममिति परिकथितं तेन तु कथिता भवन्ति तत्त्वार्थाः ।।८।।

परमागमस्वरूपाख्यानमेतत्। तस्य खलु परमेश्वरस्य वदनघनजविनिर्गतचतुरवचनरचना–प्रपंचः पूर्वापरदोषविरहितः, तस्य भगवतो रागाभावात् पापसूत्रवद्धिंसादिपापक्रिया–भावाच्छुद्धः परमागम इति परिकथितः। तेन परमागमामृतेन भव्यैः श्रवणांजलिपुटपेयेन मुक्तिसुन्दरीमुखदर्पणेन संसरणवारिनिधिमहावर्तनिमग्नसमस्तभव्यजनतादत्तहस्तावलम्बनेन सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणिना अक्षुण्णमोक्षप्रासादप्रथमसोपानेन स्मरभोगसमुद्भूता–प्रशस्तरागांगारैः पच्यमानसमस्तदीनजनतामहत्क्लेशनिर्नाशनसमर्थसजलजलदेन कथिताः खलु सप्त तत्त्वानि नव पदार्थाश्चेति।

उस सर्वज्ञ वीतरागी परमात्मा के मुख से निकली हुई, पूर्वापर दोष से रहित, शुद्ध वाणी ही आगम कही जाती है और उस आगम में तत्त्वार्थों का निरूपण होता है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह परमागम के स्वरूप का व्याख्यान है। जिनकी चर्चा विगत गाथाओं में की गई है; उन परमेश्वर के मुख से निकली हुई पूर्वापर दोष (विरोध) रहित और उन भगवान के राग का अभाव होने से पाप सूत्र के समान हिंसादि पाप क्रियाओं से शून्य होने से जो शुद्ध है; चतुराई भरी उस वचन रचना के विस्तार को परमागम कहा गया है।

जो भव्यजीवों के द्वारा कानरूपी अंजुली से पीनेयोग्य अमृत है, मुक्ति सुन्दरी के मुख का दर्पण है, जो भवसागर के महाभंवर में निमग्न समस्त भव्यजनों को हाथ का सहारा देता है, जो सहजवैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि है, जो कभी न देखे गये मोक्षमहल की पहली सीढी है और जो काम–भोगों से उत्पन्न होनेवाले अप्रशस्त रागरूप अंगारों से सिकते (जलते) हुए सभी दीन लोगों के महाक्लेश का नाश करने में समर्थ सजलमेघ अर्थात् पानी से भरा हुआ बादल है; उस परमागम में सात तत्त्व और नौ पदार्थ कहे गये हैं, बताये गये हैं।''

उक्त गाथा में जिनागम, परमागम या जिनवाणी का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि **जिन कथनों में पूर्वापर विरोध न हो, जिनमें पाप क्रिया का निषेध किया गया हो; जीवादि तत्त्वार्थों का विवेचन करने वाले उन निर्दोष आप्तवचनों को परमागम कहते हैं।**

उन वचनों की विशेषता बताते हुए टीका में कहा गया है कि तत्त्वार्थों के निरूपक वे वचन मोक्षमहल की पहली सीढी हैं, वैराग्यरूपी महल के शिखामणि हैं, भवसागर में निमग्न भव्यजीवों के सहारे हैं, मुक्तिरूपी सुन्दरी के मुख के दर्पण हैं और राग के दावानल को बुझानेवाले जल से भरपूर भरे हुए बादल हैं।

इसप्रकार इस गाथा में जिनागम का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।।८।।

तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः ह्न

(आर्या)

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् ।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ।।५।।[१]

(हरिणी)

ललितललितं शुद्धं निर्वाणकारणकारणं
निखिलभविनामेतत्कर्णामृतं जिनसद्वचः ।
भवपरिभवारण्यज्वालित्विषां प्रशमे जलं
प्रतिदिनमहं वन्दे वन्द्यं सदा जिनयोगिभिः ।।१५।।

इसके बाद टीकाकार '**तथा चोक्तं श्री समन्तभद्रस्वामिभिः** ह्न तथा आचार्य समन्तभद्र स्वामी द्वारा भी ऐसा ही कहा गया है' ह्न ऐसा कहकर एक छन्द उद्धृत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो न्यूनता विपरीतता अर अधिकता से रहित है।
सन्देह से भी रहित है स्पष्टता से सहित है।।
जो वस्तु जैसी उसे वैसी जानता जो ज्ञान है।
जाने जिनागम वे कहें वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।।५।।

जो न्यूनतारहित, अधिकतारहित और विपरीततारहित यथातथ्य वस्तुस्वरूप को निःसंदेहरूप से जानता है; उसे आगम के जानकार ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) कहते हैं।

रत्नकरण्डश्रावकाचार के उक्त छन्द में सम्यग्ज्ञान का जो स्वरूप स्पष्ट किया गया है; उसमें **इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि जो वस्तु जैसी है; उसे न कम, न अधिक और न विपरीत ठीक जैसी है, वैसी ही निःसंदेहरूप में जानना ही सम्यग्ज्ञान है।।५।।**

इसके बाद टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जिसमें जिनागम (जिनवाणी-शास्त्र) की वन्दना की गई है। छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

मुक्तिमग के मग तथा जो ललित में भी ललित हैं।
जो भविजनों के कर्ण-अमृत और अनुपम शुद्ध हैं।।
भविविजन के उग्र दावानल शमन को नीर हैं।
मैं नमूँ उन जिनवचन को जो योगिजन के वंद्य हैं।।१५।।

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक ४२

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता।।९।।

जीवा: पुद्गलकाया धर्माधर्मौ च काल आकाशम्।
तत्त्वार्था इति भणिता: नानागुणपर्यायै: संयुक्ता:।।९।।

अत्र षण्णां द्रव्याणां पृथक्पृथक् नामधेयमुक्तम्। स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु:श्रोत्रमनो–

जो जिनवचन ललित में ललित हैं, शुद्ध हैं, निर्वाण के कारण के कारण हैं, सभी भव्यजनों के कानो को अमृत हैं, भवरूपी अरण्य (भयंकर जंगल) के उग्र दावानल को शमन करने के लिए जल हैं और जो जैन योगियों से सदा वंद्य हैं ह्न ऐसे जिनभगवान के वचनों की मैं प्रतिदिन वंदना करता हूँ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि शास्त्रों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने न केवल रत्नकरण्डश्रावकाचार में समागत तत्संबंधित छन्द को उद्धृत किया, बल्कि एक छन्द स्वयं लिखकर भी उनके प्रति अपनी आस्था को व्यक्त कर दिया है।।१५।।

विगत गाथाओं में जिन (सच्चे देव) और जिनवचनों (सच्चे शास्त्रों) का स्वरूप स्पष्ट कर अब जिनदेव की दिव्यध्वनि में समागत तत्त्वार्थों की चर्चा आरंभ करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

विविध गुणपर्याय से संयुक्त धर्माधर्म नभ।
अर जीव पुद्गल काल को ही यहाँ तत्त्वारथ कहा।।९।।

अनेक गुण–पर्यायों से संयुक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ह्न ये तत्त्वार्थ कहे गये हैं।

ध्यान रहे, यहाँ छह द्रव्यों को ही तत्त्वार्थ कहा गया है। जबकि महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ह्न ये सात तत्त्व या तत्त्वार्थ कहे हैं।[१]

कहीं–कहीं उक्त सात तत्त्वों में पुण्य और पाप को मिलाकर नौ तत्त्व या तत्त्वार्थ कहे गये हैं। **टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव तो इस गाथा की टीका करते हुए पहली पंक्ति में इन्हें छह द्रव्य ही कहते हैं।**

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस गाथा में छह द्रव्यों के नाम पृथक्–पृथक् कहे गये हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण; मन, वचन, काय; आयु और श्वासोच्छ्वास नामक दश प्राणों से (संसार

---

१. आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र), अध्याय १, सूत्र ४

वाक्कायायुरुच्छ्वासनिःश्वासाभिधानैर्दशभिः प्राणैः जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः। संग्रहनयोऽयमुक्तः। निश्चयेन भावप्राणधारणाज्जीवः। व्यवहारेण द्रव्यप्राणधारणाज्जीवः। शुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतत्वात्कार्यशुद्धजीवः। अशुद्धसद्भूतव्यवहारेण मतिज्ञानादिविभावगुणानामाधारभूतत्वादशुद्धजीवः। शुद्धनिश्चयेन सहजज्ञानादिपरमस्वभावगुणानामाधारभूतत्वात्कारणशुद्धजीवः। अयं चेतनः। अस्य चेतनगुणाः। अयममूर्तः। अस्यामूर्तगुणाः। अयं शुद्धः। अस्य शुद्धगुणाः। अयमशुद्धः। अस्याशुद्धगुणाः। पर्यायश्च। तथा गलनपूरणस्वभावसनाथः पुद्गलः। श्वेतादिवर्णाधारो मूर्तः। अस्य हि मूर्तगुणाः। अयमचेतनः। अस्याचेतनगुणाः। स्वभावविभावगतिक्रियापरिणतानां जीवपुद्गलानां स्वभावविभावगतिहेतुः धर्मः। स्वभावविभावस्थितिक्रियापरिणतानां तेषां स्थितिहेतुरधर्मः। पंचानामवकाशदानलक्षणमाकाशम्। पंचानां वर्तनाहेतुः कालः। चतुर्णाममूर्तानां शुद्धगुणाः, पर्यायाश्चैतेषां तथाविधाश्च।

अवस्था में) जो जीता है, जियेगा और भूतकाल में जीता था; वह जीव है ह्न यह संग्रहनय का कथन है। यह आत्मा निश्चयनय से भावप्राण (चेतना) धारण करने से जीव है और व्यवहारनय से द्रव्यप्राणों के धारण करने से जीव है।

शुद्ध (अनुपचरित) सद्भूतव्यवहारनय केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों का आधार होने से कार्यशुद्धजीव है और अशुद्ध (उपचरित) सद्भूत व्यवहारनय से मतिज्ञानादि विभाव गुणों का आधार होने के कारण अशुद्धजीव है।

शुद्धनिश्चयनय से सहजज्ञानादि परमस्वभावगुणों का आधार होने के कारण कारण-शुद्धजीव है। यह (जीव) चेतन है, इसके चेतन गुण है; यह अमूर्त है, इसके अमूर्त गुण है; यह शुद्ध है, इसमें शुद्ध गुण है; यह अशुद्ध है, इसके अशुद्ध गुण है। पर्यायें भी इसीप्रकार हैं।

पुद्गल गलन-पूरन स्वभाववाला है। वह पुद्गल श्वेतादि वर्णों का आधारभूत होने से मूर्त है, इसके मूर्त गुण हैं। यह अचेतन है, इसके अचेतन गुण हैं।

स्वभावगतिक्रियारूप और विभावगतिक्रियारूप परिणत जीव और पुद्गलों के स्वभावगति और विभावगति का निमित्त कारण धर्मद्रव्य है। स्वभावस्थितिक्रियारूप और विभावस्थितिक्रियारूप परिणत जीव और पुद्गलों को स्वभावस्थिति और विभावस्थिति का निमित्त अधर्म द्रव्य है।

आकाश को छोड़कर शेष पाँच प्रकार के द्रव्यों को अवकाशदान (रहने के लिए स्थान देना) जिसका लक्षण है, वह आकाशद्रव्य है।

काल को छोड़ शेष पाँच द्रव्यों की वर्तना का निमित्त कालद्रव्य है।

जीव को छोड़कर चार अमूर्त द्रव्यों के शुद्ध गुण है और उनकी पर्यायें भी शुद्ध ही हैं।''

(मालिनी)

इति जिनपतिमार्गाम्भोधिमध्यस्थरत्नं।
द्युतिपटलजटालं तद्धि षड्द्रव्यजातम्।।
हृदि सुनिशितबुद्धिर्भूषणार्थं विधत्ते।
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः।।१६।।

इसप्रकार हम देखते हैं कि मूल गाथा में तो छह द्रव्यों के मात्र नाम गिनाकर इतना ही कहा गया है कि अनेकप्रकार के गुण और पर्यायों से संयुक्त इन छह द्रव्यों को ही तत्त्वार्थ कहते हैं; किन्तु टीका में छह द्रव्यों को परिभाषित किया गया है। जीव को छोड़कर शेष पाँच द्रव्यों कीं तो मात्र परिभाषायें ही दी गई हैं, किन्तु जीव के विविध नयों से भेद-प्रभेद भी बताये गये हैं।

जीवद्रव्य के मूलत: दो भेद किये गये हैं ह्न शुद्धजीव और अशुद्धजीव। कारणशुद्धजीव और कार्यशुद्धजीव के भेद से शुद्धजीव भी दो प्रकार का बताया गया है।

पर और पर्यायों से भिन्न त्रिकाली ध्रुव आत्मा कारणशुद्धजीव है और उसमें अपनापन स्थापित करने से, उसी में जम जाने, रम जाने से जो अरहंत-सिद्धदशारूप पर्याय प्रगट होती है; उस पर्याय सहित आत्मा कार्यशुद्धजीव है।

मतिज्ञानादि पर्यायों से युक्त जीव अशुद्धजीव है।

इसके साथ यह भी स्पष्ट किया गया है कि संग्रहनय से जो जीता था, जीता है और जियेगा, वह जीव है; व्यवहारनय से द्रव्यप्राणों से जीनेवाला संसारी जीव, जीव है और निश्चयनय से चेतना प्राण से जीनेवाला जीव, जीव है।।९।।

इसके उपरान्त टीकाकार एक कलशरूप काव्य लिखते हैं, जिसमें छह द्रव्यों को सही रूप में जानकर उनकी श्रद्धा करने का फल बताया गया है। छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(रोला)

जिनपति द्वारा कथित मार्गसागर में स्थित।
अरे तेज के पुंज विविध विध किरणों वाले।।
छह द्रव्यों रूपी रत्नों को तीक्ष्णबुद्धि जन।
धारण करके पा जाते हैं मुक्ति सुन्दरी।।१६।।

जिनपति के मार्गरूपी सागर के मध्य में स्थित, तेज के अंबार के कारण किरणोंवाला षट् द्रव्य के समूहरूप रत्न को, जो तीक्ष्णबुद्धिवाला पुरुष हृदय में शोभा के लिए भूषण के रूप में धारण करता है; वह पुरुष परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होता है।

तात्पर्य यह है कि जो पुरुष अंतरंग में उक्त छह द्रव्यों की यथार्थ श्रद्धा करता है, वह मुक्तिरूपी लक्ष्मी का वरण करता है।

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होइ।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विहावणाणं ति ।।१०।।

जीव उपयोगमयः उपयोगो ज्ञानदर्शनं भवति।
ज्ञानोपयोगो द्विविधः स्वभावज्ञानं विभावज्ञानमिति ।।१०।।

अत्रोपयोगलक्षणमुक्तम्। आत्मनश्चैतन्यानुवर्ती परिणामः स उपयोगः। अयं धर्मः। जीवो धर्मी। अनयोः सम्बन्धः प्रदीपप्रकाशवत्। ज्ञानदर्शनविकल्पेनासौ द्विविधः। अत्र ज्ञानोपयोगोऽपि स्वभावविभावभेदाद् द्विविधो भवति। इह हि स्वभावज्ञानम् अमूर्तम् अव्याबाधम् अतीन्द्रियम् अविनश्वरम्। तच्च कार्यकारणरूपेण द्विविधं भवति। कार्यं तावत् सकलविमलकेवलज्ञानम्। तस्य कारणं परमपारिणामिकभावस्थितत्रिकालनिरुपाधिरूपं

इसप्रकार इस छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि जो भव्यजीव जिनेन्द्रभगवान की दिव्यध्वनि में समागत, जिनागम में निरूपित द्रव्य व्यवस्था या तत्त्वव्यवस्था को जानकर, उसकी श्रद्धा करता है और तदनुसार आचरण करता है; वह भव्यजीव अतिशीघ्र मुक्ति दशा को प्राप्त करता है।।१६।।

नौंवीं गाथा में छह द्रव्यों की सामान्य चर्चा की; अब इस गाथा में जीवद्रव्य की चर्चा विस्तार से करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जीव है उपयोगमय उपयोग दर्शन ज्ञान है।
स्वभाव और विभाव इस विधि ज्ञान दोय प्रकार है।।१०।।

जीव उपयोगमय और उपयोग ज्ञान और दर्शन है। इनमें ज्ञानोपयोग स्वभावज्ञान और विभावज्ञान के भेद से दो प्रकार का है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस गाथा में उपयोग का लक्षण कहा गया है। चैतन्य का अनुसरण करके वर्तनेवाला आत्मा का परिणाम उपयोग है। उपयोग धर्म और जीव धर्मी है। धर्म और धर्मी में प्रकाश और दीपक जैसा संबंध है।

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के भेद से उपयोग दो प्रकार का है। इसमें ज्ञानोपयोग भी स्वभावज्ञानोपयोग और विभावज्ञानोपयोग के भेद से दो प्रकार का है। इनमें स्वभाव-ज्ञानोपयोग अमूर्त, अव्याबाध, अतीन्द्रिय और अविनाशी है। वह स्वभावज्ञानोपयोग कारणस्वभावज्ञानोपयोग और कार्यस्वभावज्ञानोपयोग के भेद से दो प्रकार का है।

कार्यस्वभाव ज्ञानोपयोग तो सम्पूर्णतः निर्मल केवलज्ञान है और उसका कारण परम-पारिणामिकभावरूप से स्थित त्रिकाल निरुपाधिक सहजज्ञान कारणस्वभावज्ञानोपयोग है।

सहजज्ञानं स्यात् । केवलं विभावरूपाणि ज्ञानानि त्रीणि कुमतिकुश्रुतविभङ्गभाञ्जि भवंति । एतेषाम् उपयोगभेदानां ज्ञानानां भेदो वक्ष्यमाणसूत्रयोर्द्वयोर्बोद्धव्य इति ।

(मालिनी)

अथ सकलजिनोक्तज्ञानभेदं प्रबुद्ध्वा ।
परिहृतपरभावः स्वस्वरूपे स्थितो यः ।।
सपदि विशति यत्तच्चिच्चमत्कारमात्रं ।
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ।।१७।।

कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि ह्न ये तीन ज्ञान केवल (मात्र) विभावरूप हैं अर्थात् विभावज्ञानोपयोगरूप हैं ।

इन उपयोग के भेदरूप ज्ञान के भेदों को आगे ग्यारहवीं और बारहवीं ह्न दो गाथा सूत्रों में कहा जायेगा; अतः उन्हें विशेषरूप से वहाँ से जानना चाहिए ।''

गाथा में तो मात्र इतना ही कहा है कि जीव उपयोगमय है और उपयोग ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के भेद से दो प्रकार का होता है। ज्ञानोपयोग भी स्वभावज्ञानोपयोग और विभावज्ञानोपयोग के भेद से दो प्रकार का होता है; किन्तु टीकाकार न केवल इन सभी का स्वरूप स्पष्ट करते हैं, अपितु यह भी कह देते हैं कि उपयोग के शेष भेदों को आगामी दो गाथाओं में समझायेंगे ।।१०।।

इसके बाद श्री पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं, छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(रोला)

जिनपति द्वारा कथित ज्ञान के भेद जानकर ।
परभावों को त्याग निजातम में रम जाते ।।
कर प्रवेश चित्चमत्कार में वे मुमुक्षुगण ।
अल्पकाल में पा जाते हैं मुक्तिसुन्दरी ।।१७।।

जिनेन्द्रकथित समस्त ज्ञान के भेदों को जानकर जो पुरुष परभावों का परिहार करके निजस्वरूप में रहते हुए चैतन्यचमत्कार तत्त्व में शीघ्र ही प्रविष्ट हो जाता है, उसकी गहराई में उतर जाता है; वह पुरुष मुक्ति सुन्दरी का पति हो जाता है ।

इस कलश में मात्र इतना कहा गया है कि जो भव्यजीव जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि में समागत उपयोग के भेद-प्रभेदों को भलीभांति जानकर निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करके अपने में ही स्थित हो जाते हैं, समा जाते हैं; वे भव्यजीव अतिशीघ्र मुक्त दशा को प्राप्त कर लेते हैं ।।१७।।

केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं ति ।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं ।।११।।
सण्णाणं चउभेयं मदिसुदओही तहेव मणपज्जं ।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई भेददो चेव ।।१२।।

केवलमिन्द्रियरहितं असहायं तत्स्वभावज्ञानमिति ।
संज्ञानेतरविकल्पे विभावज्ञानं भवेद् द्विविधिम् ।।११।।
संज्ञानं चतुर्भेदं मतिश्रुतावधयस्तथैव मन:पर्ययम् ।
अज्ञानं त्रिविकल्पं मत्यादेर्भेदतश्चैव ।।१२।।

अत्र च ज्ञानभेदलक्षणमुक्तम् । निरुपाधिस्वरूपत्वात् केवलम्, निरावरणस्वरूपत्वात् क्रमकरणव्यवधानापोढम्, अप्रतिवस्तुव्यापकत्वात् असहायम्, तत्कार्यस्वभावज्ञानं भवति । कारणज्ञानमपि तादृशं भवति । कुत:, निजपरमात्मस्थितसहजदर्शनसहजचारित्रसहजसुख–

उपयोग के अनेक भेद–प्रभेदों की चर्चा विगत गाथा में आरंभ की थी, अब इन गाथाओं में भी उसी चर्चा को आगे बढ़ाते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

अतीन्द्रिय असहाय केवलज्ञान ज्ञान स्वभाव है।
सम्यक् असम्यक् पने से यह द्विविध ज्ञान विभाव है।।११।।
मतिश्रुतावधि मन:पर्यय चार सम्यग्ज्ञान हैं।
कुमति कुश्रुत अर कुवधि ये तीन मिथ्याज्ञान हैं।।१२।।

जो ज्ञान (केवलज्ञान) इन्द्रिय रहित और असहाय है; वह स्वभाव ज्ञान है । विभावज्ञान सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान के भेद से दो प्रकार का है ।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्यज्ञान के भेद से सम्यग्ज्ञान चार प्रकार का है और कुमति, कुश्रुत और कुवधि के भेद से मिथ्याज्ञान तीन प्रकार का है ।

इन गाथाओं का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ ज्ञान के भेद कहे हैं । जो उपाधि से रहित होने से केवल (शुद्ध, मिलावटरहित) है; आवरणरहितस्वभाववाला होने से क्रम, इन्द्रिय और देश–कालादि के व्यवधान से रहित है; किसी भी वस्तु में व्याप्त नहीं होता, इसलिए असहाय है; वह कार्यस्वभाव–ज्ञानोपयोग है । कारणस्वभावज्ञानोपयोग अर्थात् सहजज्ञानोपयोग भी वैसा ही है; क्योंकि वह निज परमात्मा में विद्यमान सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहज–सुख और सहज–

सहजपरमचिच्छक्तिनिजकारणसमयसारस्वरूपाणि च युगपत् परिच्छेत्तुं तथाविधमेव।

इति शुद्धज्ञानस्वरूपमुक्तम्।

इदानीं शुद्धाशुद्धज्ञानस्वरूपभेदस्त्वयमुच्यते। अनेकविकल्पसनाथं मतिज्ञानम् उपलब्धि-भावनोपयोगाच्च अवग्रहादिभेदाश्च बहुबहुविधादिभेदाद्वा। लब्धिभावनाभेदाच्छ्रुतज्ञानं द्विविधम्। देशसर्वपरमभेदादवधिज्ञानं त्रिविधम्। ऋजुविपुलमतिविकल्पान्मनःपर्ययज्ञानं च द्विविधम्। परमभावस्थितस्य सम्यग्दृष्टेरेतत्संज्ञानचतुष्कं भवति। मतिश्रुतावधिज्ञानानि मिथ्या-दृष्टिं परिप्राप्य कुमतिकुश्रुतविभङ्गज्ञानानीति नामान्तराणि प्रपेदिरे।

अत्र सहजज्ञानं शुद्धान्तस्तत्त्वपरमतत्त्वव्यापकत्वात् स्वरूपप्रत्यक्षम्। केवलज्ञानं सकल-प्रत्यक्षम्। 'रूपिष्ववधेः' इति वचनादवधिज्ञानं विकलप्रत्यक्षम्। तदनन्तभागवस्त्वंशग्राहक-त्वान्मनःपर्ययज्ञानं च विकल प्रत्यक्षम्। मतिश्रुतज्ञानद्वितयमपि परमार्थतः परोक्षं, व्यवहारतः प्रत्यक्षं च भवति।

किं च उक्तेषु ज्ञानेषु साक्षान्मोक्षमूलमेकं निजपरमतत्त्वनिष्ठसहजज्ञानमेव। अपि च पारिणामिकभावस्वभावेन भव्यस्य परमस्वभावत्वात् सहजज्ञानादपरमुपादेयं न समस्ति।

परमचित्शक्तिरूप निजकारणसमयसार के स्वरूपों को युगपद् जानने में समर्थ है। इसप्रकार यह शुद्धज्ञान का स्वरूप कहा गया।

अब शुद्धाशुद्धज्ञान का स्वरूप और भेद कहे जाते हैं। उपलब्धि, भावना और उपयोग के भेद से तथा अवग्रहादि के भेद से अथवा बहु, बहुविध आदि के भेद से मतिज्ञान अनेक भेदवाला है। लब्धि और भावना के भेद से श्रुतज्ञान दो प्रकार का है।

देशावधि, सर्वावधि और परमावधि के भेद से अवधिज्ञान तीन प्रकार का है।

ऋजुमति और विपुलमति के भेद से मनःपर्ययज्ञान दो प्रकार का है। परमभाव में स्थित सम्यग्दृष्टियों को ये चार सम्यग्ज्ञान होते हैं। मिथ्यादृष्टियों को होनेवाले मति, श्रुत और अवधिज्ञानों को क्रमशः कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि कहा जाता है।

उपर्युक्त ज्ञानों में सहजज्ञान, शुद्ध अन्तःतत्त्वरूप परमतत्त्व में व्यापक होने से स्वरूपप्रत्यक्ष है। केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है। 'रूपिष्ववधेः ह्न अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ है' ह्न ऐसा आगम का वचन होने से अवधिज्ञान विकलप्रत्यक्ष (एकदेशप्रत्यक्ष) है।

उसके अनंतवें भाग वस्तु के अंश का ग्राहक होने से मनःपर्ययज्ञान भी विकलप्रत्यक्ष (एकदेशप्रत्यक्ष) है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परमार्थ से परोक्ष हैं और व्यवहार से प्रत्यक्ष हैं।

दूसरी बात यह है कि उक्त ज्ञानों में साक्षात् मोक्ष का मूल कारण तो निज परमतत्त्व में स्थित एकमात्र सहजज्ञान ही है। पारिणामिकभावरूप स्वभाव के कारण वह सहजज्ञान भव्यों का परमस्वभाव होने से एकमात्र उपादेय है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है।

अनेन सहजचिद्विलासरूपेण सदा सहजपरमवीतरागशर्मामृतेन अप्रतिहतनिरावरणपरम-चिच्छक्तिरूपेण सदान्तर्मुखे स्वस्वरूपाविचलस्थितिरूपसहजपरमचारित्रेण त्रिकालेष्व-व्युच्छिन्नतया सदा सन्निहितपरमचिद्रूपश्रद्धानेन अनेन स्वभावानंतचतुष्टयेन सनाथम् अनाथ-मुक्तिसुन्दरीनाथम् आत्मानं भावयेत्।

इत्यनेनोपन्यासेन संसारव्रततिमूललवित्रेण ब्रह्मोपदेशः कृत इति।

इस सहजचिद्विलासरूप, सदा सहज परमवीतरागसुखामृत, अप्रतिहतनिरावरण परम-चित्शक्तिरूप, सदा अन्तर्मुख स्वस्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहजपरमचारित्र और त्रिकाल अविच्छिन्न होने से; सदा निकट परमचैतन्य की श्रद्धा से एवं स्वभाव अनन्त चतुष्टय से सनाथ एवं अनाथमुक्तिसुन्दरी के नाथ आत्मा को निरन्तर भाना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि भाने योग्य, अनुभव करने योग्य तो एकमात्र सहजज्ञानविलासरूप से स्वभाव अनंतचतुष्टययुक्त आत्मा ही है।

इसप्रकार संसाररूपी लता के मूल को छेदने के लिए हंसियारूप इस उपन्यास (कथन) से ब्रह्मोपदेश किया।''

१०वीं, ११वीं और १२वीं गाथाओं की तात्पर्यवृत्ति टीका का गहराई से अध्ययन करने पर एक बात यह भासित होती है कि कारणस्वभावज्ञान दो प्रकार का है।

एक तो वह निष्क्रिय तत्त्व, जिसमें अपनापन स्थापित करने का नाम सम्यग्दर्शन है, जिसको निजरूप जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है और जिसमें जमने-रमने या जिसका ध्यान करने का नाम सम्यक्चारित्र है।

दूसरा वह, जिसमें उसे जानने की शक्ति है। यह प्रगटरूप नहीं है, शक्तिरूप ही है; क्योंकि प्रगटदशारूप तो कार्यस्वभावज्ञान है।

इसीप्रकार की बात तीसरी गाथा में कारणनियम के संदर्भ में भी की गई है।

यह दूसरे प्रकार का कारणस्वभावज्ञान स्वरूपप्रत्यक्ष है और कार्यस्वभावज्ञान अर्थात् केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है। दूसरे प्रकार के कारणस्वभावज्ञान को सहजज्ञान भी कहते हैं।

केवलज्ञान को छोड़कर शेष चार विभावज्ञानोपयोग है। उनमें अवधि ज्ञान और मन:पर्ययज्ञान विकलप्रत्यक्ष अर्थात् एकदेशप्रत्यक्ष हैं और मतिज्ञान व श्रुतज्ञान निश्चय से तो परोक्ष ही हैं; पर व्यवहार से उन्हें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहते हैं।।११-१२।।

इन गाथाओं के उपरान्त मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव तात्पर्यवृत्ति टीका में पाँच छन्द लिखते हैं।

(मालिनी)

इति निगदितभेदज्ञानमासाद्य भव्यः।
परिहरतु समस्तं घोरसंसारमूलम्।।
सुकृतमसुकृतं वा दुःखमुच्चैः सुखं वा।
तत उपरि समग्रं शाश्वतं शं प्रयाति।।१८।।

(अनुष्टुभ्)

परिग्रहाग्रहं मुक्त्वा कृत्वोपेक्षां च विग्रहे।
निर्व्यग्रप्रायचिन्मात्रविग्रहं भावयेद् बुधः।।१९।।

(शार्दूलविक्रीडित)

शस्ताशस्तसमस्तरागविलयान्मोहस्य निर्मूलनाद्
द्वेषाम्भःपरिपूर्णमानसघटप्रध्वंसनात् पावनम्।
ज्ञानज्योतिरनुत्तमं निरुपधि प्रव्यक्ति नित्योदितं
भेदज्ञानमहीजसत्फलमिदं वन्द्यं जगन्मंगलम्।।२०।।

उक्त पाँच छन्दों में पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

इसप्रकार का भेदज्ञान पाकर जो भविजन।
भवसागर के मूलरूप जो सुक्ख-दुक्ख हैं।।
सुकृत-दुष्कृत होते जो उनके भी कारण।
उन्हें छोड़ वे शाश्वत सुख को पा जाते हैं।।१८।।

इसप्रकार कहे गये भेदविज्ञान को पाकर हे भव्यजीवो ! घोर संसार के मूलरूप सभी सुख-दुःख और पुण्य-पाप को छोड़ दो; क्योंकि इन्हें छोड़ने पर जीव शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेते हैं।।१८।।

उक्त पाँच छन्दों में दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

करो उपेक्षा देह की परिग्रह का परिहार।
अव्याकुल चैतन्य को भावो भव्य विचार।।१९।।

परिग्रह का आग्रह छोड़कर और शरीर के प्रति उपेक्षा करके निराकुलता से भरा हुआ चैतन्यमात्र है शरीर जिसका; उस आत्मा की भावना भाओ।

उक्त दोनों छन्दों में पुण्य-पाप और उनके फल में प्राप्त होनेवाले लौकिक सुख-दुख

(मंदाक्रांता)

मोक्षे मोक्षे जयति सहजज्ञानमानन्दतानं
निर्व्याबाधं स्फुटितसहजावस्थमन्तर्मुखं च।
लीनं स्वस्मिन्सहजविलसच्चिच्चमत्कारमात्रे
स्वस्य ज्योतिःप्रतिहततमोवृत्ति नित्याभिरामम् ।।२१।।

तथा परिग्रह का आग्रह छोड़ने तथा शरीर की उपेक्षा करके आत्मा की भावना भाने का अनुरोध किया गया है; क्योंकि ऐसा करने से शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।।१९।।

उक्त पाँच छन्दों में तीसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

यदि मोह का निर्मूलन अर विलय द्वेष का।
और शुभाशुभ रागभाव का प्रलय हो गया।।
तो पावन अतिश्रेष्ठज्ञान की ज्योति उदित हो।
भेदज्ञानरूपी तरु का यह फल मंगलमय।।२०।।

मोह का निर्मूलन करने से, प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त राग का विलय करने से तथा द्वेषरूपी ज्ञान से भरे हुए मनरूपी घड़े का नाश करने से; पवित्र, अनुत्तम और नित्य उदित ज्ञानज्योति प्रगट होती है। भेदज्ञानरूपी वृक्ष का यह सत्फल वंदनीय है, जगत् को मंगलरूप है।

उक्त छन्द में भेदज्ञान और ज्ञानज्योति की वंदना की गई है।।२०।।

सहजज्ञान की महिमा बतानेवाले चौथे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

जिसकी विकसित सहजदशा अंतर्मुख जिसने।
तमोवृत्ति को नष्ट किया है निज ज्योति से।।
सहजभाव से लीन रहे चित् चमत्कार में।
सहजज्ञान जयवंत रहे सम्पूर्ण मोक्ष में।।२१।।

आनन्द जिसका विस्तार है, जो अव्याबाध है, जिसकी सहज दशा विकसित हो गई है, जो अन्तर्मुख है, जो अपने में अर्थात् सहज विलसते चित्चमत्कार मात्र में लीन है, जिसने निजज्योति से अज्ञानांधकार को नष्ट किया है और नित्य अभिराम है; वह सहजज्ञान सम्पूर्ण मोक्ष में जयवंत वर्तता है।

इस छन्द में सहजज्ञान को अव्याबाध सहजानन्दमय ज्योतिस्वरूप बताया गया है और उसके जयवंत रहने की भावना व्यक्त की गई है।।२१।।

(अनुष्टुभ्)

सहजज्ञानसाम्राज्यसर्वस्वं शुद्धचिन्मयम् ।
ममात्मानमयं ज्ञात्वा निर्विकल्पो भवाम्यहम् ।।२२।।

तह दंसणउवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो ।
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं ।।१३।।

तथा दर्शनोपयोग: स्वस्वभावेतरविकल्पतो द्विविध: ।
केवलमिन्द्रियरहितं असहायं तत् स्वभाव इति भणित: ।।१३।।

दर्शनोपयोगस्वरूपाख्यानमेतत् । यथा ज्ञानोपयोगो बहुविधविकल्पसनाथ: दर्शनोपयोग–श्च तथा । स्वभावदर्शनोपयोगो विभावदर्शनोपयोगश्च । स्वभावोऽपि द्विविध: कारणस्वभाव:

उक्त पाँच छन्दों में से अन्तिम पाँचवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(सोरठा)

सहजज्ञान सर्वस्व शुद्ध चिदातम आतमा।
उसे जान अविलम्ब निर्विकल्प मैं हो रहा ।।२२।।

सहजज्ञानरूपी साम्राज्य जिसका सर्वस्व है ह्न ऐसे शुद्ध चैतन्य अपने आत्मा को जानकर अब मैं निर्विकल्प होता हूँ ।

इस छन्द में तो मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव आत्मा को जानकर, उसी में जमकर, रमकर निर्विकल्प होने की बात कर रहे हैं ।।२२।।

विगत गाथाओं में ज्ञानोपयोग की चर्चा की गई है; अब इस गाथा में दर्शनोपयोग की चर्चा आरंभ करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

स्वभाव और विभाव दर्शन भी कहा दो रूप में।
पर अतीन्द्रिय असहाय केवल स्वभावदर्शन ही कहा ।।१३।।

उसीप्रकार दर्शनोपयोग भी स्वभावदर्शनोपयोग और विभाव–दर्शनोपयोग के भेद से दो प्रकार का है । जो केवलदर्शन इन्द्रियरहित और असहाय है; वह स्वभावदर्शनोपयोग है ।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह दर्शनोपयोग के स्वरूप का व्याख्यान है । जिसप्रकार ज्ञानोपयोग अनेकप्रकार के भेदोंवाला है; उसीप्रकार दर्शनोपयोग भी अनेकप्रकार के भेदोंवाला है ।

स्वभावदर्शनोपयोग और विभावदर्शनोपयोग के भेद से दर्शनोपयोग दो प्रकार का है ।

कार्यस्वभावश्चेति। तत्र कारणदृष्टिः सदा पावनरूपस्य औदयिकादिचतुर्णां विभावस्वभाव-परभावानामगोचरस्य सहजपरमपारिणामिकभावस्वभावस्य कारणसमयसारस्वरूपस्य निरावरणस्वभावस्य स्वस्वभावसत्तामात्रस्य परमचैतन्यसामान्यस्वरूपस्य अकृत्रिमपरमस्व-स्वरूपाविचलस्थितिसनाथशुद्धचारित्रस्य नित्यशुद्धनिरंजनबोधस्य निखिलदुरघवीरवैरिसेना-वैजयन्तीविध्वंसकारणस्य तस्य खलु स्वरूपश्रद्धानमात्रमेव।

अन्या कार्यदृष्टिः दर्शनज्ञानावरणीयप्रमुखघातिकर्मक्षयेण जातैव। अस्य खलु क्षायिक-जीवस्य सकलविमलकेवलावबोधबुद्धभुवनत्रयस्य स्वात्मोत्थपरमवीतरागसुखसुधासमुद्रस्य यथाख्याताभिधानकार्यशुद्धचारित्रस्य साद्यनिधानामूर्तातींद्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहार-नयात्मकस्य त्रैलोक्यभव्यजनताप्रत्यक्षवंदनायोग्यस्य तीर्थंकरपरमदेवस्य केवलज्ञानवदियम-पियुगपल्लोकालोकव्यापिनी।

इति कार्यकारणरूपेण स्वभावदर्शनोपयोगः प्रोक्तः विभावदर्शनोपयोगोऽप्युत्तरसूत्रस्थित-त्वात् तत्रैव दृश्यत इति।

स्वभावदर्शनोपयोग भी दो प्रकार का है ह्न कारणस्वभावदर्शनोपयोग और कार्यस्वभाव-दर्शनोपयोग।

कारणदृष्टि तो; औदयिकादि चार विभावस्वभावपरभावों को अगोचर सहज परम-पारिणामिकभावरूप निरावरण जिसका स्वभाव है, जो कारणसमयसारस्वरूप है, जो निजस्वभाव सत्तामात्र है, जो परमचैतन्य सामान्यस्वरूप है, जो अकृत्रिम परमस्वस्वरूप में अविचल स्थितिमय शुद्धचारित्रस्वरूप है, जो नित्यशुद्धनिरंजनज्ञानस्वरूप है और जो समस्त दुष्ट पापोंरूप वीर शत्रुसेना की ध्वजा के नाश का कारण है; ऐसे सदा पावनरूप आत्मा के यथार्थ स्वरूप श्रद्धानमात्र ही है। तात्पर्य यह है कि कारणदृष्टि तो शुद्धात्मा की स्वरूपश्रद्धामात्र ही है।

और कार्यदृष्टि; दर्शनावरण, ज्ञानावरणादि प्रमुख घातिकर्मों के क्षय से उत्पन्न होती है। जिसने सकल विमल केवलज्ञान द्वारा तीन भुवन को जाना है; निज आत्मा से उत्पन्न होनेवाले परमवीतरागसुखामृत का जो समुद्र है, जो यथाख्यात नामक कार्यशुद्धचारित्रस्वरूप है, जो सादि-अनंत अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाले शुद्धसद्भूतव्यवहारनयात्मक है और जो त्रिलोक के भव्यजनों से प्रत्यक्ष वंदना योग्य है ह्न ऐसे इस क्षायिक जीव तीर्थंकर परमदेव को, केवलज्ञान की भांति यह (कार्यदृष्टि) भी युगपत् लोकालोक में व्याप्त होनेवाली है।

इसप्रकार कार्यरूप और कारणरूप से स्वभावदर्शनोपयोग कहा। विभावदर्शनोपयोग अगले चौदहवें गाथासूत्र में बताया जायेगा।''

आत्मा में अनन्त गुण हैं। उनमें ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, सुख, चारित्र, वीर्य आदि गुण मोक्षमार्ग में उपयोगी होने से मुख्य माने गये हैं।

(इन्द्रवज्रा)

दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मकमेकमेव चैतन्यसामान्यनिजात्मतत्त्वम् ।
मुक्तिस्पृहाणामयनं तदुच्चैरेतेन मार्गेण विना न मोक्ष ।।२३।।

चक्खु अचक्खू ओही तिण्णि वि भणिदं विहावदिट्ठि त्ति ।
पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो ।।१४।।

चक्षुरचक्षुरवधयस्तिस्रोपि भणिता विभावदृष्टय इति ।
पर्य्यायो द्विविकल्प: स्वपरापेक्षश्च निरपेक्ष: ।।१४।।

मतिज्ञानादि ज्ञान ज्ञानगुण की पर्यायें हैं, चक्षुदर्शनादि दर्शन दर्शन गुण की पर्यायें हैं और सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन श्रद्धागुण की पर्यायें हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि दर्शनगुण और श्रद्धागुण एकदम भिन्न-भिन्न हैं। श्रद्धागुण की पर्यायों में सम्यक् और मिथ्या का भेद है, पर दर्शनगुण की पर्यायों में ऐसा कोई भेद नहीं है। श्रद्धागुण का मुक्ति के मार्ग में महत्त्वपूर्ण स्थान है, पर दर्शनगुण का इतना महत्त्व नहीं है।

यद्यपि यहाँ उपयोगरूप दर्शनगुण का ही प्रकरण है; तथापि मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ने यहाँ इस गाथा की टीका में दर्शन शब्द का प्रयोग अपनी सुविधानुसार देखना और श्रद्धा करना ह्न दोनों ही अर्थों में किया है। अत: यह सावधानी आवश्यक है कि जहाँ जो अर्थ प्रकरणानुसार उचित हो, वहाँ हम वही अर्थ ग्रहण करें।।१३।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

दर्शनज्ञानचरित्रमय चित् सामान्यस्वरूप।
मार्ग मुमुक्षुओं के लिए अन्य न कोई स्वरूप ।।२३।।

दृशि, ज्ञप्ति और वृत्तिस्वरूप अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप से परिणमित चैतन्य-सामान्यरूप निज आत्मतत्त्व मुमुक्षुओं को मोक्ष का प्रसिद्ध मार्ग है; क्योंकि इस मार्ग के बिना मोक्ष नहीं है।

इस कलश में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में मात्र यही कहा गया है कि आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप में परिणमन ही एकमात्र मुक्ति का मार्ग है, अन्य कुछ भी नहीं।।२३।।

विगत गाथा में जिस दर्शनोपयोग की चर्चा की गई है; अब उसी चर्चा को आगे बढ़ाते हुए कुन्दकुन्दाचार्यदेव १४वीं गाथा लिखते हैं।

अशुद्धदृष्टिशुद्धाशुद्धपर्यायसूचनेयम्। मतिज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमेन यथा मूर्तं वस्तु जानाति तथा चक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मक्षयोपशमेन मूर्तं वस्तु पश्यति च। यथा श्रुतज्ञानावरणीय-कर्मक्षयोपशमेन श्रुतद्वारेण द्रव्यश्रुतनिगदितमूर्तामूर्तसमस्तं वस्तुजातं परोक्षवृत्त्या जानाति तथैवाचक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मक्षयोपशमेन स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रद्वारेण तत्तद्योग्यविषयान् पश्यति च। यथा अवधिज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमेन शुद्धपुद्गलपर्यंतं मूर्तद्रव्यं जानाति तथा अवधि-दर्शनावरणीयकर्मक्षयोपशमेन समस्तमूर्तपदार्थं पश्यंति च।

अत्रोपयोगव्याख्यानानन्तरं पर्यायस्वरूपमुच्यते। परि समन्तात् भेदमेति गच्छतीति पर्यायः। अत्र स्वभावपर्यायः षड्द्रव्यसाधारणः अर्थपर्यायः अवाङ्मनसगोचरः अतिसूक्ष्मः

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

चक्षु अचक्षु अवधि त्रय दर्शन विभाव कहे गये।
पर्याय स्वपरापेक्ष अर निरपेक्ष द्विविध प्रकार है ॥१४॥

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ह्न ये दर्शन विभावदर्शन कहे गये हैं। स्वपरापेक्ष और निरपेक्ष के भेद से पर्यायें दो प्रकार की हैं।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह अशुद्ध दर्शन तथा शुद्ध और अशुद्ध पर्याय की सूचना है।

जिसप्रकार यह जीव मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से मूर्त वस्तुओं को जानता है; उसीप्रकार चक्षुदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से मूर्त वस्तुओं को देखता है।

जिसप्रकार यह जीव श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से श्रुत द्वारा द्रव्यश्रुत में कहे गये मूर्त-अमूर्त समस्त वस्तुओं को परोक्षरूप से जानता है; उसीप्रकार अचक्षु दर्शनावरण के क्षयोपशम से स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण द्वारा उस-उसके योग्य विषयों को देखता है।

जिसप्रकार यह जीव अवधि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से शुद्ध पुद्गल (परमाणु) पर्यन्त मूर्त द्रव्य को जानता है; उसीप्रकार अवधि दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से समस्त मूर्त पदार्थों को देखता है। इसप्रकार उपयोग का व्याख्यान करने के उपरान्त अब यहाँ पर्याय का स्वरूप कहा जाता है।

जो सभी ओर से भेद को प्राप्त हो, उसे पर्याय कहते हैं। उसमें सभी छह द्रव्यों में सामान्यरूप से पाई जानेवाली स्वभावपर्याय अर्थपर्याय है। वह अर्थपर्याय वाणी और मन के अगोचर अतिसूक्ष्म है, आगम प्रमाण से स्वीकार करने योग्य है और छहप्रकार की हानि-वृद्धि सहित है। यह षट्प्रकार की वृद्धि इसप्रकार है ह्न

आगमप्रामाण्यादभ्युपगम्योऽपि च षड्हानिवृद्धिविकल्पयुतः। अनंतभागवृद्धिः असंख्यात-भागवृद्धिः संख्यातभागवृद्धिः संख्यातगुणवृद्धिः असंख्यातगुणवृद्धिः अनन्तगुणवृद्धिः, तथा हानिश्च नीयते। अशुद्धपर्यायो नरनारकादिव्यंजनपर्याय इति।

(मालिनी)

अथ सति परभावे शुद्धमात्मानमेकं।
सहजगुणमणीनामाकरं पूर्णबोधम्।।
भजति निशितबुद्धिर्यः पुमान् शुद्धदृष्टिः।
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः।।२४।।

इति परगुणपर्यायेषु सत्सूत्तमानां।
हृदयसरसिजाते राजते कारणात्मा।।
सपदि समयसारं तं परं ब्रह्मरूपं।
भज भजसि निजोत्थं भव्यशार्दूल स त्वम्।।२५।।

---

१. अनन्तभागवृद्धि, २. असंख्यातभागवृद्धि, ३. संख्यातभागवृद्धि, ४. संख्यातगुणवृद्धि, ५. असंख्यातगुणवृद्धि और ६. अनंतगुणवृद्धि। इसीप्रकार छहप्रकार की हानि भी घटित कर लेना चाहिए। नर-नारकादि व्यंजनपर्यायें अशुद्धपर्यायें हैं।''

इसप्रकार इस गाथा में तीनप्रकार के विभावदर्शनों का स्वरूप स्पष्ट किया है। साथ में षट्गुणीहानिवृद्धिरूप शुद्ध अर्थपर्यायों और नर-नारकादिरूप अशुद्ध व्यंजनपर्यायों की चर्चा भी की गई है।।१४।।

१४वीं गाथा की टीका समाप्त करने के उपरान्त मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ३ छन्द लिखते हैं; जिसमें पहले व दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(वीर)

परभावों के होने पर भी परभावों से भिन्न जीव है।
सहजगुणों की मणियों का निधि है सम्पूरण शुद्ध जीव यह।।
ज्ञानानन्दी शुद्ध जीव को शुद्धदृष्टि से जो भजते हैं।
वही पुरुष सुखमय अविनाशी मुक्तिसुंदरी को वरते हैं।।२४।।

इसप्रकार गुणपर्यायों के होने पर भी कारण-आतम।
गहराई से राजमान है श्रेष्ठनरों के हृदयकमल में।।
स्वयं प्रतिष्ठित समयसारमय शुद्धातम को हे भव्योत्तम।
अभी भज रहे अरे उसी को गहराई से भजो निरन्तर।।२५।।

(पृथ्वी)

क्वचिल्लसति सद्गुणैः क्वचिदशुद्धरूपैर्गुणैः
क्वचित्सहजपर्ययैः क्वचिदशुद्धपर्यायकैः ।
सनाथमपि जीवतत्त्वमनाथं समस्तैरिदं
नमामि परिभावयामि सकलार्थसिद्ध्यै सदा ।।२६ ।।

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विहावमिदि भणिदा ।
कम्मोपाधिविवज्जिय पज्जाया ते सहावमिदि भणिदा ।।१५।।

परभावों के होने पर भी भगवान आत्मा तो सहज गुण मणियों की खान है, पूर्णज्ञानवाला होने पर भी शुद्ध है । ऐसे भगवान आत्मा को जो तीक्ष्णबुद्धिवाला शुद्धदृष्टि पुरुष भजता है; वह पुरुष मुक्तिसुन्दरी का वल्लभ बनता है ।

इसप्रकार पर गुण–पर्यायों के होने पर भी उत्तम पुरुषों के हृदय–कमल में तो कारण आत्मा ही विराजमान है । स्वयं से उत्पन्न परम–ब्रह्मस्वरूप जिस समयसार (शुद्धात्मा) को तू भज रहा है; हे भव्यशार्दूल! तू उसे और अधिक गहराई से भज; क्योंकि वस्तुतः तू वही है ।।२४–२५ ।।

(रोला)

क्वचित् सद्गुणों से आतम शोभायमान है।
असत् गुणों से युक्त क्वचित् देखा जाता है।।
इसी तरह है क्वचित् सहज पर्यायवान पर।
क्वचित् अशुभ पर्यायों वाला है यह आतम।।
नित सनाथ होने पर भी जो नित अनाथ है।
इन सबसे जो जीव उसी को मैं भाता हूँ।।
सब अर्थों की सिद्धि हेतु हे भविजन जानो।
सहज आतमाराम उसी को मैं ध्याता हूँ।।२६।।

यह जीवतत्त्व क्वचित् तो सद्गुणों से विलास करता दिखाई देता है, क्वचित् अशुद्धगुणों सहित दिखाई देता है, क्वचित् सहज पर्यायों सहित विलसित होता है और क्वचित् अशुद्धपर्यायों सहित दिखाई देता है । इन सबसे सनाथ (सहित) होने पर भी जो इन सबसे अनाथ (रहित) हैं; ऐसे जीवतत्त्व को मैं सकलार्थ की सिद्धि के लिए नमस्कार करता हूँ ।

यद्यपि यह भगवान आत्मा विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न प्रकार का दिखाई देता है; तथापि इस आत्मा की आराधना सभी प्रकार की सिद्धियों का साधन है ।।२६।।

नरनारकतिर्यक्सुराः पर्य्यायास्ते विभावा इति भणिताः ।
कर्मोपाधिविवर्जितपर्य्यायास्ते स्वभावा इति भणिताः ।।१५।।

स्वभावविभावपर्यायसंक्षेपोक्तिरियम् । तत्र स्वभावविभावपर्यायाणां मध्ये स्वभावपर्याय-स्तावत् द्विप्रकारेणोच्यते । कारणशुद्धपर्यायः कार्यशुद्धपर्यायश्चेति । इह हि सहजशुद्धनिश्चयेन अनाद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजपरमवीतरागसुखा-त्मकशुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपस्वभावानन्तचतुष्टयस्वरूपेण सहाञ्चितपंचमभावपरिणतिरेव कारणशुद्धपर्याय इत्यर्थः । साद्यनिधनामूर्तातींद्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञान-केवलदर्शनकेवलसुखकेवलशक्तियुक्तफलरूपानंतचतुष्टयेन सार्धं परमोत्कृष्टक्षायिकभावस्य शुद्धपरिणतिरेव कार्यशुद्धपर्यायश्च । अथवा पूर्वसूत्रोपात्तसूक्ष्मऋजुसूत्रनयाभिप्रायेण षड्द्रव्य-साधारणाः सूक्ष्मास्ते हि अर्थपर्यायाः शुद्धा इति बोद्धव्याः । उक्तः समासतः शुद्धपर्याय-विकल्पः।

१४वीं गाथा की दूसरी पंक्ति से पर्यायों की चर्चा आरंभ हुई है; अब इस १५वीं गाथा में उसी बात को आगे बढ़ाते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

नर नारकी तिर्यंच सुर पर्यय विभाव कही गईं।
निरपेक्ष कर्मोपधि सुध पर्यय स्वभाव कही गई ।।१५।।

नर, नारक, तिर्यंच और देव ह्न ये पर्यायें विभाव पर्यायें कही गई हैं और कर्मोपाधि निरपेक्ष पर्यायें स्वभाव पर्यायें कही गयी हैं।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह स्वभाव पर्यायों और विभाव पर्यायों का संक्षिप्त कथन है। इन स्वभाव और विभाव पर्यायों में कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय के भेद से स्वभावपर्याय दो प्रकार की कही गई है। सहजशुद्धनिश्चयनय से अनादि-अनंत, अमूर्त, अतीन्द्रियस्वभावी, शुद्ध, सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहज परमवीतरागसुखात्मक शुद्ध अन्तःतत्त्व-स्वरूप एवं स्वभाव अनन्तचतुष्टयस्वरूप के साथ रहने वाली पूजित पंचमभाव परिणति ही कारणशुद्धपर्याय है ह्न ऐसा अर्थ है।

और सादि-अनंत, अमूर्त, अतीन्द्रियस्वभावी शुद्धसद्भूतव्यवहार-नय से केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख के साथ तन्मयरूप से रहने वाली परमोत्कृष्ट क्षायिकभाव की शुद्धपरिणति ही कार्यशुद्धपर्याय है। अथवा पूर्वोल्लिखित गाथासूत्र में प्रतिपादित ऋजुसूत्रनय के अभिप्राय से छह द्रव्यों में सामान्यरूप से पाईं जानेवाली सूक्ष्म अर्थ-पर्यायें शुद्ध हैं ह्न ऐसा जानना चाहिए।

इदानीं व्यञ्जनपर्याय उच्यते। व्यज्यते प्रकटीक्रियते अनेनेति व्यञ्जनपर्यायः। कुतः? लोचनगोचरत्वात् पटादिवत्। अथवा सादिसनिधनमूर्तविजातीयविभावस्वभावत्वात्, दृश्यमानविनाशस्वरूपत्वात्।

व्यंजनपर्यायश्च पर्यायिनमात्मानमन्तरेण पर्यायस्वभावात्, शुभाशुभमिश्रपरिणामेनात्मा व्यवहारेण नरो जातः, तस्य नराकारो नरपर्यायः, केवलेनाशुभकर्मणा व्यवहारेणात्मा नारको जातः, तस्य नारकाकारो नारकपर्यायः, किंचिच्छुभमिश्रमायापरिणामेन तिर्यक्कायजो व्यवहारेणात्मा, तस्याकारस्तिर्यक्पर्यायः, केवलेन शुभकर्मणा व्यवहारेणात्मा देवः, तस्याकारो देवपर्यायश्चेति। अस्य पर्यायस्य प्रपञ्चो ह्यागमान्तरे दृष्टव्य इति।

इसप्रकार संक्षेप में शुद्धपर्याय के भेद कहे। अब व्यंजनपर्याय की चर्चा की जाती है। जिससे प्रगट हो, व्यक्त हो; वह व्यंजनपर्याय है। किसप्रकार ? वस्त्रादि के समान चक्षुगोचर होने से अथवा सादि-सांत, मूर्त, विजातीयस्वभाववाली होने से; दिखकर नष्ट होनेवाली होने से प्रगट होती है।

पर्यायी आत्मा के ज्ञान बिना आत्मा, पर्यायस्वभावी होने से व्यवहार नय से शुभाशुभरूप मिश्र परिणामों के कारण मनुष्य होता है; उसका वह मनुष्याकार ही मनुष्यपर्याय है; केवल अशुभकर्म से आत्मा नारकी होता है, उसका वह नारकाकार ही नारकपर्याय है; किंचित् शुभ मिश्रित माया परिणाम से आत्मा तिर्यंचकाय में जन्मता है, उसका वह तिर्यंचाकार ही तिर्यंचपर्याय है और केवल शुभकर्म से आत्मा देव होता है, उसका वह देवाकार देवपर्याय है ह्न यह व्यंजनपर्याय है। इस व्यंजनपर्याय का विस्तार अन्य आगम से देख लेना चाहिए।''

मूल गाथा की ऊपर की पंक्ति में विभावपर्यायरूप व्यंजनपर्यायों की बात की गई है और नीचे की पंक्ति में कर्मोपाधि से रहित स्वभाव पर्यायों की चर्चा की गई है; किन्तु टीकाकार मुनिराज टीका में पहले कारणशुद्धपर्याय, कार्यशुद्धपर्याय और षट्गुणीहानिवृद्धिरूप अर्थपर्यायों की अर्थात् स्वभावपर्यायों की चर्चा करते हैं।

यह वही महत्त्वपूर्ण गाथा है कि जिसकी दूसरी पंक्ति के 'कम्मोपाधि विवज्जिय' पद में से अन्यत्र अनुपलब्ध कारणशुद्धपर्याय निकालकर उसकी चर्चा विस्तार से की गई है। टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव का न केवल यह अनुपम अनुसंधान है, अपितु वे इस पर इतने मुग्ध हैं कि उन्होंने गाथाकार कुंदकुंददेव के प्रतिपादन क्रम को भी बदल दिया है।

कारणशुद्धपर्याय, कार्यशुद्धपर्याय और अर्थपर्याय की चर्चा करने के उपरान्त जब टीकाकार ने व्यंजनपर्यायों की चर्चा आरंभ की तो थोड़ी-बहुत करके कह दिया कि इसका विस्तार अन्य ग्रंथों से जान लेना। उनका यह उपक्रम उनकी तीव्रतम आध्यात्मिक रुचि को प्रदर्शित करता है।।१५।।

(मालिनी)

अपि च बहुविभावे सत्ययं शुद्धदृष्टिः
सहजपरमतत्त्वाभ्यासनिष्णातबुद्धिः ।
सपदि समयसारान्नान्यदस्तीति मत्त्वा
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ।।२७।।

माणुस्सा दुवियप्पा कम्ममहीभोगभूमिसंजादा ।
सत्तविहा णेरइया णादव्वा पुढविभेदेण ।।१६।।
चउदह भेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा ।
एदेसिं वित्थारं लोयविभागेषु णादव्वं ।।१७।।

इस गाथा की टीका के अन्त में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

बहुविभाव होने पर भी हैं शुद्धदृष्टि जो।
परमतत्त्व के अभ्यासी निष्णात पुरुष वे।।
'समयसार से अन्य नहीं है कुछ भी' ह्न ऐसा।
मान परमश्री मुक्तिवधू के वल्लभ होते।।२७।।

सहजपरमतत्त्व के अभ्यास में प्रवीण शुद्धदृष्टिवाला पुरुष, वर्तमान-पर्याय में अनेक विभाव होने पर भी 'समयसार से अन्य कुछ भी नहीं है' ह्न ऐसा मानकर शीघ्र ही परमश्रीरूपी मुक्तिसुन्दरी का वल्लभ होता है, मुक्तिसुन्दरी को प्राप्त करता है।

उक्त छन्द में एकमात्र बात यही कही गई है कि समयसार अर्थात् **पर और पर्यायों से भिन्न एवं कारणशुद्धपर्याय से अभिन्न निज भगवान आत्मा ही सबकुछ है** ह्न ऐसा माननेवाले को शीघ्रातिशीघ्र मुक्ति की प्राप्ति होती है।।२७।।

जिन मनुष्यादि व्यंजनपर्यायों की चर्चा विगत गाथा में की गई है, अब इन गाथाओं में उन्हीं पर्यायों के भेदों के प्रभेद गिनाते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

कर्मभूमिज भोगभूमिज मानवों के भेद हैं।
अर सात नरकों की अपेक्षा सप्तविध नारक कहे।।१६।।
चतुर्दश तिर्यंच एवं देव चार प्रकार के।
इन सभी का विस्तार जानो अरे लोक विभाग से।।१७।।

मानुषा द्विविकल्पाः कर्ममहीभोगभूमिसंजाताः ।
सप्तविधा नारका ज्ञातव्याः पृथ्वीभेदेन ।।१६।।
चतुर्दशभेदा भणितास्तिर्यंचः सुरगणाश्चतुर्भेदाः ।
एतेषां विस्तारो लोकविभागेषु ज्ञातव्यः ।।१७।।

चतुर्गतिस्वरूपनिरूपणाख्यानमेतत् । मनोरपत्यानि मनुष्याः । ते द्विविधाः, कर्मभूमिजा भोगभूमिजाश्चेति । तत्र कर्मभूमिजाश्च द्विविधाः, आर्या म्लेच्छाश्चेति । आर्याः पुण्यक्षेत्र–वर्तिनः । म्लेच्छाः पापक्षेत्रवर्तिनः । भोगभूमिजाश्चार्यनामधेयधरा जघन्यमध्यमोत्तमक्षेत्र–वर्तिनः एकद्वित्रिपल्योपमायुषः । रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभाभिधानसप्त–पृथ्वीनां भेदान्नारकजीवाः सप्तधा भवन्ति । प्रथमनरकस्य नारका ह्येकसागरोपमायुषः । द्वितीय नरकस्य नारकाः त्रिसागरोपमायुषः । तृतीयस्य सप्त । चतुर्थस्य दश । पञ्चमस्य सप्तदश । षष्ठस्य द्वाविंशतिः । सप्तमस्य त्रयस्त्रिंशत् ।

अथ विस्तारभयात् संक्षेपेणोच्यतो । तिर्यञ्चः सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तबादरैकेन्द्रिय–पर्याप्तकापर्याप्तकद्वींन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तकत्रीन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तकचतुरिन्द्रियपर्याप्तका–

कर्मभूमिज और भोगभूमिज ह्न इसप्रकार मनुष्य दो प्रकार के हैं। सात नरक भूमियों की अपेक्षा नारकी सात प्रकार के हैं। तिर्यंच चौदह प्रकार के और देव चार प्रकार के हैं। इनके बारे में विस्तृत जानकारी लोकविभाग नामक परमागम से करना चाहिए।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह चारों गतियों के स्वरूप का निरूपण है। मनु की संतान मनुष्य कर्मभूमिज और भोगभूमिज के भेद से दो प्रकार के होते हैं। आर्य और म्लेच्छ के भेद से कर्मभूमिज मनुष्य भी दो प्रकार के होते हैं। पुण्यक्षेत्र में रहनेवाले आर्य हैं और पापक्षेत्र में रहनेवाले म्लेच्छ हैं। भोगभूमिज मनुष्य आर्य ही हैं। वे जघन्य, मध्यम और उत्तम क्षेत्र में रहते हैं तथा एक पल्य, दो पल्य और तीन पल्य की आयुवाले होते हैं।

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और महातमप्रभा नामक सात पृथवियों के भेदों के कारण नारकी जीव सात प्रकार के होते हैं। पहले नरक के नारकी एक सागर, दूसरे नरक के नारकी तीन सागर, तीसरे नरक के नारकी सात सागर, चौथे नरक के नारकी दश सागर, पाँचवें नरक के नारकी सत्तरह सागर, छठवें नरक के नारकी बाईस सागर और सातवें नरक के नारकी तैंतीस सागर की आयुवाले होते हैं।

विस्तारभय से संक्षेप में बात करने से तिर्यंचों के चौदह भेद हैं।

(१–२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक और अपर्याप्तक।

(३–४) बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक और अपर्याप्तक।

पर्याप्तकासंज्ञिपंचेन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तकसंज्ञिपंचेन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तकभेदाच्चतुदर्शभेदा भवन्ति। भवनव्यंतरज्योतिःकल्पवासिकभेदाद्देवाश्चतुर्णिकायाः। एतेषां चतुर्गतिजीवभेदानां भेदो लोकविभागाभिधानपरमागमे दृष्टव्यः। इहात्मस्वरूपप्ररूपणान्तरायहेतुरिति पूर्वसूरिभिः सूत्रकृद्भिरनुक्त इति।

(मंदाक्रांता)

स्वर्गे वास्मिन्मनुजभुवने खेचरेन्द्रस्य दैवा–
ज्जोतिर्लोके फणपतिपुरे नारकाणां निवासे।
अन्यस्मिन् वा जिनपतिभवने कर्मणां नोऽस्तु सूतिः
भूयो भूयो भवतु भवतः पादपंकेजभक्तिः।।२८।।

(५–६) द्वीन्द्रिय पर्याप्तक और अपर्याप्तक।

(७–८) त्रीन्द्रिय पर्याप्तक और अपर्याप्तक।

(९–१०) चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक और अपर्याप्तक।

(११–१२) असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक और अपर्याप्तक।

(१३–१४) संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक और अपर्याप्तक।

भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी ह्न इसप्रकार देवों के चार निकाय हैं अर्थात् देव चार प्रकार के होते हैं। इन चार गति के जीवों के भेदों के भेद लोकविभाग नामक परमागम में देख लेना चाहिए; क्योंकि इस परमागम में आत्मस्वरूप के निरूपण में अन्तराय का हेतु जानकर गाथा सूत्रों को रचनेवाले पूर्वाचार्य कुन्दकुन्ददेव ने नहीं कहे हैं।''

यह नियमसार परमागम अध्यात्म का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थराज है। आचार्यदेव को इसमें इन चार गतियों की चर्चा विस्तार से करना उचित प्रतीत नहीं हुआ। अतः उन्होंने इनके नाम मात्र गिनाकर मूल गाथा में ही लिख दिया कि **'लोयविभागेसु णादव्वं'** ह्न इनका स्वरूप लोक के विभाग का विस्तार से निरूपण करनेवाले शास्त्रों से जान लेना चाहिए।

गाथा में तो मात्र भेद ही गिनाये थे, पर टीका में थोड़े से प्रभेद बताकर मूल ग्रन्थकार के अभिप्राय को ध्यान में रखकर अधिक विस्तार नहीं किया।।१६–१७।।

टीका के अन्त में टीकाकार मुनिराज दो छन्द लिखते हैं; जिनमें से प्रथम छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(वीर)

दैवयोग से मानुष भव में विद्याधर के भवनों में।
स्वर्गों में नरकों में अथवा नागपती के नगरों में।।
जिनमंदिर या अन्य जगह या ज्योतिषियों के भवनों में।
कहीं रहूँ पर भक्ति आपकी रहे निरंतर नजरों में।।२८।।

(शार्दूलविक्रीडित)

नानानूननराधिनाथविभवानाकर्ण्य चालोक्य च
त्वं क्लिश्नासि मुधात्र किं जडमते पुण्यार्जितास्ते ननु।
तच्छक्ति–र्जिननाथ–पादकमल–द्वन्द्वार्चनायामियं
भक्तिस्ते यदि विद्यते बहुविधा भोगा: स्युरेते त्वयि ।।२९।।

हे जिनेन्द्र ! भाग्यवश मैं चाहे स्वर्गों में रहूँ, मनुष्य लोक में रहूँ, विद्याधारों के स्थान में रहूँ, ज्योतिषी देवों के लोक में रहूँ, नागेन्द्रों के नगर में रहूँ, नरकों में रहूँ, जिनेन्द्र भगवान के भवनों अर्थात् मंदिरों में रहूँ या चाहे जहाँ रहूँ; परन्तु मुझे कर्म का उद्‌भव न हो और आपके चरणकमलों की भक्ति बारंबार हो, निरन्तर बनी रहे।

उक्त कलश में जो भावना व्यक्त की गई है; यद्यपि उसका भाव यह कदापि नहीं है कि मुनिराजश्री को चार गतियों में घूमना है; तथापि वे यह तो जानते ही हैं कि जबतक मुक्ति प्राप्त नहीं हुई; तबतक इन चार गतियों में ही कहीं न कहीं तो रहना ही है।

इन गतियों में अच्छे-बुरे का भेद करने में उन्हें कोई रस नहीं है; कहीं भी रहें, पर वे कर्मों का ऐसा उदय नहीं चाहते कि जिसके कारण जिनेन्द्रभक्ति का अवसर न रहे।

तात्पर्य यह है कि उन्हें अच्छे–बुरे संयोगों की परवाह नहीं है; पर यह विकल्प अवश्य है कि जबतक मैं अष्टकर्मों से, मोह–राग–द्वेष भावों से पूर्णत: मुक्त न हो जाऊँ; तबतक जिनेन्द्र भगवान की भक्ति के अवसर बने रहें।।२८।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

अरे देखकर नराधिपों का वैभव जड़मति।
क्यों पाते हो क्लेश पुण्य से यह मिलता है।।
पुण्य प्राप्त होता है जिनवर की पूजन से।
यदि हृदय में भक्ति स्वयं सब पा जाओगे।।२९।।

नराधपतियों के अनेकप्रकार के वैभव को देखकर व सुनकर हे स्थूलबुद्धि ! तू व्यर्थ ही क्लेश क्यों पाता है ? ये वैभव तो पुण्य से प्राप्त होते हैं और वह पुण्य जिनेन्द्र भगवान के चरणकमलों की पूजा से प्राप्त होता है। यदि तेरे हृदय में जिनेन्द्रभगवान के चरणकमलों की भक्ति है तो अनेकप्रकार के वे भोग तुझे स्वयं ही प्राप्त होंगे।

चक्रवर्तियों का वैभव देखकर संक्लेश परिणाम करनेवाले लोगों को टीकाकार मुनिराज जड़मति कह रहे हैं। तात्पर्य यह है कि सम्पन्न लोगों की संपन्नता देखकर ललचानेवाले लोग जड़मति हैं, स्थूलबुद्धि हैं।

कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारा।
कम्मजभावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो।।१८।।

कर्ता भोक्ता आत्मा पुद्गलकर्मणो भवति व्यवहारात्।
कर्मजभावेनात्मा कर्ता भोक्ता तु निश्चयत:।।१८।।

कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रकारकथनमिदम्। आसन्नगतानुचरितासद्भूतव्यवहारनयाद् द्रव्यकर्मणां कर्ता तत्फलरूपाणां सुखदु:खानां भोक्ता च, आत्मा हि अशुद्धनिश्चयनयेन सकलमोहराग–

अपनी बात को स्पष्ट करते हुए टीकाकार कहते हैं कि यदि तेरे हृदय में जिनेन्द्र भगवान और उनकी वाणी के प्रति अनुराग है तो तुझे उक्त वैभव बिना चाहे ही स्वयं प्राप्त हो जायेगा; क्योंकि जिस पुण्योदय से उक्त वैभव की प्राप्ति होती है, वह पुण्य तो भगवान के भक्तों को सहज ही बंधता है।

यद्यपि यह सत्य है कि जिनेन्द्र भगवान का स्वरूप समझकर उनके गुणों में अनुराग होना भक्ति है। ह्न ऐसी **भक्ति से पुण्य का बंध होता है और उस पुण्य के उदय में आने पर लोक में अनुकूल संयोग प्राप्त होते हैं; तथापि ज्ञानी धर्मात्माओं के जिनेन्द्र भगवान के गुणों में अनुरागरूप भक्ति तो होती है; किन्तु वे पुण्यबंध के प्रति उत्साहित नहीं होते।**

तात्पर्य यह है कि वे पुण्यबंध की भावना से भक्ति नहीं करते; तथापि उक्त भक्ति से पुण्य तो बंधता ही है और उसके उदयानुसार अनुकूल संयोग भी प्राप्त होते ही हैं।।२९।।

विगत गाथाओं में जीव के शुद्धस्वरूप और नारकादि व्यंजन–पर्यायों की चर्चा करने के उपरान्त अशुद्धजीव अर्थात् जीव की अशुद्धावस्था का निरूपण करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

यह जीव करता–भोगता जड़कर्म का व्यवहार से।
किन्तु कर्मजभाव का कर्ता कहा परमार्थ से।।१८।।

व्यवहारनय से आत्मा पौद्गलिक कर्मों का कर्त्ता–भोक्ता है और अशुद्धनिश्चयनय से कर्मजनित रागादि भावों का कर्त्ता–भोक्ता है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह कर्तृत्व–भोक्तृत्व के प्रकार का कथन है। आत्मा निकटवर्ती अनुपचरित–असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यकर्म का कर्ता और उसके फलरूप सुख–दु:ख का भोक्ता है; अशुद्धनिश्चयनय से सभी मोह–राग–द्वेषादि भावकर्म का कर्ता–भोक्ता है; अनुपचरित–

द्वेषादिभावकर्मणां कर्ता भोक्ता च, अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण नोकर्मणां कर्ता, उपचरिता-सद्भूतव्यवहारेण घटपटशकटादीनां कर्ता इत्यशुद्धजीवस्वरूपमुक्तम्।

असद्भूत व्यवहारनय से देहादिरूप नोकर्मों का कर्ता और उपचरित-असद्भूत व्यवहारनय से घट-पट-शकटादि (घड़ा, वस्त्र और गाड़ी आदि) का कर्ता है। इसप्रकार यह अशुद्धजीव का स्वरूप कहा।''

असद्भूत और सद्भूत के भेद से व्यवहारनय दो प्रकार का है।

असद्भूतव्यवहारनय भी उपचरित-असद्भूत और अनुपचरित-असद्भूत के भेद से दो प्रकार का है। इसीप्रकार सद्भूतव्यवहारनय भी उपचरित-सद्भूतव्यवहानय और अनुपचरित-सद्भूत-व्यवहारनय के भेद से दो प्रकार का है।

इसप्रकार व्यवहारनय चार प्रकार का है। व्यवहारनय के उक्त चार प्रकार इसप्रकार हैं ह्न

१. उपचरित असद्भूतव्यवहारनय २. अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय

३. उपचरित सद्भूतव्यवहारनय ४. अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय

निश्चयनय भी शुद्धनिश्चय और अशुद्धनिश्चय के भेद से दो प्रकार का होता है।

अशुद्धनिश्चयनय एक प्रकार का ही है; पर शुद्धनिश्चयनय तीन प्रकार का होता है। वे तीन प्रकार इसप्रकार हैं ह्न १. एकदेशशुद्धनिश्चयनय, २. साक्षात्शुद्धनिश्चयनय, ३. परमशुद्धनिश्चयनय।

इस गाथा की टीका में द्रव्यकर्मरूप कार्मणशरीर और नोकर्मरूप औदारिकादि शरीर का कर्ता-भोक्ता आत्मा को अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से कहा है; क्योंकि कार्माण शरीर और औदारिकादि शरीर एकक्षेत्रावगाही होने से निकटवर्ती हैं, इसलिए अनुपचरित है; अपने से भिन्न हैं, इसलिए असद्भूत हैं और इन्हें अपना कहा गया है, इसलिए व्यवहार हैं; इसप्रकार यह आत्मा इनका कर्ता-भोक्ता अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से है।

इसीप्रकार घटपटादि दूरवर्ती परद्रव्यों का कर्ता-भोक्ता उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से कहा; क्योंकि घट-पटादि क्षेत्र से दूरवर्ती पदार्थ हैं, इसलिए उपचरित हैं; वे अपने से भिन्न हैं, इसलिए असद्भूत हैं और उनका कर्ता-भोक्ता कहा जाता है; अत: व्यवहार हैं ह्न इसप्रकार घट-पटादि का कर्ता-भोक्ता आत्मा उपचरित असद्भूतव्यवहारनय से है।

मोह-राग-द्वेषादि भाव अपने भाव ही हैं, पर अशुद्ध हैं; अत: उनका कर्ता-भोक्ता अशुद्धनिश्चयनय से कहा है।

इसप्रकार इस गाथा और इसकी टीका में नयविभाग से जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व को समझाया है।।१८।।

(मालिनी)

अपि च सकलरागद्वेषमोहात्मको य:
परमगुरुपदाब्जद्वन्द्वसेवाप्रसादात् ।
सहजसमयसारं निर्विकल्पं हि बुद्ध्वा
स भवति परमश्रीकामिनीकान्तकान्त: ।।३०।।

(अनुष्टुभ्)

भावकर्मनिरोधेन द्रव्यकर्मनिरोधनम् ।
द्रव्यकर्मनिरोधेन संसारस्य निरोधनम् ।।३१।।

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज छह छन्द लिखते हैं। उक्त छह छन्दों में प्रथम छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

परमगुरु की कृपा से मोही रागी जीव।
समयसार को जानकर शिव श्री लहे सदीव ।।३०।।

सम्पूर्ण मोह–राग–द्वेषवाला कोई पुरुष परमगुरु के चरणकमल की सेवा के प्रसाद से निर्विकल्प सहज समयसार को जानता है; वह परमश्री (मुक्ति) रूपी सुन्दरी का प्रिय कान्त (पति) होता है।

उक्त कलश में यह कहा गया है कि यदि मोही–रागी–द्वेषी जीव भी परमगुरु के सदुपदेश से निज भगवान आत्मा के स्वरूप को जानकर निर्विकल्प होता है तो वह भी मोह–राग–द्वेष का अभाव करके मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

परमगुरु अरहंत भगवान को कहते हैं। उनके चरणों की सेवा का एक अर्थ तो उनकी भक्ति हो सकता है; परन्तु शुभरागरूप भक्ति से तो पुण्य का बंध होता है, मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। **अत: उनसे तत्त्व सुनकर, उनकी लिखित वाणी-जिनवाणी को पढ़कर, देशना-लब्धिपूर्वक करणलब्धिरूप आचरण करना ही उनके चरणों की सेवा का सही अर्थ है।**

तात्पर्य यह है कि जब मोही-रागी-द्वेषी जीव भी परमगुरु से सीधे सुनकर या उनके द्वारा लिखित शास्त्रों को पढ़कर तत्त्व को समझकर, समयसाररूप शुद्धात्मा को जानकर, उसका ध्यान कर मुक्ति प्राप्त कर लेता है तो फिर हम सभी में से किसी को भी निराश होने की क्या आवश्यकता है? इसलिए मोक्ष की इच्छा रखनेवालों को परमगुरु से आत्मा का स्वरूप सुनकर, उनकी वाणी के अनुसार लिखे गये शास्त्रों को पढ़कर, उस वाणी के मर्म को जाननेवाले ज्ञानी धर्मात्माओं से उस वाणी का मर्म समझ कर, शुद्धात्मा का स्वरूप जानकर, उसमें ही निर्विकल्प होकर समा जाना चाहिए।

मुक्तिरूपी सुन्दरी को प्राप्त करने का एकमात्र यही उपाय है ।।३०।।

(वसंततिलका)

संज्ञानभावपरिमुक्तविमुग्धजीव:
कुर्वन् शुभाशुभमनेकविधं स कर्म।
निर्मुक्तिमार्गमणुमप्यभिवांछितुं नो
जानाति तस्य शरणं न समस्ति लोके ।।३२।।
य: कर्मशर्मनिकरं परिहृत्य सर्वं
नि:कर्मशर्मनिकरामृतवारिपूरे।
मज्जन्तमत्यधिकचिन्मयमेकरूपं
स्वं भावमद्वयममुं समुपैति भव्य: ।।३३।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

भावकरम के रोध से द्रव्य करम का रोध।
द्रव्यकरम के रोध से हो संसार निरोध।।३१।।

भावकर्म के निरोध से द्रव्यकर्म का निरोध होता है और द्रव्यकर्म के निरोध से संसार का निरोध होता है।

यह तो सर्वविदित ही है कि यदि मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्मों का सद्भाव न हो तो द्रव्यकर्मों का बंध नहीं होता। **जब न तो भावकर्म होंगे और न द्रव्यकर्म ह्न ऐसी स्थिति में संसार कैसे खड़ा रह सकता है ?।।३१।।**

तीसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(सोरठा)

करें शुभाशुभभाव, मुक्तिमार्ग जाने नहीं।
अशरण रहें सदीव मोह मुग्ध अज्ञानि जन।।३२।।

सम्यग्ज्ञान रहित जो मोही जीव अनेकप्रकार के शुभाशुभ कर्मों को करता हुआ मोक्षमार्ग को रंचमात्र भी नहीं जानता, नहीं चाहता; उस जीव को इस लोक में शरण देनेवाला कोई नहीं है।

३०वें छन्द में कहा था कि सद्गुरु के प्रसाद से जो शुद्धात्मा को जानता है; वह मुक्ति को प्राप्त करता है और अब इस ३२वें छन्द में यह कह रहे हैं कि **जो जीव शुद्धात्मा को नहीं जानता; उसे इस संसार में कोई भी शरण देनेवाला नहीं है।** तात्पर्य यह है कि **शुद्धात्मा को जानने की वांछा रखनेवाले को तो व्यवहार से सद्गुरु की और निश्चय से शुद्धात्मा की शरण विद्यमान ही है; किन्तु अज्ञानी जीव को कोई शरण नहीं है।।३२।।**

(मालिनी)

असति सति विभावे तस्य चिंतास्ति नो न:
सततमनुभवाम: शुद्धमात्मानमेकम् ।
हृदयकमलसंस्थं सर्वकर्मप्रमुक्तं
न खलु न खलु मुक्तिर्नान्यथास्त्यस्ति तस्मात् ।।३४।।

भविनि भवगुणा: स्यु: सिद्धजीवेऽपि नित्यं
निजपरमगुणा: स्यु: सिद्धिसिद्धा: समस्ता: ।
व्यवहरणनयोऽयं निश्चयान्नैव सिद्धि-
र्न च भवति भवो वा निर्णयोऽयं बुधानाम् ।।३५।।

चौथे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

कर्मजनित सुख त्यागकर निज में रमें सदीव।
परम अतीन्द्रिय सुख लहें वे निष्कर्मी जीव ।।३३।।

जो सम्पूर्ण कर्मजनित सांसारिक सुख के समूह का अभाव करता है, उसे छोड़ता है; वह भव्यजीव निष्कर्म, अतीन्द्रिय सुखरूपी अमृत सरोवर में रहते हुए अतिशय चैतन्यमय, एकरूप, अद्वितीय निजभाव को प्राप्त होता है, प्राप्त करता है।

इस छन्द में यही कहा गया है कि **जो कर्मोदय से प्राप्त विषयभोगों को हेय नहीं मानता, उन्हें दुखरूप नहीं जानता; वह अज्ञानी पुरुष या तो उन्हें भोगने में मस्त रहता है या फिर भोग-सामग्री को जोड़ने में लगा रहता है;** परन्तु जो ज्ञानी पुरुष कर्मोदय से प्राप्त होनेवाले विषयभोगों को हेय जानकर छोड़ता है; वह निष्कर्म अतीन्द्रिय सच्चे सुख को प्राप्त करता है।।३३।।

पाँचवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

हममें कोई विभाव न हमें न चिन्ता कोई।
शुद्धातम में मगन हम अन्योपाय न होई ।।३४।।

हमारे आत्मस्वभाव में विभावभावों का अभाव होने से हमें उनकी कोई चिन्ता नहीं है। हम तो हमारे हृदय कमल में स्थित, सर्व कर्मों से रहित, शुद्धात्मा का निरन्तर अनुभव करते हैं; क्योंकि अन्य किसी भी प्रकार से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती, नहीं होती।

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि जब हम परमशुद्धनिश्चयनय से पर और पर्याय से भिन्न निजस्वभाव को देखते हैं तो उसमें विभाव दिखाई ही नहीं देते; अत:

दव्वत्थिएण जीवा वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जाया।
पज्जयणएण जीवा संजुत्ता होंति दुविहेहिं।।१९।।

हमें तत्संबंधी चिन्ता होती ही नहीं है। इसप्रकार **हम तो निरन्तर अपने शुद्धात्मा का ही अनुभव करते हैं; क्योंकि हमारी दृष्टि में इससे महान अन्य कोई कार्य नहीं है।।३४।।**

छठवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

संसारी के समलभाव पाये जाते हैं।
और सिद्ध जीवों के निर्मलभाव सदा हों।।
कहता यह व्यवहार किन्तु बुधजन का निर्णय।
निश्चय से शुद्धातम में न बंध-मोक्ष हों।।३५।।

संसारी जीवों को सांसारिक गुण होते हैं और सिद्धजीवों को सिद्धि-सिद्ध अर्थात् परिपूर्ण निज परमगुण होते हैं ह्न यह व्यवहारनय का कथन है। निश्चयनय से तो भगवान आत्मा में मुक्ति भी नहीं है और संसार भी नहीं है। बुधपुरुषों का यही निर्णय है।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि यद्यपि व्यवहारनय से यह कहा जाता है कि जीव की संसारावस्था में मोह-राग-द्वेषरूप विभाव भाव पाये जाते हैं और मुक्तावस्था में स्वभावपर्यायरूप केवलज्ञानादि स्वभावभाव पाये जाते हैं; तथापि **जब परमशुद्धनिश्चयनय से विचार करते हैं तो भगवान आत्मा के द्रव्यस्वभाव में न तो संसारावस्था है और न मुक्तावस्था ही है; क्योंकि त्रिकाली ध्रुव आत्मा तो पर और पर्याय से भिन्न परमपदार्थ है।**

इस परमपदार्थ में अपनापन स्थापित होने का नाम ही सम्यग्दर्शन है, इसे ही निजरूप जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है और इसमें ही रम जाने, जम जाने, समा जाने का नाम सम्यक्चारित्र है।

इन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही मुक्ति का मार्ग है; अनन्त सुखी होने का एकमात्र उपाय है।।३५।।

विगत गाथा में निश्चयनय और व्यवहारनय से जीव के कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व की चर्चा की थी; अब इस गाथा में द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय से जीव का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

द्रव्यनय की दृष्टि से जिय अन्य है पर्याय से।
पर्यायनय की दृष्टि से संयुक्त है पर्याय से।।१९।।

द्रव्यार्थिकनय से जीव पूर्वकथित पर्यायों से भिन्न है और पर्यायार्थिक नय से जीव उक्त पर्यायों से संयुक्त है।

द्रव्यार्थिकेन जीवा व्यतिरिक्ताः पूर्वभणितपर्यायात् ।
पर्यायनयेन जीवाः संयुक्ता भवन्ति द्वाभ्याम् ।।१९।।

इह हि नयद्वयस्य सफलत्वमुक्तम् । द्वौ हि नयौ भगवदर्हत्परमेश्वरेण प्रोक्तौ, द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति । द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः । पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः । न खलु एकनयायत्तोपदेशो ग्राह्यः, किन्तु तदुभयनयायत्तोपदेशः ।

सत्ताग्राहकशुद्धद्रव्यार्थिकनयबलेन पूर्वोक्तव्यंजनपर्यायेभ्यः सकाशान्मुक्तामुक्तसमस्त-जीवराशयः सर्वथा व्यतिरिक्ता एव । कुतः ? ''सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'' इति वचनात् । विभावव्यंजनपर्यायार्थिकनयबलेन ते सर्वे जीवास्संयुक्ता भवन्ति ।

किंच सिद्धानामर्थपर्यायैः सह परिणतिः, न पुनर्व्यंजनपर्यायैः सहपरिणतिरिति । कुतः? सदा निरंजनत्वात् । सिद्धानां सदा निरंजनत्वे सति तर्हि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्याम् द्वाभ्याम् संयुक्ताः सर्वे जीवा इति सूत्रार्थो व्यर्थः ।

निगमो विकल्पः, तत्र भवो नैगमः । स च नैगमनयस्तावत् त्रिविधः, भूतनैगमः वर्तमान-नैगमः भाविनैगमश्चेति । अत्र भूतनैगमनयापेक्षया भगवतां सिद्धानामपि व्यंजनपर्यायत्व-

---

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ दोनों नयों का सफलपना कहा है । परमेश्वर अरहंत भगवान ने दो नय कहे हैं ह्न द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय । द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है, वह द्रव्यार्थिकनय और पर्याय ही जिसका प्रयोजन है, वह पर्यायार्थिकनय है ।

एक नय का अवलम्बन लेता हुआ उपदेश ग्रहण करने योग्य नहीं है; किन्तु दोनों नयों का अवलम्बन लेता हुआ उपदेश ग्रहण करने योग्य है । सत्ताग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय के बल से पूर्वोक्त व्यंजनपर्यायों से सिद्ध और संसारी ह्न सभी जीवराशि भिन्न ही हैं; क्योंकि 'सव्वे सुद्धा हु शुद्धणया ह्न शुद्धनय से सभी जीव शुद्ध ही हैं' ह्न ऐसा आगमवचन है ।

विभावव्यंजनपर्यायार्थिकनय के बल से, वे सभी जीव पूर्वोक्त व्यंजन पर्यायों से संयुक्त हैं ।

विशेष बात यह है कि सिद्धजीवों के अर्थपर्यायों सहित परिणति है, व्यंजनपर्यायों सहित नहीं है; क्योंकि वे सदा ही निरंजन हैं । सिद्धजीवों के सदा निरंजन होने पर तो 'सभी जीव द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ह्न दोनों नयों से संयुक्त हैं' ह्न गाथासूत्र का ऐसा अर्थ व्यर्थ सिद्ध होता है ?

उक्त शंका का समाधान करते हुए टीकाकार कहते हैं कि निगम अर्थात् विकल्प; जो उसमें हो, वह नैगम है । भूतनैगमनय, वर्तमाननैगमनय और भावीनैगमनय के भेद से नैगमनय तीन प्रकार का होता है ।

मशुद्धत्वं च संभवति। पूर्वकाले ते भगवन्तः संसारिण इति व्यवहारात्। किं बहुना, सर्वे जीवा नयद्वयबलेन शुद्धाशुद्धा इत्यर्थः।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः ह्न

(मालिनी)

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ।।६।।[१]

यहाँ भूतनैगमनय की अपेक्षा से सिद्ध भगवान के भी व्यंजनपर्याय और अशुद्धता संभव है; क्योंकि भूतकाल में सिद्ध भी संसारी ही थे ह्न ऐसा व्यवहार है।

अधिक कहने से क्या, सभी जीव दो नयों के बल से शुद्ध व अशुद्ध हैं ह्न ऐसा अर्थ है।''

यद्यपि तात्पर्यवृत्ति टीका और स्वामीजी के स्पष्टीकरण से गाथा का भाव पूरीतरह स्पष्ट हो जाता है; तथापि टीका में जिस नैगमनय की चर्चा की गई है, उसका स्वरूप इसप्रकार हैं ह्न

जो भूतकाल की पर्यायों को वर्तमानवत् संकल्पित करे या कहे, भविष्यकाल की पर्यायों को वर्तमानवत् संकल्पित करे या कहे और कुछ निष्पन्न व कुछ अनिष्पन्न वर्तमान पर्यायों को पूर्णतः निष्पन्न के समान संकलित करे या कहे; उस ज्ञान को या वचन को नैगमनय कहते हैं।

यही कारण है कि यह नय तीनप्रकार का होता है ह्न भूतनैगमनय, भावीनैगमनय और वर्तमाननैगमनय।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस नैगमनय का पैटा बहुत बड़ा है। इस नय का विषय पदार्थ और शब्द तो हैं ही; ज्ञानात्मक संकल्प भी है। इस प्रकार यह नैगमनय ज्ञाननय भी है, अर्थनय भी है और शब्दनय भी है।।१९।।

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव '**तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः ह्न** तथा आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है ह्न' कहकर एक छन्द उद्धृत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

उभयनयों में जो विरोध है उसके नाशक।
स्याद्वादमय जिनवचनों में जो रमते हैं।।
मोह वमन कर अनय-अखण्डित परमज्योतिमय।
स्वयं शीघ्र ही समयसार में वे रमते हैं।।६।।

---

१. समयसार, श्लोक ४

तथाहि ह्न

(मालिनी)

अथ नययुगयुक्तिं लंघयन्तो न संत:
परमजिनपदाब्जद्वन्द्वमत्तद्विरेफा: ।
सपदि समयसारं ते ध्रुवं प्राप्नुवन्ति
क्षितिषु परमतोक्ते: किं फलं सज्जनानाम् ।।३६।।

जो पुरुष निश्चय और व्यवहार ह्न इन दो नयों के प्रतिपादन में दिखाई देनेवाले विरोध को ध्वंस करनेवाले, स्याद्वाद से चिह्नित जिनवचनों में रमण करते हैं; स्वयं पुरुषार्थ से मिथ्यात्व का वमन करनेवाले वे पुरुष कुनय से खण्डित नहीं होनेवाले, परमज्योतिस्वरूप अत्यन्त प्राचीन अनादिकालीन समयसाररूप भगवान आत्मा को तत्काल ही देखते हैं अर्थात् उसका अनुभव करते हैं।

उक्त छन्द में इस बात पर बल दिया गया है कि स्याद्वाद ही एक ऐसा अमोघ उपाय है कि जिसके द्वारा परस्परविरुद्ध प्रतीत होनेवाला वस्तु-स्वरूप सहज ही स्पष्ट हो जाता है।।६।।

इसके बाद '**तथाहि** ह्न अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं' ह्न लिखकर टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव इसी भाव का पोषक एक काव्य स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

जिन चरणों के प्रवर भक्त जिन सत्पुरुषों ने।
नयविभाग का नहीं किया हो कभी उल्लंघन।।
वे पाते हैं समयसार यह निश्चित जानो।
आवश्यक क्यों अन्य मतों का आलोड़न हो।।३६।।

जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों में अनुरक्त मत्त भ्रमररूप जो सत्पुरुष हैं; वे दो नयों की युक्ति का उल्लंघन न करते हुए समयसाररूप शुद्धात्मा को अवश्य प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में उन सत्पुरुषों को पृथ्वीतल पर विद्यमान अन्य मतों के कथनों से क्या लाभ है ?

इसप्रकार इस कलश में मात्र इतना ही कहा गया है कि जिनेन्द्र भगवान के अनुगामी सत्पुरुष को जब जैनदर्शन की द्विनयात्मक स्याद्वाद शैली से वस्तु का स्वरूप भलीभांति स्पष्ट हो जाता है और उसके बल से वे शुद्धात्मा को प्राप्त कर लेते हैं, मोह-राग-द्वेष व दु:खों से मुक्त होने का उपाय प्राप्त कर लेते हैं, उस पर चलकर निज कार्य में सफल हो जाते हैं तो फिर अन्यमतों के कथनों में उलझकर समय व शक्ति व्यर्थ बरबाद करने से क्या लाभ है ?

इति सुकविजनपयोगजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव–विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ जीवाधिकार: प्रथमश्रुतस्कन्ध: ।

तात्पर्य यह है कि जैनदर्शन की स्याद्वादशैली से निज भगवान आत्मा का सच्चा स्वरूप समझकर, उसी में अपनापन स्थापित कर, उसी में समा जाना ही श्रेयस्कर है ।।३६।।

इसप्रकार यहाँ नियमसार परमागम का जीवाधिकार और जीवाधिकार पर लिखी गई मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कृत तात्पर्यवृत्ति टीका समाप्त हो जाती है।

जीवाधिकार की समाप्ति के अवसर पर टीकाकार जो पंक्ति लिखते हैं; उसका भाव इसप्रकार है ह्न

''इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में जीवाधिकार नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।''

देखो, यहाँ टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव स्वयं को न केवल सुकवियों में श्रेष्ठ बता रहे हैं, साथ ही यह भी घोषित कर रहे हैं कि जिसका छूटना संभव नहीं है ह्न ऐसी देह को छोड़कर मेरे पास अन्य कोई परिग्रह नहीं है; मैं पूर्णत: निर्ग्रन्थ हूँ और मेरे उपयोग का फैलाव पंचेन्द्रियों के विषयों में नहीं है।

ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि मुनिराज स्वयं अपने मुख से अपनी स्तुति कर रहे हैं; किन्तु वह समय ऐसा था कि जब भट्टारकों का उदय हो गया था और अपरिमित परिग्रह रखकर भी वे भट्टारक स्वयं को निर्ग्रन्थ दिगम्बर मानते थे, कहते थे। ह्न ऐसी स्थिति में मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव को ऐसा लगा होगा कि भविष्य के लोग मुझे भी ऐसा ही दिगम्बर साधु न समझ लें।

अत: उन्होंने उक्त कथन करके आत्मप्रशंसा नहीं की, अपितु स्वयं के कवित्व एवं हृदय में विद्यमान दिगम्बरत्व के प्रति अपनी निष्ठा को ही व्यक्त किया है। साथ में दिगम्बर मुनि कैसे होते हैं, कैसे होने चाहिए ह्न यह भी स्पष्ट कर दिया है।

यहाँ नियमसार एवं उसकी तात्पर्यवृत्ति टीका के साथ–साथ डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत आत्मप्रबोधिनी हिन्दी टीका में जीवाधिकार नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध भी समाप्त होता है।

●●●

(२)

अजीव अधिकार

(गाथा २० से गाथा ३७ तक)

अथेदानीमजीवाधिकार उच्यते।

अणुखंधवियप्पेण दु पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं।
खंधा हु छप्पयारा परमाणू चेव दुवियप्पो।।२०।।

अणुस्कन्ध विकल्पेन तु पुद्गलद्रव्यं भवति द्विविकल्पम्।
स्कन्धाः खलु षट्प्रकाराः परमाणुश्चैव द्विविकल्पः।।२०।।

पुद्गलद्रव्यविकल्पोपन्यासोऽयम्। पुद्गलद्रव्यं तावद् विकल्पद्वयसनाथम्, स्वभाव-पुद्गलो विभावपुद्गलश्चेति। तत्र स्वभावपुद्गलः परमाणुः, विभावपुद्गलः स्कन्धः। कार्यपरमाणुः कारणपरमाणुरिति स्वभाव पुद्गलो द्विधा भवति। स्कन्धाः षट्प्रकाराः स्युः पृथ्वीजलच्छायाचतुरक्षविषयकर्मप्रायोग्याप्रायोग्यभेदाः। तेषां भेदो वक्ष्यमाणसूत्रेषूच्यते विस्तरेणेति।

जीवाधिकार समाप्त होने के उपरान्त अब अजीवाधिकार आरंभ करते हैं। अजीवद्रव्यों में सर्वप्रथम पुद्गलद्रव्य की चर्चा आरंभ करने वाली यह गाथा इस अधिकार की पहली और नियमसार शास्त्र की २०वीं गाथा है; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

द्विविध पुद्गल द्रव्य है स्कंध अणु के भेद से।
द्विविध परमाणु कहे छह भेद हैं स्कंध के।।२०।।

परमाणु और स्कंध के भेद से पुद्गल द्रव्य दो प्रकार का है। इनमें स्कंध छह प्रकार के हैं और परमाणु भी दो प्रकार के होते हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह पुद्गलद्रव्य के भेदों का कथन है। स्वभावपुद्गल और विभावपुद्गल के भेद से पुद्गलद्रव्य दो प्रकार का है। उनमें परमाणु स्वभावपुद्गल है और स्कंध विभावपुद्गल है।

कार्यपरमाणु और कारणपरमाणु के भेद से स्वभावपुद्गल दो प्रकार है। स्कंध छह प्रकार के होते हैं ह्न १. पृथ्वी, २. जल, ३. छाया, ४. चक्षु को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों के विषयभूत स्कंध, ५. कर्मयोग्य स्कंध और ६. कर्म के अयोग्य स्कंध।

स्कन्धों के भेद आगे कहे जानेवाले सूत्रों में विस्तार से कहे जायेंगे।''

(अनुष्टुभ्)

गलनादणुरित्युक्तः पूरणात्स्कन्धनामभाक्।
विनानेन पदार्थेण लोकयात्रा न वर्तते।।३७।।

अइथूलथूल थूलं थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं।।२१।।
भूपव्वदमादीया भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा।
थूला इदि विण्णेया सप्पीजलतेल्लमादीया।।२२।।
छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि।
सुहुमथूलेदि भणिया खंधा चउरक्खविसया य।।२३।।

उक्त गाथा में पुद्गल के भेदों की नाममात्र चर्चा की है। टीका में भेदों के भी भेद गिना दिये हैं। जिसप्रकार जीवद्रव्य में स्वभाव और विभाव भावों की बात आती है; उसीप्रकार यहाँ पुद्गल में भी स्वभाव और विभाव के भेद किये हैं।

इतना विशेष है कि **जीव तो विभावभावों के होने पर दुखी होता है, पर पुद्गल नहीं; क्योंकि जिसमें सुख नाम का गुण होता है, उसमें ही दुख नाम की विकारी पर्याय होती है। पुद्गल में सुख नाम का गुण नहीं है; अतः उसके सुखी-दुखी होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।।२०।।**

इस गाथा की टीका के उपरान्त मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

गलन से परमाणु पुद्गल खंध पूरणभाव से।
अर लोकयात्रा नहीं संभव बिना पुद्गल द्रव्य के।।३७।।

पुद्गलद्रव्य के गलन अर्थात् भेद से परमाणु और पूरण अर्थात् संघात से स्कंध की उत्पत्ति होती है। इस पुद्गलद्रव्य के बिना लोकयात्रा संभव नहीं है।

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में दो सूत्र आते हैं; जिनमें कहा गया है कि अणु की उत्पत्ति भेद से और स्कंध की उत्पत्ति संघात से होती है। इसी बात को इस छन्द में बताया गया है।।३७।।

विगत गाथा की टीका के अन्तिम वाक्य में कहा था कि आगामी गाथाओं में स्कंधों की चर्चा विस्तार से होगी। तदनुसार इन गाथाओं में स्कंधों की चर्चा की जा रही है।

सुहुमा हवंति खंधा पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो।
तव्विवरीया खंधा अइसुहुमा इदि परूवेंति।।२४।।

अतिस्थूलस्थूलाः स्थूलाः स्थूलसूक्ष्माश्च सूक्ष्मस्थूलाश्च।
सूक्ष्मा अतिसूक्ष्मा इति धरादयो भवन्ति षड्भेदाः।।२१।।
भूपर्वताद्या भणिता अतिस्थूलस्थूलाः इति स्कन्धाः।
स्थूला इति विज्ञेयाः सर्प्पिर्जलतैलाद्याः।।२२।।
छायातपाद्याः स्थूलेतरस्कन्धा इति विजानीहि।
सूक्ष्मस्थूला इति भणिताः स्कन्धाश्चतुरक्षविषयाश्च।।२३।।
सूक्ष्मा भवन्ति स्कन्धाः प्रायोग्याः कर्मवर्गणस्य पुनः।
तद्विपरीताः स्कन्धाः अतिसूक्ष्मा इति प्ररूपयन्ति।।२४।।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

अतिथूल थूल रु थूल-सूक्षम सूक्ष्म-थूल रु सूक्ष्म अर।
अतिसूक्ष्म ये छह भेद पृथ्वी आदि पुद्गल खंध के।।२१।।
भूमि भूधर आदि को अति थूल-थूल कहा गया।
घी तेल और जलादि को ही थूल खंध कहा गया।।२२।।
धूप छाया आदि को ही थूल-सूक्षम जानिये।
चतु इन्द्रिग्राही खंध सूक्षम-थूल हैं पहिचानिये।।२३।।
करम वरगण योग्य जो स्कंध वे सब सूक्ष्म हैं।
जो करम वरगण योग्य ना वे खंध ही अति सूक्ष्म हैं।।२४।।

अति स्थूल-स्थूल, स्थूल, स्थूल-सूक्ष्म, सूक्ष्म-स्थूल, सूक्ष्म और अति सूक्ष्म ह्न ये छह भेद पृथ्वी आदि स्कंधों के हैं।

भूमि और पर्वत आदि अति स्थूल-स्थूल स्कंध कहे गये हैं और घी, जल और तेल आदि को स्थूल स्कंध जानना चाहिए।

छाया और धूप आदि को स्थूल-सूक्ष्म स्कंध जानो और चार इन्द्रियों के विषयभूत स्कंधों को सूक्ष्म-स्थूल कहा गया है।

कर्मवर्गणा के योग्य स्कंध सूक्ष्म स्कंध हैं और कर्मवर्गणा के अयोग्य स्कंध अतिसूक्ष्म स्कंध कहे गये हैं।

विभावपुद्गलस्वरूपाख्यानमेतत्। अतिस्थूलस्थूला हि ते खलु पुद्गलाः सुमेरु-कुम्भिनीप्रभृतयः। घृततैलतक्रक्षीरजलप्रभृतिसमस्तद्रव्याणि हि स्थूलपुद्गलाश्च। छाया-तपतमःप्रभृतयः स्थूलसूक्ष्मपुद्गलाः। स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रेन्द्रियाणां विषयाः सूक्ष्मस्थूल-पुद्गलाः शब्दस्पर्शरसगन्धाः। शुभाशुभपरिणामद्वारेणागच्छतां शुभाशुभकर्मणां योग्याः सूक्ष्मपुद्गलाः। एतेषां विपरीताः सूक्ष्मसूक्ष्मपुद्गलाः कर्मणामप्रायोग्या इत्यर्थः। अयं विभाव-पुद्गलक्रमः।

इन गाथाओं के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह विभावपुद्गल के स्वरूप का कथन है। सुमेरु पर्वत, पृथिवी आदि घन पदार्थ अति स्थूल-स्थूल पुद्गल हैं। घी, तेल, छाछ, दूध और जल आदि समस्त प्रवाही पदार्थ स्थूल पुद्गल हैं। छाया, आताप और अंधकार आदि पदार्थ स्थूल-सूक्ष्म पुद्गल हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण इन्द्रियों के विषय स्पर्श, रस, गंध और शब्द सूक्ष्म-स्थूल पुद्गल हैं। शुभाशुभ परिणामों द्वारा आनेवाले शुभाशुभ कर्मों के योग्य स्कंध सूक्ष्म पुद्गल हैं। उनसे विपरीत अर्थात् कर्मों के अयोग्य स्कंध सूक्ष्म-सूक्ष्म पुद्गल हैं। ह्न गाथाओं का ऐसा अर्थ है। यह विभावपुद्गलों का क्रम है।''

छह प्रकार के पुद्गल स्कन्धों मेंह्न

१. जो स्कन्ध छेदन-भेदन होने पर अपने आप जुड़ नहीं सकते; वे काष्ठ-पाषाणादि स्कंध **अति स्थूल-स्थूल स्कंध** कहे जाते हैं।

२. जो स्कंध छिद जाने पर, भिद जाने पर भी स्वयं जुड़ जाते हैं; वे दूध, जल, घी, तेल आदि स्कंध **स्थूल स्कंध** कहे जाते हैं।

३. जो स्कंध स्थूल दिखाई देने पर भी भेदे नहीं जा सकते, छेदे नहीं जा सकते, हस्तादि से ग्रहण नहीं किये जा सकते; वे धूप, छाया, अंधकार आदि स्कंध **स्थूल-सूक्ष्म स्कंध** हैं।

४. चक्षु इन्द्रिय से नहीं दिखनेवाले; किन्तु शेष चार इन्द्रियों से जानेवाले जो स्कंध सूक्ष्म होने पर भी स्थूल ज्ञात होते हैं; वे स्कंध **सूक्ष्म-स्थूल स्कंध** हैं; क्योंकि वे स्पर्शन इन्द्रिय से स्पर्श किये जा सकते हैं, रसना इन्द्रिय से चखे जा सकते हैं, घ्राण इन्द्रिय से सूंघे जा सकते हैं और कर्ण इन्द्रिय से सुने जा सकते हैं।

५. जो स्कंध इन्द्रियज्ञान से नहीं जाने जा सकते, वे कर्मवर्गणारूप स्कंध **सूक्ष्म-स्थूल स्कंध** हैं।

६. और जो कर्मवर्गणाओं से भी सूक्ष्म हैं ह्न ऐसे द्वि-अणुकादि स्कंध **सूक्ष्म-सूक्ष्म स्कंध** हैं।

तथा चोक्तं पंचास्तिकायसमये ह्न

पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसयकम्मपाओग्गा।
कम्मातीदा एवं छब्भेया पोग्गला होंति।।७।।[१]

उक्तं च मार्गप्रकाशे ह्न

(अनुष्टुभ्)

स्थूलस्थूलास्ततः स्थूलाः स्थूलसूक्ष्मास्ततः परे।
सूक्ष्मस्थूलास्ततः सूक्ष्माः सूक्ष्मसूक्ष्मास्ततः परे।।८।।[२]

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः ह्न

(वसंततिलका)

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः।।९।।[३]

तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं की टीका के उपरान्त टीकाकार अन्य शास्त्रों के तीन उद्धरण प्रस्तुत करते हैं।२१-२४।।

सबसे पहले '**तथा चोक्तं पचास्तिकायसमये ह्न** तथा ऐसा ही पंचास्तिकाय नामक शास्त्र में कहा है' ह्न लिखकर एक गाथा प्रस्तुत करते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

पृथवी जल छाया तथा चतु इन्द्रिय के योग्य।
ये छह पुद्गल स्वंध हैं कर्मयोग्य अनयोग्य।।७।।

पृथवी, जल, छाया, चार इन्द्रियों के विषयभूत पुद्गल, कर्मयोग्य पुद्गल और कर्मों के अयोग्य पुद्गल ह्न ये छह प्रकार के स्कंध हैं।।७।।

इसके बाद '**उक्तं च मार्गप्रकाशे ह्न** मार्गप्रकाश ग्रंथ में भी कहा है' कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(सोरठा)

थूलथूल अर थूल स्थूल-सूक्ष्म पहिचानिये।
सूक्षमथूलरु सूक्ष्म सूक्षम-सूक्षम जानिये।।८।।

---

१. देखो, श्री परमश्रुतप्रभावकमण्डल द्वारा प्रकाशित पंचास्तिकाय, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १३०
२. मार्गप्रकाश, श्लोक संख्या अनुपलब्ध है।
३. समयसार : आत्मख्याति, छन्द ४४

तथा हि ह्न

(मालिनी)

इति विविधविकल्पे पुद्गले दृश्यमाने
न च कुरु रतिभावं भव्यशार्दूल तस्मिन् ।
कुरु रतिमतुलां त्वं चिच्चमत्कारमात्रे
भवसि हि परमश्रीकामिनीकामरूप: ।।३८।।

स्थूल-स्थूल, इसके बाद स्थूल, इसके बाद स्थूल-सूक्ष्म, फिर सूक्ष्म-स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्म-सूक्ष्म ह्न ये छह प्रकार के स्कंध जानने चाहिए ।।८।।

इसके बाद '**तथा चोक्तं श्रीमदमृतचंद्रसूरिभि: ह्न** तथा अमृतचंद्राचार्य ने भी कहा है' ह्न लिखकर एक छन्द उद्धृत करते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

अरे काल अनादि से अविवेक के इस नृत्य में।
बस एक पुद्गल नाचता चेतन नहीं इस कृत्य में।।
यह जीव तो पुद्गलमयी रागादि से भी भिन्न है।
आनन्दमय चिद्भाव तो दृगज्ञानमय चैतन्य है।।९।।

इस अनादिकालीन महा-अविवेक के नाटक में वर्णादिमान पुद्गल ही नाचता है, अन्य कोई नहीं; क्योंकि यह जीव तो रागादिरूप पुद्गल विकारों से विलक्षण, शुद्ध चैतन्य-धातुमय मूर्ति है।

उक्त छन्द में यह कहा गया है कि अनादिकालीन अज्ञानी को तो एकमात्र वर्णादिवाले पुद्गल द्रव्य ही विभिन्न रूपों में दिखाई देते हैं। **वर्णादि और रागादि भावों से भिन्न भगवान आत्मा जो शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है, ज्ञानानन्दस्वभावी है; वह तो ज्ञानी धर्मात्माओं को ही दिखाई देता है।**

अनन्त सुख-शान्ति की प्राप्ति भी ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से ही होती है। अत: आराध्य तो एकमात्र निज भगवान आत्मा ही है। **त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में अपनापन होना, उसे ही निजरूप जानना और उसमें ही जम जाना, रम जाना, समा जाना ही आत्मा की आराधना है। उक्त भगवान आत्मा आराध्य है और आराधना सहित आत्मा आराधक है।**

इसप्रकार यह भगवान आत्मा ही आराध्य, आराधक और आराधना है। सबकुछ एक इस आत्मा में ही समाहित है।।९।।

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छंद स्वयं लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणं ति तं णेयो।
खंधाणं अवसाणं णादव्वो कज्जपरमाणु ।।२५।।

धातुचतुष्कस्य पुनः यो हेतुः कारणमिति स ज्ञेयः।
स्कन्धानामवसानो ज्ञातव्यः कार्यपरमाणुः ।।२५।।

कारणकार्यपरमाणुद्रव्यस्वरूपाख्यानमेतत्। पृथिव्यप्तेजोवायवो धातवश्चत्वारः तेषां

(दोहा)

पुद्गल में रति मत करो हे भव्योत्तम जीव।
निज में रति से तुम रहो शिवश्री संग सदैव ।।३८।।

हे भव्यशार्दूल ! विविध भेदोंवाला पुद्गल, जो तुझे दिखाई दे रहा है; तू उसमें रति मत कर। तू तो चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा में ही अतुल रति कर, जिससे तू परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होगा।

इस छन्द में भी यही प्रेरणा दी गई है कि हे भव्यजीवो ! विविध भेदोंवाले, विभिन्न रूपों में दिखाई देनेवाले इस पुद्गल द्रव्य के नृत्य में ही मोहित मत रहो, इसमें रति मत करो; क्योंकि इससे तुझे सुख-शान्ति की प्राप्ति होनेवाली नहीं है। **सुख-शान्ति की प्राप्ति तो एकमात्र ज्ञानानन्द-स्वभावी निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करने से एवं उसमें ही रत रहने से होगी।**

अतः हे आत्मन् ! तू तो एक उसमें ही रति कर; क्योंकि इससे ही तुझे परमश्रीरूपी कामिनी अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति होगी ।।३८।।

विगत गाथाओं में पुद्गलद्रव्य के परमाणु और स्कंध के भेदों में से स्कंधों के संबंध में चर्चा की। अब इस गाथा में परमाणु के संदर्भ में कार्यपरमाणु और कारणपरमाणु की चर्चा करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जल आदि धातु चतुष्क हेतुक कारणाणु कहा है।
अर खंध के अवसान को ही कारयाणु कहा है ।।२५।।

पृथ्वी, जल, तेज और वायु ह्न इन चार धातुओं का जो हेतु है; वह कारणपरमाणु है और स्कंधों के अवसान (पृथक् हुए अविभागी अंतिम अंश) को कार्यपरमाणु जानना चाहिए।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह कारणपरमाणुद्रव्य और कार्यपरमाणुद्रव्य का कथन है। पृथ्वी, जल, अग्नि और

यो हेतुः स कारणपरमाणुः। स एव जघन्यपरमाणुः स्निग्धरूक्षगुणानामानन्त्याभावात् समविषमबंधयोरयोग्य इत्यर्थः। स्निग्धरूक्षगुणानामनन्तत्वस्योपरि द्वाभ्याम् चतुर्भिः समबन्धः त्रिभिः पंचभिर्विषमबन्धः। अयमुत्कृष्टपरमाणुः। गलतां पुद्गलद्रव्याणाम् अन्तो-ऽवसानस्तस्मिन् स्थितो यः स कार्यपरमाणुः। अणवश्चतुर्भेदाः कार्यकारणजघन्योत्कृष्टभेदैः तस्य परमाणुद्रव्यस्य स्वरूपस्थितत्वात् विभावाभावात् परमस्वभाव इति।

वायु ह्न ये चार धातुयें हैं और उनका जो हेतु है, वह कारणपरमाणु है। वही परमाणु, एक गुण स्निग्धता या रूक्षता होने से, सम या विषम बंध के लिए अयोग्य जघन्य परमाणु है ह्न ऐसा अर्थ है। एक गुण स्निग्धता या रूक्षता के ऊपर, दो गुणवाले का और चार गुणवाले का समबंध होता है तथा तीन गुणवाले का और पाँच गुणवाले का विषम बंध होता है ह्न यह उत्कृष्ट परमाणु है। गलते अर्थात् पृथक् होते हुए पुद्गलद्रव्यों की अन्तिम दशा में स्थित वह कार्यपरमाणु है। तात्पर्य यह है कि स्कंध के खण्डित होते-होते जो छोटे से छोटा अविभागी भाग रहता है, वह कार्यपरमाणु है।

इसप्रकार परमाणुओं के चार प्रकार हैं ह्न १. कार्यपरमाणु, २. कारणपरमाणु, ३. जघन्यपरमाणु और ४. उत्कृष्टपरमाणु। वह परमाणु द्रव्य स्वरूप में स्थित होने से उसमें विभाव का अभाव है; इसलिए वह परमस्वभाव है।''

ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ पुद्गल के पिण्ड (स्कंध) होने के कारणरूप परमाणु को कारणपरमाणु और पिण्ड (स्कंध) से छूटे हुए परमाणु को कार्यपरमाणु कहा है। तात्पर्य यह है कि चूंकि परमाणुओं से स्कंध बनता है, इसकारण परमाणु को कारणपरमाणु कहते हैं; क्योंकि वह स्कंध बनने का कारण है।

जब किसी स्कंध का बिखराव अन्तिम बिन्दु तक होता है अर्थात् एक परमाणु बिलकुल अकेला रह जाता है; तब उस परमाणु को कार्य-परमाणु कहते हैं।

कारणपरमाणु, जघन्यपरमाणु, उत्कृष्टपरमाणु और कार्यपरमाणु ह्न इसप्रकार परमाणुओं के चार प्रकार भी कहे गये हैं।

१. पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ह्न इन चार धातुओं का हेतु **कारणपरमाणु है।**

२. एक गुण स्निग्धता या एक गुण रूक्षतावाला बंध के अयोग्य परमाणु **जघन्य परमाणु** है।

३. एक गुण से अधिक स्निग्धता या रूक्षतावाला जो परमाणु बंध के योग्य है, वह **उत्कृष्ट परमाणु** है।

४. खण्डित होते-होते जो स्कंध का छोटे से छोटा अविभागी अंश रहता है; वह **कार्यपरमाणु** है।

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय में उक्त संदर्भ में आठ सूत्र आते हैं; उनमें भी

तथा चोक्तं प्रवचनसारे ह्न

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि बज्झन्ति हि आदिपरिहीणा।।१०।।[१]
णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बन्धमणुभवदि।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो।।११।।[२]

तथाहि ह्न

(अनुष्टुभ्)

स्कन्धैस्तैः षट्प्रकारैः किं चतुर्भिरणुभिर्मम।
आत्मानमक्षयं शुद्धं भावयामि मुहुर्मुहुः।।३९।।

पौद्गलिक बंध के संदर्भ में चर्चा की गई है। यदि उक्त संदर्भ में विशेष जानकारी की भावना हो तो तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि एवं राजवार्तिक का स्वाध्याय करना चाहिए।।२५।।

इसके बाद **'तथा चोक्तं प्रवचनसारे ह्न** तथा प्रवचनसार में भी कहा है' ह्न कहकर टीकाकार दो गाथायें उद्धृत करते हैं; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

परमाणुओं का परिणमन सम-विषम अर स्निग्ध हो।
अर रूक्ष हो तो बंध हो दो अधिक पर न जघन्य हो।।१०।।
दो अंश चिकने अणु चिकने-रूक्ष हो यदि चार तो।
हो बंध अथवा तीन एवं पाँच में भी बंध हो।।११।।

परमाणु के परिणाम स्निग्ध हों या रूक्ष हों, सम अंशवाले हों या विषम अंशवाले हों; यदि समान से दो अधिक अंशवाले हों तो बंधते हैं, जघन्य अंशवाले नहीं बँधते।।१०।।

दो अंशोंवाला स्निग्ध परमाणु, चार अंशोंवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणु के साथ बंधता है अथवा तीन अंशोंवाला रूक्ष परमाणु, पाँच अंशोंवाले के साथ युक्त होकर बंधता है।।११।।

इसके बाद **'तथाहि'** कहकर एक छन्द टीकाकार स्वयं प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(वीर)

छह प्रकार के स्कंध और हैं चार भेद परमाणु के।
हमको क्या लेना-देना इन परमाणु-स्कंधों से।।
अक्षय सुखनिधि शुद्धातम जो उसे नित्य हम भाते हैं।
उसमें ही अपनापन करके बार-बार हम ध्याते हैं।।३९।।

---

१. प्रवचनसार, गाथा १६५ २. वही, गाथा १६६

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदियग्गेज्झं ।
अविभागी जं दव्वं परमाणू तं वियाणाहि ।।२६।।

आत्माद्यात्ममध्यमात्मान्तं नैवेन्द्रियैर्ग्राह्यम् ।
अविभागि यद्द्रव्यं परमाणुं तद् विजानीहि ।।२६।।

परमाणुविशेषोक्तिरियम् । यथा जीवानां नित्यानित्यनिगोदादिसिद्धक्षेत्रपर्यन्त स्थितानां सहजपरमपारिणामिकभावविवक्षासमाश्रयेण सहजनिश्चयनयेन स्वस्वरूपादप्रच्यवनत्वमुक्तम्

इन छह प्रकार के स्कंधों और चार प्रकार के परमाणुओं से मुझे क्या लेना-देना है ? मैं तो अक्षय शुद्ध आत्मा को बार-बार भाता हूँ, ध्याता हूँ।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव परम आध्यात्मिक संत हैं और यह नियमसार परमागम उन्होंने स्वयं की भावना की पुष्टि के लिए लिखा है; अत: यह ग्रंथ भी परमाध्यात्मिक ग्रन्थराज है। इसकारण इस अजीवाधिकार में पुद्गल संबंधी उक्त विवेचन में उनका मन विशेष नहीं रमा।

अत: उन्होंने मूल गाथाओं में ही कह दिया कि इसका विस्तार अन्य ग्रन्थों से जान लेना।

इस ग्रंथ के टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इस मामले में उनसे भी चार कदम आगे चलते दिखाई देते हैं।

इसप्रकार के विवेचन करने के उपरान्त वे जो छन्द लिखते हैं; उनमें बार-बार यह स्पष्ट कर देते हैं कि हमें इससे क्या प्रयोजन है, हम तो अपने शुद्धात्मा में जाते हैं।

इसप्रकार की भावना व्यक्त करनेवाले अनेक छन्दों में एक छन्द यह भी है।।३९।।

विगत गाथा में आरंभ की गई परमाणु के प्रकारों की चर्चा के उपरान्त इस गाथा में परमाणु के स्वरूप पर विचार करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

इन्द्रियों से ना ग्रहे अविभागि जो परमाणु है।
वह स्वयं ही है आदि एवं स्वयं ही मध्यान्त है।।२६।।

आदि, मध्य और अन्त से रहित, इन्द्रियों से अग्राह्य और जिसका विभाग संभव नहीं है ह्न ऐसा अविभागी पुद्गलपरमाणु द्रव्य है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह परमाणु का विशेष कथन है। जिसप्रकार सहज परमपारिणामिक भाव की विवक्षा का आश्रय करनेवाले सहज शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा नित्यनिगोद और अनित्यनिगोद (इतरनिगोद) से लेकर सिद्धक्षेत्र पर्यन्त विद्यमान जीवों का निजस्वरूप से

तथा परमाणुद्रव्याणां पञ्चमभावेन परमस्वभावत्वादात्मपरिणतेरात्मैवादिः, मध्यो हि आत्म-परिणतेरात्मैव अंतोपि स्वस्यात्मैव परमाणुः। अतः न चेन्द्रियज्ञानगोचरत्वाद् अनिलानलादि-भिरविनश्वरत्वादविभागी हे शिष्य स परमाणुरिति त्वं तं जानीहि।

(अनुष्टुभ्)

अप्यात्मनि स्थितिं बुद्ध्वा पुद्गलस्य जडात्मनः।
सिद्धास्ते किं न तिष्ठंति स्वस्वरूपे चिदात्मनि।।४०।।

अच्युतपना कहा गया है; उसीप्रकार पंचम भाव की अपेक्षा परमाणु द्रव्य का परमस्वभाव होने से परमाणु स्वयं ही अपनी परिणति का आदि है, स्वयं ही अपनी परिणति का मध्य है और स्वयं ही अपना अन्त भी है। तात्पर्य यह है कि परमाणु आदि, मध्य और अन्त में स्वयं ही है; वह कभी भी अपने स्वभाव से च्युत नहीं होता।

जैसा ऊपर कहा है, वैसा होने से; इन्द्रियज्ञानगोचर न होने से और पवन, अग्नि आदि से नष्ट न होने से जो अविभागी है; हे शिष्य तू उसे परमाणु जान।''

इसप्रकार इस गाथा में यह कहा गया है कि पौद्गलिक परमाणु ही मूलतः पुद्गल द्रव्य है; क्योंकि स्कंध तो पुद्गल द्रव्य की समानजातीय द्रव्यपर्याय है।

यद्यपि उक्त परमाणु रूपी पदार्थ है; अतः उसे इन्द्रियग्राह्य होना चाहिए था; क्योंकि इन्द्रियाँ रूपी पदार्थों को जानने में निमित्त होती हैं; तथापि परमाणु इन्द्रियग्राह्य नहीं है; क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है। इसप्रकार यह सुनिश्चित होता है कि छह द्रव्यों में से कोई भी द्रव्य मूलतः इन्द्रियग्राह्य नहीं है; सभी पदार्थ अतीन्द्रिय ज्ञान के ही विषय हैं।

ध्यान रखने की बात यह है कि अकेला केवलज्ञान ही अतीन्द्रिय ज्ञान नहीं है, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान भी अतीन्द्रिय हैं; क्योंकि वे अपने-अपने विषय को इन्द्रियों के सहयोग के बिना ही जानते हैं। परमाणु भी विशेष प्रकार के सम्यक् अवधिज्ञान का विषय है।

एक बात यह भी ध्यान रखने योग्य है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के विषय छहों द्रव्य हैं तथा परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थ अनुमानादि रूप मतिज्ञान और आगमरूप श्रुतज्ञान से भी जाने जाते हैं। ध्यान रहे अकेले प्रत्यक्ष जानने को ही जानना नहीं कहते, परोक्षज्ञान भी ज्ञान है और वह सम्यग्ज्ञानरूप भी होता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि परमाणु को मति-श्रुतज्ञान प्रत्यक्षरूप से नहीं जान सकते; क्योंकि वे ज्ञान परोक्षज्ञान ही हैं।।२६।।

अन्त में टीकाकार एक छन्द लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

जब जड़ पुद्गल स्वयं में सदा रहे जयवंत।
सिद्धजीव चैतन्य में क्यों न रहे जयवंत।।४०।।

एयरसरूवगंधं दोफासं तं हवे सहावगुणं।
विहावगुणमिदि भणिदं जिणसमये सव्वपयडत्तं ।।२७।।

एकरसरूपगंधः द्विस्पर्शः स भवेत्स्वभावगुणः।
विभावगुण इति भणितो जिनसमये सर्वप्रकटत्वम् ।।२७।।

स्वभावपुद्गलस्वरूपाख्यानमेतत्। तिक्तकटुककषायाम्लमधुराभिधानेषु पंचसु रसेष्वेकरसः, श्वेतपीतहरितारुणकृष्णवर्णेष्वेकवर्णः, सुगन्धदुर्गन्धयोरेकगंधः, कर्कशमृदुगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षाभिधानामष्टानामन्त्यचतुःस्पर्शाविरोधस्पर्शनद्वयम्, एते परमाणोः स्वभावगुणाः जिनानां मते। विभावगुणात्मको विभावपुद्गलः। अस्य द्व्यणुकादिस्कन्धरूपस्य विभावगुणाः सकलकरणग्रामग्राह्या इत्यर्थः।

जब जड़रूप पुद्गल स्वयं में स्थित रहता है; तब वे सिद्ध भगवान अपने चैतन्यात्मस्वरूप में क्यों नहीं रहेंगे ?

तात्पर्य यह है कि रूपी पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में रहते हैं। अतः **जड़ पुद्गल भी अपने स्वरूप में रहता है और चैतन्य आत्मा भी स्वस्वरूप में ही रहते हैं।।४०।।**

विगत गाथा में परमाणु संबंधी विशेष व्याख्यान करने के उपरान्त अब इस गाथा में स्वभावपुद्गल के स्वरूप का व्याख्यान करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

स्वभाव गुणमय अणु में इक रूप रस गंध फरस दो।
विभाव गुणमय खंध तो बस प्रगट इन्द्रिय ग्राह्य है।।२७।।

जो पुद्गल एक रस, एक वर्ण, एक गंध और दो स्पर्श वाला हो; वह पुद्गल स्वभाव गुणवाला है और विभाव गुणवाला पुद्गल तो प्रगटरूप से इन्द्रियग्राह्य है ह्न जैनागम में ऐसा कहा गया है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह स्वभावपुद्गल के स्वरूप का व्याख्यान है। चरपरा, कड़वा, कसायला, खट्टा और मीठा ह्न इन पाँच रसों में से कोई एक रस; सफेद, पीला, हरा, लाल और काला ह्न इन पाँच वर्णों में से कोई एक वर्ण; सुगंध और दुर्गन्ध में से कोई एक गंध तथा कड़ा-नरम, हल्का-भारी, ठंडा-गरम और रूखा-चिकना ह्न इन आठ स्पर्शों में से अविरुद्ध दो स्पर्श ह्न ये पाँच जिनेश्वर के मत में परमाणु के स्वभावगुण हैं।

विभावपुद्गल विभावगुणात्मक होता है। दो परमाणुओं से लेकर अनंत परमाणुओं से बना हुआ स्कंध विभावपुद्गल है। विभावपुद्गल के विभावगुण सम्पूर्ण इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य हैं, जानने में आने योग्य हैं ह्न ऐसा गाथा का अर्थ है।।२७।।''

तथा चोक्तं पंचास्तिकायसमये ह्न

एयरसवण्णगंधं दोफासं सद्दकारणमसद्दं।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणाहि।।१२।।[१]

उक्तं च मार्गप्रकाशे ह्न

(अनुष्टुभ्)

वसुधान्त्यचतु:स्पर्शेषु चिन्त्यं स्पर्शनद्वयम्।
वर्णो गन्धो रसश्चैक: परमाणो: न चेतरे।।१३।।[२]

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज एक गाथा और एक छन्द उद्धृत करते हैं तथा उसके बाद एक छन्द स्वयं भी लिखते हैं।

'**तथा चोक्तं पंचास्तिकायसमये ह्न** तथा पंचास्तिकाय नामक शास्त्र में कहा है' ह्न ऐसा लिखकर टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव जो गाथा उद्धृत करते हैं; उस गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

एक रस गंध वर्ण एवं फास दो जिसमें रहें।
वह शब्द का कारण अशब्दी खंद में परमाणु है।।१२।।

एक रस, एक वर्ण, एक गंध और दो स्पर्शवाला परमाणु शब्द का कारण है, स्वयं अशब्द है और स्कंध के भीतर है; तथापि द्रव्य है।।१२।।

इसके बाद '**उक्तं च मार्गप्रकाशे ह्न** मार्गप्रकाश नामक ग्रंथ में कहा है' ह्न ऐसा लिखकर जो छन्द प्रस्तुत करते हैं; उसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

अष्टविध स्पर्श अन्तिम चार में दो वर्ण इक।
रस गंध इक परमाणु में हैं अन्य कुछ भी है नहीं।।१३।।

परमाणु में आठ प्रकार के स्पर्शों में अन्तिम चार स्पर्शों में से दो स्पर्श, एक वर्ण, एक गंध और एक रस होता है, अन्य नहीं।

पौद्गलिक परमाणु में पाँच रसों में से कोई एक रस, पाँच वर्णों में से कोई एक वर्ण, दो गंधों में से कोई एक गंध और आठ स्पर्शों में से दो स्पर्श ह्न इसप्रकार पाँच गुण होते हैं।

ध्यान रहे यहाँ पर्यायों को ही गुण कहा जा रहा है।

---

१. पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा ८१ २. मार्गप्रकाश, श्लोक संख्या अनुपलब्ध है।

तथाहि ह्न

(मालिनी)

अथ सति परमाणोरेकवर्णादिभास्वन्
निजगुणनिचयेऽस्मिन् नास्ति मे कार्यसिद्धिः ।
इति निजहृदि मत्त्वा शुद्धमात्मानमेकम्
परमसुखपदार्थी भावयेद्भव्यलोकः ।।४१।।

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जाओ ।
खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जाओ ।।२८।।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि आठ स्पर्शों में से कौन से दो स्पर्श लेना हैं ?

इसके उत्तर में कहते हैं कि शीत और उष्ण तथा रूक्ष और स्निग्ध ह्न इन चार स्पर्शों के एकसाथ रह सकने योग्य चार जोड़े बनेंगे।

वे चार जोड़े इसप्रकार हैं ह्न १. शीत-स्निग्ध, २. शीत-रूक्ष, ३. उष्ण-स्निग्ध और ४. उष्ण-रूक्ष। परमाणु में उक्त चार जोड़ों में से कोई एक जोड़ा रहेगा।।१३।।

इसके उपरान्त मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं अपनी ओर से भी लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

वरणादि परमाणु में रहें न कारज सिद्धि।
माने भवि शुद्धात्म की करे भावना नित्य।।४१।।

यदि परमाणु उक्त एक वर्णादिरूप प्रकाशित होते हुए निजगुण समूह में है तो उसमें मेरी कोई कार्यसिद्धि नहीं होती। इसप्रकार अपने हृदय में मानकर परमसुख का अर्थी भव्यसमूह एकमात्र शुद्ध आत्मा की भावना करें।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि परमाणु की स्थिति जो कुछ भी हो; पर उससे मुझे क्या प्रयोजन है; क्योंकि मेरे आत्मकल्याणरूप कार्य की सिद्धि से उसका कोई संबंध नहीं है।

मेरे कार्य की सिद्धि तो एकमात्र शुद्धात्मा की आराधना से होगी। अतः मैं तो निज शुद्धात्मा की भावना भाता हूँ, उसी को ध्याता हूँ।।४१।।

विगत गाथा में स्वभावपुद्गल के स्वरूप का व्याख्यान करने के उपरान्त अब इस गाथा में पुद्गलपर्याय के स्वरूप का व्याख्यान करते हैं।

अन्यनिरपेक्षो यः परिणामः स स्वभावपर्यायः ।
स्कंधस्वरूपेण पुनः परिणामः स विभावपर्यायः ।।२८।।

पुद्गलपर्यायस्वरूपाख्यानमेतत् । परमाणुपर्यायः पुद्गलस्य शुद्धपर्यायः परम-पारिणामिकभावलक्षणः वस्तुगतषट्प्रकारहानिवृद्धिरूपः अतिसूक्ष्मः अर्थपर्यायात्मकः सादिसनिधनोऽपि परद्रव्यनिरपेक्षत्वाच्छुद्धसद्भूतव्यवहारनयात्मकः । अथवा हि एकस्मिन् समयेऽप्युत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वात् सूक्ष्मऋजुसूत्रनयात्मकः । स्कन्धपर्यायः स्वजातीय-बन्धलक्षणलक्षितत्वादशुद्ध इति ।

(मालिनी)

परपरिणतिदूरे शुद्धपर्यायरूपे
सति न च परमाणोः स्कन्धपर्यायशब्दः ।
भगवति जिननाथे पंचबाणस्य वार्ता
न च भवति यथेयं सोऽपि नित्यं तथैव ।।४२।।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

स्वभाविक पर्याय पर निरपेक्ष ही होती सदा।
पर विभाविक पर्याय तो स्कंध ही होती सदा।।२८।।

अन्य की अपेक्षा से रहित जो परिणाम है; वह स्वभावपर्याय है और स्कंधरूप परिणाम विभावपर्याय है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह पुद्गलपर्याय के स्वरूप का व्याख्यान है। परमाणुरूप पर्याय पुद्गल की शुद्ध पर्याय है। वह परमाणु पर्याय परमपारिणामिकभाव स्वरूप है, षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप है, अतिसूक्ष्म है, अर्थपर्यायात्मक है। सादि-सान्त होने पर भी परद्रव्य से निरपेक्ष होने के कारण शुद्धसद्भूतव्यवहारनयात्मक है अथवा एक समय में भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होने से सूक्ष्मऋजूसूत्रनयात्मक है। स्कंधपर्याय स्वजातीयबंधरूप लक्षण से लक्षित होने से अशुद्ध है।''

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि अन्य की अपेक्षा से रहित होने से परमाणुरूप पर्याय पुद्गल द्रव्य की शुद्धपर्याय है और समानजातीयबंधरूप स्कंधपर्याय विभाव पर्याय है। पुद्गल द्रव्य की परमाणुरूप शुद्ध अर्थपर्याय षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप है, अत्यन्त सूक्ष्म है और परमपारिणामिकभावस्वरूप है।

नयों की दृष्टि से विचार करने पर यह या तो अनुपचरितशुद्धसद्भूतव्यवहारनय का विषय बनेगी या फिर सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय का विषय बनेगी।।२८।।

पोग्गलदव्वं उच्चइ परमाणू णिच्छएण इदरेण।
पोग्गलदव्वो त्ति पुणो ववदेसो होदि खंधस्स ।।२९।।

पुद्गलद्रव्यमुच्यते परमाणुर्निश्चयेन इतरेण।
पुद्गलद्रव्यमिति पुनः व्यपदेशो भवति स्कन्धस्य ।।२९।।

पुद्गलद्रव्यव्याख्यानोपसंहारोऽयम्। स्वभावशुद्धपर्यायात्मकस्य परमाणोरेव पुद्गल-द्रव्यव्यपदेशः शुद्धनिश्चयेन। इतरेण व्यवहारनयेन विभावपर्यायात्मनां स्कन्धपुद्गलानां पुद्गलत्वमुपचारतः सिद्धं भवति।

टीका के अन्त में टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

जिसप्रकार जिननाथ के कामभाव न होय।
उस प्रकार परमाणु के शब्दोच्चार न होय ।।४२।।

जिसप्रकार भगवान जिननाथ में पंचबाण के धारी कामदेव की वार्ता नहीं होती; उसीप्रकार परपरिणति से दूर और शुद्धपर्यायरूप होने से परमाणु को स्कंधपर्यायरूप शब्द नहीं होता।

देखो, टीकाकार मुनिराज की जिनभक्ति। कहीं कोई प्रसंग न होने पर भी उदाहरण के रूप में ही सही, वे कामविकार से रहित जिननाथ को याद कर ही लेते हैं।

बात तो मात्र यह बतानी थी कि परमाणु अशब्द होता है; पर इस बात को भी वे इस रूप में प्रस्तुत करते हैं कि **जिसप्रकार जिननाथ कामविकार से रहित हैं; उसीप्रकार परमाणु शब्दोच्चारण का कारण नहीं है; अतः अशब्द है ।।४२।।**

विगत गाथाओं में पुद्गल द्रव्य का व्याख्यान करने के उपरान्त अब इस गाथा में पुद्गलद्रव्य के व्याख्यान का उपसंहार करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

परमाणु पुद्गल द्रव्य है ह्न यह कथन है परमार्थ का।
स्कंध पुद्गल द्रव्य है ह्न यह कथन है व्यवहार का ।।२९।।

निश्चयनय से परमाणु को पुद्गलद्रव्य कहा जाता है और व्यवहारनय से स्कंध को पुद्गल द्रव्य कहा जाता है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह पुद्गल द्रव्य के कथन का उपसंहार है। शुद्धनिश्चयनय से स्वभावशुद्धपर्यायात्मक परमाणु को पुद्गलद्रव्य कहते हैं और व्यवहारनय से विभावपर्यायात्मक पौद्गलिक स्कंध उपचार से पुद्गलद्रव्य सिद्ध होता है।''

(मालिनी)

इति जिनपतिमार्गाद् बुद्धतत्त्वार्थजात:
त्यजतु परमशेषं चेतनाचेतनं च।
भजतु परमतत्त्वं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमन्तर्निर्विकल्पे समाधौ।।४३।।

(अनुष्टुभ्)

पुद्गलोऽचेतनो जीवश्चेतनश्चेति कल्पना।
साऽपि प्राथमिकानां स्यान्न स्यान्निष्पन्नयोगिनाम्।।४४।।

गाथा और टीका में एक ही बात कही है कि निश्चयनय से तो एकमात्र अकेला पुद्गल परमाणु ही द्रव्य है; पर व्यवहारनय से अनेक परमाणुओं के स्कंध को भी पुद्गल द्रव्य कह दिया जाता है।।२९।।

इस गाथा की टीका लिखने के बाद मुनिराज तीन छन्द प्रस्तुत करते हैं, उनमें से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जिनवरकथित सन्मार्ग से तत्त्वार्थ को पहिचान कर।
पररूप चेतन-अचेतन को पूर्णत: परित्याग कर।।
हे भव्यजन ! नित ही भजो तुम निर्विकल्प समाधि में।
निजरूप ज्ञानानन्दमय चित्चमत्कारी आत्म को।।४३।।

हे भव्यजीवो ! इसप्रकार जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित मार्ग से तत्त्वार्थों को जानकर पररूप चेतन-अचेतन समस्त पदार्थों को छोड़ो और अंतरंग निर्विकल्प समाधि में पर से भिन्न चित्चमत्कारमात्र निज परमात्मतत्त्व को भजो, अपने आत्मा की आराधना करो, साधना करो।

उक्त सम्पूर्ण कथन का आशय यह है कि यदि आत्मकल्याण करना है तो सर्वप्रथम जिनागम के आधार से वस्तुस्वरूप का सम्यक् निर्णय करना चाहिए। तदुपरान्त अपने से भिन्न चेतन-अचेतन सभी परपदार्थों से भिन्न अपने आत्मा में अपनापन स्थापित करके, परपदार्थों पर से दृष्टि हटाकर स्वयं में ही समा जाना चाहिए।

ध्यान रहे परचेतन पदार्थों में न केवल अपने स्त्री-पुत्रादि ही आते हैं; अपितु पंचपरमेष्ठी भी आते हैं। अत: स्वयं में समा जाने के लिए, समाधिस्थ हो जाने के लिए उन पर से दृष्टि हटानी होगी, उन्हें भी पर रूप ही जानना-मानना होगा; उन पर से भी उपयोग को हटाकर अपने आत्मा में केन्द्रित होना होगा।।४३।।

(उपेन्द्रवज्रा)

अचेतने पुद्गलकायकेऽस्मिन् सचेतने वा परमात्मतत्त्वे।
न रोषभावो न च रागभावो भवेदियं शुद्धदशा यतीनाम् ।।४५।।

गमणणिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपोग्गलाणं च।
अवगहणं आयासं जीवादीसव्वदव्वाणं ।।३०।।

गमननिमित्तो धर्मोऽधर्मःस्थितेः जीवपुद्गलानां च।
अवगाहनस्याकाशं जीवादिसर्वद्रव्याणाम् ।।३०।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

पुद्गल अचेतन जीव चेतन भाव अपरमभाव में।
निष्पन्न योगीजनों को ये भाव होते ही नहीं।।४४।।

पुद्गल अचेतन है और जीव चेतन है ह्न ऐसे भाव (विकल्प) प्राथमिक भूमिकावालों को ही होते हैं, निष्पन्न योगियों को नहीं होते।

उक्त कथन का सार यह है कि आत्मखोजी अज्ञानी जीवों को और ज्ञानियों को भी, जब वे समाधिस्थ नहीं होते हैं, तब उन्हें भी स्व-पर- भेदविज्ञान संबंधी विकल्प खड़े होते हैं; किन्तु आत्मानुभूति के काल में, ध्यानस्थ अवस्था में भेदविज्ञान संबंधी विकल्प भी खड़े नहीं होते।।४४।।

तीसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जड़ देह में न द्वेष चेतन तत्त्व में भी राग ना।
शुद्धात्मसेवी यतिवरों की अवस्था निर्मोह हो।।४५।।

इस अचेतन पौद्गलिक शरीर में द्वेषभाव नहीं होता और सचेतन परमात्मतत्त्व में रागभाव नहीं होता ह्न ऐसी शुद्धदशा यतियों की होती है।

इस कलश में यही कहा गया है कि शुद्धात्मसेवी मुनिवरों को किसी के भी प्रति राग-द्वेष नहीं होता; सर्वत्र समभाव ही वर्तता है।।४५।।

विगत गाथाओं में पुद्गलद्रव्य का विस्तार से निरूपण करने के उपरान्त अब ३०वीं गाथा में धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य का स्वरूप संक्षेप में स्पष्ट करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

सब द्रव्य के अवगाह में नभ जीव पुद्गल द्रव्य के।
गमन थिति में धर्म और अधर्म द्रव्य निमित्त हैं।।३०।।

धर्माधर्माकाशानां संक्षेपोक्तिरियम्। अयं धर्मास्तिकाय: स्वयं गतिक्रियारहित: दीर्घिकोदकवत्। स्वभावगतिक्रियापरिणतस्यायोगिन: पञ्चह्रस्वाक्षरोच्चारणमात्रस्थितस्य भगवत: सिद्धनामधेययोग्यस्य षट्कापक्रमविमुक्तस्य मुक्तिवामलोचनालोचनगोचरस्य त्रिलोकशिखरिशेखरस्य अपहस्तितसमस्तक्लेशावासपञ्चविधसंसारस्य पंचमगतिप्रान्तस्य स्वभावगतिक्रियाहेतु: धर्म:, अपि च षट्कापक्रमयुक्तानां संसारिणा विभावगतिक्रियाहेतुश्च। यथोदकं पाठीनानां गमनकारणं तथा तेषां जीवपुद्गलानां गमनकारणं स धर्म:। सोऽयममूर्त: अष्टस्पर्शविनिर्मुक्त: वर्णरसपंचकगंधद्वितयविनिर्मुक्तश्च अगुरुकलघुत्वादिगुणाधार: लोकमात्राकार: अखण्डैकपदार्थ:। सहभुवो गुणा:, क्रमवर्तिन: पर्यायाश्चेति वचनादस्य गतिहेतोर्धर्मद्रव्यस्य शुद्धगुणा: शुद्धपर्याया भवन्ति। अधर्मद्रव्यस्य स्थितिहेतुर्विशेषगुण:।

जीव और पुद्गल द्रव्यों को गमन में निमित्त धर्मद्रव्य और गमनपूर्वक स्थिति का निमित्त अधर्मद्रव्य है तथा जीवादि सभी छह द्रव्यों को अवगाहन (रहने) में निमित्त आकाश द्रव्य है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य का संक्षिप्त कथन है। यह धर्मास्तिकाय बावड़ी के पानी की भांति स्वयं गमनरूप क्रिया से रहित है। अ, इ, उ, ऋ, लृ ह्न इन पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतना समय जिन्हें सिद्धशिला पर पहुँचने में लगता है; जो सिद्धनाम के योग्य हैं; जो छह उपक्रमों से विमुक्त हैं अर्थात् जिनका संसारी जीवों के समान छह दिशाओं में गमन नहीं होता, मात्र ऊर्ध्वगमन ही होता है; जो मुक्तिरूपी सुन्दर नयनोंवाली सुलोचना के द्वारा देखे जाने योग्य हैं; जो तीन लोकरूपी पर्वत के शिखर हैं; जिन्होंने क्लेश के गृह एवं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के परावर्तनरूप पंचविध संसार को दूर कर दिया है और जो पंचम गति की सीमा पर स्थित हैं अर्थात् मुक्तिरूप नगर के निकट हैं; ऐसे अयोगी जिनों को स्वभावगति क्रियारूप से परिणत होने में हेतु (निमित्त) धर्मद्रव्य है। वह धर्मद्रव्य छह उपक्रम से युक्त अर्थात् छहों दिशाओं में गमन करनेवाले संसारियों की विभावगति क्रिया में भी हेतु (निमित्त) होता है।

इसप्रकार वह धर्मद्रव्य समस्त जीवों की गमनक्रिया में निमित्त होता है। जिसप्रकार पानी मछलियों के आवागमन में निमित्त होता है; उसीप्रकार धर्मद्रव्य सभी जीव और पुद्गलों के आवागमन में निमित्त होता है। वह अमूर्त धर्मद्रव्य आठ प्रकार के स्पर्शों, पाँच-पाँच प्रकार के रसों व वर्णों और दो प्रकार की गंधों से रहित; अगुरुलघुत्वादि गुणों का आधारभूत, लोकाकाश के समान आकारवाला, अखण्ड, एक पदार्थ है।

'गुण सहभावी होते हैं और पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं' ह्न ऐसा आगम का वचन होने से गति के हेतुभूत इस धर्मद्रव्य के शुद्ध गुण और शुद्ध पर्यायें होती हैं।

अस्यैव तस्य धर्मास्तिकायस्य गुणपर्याया: सर्वे भवन्ति। आकाशस्यावकाशदानलक्षणमेव विशेषगुण:। इतरे धर्माधर्मयोर्गुणा: स्वस्यापि सदृशा इत्यर्थ:। लोकाकाशधर्माधर्माणां समानप्रमाणत्वे सति न ह्यलोकाकाशस्य ह्रस्वत्वमिति।

अधर्मद्रव्य में विशेष बात यह है कि वह जीव और पुद्गलों को गमनपूर्वक स्थिति (ठहरने) में निमित्त होता है। अधर्मद्रव्य में शेष बातें (गुण-पर्यायें) धर्मास्तिकाय के समान ही होती हैं।

इसीप्रकार आकाश का भी अवगाहदान लक्षण विशेष गुण है। आकाश की शेष विशेषताएँ धर्म-अधर्मद्रव्य जैसी ही हैं। ध्यान रखने की बात यह है कि लोकाकाश के धर्म और अधर्म द्रव्य के समान प्रमाण (आकार) में होने से अलोकाकाश में कोई न्यूनता (कमी) नहीं आती, वह तो अनन्त ही है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार तो मात्र यही है कि सभी द्रव्यों को अवकाश (रहने का स्थान) देने में आकाशद्रव्य निमित्त है और गमनक्रिया से युक्त समस्त जीवों और पुद्गलों की स्वभाव और विभावरूप गमन क्रियाओं में धर्मद्रव्य और गमनपूर्वक स्थिति (ठहरना) क्रियाओं में अधर्मद्रव्य निमित्त है।

जीव और पुद्गलों को छोड़कर शेष चार द्रव्यों में गमन क्रिया और गमनपूर्वक स्थिति क्रिया होती ही नहीं है, अत: उनमें धर्म और अधर्मद्रव्य की निमित्तता की आवश्यकता ही नहीं है।

सभी द्रव्यों में समानरूप से पाई जानेवाली शेष सभी विशेषतायें उक्त तीनों अमूर्तिक और अचेतन द्रव्यों में भी पाई जाती हैं।

टीका में जो जटिलता (समझने में कठिनाई) प्रतीत होती है; वह तो धर्मद्रव्य की परिभाषा स्पष्ट करते समय जो अयोगी जिनों के स्वरूप पर अनेक महिमावाचक विशेषणों के माध्यम से प्रकाश डाला गया है, उनकी महिमा बताई गई है; उसके कारण प्रतीत होती है।

टीकाकार मुनिराज के हृदय में सिद्धों के प्रति जो अगाध भक्ति है, वह जहाँ भी मौका मिलता है, प्रगट हुए बिना नहीं रहती।

टीका में जिन स्वभावगति क्रिया और विभावगति क्रिया की चर्चा आई है; उनका स्वरूप इसप्रकार है ह्न

चौदहवें गुणस्थान के अन्त में जब जीव ऊर्ध्वगमनस्वभाव से लोकान्त में जाता है, तब जो गमनक्रिया होती है, वह जीव की स्वभाव-गतिक्रिया है और संसारावस्था में जब जीव कर्म के निमित्त से छहों दिशाओं में गमन करता है; उस समय होनेवाली जीव की गमनक्रिया विभावगतिक्रिया है।

इसीप्रकार एक-एक पृथक् परमाणु गति करता है, वह पुद्गल की स्वभावगतिक्रिया

(मालिनी)

इह गमननिमित्तं यत्स्थितेः कारणं वा
पदपरमखिलानां स्थानदानप्रवीणम् ।
तदखिलमवलोक्य द्रव्यरूपेण सम्यक्
प्रविशतु निजतत्त्वं सर्वदा भव्यलोकः ।।४६।।

समयावलिभेदेण दु दुवियप्पं अहव होइ तिवियप्पं ।
तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु ।।३१।।

समयावलिभेदेन तु द्विविकल्पोऽथवा भवति त्रिविकल्पः ।
अतीतः संख्यातावलिहतसंस्थानप्रमाणस्तु ।।३१।।

है और पुद्गलस्कन्ध गमन करता है, वह पुद्गल की (स्कन्ध के प्रत्येक परमाणु की) विभावगतिक्रिया है। इस स्वाभाविक तथा वैभाविक गतिक्रिया में धर्मद्रव्य निमित्तमात्र है।

सिद्धदशा में जीव स्थित होता है, वह जीव की स्वाभाविक स्थिति क्रिया है और संसारदशा में स्थित होता है, वह जीव की वैभाविक स्थिति क्रिया है। अकेला परमाणु स्थित होता है, वह पुद्गल की स्वाभाविक स्थितिक्रिया है और स्कन्ध स्थित होता है, वह पुद्गल की (स्कन्ध के प्रत्येक परमाणु की) वैभाविक स्थितिक्रिया है। इन जीव-पुद्गलों की स्वाभाविक तथा वैभाविक स्थितिक्रिया में अधर्मद्रव्य निमित्त मात्र है।।३०।।

उक्त गाथा की टीका के उपरान्त टीकाकार एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

धर्माधर्माकाश को द्रव्यरूप से जान।
भव्य सदा निज में बसो ये ही काम महान ।।४६।।

जो जीव और पुद्गलों के गमन में निमित्त है, स्थिति में कारण है ह्न ऐसे धर्म और अधर्म द्रव्यों को तथा जो सभी द्रव्यों को स्थान देने में प्रवीण हैं ह्न ऐसे आकाशद्रव्य को द्रव्यरूप से भलीभांति जानकर हे भव्यजीवो! निजतत्त्वरूप भगवान आत्मा में प्रवेश करो, निज को निज रूप जानकर-मानकर, निज का ही ध्यान धरो; निज में ही जम जावो, रम जावो, समा जावो।

विगत गाथा में किये गये धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य के निरूपण के उपरान्त अब इस गाथा में कालद्रव्य की चर्चा आरंभ करते हुए सर्वप्रथम व्यवहारकाल की चर्चा करते हैं।

व्यवहारकालस्वरूपविविधविकल्पकथनमिदम्। एकस्मिन्नभःप्रदेशे यः परमाणुस्तिष्ठति तमन्यः परमाणुर्मन्दचलनाल्लंघयति स समयो व्यवहारकालः। तादृशैरसंख्यातसमयैः निमिषः अथवा नयनपुटघटनायत्तो निमेषः। निमेषाष्टकैः काष्ठा। षोढशभिः काष्ठाभिः कला। द्वात्रिंशत्कलाभिर्घटिका। षष्ठिनालिकमहोरात्रम्। त्रिंशदहोरात्रैर्मासः। द्वाभ्याम् मासाभ्याम् ऋतुः। ऋतुभिस्त्रिभिरयनम्। अयनद्वयेन संवत्सरः। इत्यावल्यादिव्यवहारकालक्रमः। इत्थं समयावलिभेदेन द्विधा भवति, अतीतानागतवर्तमानभेदात् त्रिधा वा।

अतीतकालप्रपञ्चोऽयमुच्यते ह्न अतीतसिद्धानां सिद्धपर्यायप्रादुर्भावसमयात् पुरागतो ह्यावल्यादिव्यवहारकालः स कालस्यैषां संसारावस्थायां यानि संस्थानानि गतानि तैः सदृशत्वादनन्तः। अनागतकालोप्यनागतसिद्धानामनागतशरीराणि यानि तैः सदृश इत्यामुक्तेः मुक्तेः सकाशादित्यर्थः।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

समय आवलि भेद दो भूतादि तीन विकल्प हैं।
संस्थान से संख्यातगुण आवलि अतीत बखानिये ॥३१॥

समय और आवलि के भेद से कालद्रव्य दो प्रकार का है और भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यकाल के भेद से तीन प्रकार का है। अतीतकाल, संस्थानों (शरीरों) के और संख्यात आवलि के गुणाकार प्रमाण है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह व्यवहारकाल के स्वरूप और उसके विविध भेदों का कथन है। एक आकाश के प्रदेश में जो परमाणु स्थित हो; उस परमाणु का दूसरे परमाणु के द्वारा मंदगति से उल्लंघन किये जाने में जितना काल लगता है, उतने काल को समय कहते हैं, समय रूप व्यवहारकाल कहते हैं। ऐसे असंख्य समयों का एक निमिष होता है अथवा आँख मीचने में जितना समय लगता है, उतना समय निमिष है। आठ निमिष की एक काष्ठा होती है। सोलह काष्ठा की कला, बत्तीस कला की घड़ी, साठ घड़ी का दिन-रात, तीस दिन-रात का मास, दो मास की ऋतु, तीन ऋतु का अयन और दो अयन का वर्ष होता है। आवलि आदि व्यवहार का ऐसा क्रम है। इसप्रकार व्यवहार काल समय और आवलि के भेद से दो प्रकार का है अथवा अतीत, अनागत और वर्तमान के भेद से तीन प्रकार का है।

अब यहाँ अतीत काल को विस्तार से स्पष्ट करते हैं। भूतकाल में हुये सिद्धों की सिद्धपर्याय के प्रादुर्भाव होने से पहिले बीती हुई अनंत आवलि आदि व्यवहार काल और संसार दशा में बीते हुए अनंत संस्थानों (शरीरों) के बराबर अतीत काल अनंत है। इसीप्रकार अनागत (भविष्य) काल भी अनागत सिद्धों के मुक्त होने तक होनेवाले अनंत शरीरों के समान अनंत है। गाथा का ऐसा अर्थ है।''

तथा चोक्तं पञ्चास्तिकायसमये ह्न

समओ णिमिसो कट्ठा कला य णाली तदो दिवारत्ती।
मासोदुअयणसंवच्छरो त्ति कालो परायत्तो।।१४।।[१]

तथा हि ह्न

(मालिनी)

समयनिमिषकाष्ठा सत्कलानाडिकाद्याद्
दिवसरजनिभेदाज्जायते काल एषः।
न च भवति फलं मे तेन कालेन किंचिद्
निजनिरूपमतत्त्वं शुद्धमेकं विहाय।।४७।।

इस गाथा और उसकी टीका में यह कहा गया है कि पुद्गल का एक अविभागी परमाणु को अत्यन्त मंदगति से चलकर आकाश के एक प्रदेश से चलकर उसी से सटे हुए दूसरे प्रदेश पर पहुँचने में कम से कम जितना काल लगता है, काल के उस अविभागी अंश को समय कहते हैं। ऐसे असंख्य समयों का एक निमिष, आठ निमिष का एक काष्ठा, सोलह काष्ठा की एक कला, बत्तीस कला की एक घड़ी, साठ घड़ी का दिन-रात, तीस दिन-रात का एक माह, दो माह की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन और दो अयन का एक वर्ष होता है।

यह व्यवहारकाल समय और आवलि के भेद से दो प्रकार का और भूत, भविष्य और वर्तमान के भेद से तीन प्रकार का होता है।

काल के ये सब भेद-प्रभेद व्यवहारकाल हैं और कालाणु द्रव्य निश्चयकाल है।

भूतकाल अनंत है, भविष्य काल उससे भी अनंतगुणा है और वास्तविक वर्तमानकाल एक समय का होता है तथा उसके निमिष आदि भेद भी हैं।।३१।।

'तथा चोक्तं पंचास्तिकायसमये ह्न तथा पंचास्तिकाय नामक शास्त्र में भी कहा है' ह्न ऐसा लिखकर टीकाकार एक गाथा उद्धृत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

समय-निमिष-कला-घड़ी दिनरात-मास-ऋतु-अयन।
वर्षादि का व्यवहार जो वह पराश्रित जिनवर कहा।।१४।।

समय, निमिष, काष्ठा, कला, घड़ी, दिन-रात, मास, ऋतु, अयन और वर्ष ह्न इसप्रकार पराश्रित काल है, जिसमें पर की अपेक्षा आती है ह्न ऐसा व्यवहार काल है।।१४।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथाहि'** लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

---

१. पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा २५

जीवादु पोग्गलादो णंतगुणा चावि संपदा समया।
लोयायासे संति य परमट्ठो सो हवे कालो।।३२।।

जीवात् पुद्गलतोनंतगुणाश्चापि संप्रति समयाः।
लोकाकाशे संति च परमार्थः स भवेत्कालः।।३२।।

मुख्यकालस्वरूपाख्यानमेतत्। जीवराशेः पुद्गलराशेः सकाशादनन्तगुणाः। के ते ?

(दोहा)

समय निमिष काष्ठा कला घड़ी आदि के भेद।
इनसे उपजे काल यह रंच नहीं सन्देह।।
पर इससे क्या लाभ है शुद्ध निरंजन एक।
अनुपम अद्भुत आतमा में ही रहूँ हमेश।।४७।।

समय, निमिष, काष्ठा, कला, घड़ी, दिन-रात आदि भेदों से यह व्यवहारकाल उत्पन्न होता है; परन्तु शुद्ध एक निज निरूपम आत्मतत्त्व को छोड़कर उक्त काल से मुझे क्या लाभ है, कुछ भी लाभ (फल) नहीं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि मूल गाथा में समागत वस्तु का स्वरूप स्पष्ट करते समय भी टीकाकार का मन उक्त विषयवस्तु में रमता नहीं है; उनकी धुन तो एकमात्र आत्मा में ही लगी रहती है, जो लगभग प्रत्येक गाथा की टीका के अन्त में आनेवाले छन्दों में सहज ही प्रगट हो जाती है। मूल ग्रन्थकार आचार्य कुन्दकुन्ददेव तो परमाध्यात्मिक संत थे ही; परन्तु टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव तो उनसे भी एक कदम आगे बढ़ते दिखाई देते हैं।।४७।।

विगत गाथा में व्यवहारकाल का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में निश्चय काल की बात करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जीव एवं पुद्गलों से समय नंत गुणे कहे।
कालाणु लोकाकाश थित परमार्थ काल कहे गये।।३२।।

जीव और पुद्गल द्रव्यों से समय अनंत गुणे हैं और जो लोकाकाश में कालाणु हैं, वे परमार्थ (निश्चय) काल हैं।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह मुख्य काल (निश्चय काल) के स्वरूप का व्याख्यान है। वे जीवराशि और पुद्गलराशि से अनंत गुणे हैं। वे कौन ? समय। तात्पर्य यह है कि वे समय जीवराशि

समया: । कालणव: लोकाकाशप्रदेशेषु पृथक् पृथक् तिष्ठन्ति, स काल: परमार्थ: इति ।''

तथा चोक्तं प्रवचनसारे ह्न

समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स ।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स ।।१५।।[१]

अस्यापि समयशब्देन मुख्यकालाणुस्वरूपमुक्तम्।

अन्यच्च ह्न

लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का ।
रयणाणं रासी इव ते कालाणु असंखदव्वाणि ।।१६।।[२]

उक्तं च मार्गप्रकाशे ह्न

(अनुष्टुभ्)

कालाभावे न भावानां परिणामस्तदंतरात् ।
न द्रव्यं नापि पर्याय: सर्वाभाव: प्रसज्यते ।।१७।।[३]

और पुद्गल राशि से अनंतगुणे हैं । कालाणु लोकाकाश के प्रदेशों में अलग-अलग स्थित हैं, वे कालाणु परमार्थ (निश्चय) काल हैं ।''

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में मात्र यह कहा है कि समय, जीव और पुद्गल द्रव्यों से अनंतगुणे हैं। कालाणु निश्चयकाल हैं और वे कालाणु लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक स्थित हैं ।।३२।।

इसके बाद '**तथा चोक्तं प्रवचनसारे** ह्न तथा प्रवचनसार में भी कहा है' ह्न ऐसा लिखकर एक गाथा उद्धृत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

पुद्गलाणु मंदगति से चले जितने काल में।
रे एक गगनप्रदेश पर परदेश विरहित काल वह ।।१५।।

काल तो अप्रदेशी है और प्रदेशमात्र पुद्गल परमाणु आकाशद्रव्य के एक प्रदेश को मंदगति से उल्लघंन कर रहा हो, तब वह काल वर्तता है अर्थात् निमित्तभूततया परिणमित होता है ।

इस गाथा में 'समय' शब्द से मुख्य कालाणु का स्वरूप कहा है ।।१५।।

अन्यत्र (द्रव्यसंग्रह में) भी कहा है ह्न

(हरिगीत)

जान लो इस लोक के जो एक-एक प्रदेश पर।
रत्नराशिवत् जड़े वे असंख्य कालाणु दरव ।।१६।।

लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में एक-एक कालाणु रत्नों की राशि के समान खचित हैं। वे कालाणु असंख्य द्रव्य हैं ।।१६।।

---

१. प्रवचनसार, गाथा १३८ २. बृहदद्रव्यसंग्रह, गाथा २२ ३. मार्गप्रकाश, श्लोक संख्या अनुपलब्ध है ।

तथा हि ह्न

(अनुष्टुभ्)

वर्तनाहेतुरेषः स्यात् कुम्भकृच्चक्रमेव तत्।
पंचानामस्तिकायानां नान्यथा वर्तना भवेत्।।४८।।
प्रतीतिगोचराः सर्वे जीवपुद्गलराशयः।
धर्माधर्मनभः कालाः सिद्धाः सिद्धान्तपद्धतेः।।४९।।

और मार्गप्रकाश नामक ग्रंथ में भी कहा है ह्न

(दोहा)

सब द्रव्यों में परिणमन काल बिना न होय।
और परिणमन के बिना कोई वस्तु न होय।।१७।।

काल के अभाव में पदार्थों का परिणमन नहीं होगा और परिणमन के न होने पर द्रव्य और पर्यायें भी नहीं रहेगी ह्न इसप्रकार सर्वाभाव का प्रसंग उपस्थित होगा।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज कलश के रूप में दो छन्द स्वयं लिखते हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

घट बनने में निमित्त है ज्यों कुम्हार का चक्र।
द्रव्यों के परिणमन में त्यों निमित्त यह द्रव्य।।
इसके बिन न कोई भी द्रव्य परिणमित होय।
इसकारण ही सिद्ध रे इसकी सत्ता होय।।४८।।
जिन आगम आधार से धर्माधर्माकाश।
जिय पुद्गल अर काल का होता है आभास।।४९।।

जिसप्रकार घड़ा बनाने में कुम्हार का चक्र निमित्त है; उसीप्रकार यह परमार्थ काल पाँचों अस्तिकायों की वर्तना में निमित्त है। इसके बिना पाँचों अस्तिकायों में वर्तना नहीं हो सकती।

सिद्धान्तपद्धति अर्थात् आगमानुसार स्थापित जीवराशि, पुद्गलराशि, धर्म, अधर्म, आकाश और काल सभी द्रव्यों का अस्तित्व प्रतीतिगोचर है अर्थात् प्रतीति में आता है।

विविध शास्त्रों के उक्त सभी कथनों में यही बताया गया है कि कालाणु निश्चयकाल द्रव्य है। वे कालाणु द्रव्य लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक स्थित हैं; इसप्रकार कुल कालद्रव्य जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं, उतने ही हैं। तात्पर्य यह है कि **कालद्रव्यों की संख्या असंख्य (लोकप्रमाण) है। समय कालद्रव्य की पर्यायें हैं। वे समय जीव राशि व पुद्गल राशि से भी अनन्तगुणे अनंत हैं।**

समय काल का वह सबसे छोटा अंश है कि जिसका विभाजन संभव नहीं है।।४८-४९।।

जीवादीदव्वाणं परिवट्टणकारणं हवे कालो।
धम्मादिचउण्हं णं सहावगुणपज्जया होंति।।३३।।

जीवादिद्रव्याणां परिवर्तनकारणं भवेत्कालः।
धर्मादिचतुर्णां स्वभावगुणपर्याया भवंति।।३३।।

कालादिशुद्धामूर्ताचेतनद्रव्याणां स्वस्वभावगुणपर्यायाख्यानमेतत्। इह हि मुख्यकालद्रव्यं जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानां पर्यायपरिणतिहेतुत्वात् परिवर्तनलिंगमित्युक्तम्। अथ धर्माधर्माकाशकालानां स्वजातीयविजातीयबंधसम्बन्धाभावात् विभावगुणपर्याया न भवंति, अपि तु स्वभावगुणपर्याया भवन्तीत्यर्थः। ते गुणपर्यायाः पूर्वं प्रतिपादिताः, अत एवात्र संक्षेपतः सूचिता इति।

विगत गाथाओं में कालद्रव्य की चर्चा करने के उपरान्त अब इस गाथा में उक्त चर्चा का उपसंहार करते हुए यह बताते हैं कि अचेतन अमूर्तिक धर्मादि चार द्रव्यों की मात्र स्वभाव-पर्यायें ही होती हैं, विभाव-पर्यायें नहीं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जीवादि के परिणमन में यह काल द्रव्य निमित्त है।
धर्म आदि चार की निजभाव गुण पर्याय है।।३३।।

जीवादि सभी द्रव्यों के परिणमन में कालद्रव्य निमित्त है और धर्म, अधर्म, आकाश और काल ह्न इन चार द्रव्यों में स्वभावरूप पर्यायें ही होती हैं।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह कालादि अमूर्त, अचेतन और शुद्ध द्रव्यों की निजस्वभाव गुणपर्यायों का कथन है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाशरूप पंचास्तिकाय द्रव्यों की पर्यायरूप परिणति का हेतु (निमित्त) होने से मुख्य (निश्चय) कालद्रव्य का लक्षण वर्तनाहेतुत्व है ह्न ऐसा यहाँ कहा गया है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ह्न इन चार द्रव्यों को स्वजातीय या विजातीय बंध का संबंध न होने से इनकी विभावपर्यायें नहीं होती हैं; परन्तु स्वभावगुणपर्यायें होती हैं ह्न ऐसा अर्थ है। उक्त स्वभावगुणपर्यायों का पूर्व में प्रतिपादन हो चुका है; अतः यहाँ संक्षेप में सूचित किया गया है।''

इस गाथा में मात्र इतना ही कहा गया है कि धर्म, अधर्म, आकाश और काल ह्न इन द्रव्यों की स्वभावपर्यायें होती हैं; विभावपर्यायें नहीं होतीं; क्योंकि इनमें न तो स्वजातीय बंध होता है और न विजातीय। पंचास्तिकाय के द्रव्यों में जो भी स्वभाव-विभावपर्यायरूप परिणमन होता है, उसमें कालद्रव्य निमित्त होता है।।३३।।

(मालिनी)

इति विरचितमुच्चैर्द्रव्यषट्कस्य भास्वद्
विवरणमतिरम्यं भव्यकर्णामृतं यत्।
तदिह जिनमुनीनां दत्तचित्तप्रमोदं।
भवति भवविमुक्त्यै सर्वदा भव्यजन्तोः ।।५०।।

एदे छद्दव्वाणि य कालं मोत्तूण अत्थिकाय त्ति।
णिद्दिट्ठा जिणसमये काया हु बहुप्पदेसत्तं।।३४।।

एतानि षड्द्रव्याणि च कालं मुक्त्वास्तिकाया इति।
निर्दिष्टा जिनसमये कायाः खलु बहुप्रदेशत्वम्।।३४।।

टीका के उपरान्त टीकाकार मुनिराज एक छन्द प्रस्तुत करते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(त्रिभंगी)

जय भव भय भंजन, मुनि मन रंजन, भव्यजनों को हितकारी।
यह षट्द्रव्यों का, विशद विवेचन, सबको हो मंगलकारी।।५०।।

भव्यजीवों को अमृत के समान और मुनिराजों के चित्त को प्रमुदित करनेवाला यह छह द्रव्यों का अत्यन्त रमणीय स्पष्ट विवेचन भव्यजीवों को सदा संसार परिभ्रमण से मुक्त होने का कारण बने।

यह छन्द आशीर्वचनरूप छन्द है। इसमें भावना व्यक्त की गई है कि भव्यजीवों के लिए अमृत समान और मुनिराजों के चित्त को प्रमुदित करनेवाला षट्द्रव्यों का यह अत्यन्त रमणीक विवेचन भव्यजीवों को संसार परिभ्रमण से मुक्त होने का कारण बने, सभी को कल्याणकारी हो।।५०।।

विगत गाथाओं में षट्द्रव्यों की चर्चा करने के उपरान्त अब इस गाथा में यह स्पष्ट करते हैं कि काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी होने से अस्तिकाय कहे गये हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

बहुप्रदेशीपना ही है काय एवं काल बिन।
जीवादि अस्तिकाय हैं ह्न इस भांति जिनवर के वचन।।३४।।

जैनागम के अनुसार इन छह द्रव्यों में से काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। बहुप्रदेशीपने को काय कहते हैं।

अत्र कालद्रव्यमन्तरेण पूर्वोक्तद्रव्याण्येव पञ्चास्तिकाया भवंतीत्युक्तम्। इह हि द्वितीयादिप्रदेशरहित: काल:, 'समओ अप्पदेशो' इति वचनात्। अस्य हि द्रव्यत्वमेव इतरेषां पंचानां कायत्वमस्त्येव। बहुप्रदेशप्रचयत्वात् काय:। काया इव काया:। पञ्चास्तिकाया:। अस्तित्वं नाम सत्ता। सा किंविशिष्टा ? सप्रतिपक्षा:, अवान्तरसत्ता महासत्तेति। तत्र समस्त-वस्तुविस्तरव्यापिनी महासत्ता, प्रतिनियतवस्तुव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता। समस्तव्यापक-रूपव्यापिनी महासत्ता, प्रतिनियतैकरूपव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता। अनन्तपर्यायव्यापिनी महासत्ता, प्रतिनियतैकपर्यायव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता। अस्तीत्यस्य भाव: अस्तित्वम्। अनेन अस्तित्वेन कायत्वेन सनाथा: पञ्चास्तिकाया:। कालद्रव्यस्यास्तित्वमेव, न कायत्वं, काया इव बहुप्रदेशाभावादिति।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस गाथा में यह कहा गया है कि कालद्रव्य को छोड़कर पूर्वोक्त शेष पाँच द्रव्य ही पंचास्तिकाय हैं। कालद्रव्य द्वितीयादि प्रदेशों से रहित है; क्योंकि शास्त्र का ऐसा वचन है कि समओ अप्पदेसो ह्न काल अप्रदेशी है। काल को अकेला द्रव्यत्व ही है, शेष द्रव्यों को द्रव्यत्व के साथ-साथ कायत्व भी है। बहुप्रदेशीपने को काय कहते हैं। जिसप्रकार काय (शरीर) बहुप्रदेशी है; उसीप्रकार अस्तिकाय द्रव्य बहुप्रदेशी हैं। अस्तिकाय पाँच हैं। अस्तित्व का नाम ही सत्ता है। सत्ता की क्या विशेषता है ?

वह सत्ता प्रतिपक्ष सहित है। अवान्तर सत्ता और महासत्ता के भेद से सत्ता दो प्रकार की है। दोनों सत्ताओं में रहनेवाला प्रतिपक्षपना इसप्रकार है ह्न १. महासत्ता समस्त वस्तुविचार से व्यापनेवाली है और अवान्तरसत्ता प्रतिनियत वस्तु में व्यापनेवाली है। २. महासत्ता समस्त पदार्थों में व्यापकरूप से व्याप्त होनेवाली है और अवान्तर-सत्ता प्रतिनियत एकरूप से व्याप्त होनेवाली है। ३. महासत्ता अनन्त-पर्यायों में व्याप्त होनेवाली है और अवान्तरसत्ता प्रतिनियत एक पर्याय में व्याप्त होनेवाली है। पदार्थों की अस्ति है ह्न ऐसा भाव ही अस्तित्व है। उक्त अस्तित्व और कायत्व से सहित पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं।''

गाथा में तो मात्र इतना ही कहा गया है कि बहुप्रदेशी द्रव्यों को अस्तिकाय कहते हैं और कालद्रव्य को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं; किन्तु टीका में अस्ति का अर्थ करते हुए महासत्ता और अवान्तरसत्ता की न केवल चर्चा की गई है; अपितु उन दोनों में विद्यमान अन्तर को भी स्पष्ट कर दिया गया है।

प्रश्न ह्न यहाँ एक ही पंक्ति में दो बातें एक साथ कही जा रही हैं कि कालद्रव्य अप्रदेशी

(आर्या)

इति जिनमार्गाम्भोधेरुद्धृता पूर्वसूरिभिः प्रीत्या।
षड्द्रव्यरत्नमाला कंठाभरणाय भव्यानाम्।।५१।।

है और एकप्रदेशी है। अतः प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कालद्रव्यों के प्रदेश हैं ही नहीं या उसका एकप्रदेश है?

उत्तर ह्न एकप्रदेशी और अप्रदेशी का एक ही अर्थ है। असंख्यात कालद्रव्यों में से प्रत्येक कालद्रव्य का मात्र एक प्रदेश ही होता है।

प्रश्न ह्न यदि एक कालद्रव्य का एक ही प्रदेश होता है तो उसे अप्रदेशी क्यों कहते हैं?

उत्तर ह्न एक से अधिक प्रदेश नहीं है, अनेक प्रदेश नहीं है; यह बतलाने के लिए ही उसे अप्रदेशी कहते हैं।

अप्रदेशी में जो 'अ' है, वह अनेकप्रदेशत्व के निषेध के लिए है, एक प्रदेश के निषेध के लिए नहीं। इसप्रकार यहाँ एक प्रदेशी है और अप्रदेशी ह्न दोनों का एक ही अर्थ है कि कालाणु एक प्रदेशी है, अनेक प्रदेशी नहीं।।३४।।

टीका के उपरान्त टीकाकार एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

आगम उदधि से सूरि ने जिनमार्ग की षट्द्रव्यमय।
यह रत्नमाला भव्यकण्ठाभरण गूँथी प्रीति से।।५१।।

इसप्रकार जिनमार्गरूपी रत्नाकर में से पूर्वाचार्यों ने प्रीतिपूर्वक छह द्रव्यरूपी रत्नों की माला भव्यजीवों के कण्ठ के आभूषण के रूप में प्रस्तुत की है।

छह द्रव्यों का वर्णन करनेवाली गाथायें रत्न हैं और उन रत्नों को व्यवस्थित रूप में गूँथकर यह रत्नमाला आचार्यदेव ने बनाई है। जो इसे कण्ठ में धारण करेगा, इन गाथाओं को कण्ठस्थ (याद) करेगा; यह गाथाओंरूपी रत्नों की माला उसके कण्ड का आभरण (आभूषण-गहना) बनेगी। इन गाथाओं में प्रस्तुत तत्त्वज्ञान उन भव्यों के कल्याण का कारण बनेगा।

यह छन्द मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा दिया आशीर्वाद तो है ही, साथ में मार्गदर्शन भी है तथा गाथायें भाव सहित कण्ठस्थ करने की प्रेरणा देनेवाला भी है।।५१।।

विगत गाथाओं में षट्द्रव्य और पंच अस्तिकायों की चर्चा करने के उपरान्त अब इन गाथाओं में उक्त षट् द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या बताते हैं।

संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसा हवंति मुत्तस्स ।
धम्माधम्मस्स पुणो जीवस्स असंखदेसा हु ।।३५।।
लोयायासे तावं इदरस्स अणंतयं हवे देसा ।
कालस्स ण कायत्तं एयपदेसो हवे जम्हा ।।३६।।

संख्यातासंख्यातानंतप्रदेशा भवन्ति मूर्तस्य ।
धर्माधर्मयो: पुनर्जीवस्यासंख्यातप्रदेशा: खलु ।।३५।।
लोकाकाशे तद्वदितरस्यानंता भवन्ति देशा: ।
कालस्य न कायत्वं एकप्रदेशो भवेद्यस्मात् ।।३६।।

षण्णां द्रव्याणां प्रदेशलक्षणसंभवप्रकारकथनमिदम् । शुद्धपुद्गलपरमाणुना गृहीतं नभ:-स्थलमेव प्रदेश: । एवंविधा: पुद्गलद्रव्यस्य प्रदेशा: संख्याता असंख्याता अनंताश्च । लोका-काशधर्माधर्मैकजीवानामसंख्यातप्रदेशा भवंति । इतरस्यालोकाकाशस्यानन्ता: प्रदेशा भवंति । कालस्यैकप्रदेशो भवति, अत: कारणादस्य कायत्वं न भवति अपि तु द्रव्यत्वमस्त्येवेति ।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार हैंह्न

(हरिगीत)

होते अनंत असंख्य संख्य प्रदेश मूर्तिक द्रव्य के।
होते असंख्य प्रदेश धर्माधर्म चेतन द्रव्य के।।३५।।
असंख्य लोकाकाश के एवं अनन्त अलोक के।
फिर भी अकायी काल का तो मात्र एक प्रदेश है।।३६।।

मूर्त पुद्गल द्रव्य के संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश होते हैं। धर्म, अधर्म एवं एक जीव के असंख्यात प्रदेश होते हैं।

एक जीव, धर्म और अधर्म के समान लोकाकाश के भी असंख्य प्रदेश होते हैं तथा अलोकाकाश के अनंत प्रदेश होते हैं। कालद्रव्य के एकप्रदेशी होने से कायपना नहीं है।

इन गाथाओं का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ छह द्रव्यों के प्रदेशों का लक्षण और किस द्रव्य के कितने प्रदेश होते हैं ह्न यह बताते हैं। शुद्धपुद्गल परमाणु द्वारा गृहीत नभस्थल ही प्रदेश है। तात्पर्य यह है कि पुद्गल द्रव्य का एक परमाणु आकाश के जितने स्थल को रोकता (घेरता) है, उतने स्थल को प्रदेश करते हैं। पुद्गल द्रव्य के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं। लोकाकाश, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य तथा एक जीव के असंख्यात प्रदेश होते हैं। शेष जो अलोकाकाश है, उसके अनन्त प्रदेश हैं। कालद्रव्य का एक प्रदेश है, इसकारण उसके कायत्व नहीं है; पर द्रव्यत्व तो है ही।''

(उपेन्द्रवज्रा)

पदार्थरत्नाभरणं मुमुक्षोः कृतं मया कंठविभूषणार्थम्।
अनेन धीमान् व्यवहारमार्गं बुद्ध्वा पुनर्बोधति शुद्धमार्गम्।।५२।।

पोग्गलदव्वं मुत्तं मुत्तिविरहिया हवंति सेसाणि।
चेदणभावो जीवो चेदणगुणवज्जिया सेसा।।३७।।

पुद्गलद्रव्यं मूर्तं मूर्तिविरहितानि भवन्ति शेषाणि।
चैतन्यभावो जीवः चैतन्यगुणवर्जितानि शेषाणि।।३७।।

इसप्रकार इन गाथाओं में मात्र यही कहा गया है कि यद्यपि पुद्गल परमाणु एकप्रदेशी ही है; तथापि स्कंध की अपेक्षा पुद्गल के संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश माने गये हैं।

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीवद्रव्य ह्न इन सबमें प्रत्येक के असंख्यात प्रदेश हैं और लोकाकाश के भी धर्म, अधर्म और एक जीव के बराबर असंख्यप्रदेश ही हैं। अलोकाकाश के अनंत प्रदेश हैं; परन्तु कालद्रव्य एकप्रदेशी ही है। यही कारण है कि उसे अस्तिकायों में शामिल नहीं किया गया है।।३५-३६।।

टीका के उपरान्त टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

मुमुक्षुओं के कण्ठ की शोभा बढाने के लिए।
षट् द्रव्यरूपी रत्नों का मैंने बनाया आभरण।।
अरे इससे जानकर व्यवहारपथ को विज्ञजन।
परमार्थ को भी जानते हैं जान लो हे भव्यजन।।५२।।

पदार्थरूपी रत्नों का आभरण (आभूषण-गहना) मुमुक्षुओं के कण्ठ की शोभा बढ़ाने के लिए मैंने बनाया है। इसके द्वारा विज्ञजन व्यवहारमार्ग को जानकर शुद्धमार्ग को जानते हैं।

उक्त छन्द में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि मैंने यह पदार्थों के स्वरूप को बतानेवाला रत्नमयी कण्ठाभरण (हार-माला) मुमुक्षुओं के कण्ठ की शोभा बढ़ाने के लिए बनाया है। **जो मुमुक्षु भाई इसे कण्ठ में धारण करेंगे, कण्ठस्थ करेंगे, भाव समझ कर कण्ठस्थ याद कर लेंगे; वे मुमुक्षु व्यवहार एवं निश्चय मार्ग को समझ कर, उस पर चलकर अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करेंगे।।५२।।**

अजीवद्रव्यव्याख्यानोपसंहारोयम्। तेषु मूलपदार्थेषु पुद्गलस्य मूर्तत्वम्, इतरेषाममूर्तत्वम्। जीवस्य चेतनत्वम्, इतरेषामचेतनत्वम्। स्वजातीयविजातीयबन्धापेक्षया जीवपुद्गलयोर-शुद्धत्वम्, धर्मादीनां चतुर्णां विशेषगुणापेक्षया शुद्धत्वमेवेति।

(मालिनी)

इति ललितपदानामावलिर्भाति नित्यं
वदनसरसिजाते यस्य भव्योत्तमस्य।
सपदि समयसारस्तस्य हृत्पुण्डरीके
लसति निशितबुद्धेः किं पुनश्चित्रमेतत्।।५३।।

यह गाथा अजीवाधिकार के उपसंहार की गाथा है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

एक पुद्गल मूर्त द्रव्य अमूर्तिक हैं शेष सब।
एक चेतन जीव है पर हैं अचेतन शेष सब।।३७।।

पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है, शेष द्रव्य अमूर्तिक हैं। इसीप्रकार जीव चेतन है और शेष द्रव्य चैतन्यगुण से रहित हैं, अचेतन हैं।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''उक्त मूल पदार्थों में पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है और शेष पाँच प्रकार के द्रव्य अमूर्तिक हैं। इसीप्रकार जीव चेतन है और शेष पाँच प्रकार के द्रव्य अचेतन हैं। स्वजातीय और विजातीय बंध की अपेक्षा से जीव और पुद्गलों को बंधदशा में अशुद्धता है; शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल ह्न इन चार प्रकार के द्रव्यों में विशेष गुण की अपेक्षा शुद्धपना है।''

उक्त गाथाओं और उनकी टीका में मात्र यह कहा गया है कि पुद्गलद्रव्य मूर्तिक हैं, शेष सभी द्रव्य अमूर्तिक हैं। इसीप्रकार जीवद्रव्य चेतन हैं और जीव को छोड़कर शेष द्रव्य अचेतन हैं। पुद्गल परमाणु दूसरे परमाणुओं से मिलकर स्कंधरूप परिणमता है ह्न यह उसकी सजातीय अशुद्ध अवस्था है और जब वह पुद्गल द्रव्य जीव के साथ बंधता है तो वह उसकी विजातीय अशुद्ध अवस्था है।

जीव दूसरे जीवों से तो बंधता ही नहीं है; अतः उसमें सजातीय अशुद्धता नहीं होती; किन्तु पुद्गल के साथ बंधने के कारण जीव में विजातीय अशुद्धता पाई जाती है। शेष चार द्रव्य कभी किसी से बंधते नहीं; अतः उनमें अशुद्धता होती ही नहीं है।।३७।।

इसके बाद अधिकार के अंत में टीकाकार मुनिराज एक मंगल-आशीर्वादातात्मक छन्द लिखते हैं।

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव–विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ अजीवाधिकारो द्वितीयः श्रुतस्कन्धः ।

छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जिस भव्य के मुख कमल में ये ललितपद वसते सदा।
उस तीक्ष्णबुद्धि पुरुष को शुद्धातमा की प्राप्ति हो।।
चित्त में उस पुरुष के शुद्धातमा नित ही वसे।
इस बात में आश्चर्य क्या यह तो सहज परिणमन है।।५३।।

जिस भव्योत्तम के मुखकमल में सदा इसप्रकार के ललितपदों की पंक्ति शोभायमान होती है; उस तीक्ष्णबुद्धिवाले पुरुष के हृदयकमल में शीघ्र ही शुद्धात्मारूप समयसार शोभायमान होता है, इसमें क्या आश्चर्य है ?

अजीवाधिकार के इस अन्तिम छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि जो भव्यजीव उक्त कथनों के मर्म को जानता है; वह तीक्ष्णबुद्धिवाला भव्योत्तम पुरुष समयसाररूप निज भगवान आत्मा को प्राप्त करता है।।५३।।

अजीवाधिकार की समाप्ति के अवसर पर टीकाकार जो पंक्ति लिखते हैं; उसका भाव इसप्रकार है ह्न

''इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में अजीवाधिकार नामक द्वितीय श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।''

यहाँ नियमसार एवं उसकी तात्पर्यवृत्ति टीका के साथ–साथ डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत आत्मप्रबोधिनी हिन्दी टीका में अजीवाधिकार नामक द्वितीय श्रुतस्कन्ध भी समाप्त होता है।

•••

भेद–विज्ञानी का मार्ग स्व और पर को जानना मात्र नहीं है, स्व से भिन्न पर को जानना मात्र भी नहीं है; बल्कि पर से भिन्न स्व को जानना, मानना और अनुभवना है। यहाँ 'स्व' मुख्य है, 'पर' गौण। 'पर' गौण है, पूर्णतः गौण है; क्योंकि उसकी मुख्यता में 'स्व' गौण हो जाता है; जो कि ज्ञानी को कदापि इष्ट नहीं है। **ह्न तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ–१३२**

३

शुद्धभाव अधिकार

(गाथा ३८ से गाथा ५५ तक)

अथेदानीं शुद्धभावाधिकार उच्यते ।

जीवादिबहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा ।
कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जाएहिं वदिरित्तो ।।३८।।

जीवादिबहिस्तत्त्वं हेयमुपादेयमात्मनः आत्मा ।
कर्म्मोपाधिसमुद्भवगुणपर्यायैर्व्यतिरिक्तः ।।३८।।

हेयोपादेयतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् । जीवादिसप्ततत्त्वजातं परद्रव्यत्वान्न ह्युपादेयम् । आत्मनः सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणेः परद्रव्यपराङ्मुखस्य पंचेन्द्रियप्रसरवर्जित–गात्रमात्रपरिग्रहस्य परमजिनयोगीश्वरस्य स्वद्रव्यनिशितमतेरूपादेयो ह्यात्मा । औदयिकादि–चतुर्णां भावान्तराणामगोचरत्वाद् द्रव्यभावनोकर्मोपाधिसमुपजनितविभाव गुणपर्यायरहितः,

---

जीवाधिकार और अजीवाधिकार के निरूपण के उपरान्त अब यहाँ शुद्धभावाधिकार आरंभ करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जीवादि जो बहितत्त्व हैं, वे हेय हैं कर्मोपधिज ।
पर्याय से निरपेक्ष आतमराम ही आदेय है ।।३८।।

जीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं और कर्मोपाधिजनित गुण और पर्यायों से भिन्न अपना आत्मा उपादेय है ।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह हेय और उपादेय तत्त्व के स्वरूप का कथन है । परद्रव्यरूप होने से जीवादि सात तत्त्वों का समूह वस्तुतः उपादेय नहीं है । सहज वैराग्यरूपी महल का शिखामणि (चूड़ामणि), परद्रव्यों से पराङ्मुख, पाँच इन्द्रियों के विस्तार से रहित, देह को छोड़कर अन्य सभी प्रकार के परिग्रहों से रहित, परमजिनयोगीश्वर और स्वद्रव्य में तीक्ष्णबुद्धि के धारक आत्मा (मुनिराजों) को वास्तव में एक अपना आत्मा ही उपादेय है ।

पारिणामिक भावों से भिन्न औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ह्न इन चार भावों से अगोचर होने से द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप उपाधिजनित विभाव–

अनादिनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजपरमपारिणामिकभावस्वभावकारणपरमात्मा ह्यात्मा। अत्यासन्नभव्यजीवानामेवंभूतं निजपरमात्मानमन्तरेण न किंचिदुपादेयमस्तीति।

(मालिनी)

जयति समयसारः सर्वतत्त्वैकसारः
सकलविलयदूरः प्रास्तदुर्वारमारः।
दुरिततरुकुठारः शुद्धबोधावतारः
सुखजलनिधिपूरः क्लेशवाराशिपारः ।।५४।।

णो खलु सहावठाणा णो माणवमाणभावठाणा वा।
णो हरिसभावठाणा णो जीवस्साहरिस्सठाणा वा ।।३९।।

गुणपर्यायों से रहित, अनादि-अनन्त अमूर्त और अतीन्द्रिय स्वभाववाला शुद्ध सहज परम-पारिणामिक भाव है स्वभाव जिसका, ऐसा कारणपरमात्मा ही वास्तविक आत्मा है। अत्यासन्न भव्यजीवों को उक्त निज परमात्मा (आत्मा) से अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का आशय यह है कि परमपारिणामिकभावरूप स्वयं के आत्मा से भिन्न जीवादि बाह्य तत्त्व परपदार्थरूप होने से अपनापन स्थापित करने योग्य नहीं है; अत: हेय हैं और उनसे भिन्न **कर्मोपाधिजनित विभावभावों से निरपेक्ष परमपारिणामिकभावरूप अपना आत्मा अपनापन स्थापित करने योग्य है; अत: उपादेय है।**

वस्तुत: बात यह है कि यहाँ परमभावग्राहीशुद्धद्रव्यार्थिकनय अथवा परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत **परमपारिणामिकभावरूप कारणपरमात्मा को ही आत्मा कहा गया है;** क्योंकि उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं। उक्त आत्मा में ही अपनापन होने का नाम निश्चय सम्यग्दर्शन, उसे ही निजरूप जानने का नाम निश्चय सम्यग्ज्ञान और उसमें ही जम जाने-रम जाने का नाम निश्चय सम्यक्चारित्र है। अत: एकमात्र वही उपादेय है तथा उससे अन्य जो कुछ भी है, वह सभी हेय है।

यद्यपि उक्त कथन सभी भव्यजीवों के लिए है; तथापि यहाँ मुनिराजों की मुख्यता से बात की है। यही कारण है कि यहाँ मुनिराजों का स्वरूप भी सहजभाव से स्पष्ट हो गया है।

यहाँ मुनिराजों को सहजवैरागी, परद्रव्यों से पराङ्मुख, जितेन्द्रिय, अपरिग्रही, जिन-योगीश्वर और स्वद्रव्य में रत कहा गया है।।३८।।

टीका के अन्त में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

न खलु स्वभावस्थानानि न मानापमानभावस्थानानि वा।
न हर्षभावस्थानानि न जीवस्याहर्षस्थानानि वा।।३९।।

निर्विकल्पतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत्। त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपस्य शुद्धजीवास्तिकायस्य न खलु विभावस्वभावस्थानानि। प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तमोहरागद्वेषाभावान्न च मानापमान-हेतुभूतकर्मोदयस्थानानि। न खलु शुभपरिणतेरभावाच्छुभकर्म, शुभकर्माभावान्न संसारसुखं,

---

(रोला)

सकलविलय से दूर पूर सुखसागर का जो।
क्लेशोदधि से पार शमित दुर्वारमार जो।।
शुद्धज्ञान अवतार दुरिततरु का कुठार जो।
समयसार जयवंत तत्त्व का एक सार जो।।५४।।

जो सर्वतत्त्वों में सारभूत तत्त्व है, नाशवान भावों से दूर है, दुर्वार कामभाव का नाशक है, पापरूपी वृक्षों के छेदनेवाला कुठार है, शुद्धज्ञान का अवतार है, सुखसागर की बाढ़ है और जो क्लेशरूपी सागर का किनारा है; वह समयसार अर्थात् शुद्धात्मा जयवंत वर्तता है।

उक्त छन्द में समयसाररूप निज भगवान आत्मा को सभी तत्त्वों का सार, सम्पूर्ण क्षणिकभावों से दूर, सभी प्रकार की इच्छाओं से रहित, पापरूपी वृक्षों के लिए कुठार के समान घातक, शुद्धज्ञान का अवतार, सभीप्रकार के कष्टों के सागर से पार और आनन्दरूपी जलनिधि का पूर कहा गया है।।५४।।

विगत गाथा में जीवादि बाह्य तत्त्वों को हेय और कर्मोपाधि से निरपेक्ष शुद्धात्मा को उपादेय कहा गया है और अब आगामी गाथाओं में यह स्पष्ट करेंगे कि उक्त आत्मा में क्या-क्या नहीं है। निर्विकल्पतत्त्व का स्वरूप बतानेवाली ३९वीं गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(हरिगीत)

अरे विभाव स्वभाव हर्षाहर्ष मानपमान के।
स्थान आतम में नहीं ये वचन हैं भगवान के।।३९।।

वस्तुत: जीव में न तो स्वभाव स्थान (विभावस्वभाव के स्थान) हैं, न मानापमान भाव के स्थान हैं और न हर्ष-अहर्ष के स्थान हैं।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह निर्विकल्पतत्त्व के स्वरूप का कथन है। त्रिकाल निरुपाधि स्वरूपवाले शुद्ध-जीवास्तिकाय के विभावरूप स्वभाव के स्थान नहीं हैं; प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होने से मानापमान के हेतुभूत कर्मोदय के स्थान नहीं हैं; शुभपरिणति का अभाव होने से शुभकर्म नहीं हैं, शुभकर्म का अभाव होने से सांसारिक सुख नहीं है और

संसारसुखस्याभावान्न हर्षस्थानानि। न चाशुभपरिणतेरभावादशुभकर्म, अशुभकर्माभावान्न दु:खं, दु:खाभावान्न चाहर्षस्थानानि चेति।

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रीत्यप्रीतिविमुक्तशाश्वतपदे नि:शेषतोऽन्तर्मुख-
निर्भेदोदितशर्मनिर्मितवियद्बिंबाकृतावात्मनि।
चैतन्यामृतपूरपूर्णवपुषे प्रेक्षावतां गोचरे
बुद्धिं किं न करोषि वांछसि सुखं त्वं संसृतेर्दु:कृते: ।।५५।।

सांसारिक सुख का अभाव होने से हर्षस्थान नहीं है तथा अशुभपरिणति का अभाव होने से अशुभकर्म नहीं है, अशुभकर्म का अभाव होने से दुख नहीं है और दुख का अभाव होने से अहर्ष के स्थान नहीं हैं।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा में न तो विभाव स्वभाव के स्थान हैं, न मानापमान के स्थान हैं, न हर्ष और अहर्ष भाव के स्थान हैं। वह तो इन सबसे भिन्न त्रिकाली ध्रुवतत्त्व है, ज्ञानानन्दस्वभावी परमपदार्थ है; उसके आश्रय से ही मुक्तिमार्गरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है।।३९।।

टीका के अंत में पद्मप्रभमलधारिदेव एक छंद लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(रोला)

चिदानन्द से भरा हुआ नभ सम अकृत जो।
राग-द्वेष से रहित एक अविनाशी पद है।।
चैतन्यामृत पूर चतुर पुरुषों के गोचर।
आतम क्यों न रुचे करे भोगों की वांछा।।५५।।

हे आत्मन् ! तू ऐसे आत्मा की रुचि क्यों नहीं करता; जो प्रीति और अप्रीति से रहित शाश्वत पदरूप है, जो पूर्णत: अन्तर्मुख और प्रगट प्रकाशमान सुख से बना हुआ है; जो आकाश के समान अकृत (जिसे किसी ने नहीं बनाया ह्न ऐसा) तत्त्व है, चैतन्यामृत के पूर से भरा हुआ है और विचारवान चतुर पुरुषो द्वारा अनुभूत है ? ऐसे भगवान आत्मा के होते हुए भी हे आत्मन् ! तू पापरूप सांसारिक सुखों की वांछा क्यों करता है ?

अनादिकाल से यह आत्मा परपदार्थों में अपनापन स्थापित करके, उन्हीं में रचा-पचा रहा है। अब सैनी पंचेन्द्रिय होकर, मनुष्य भव पाकर, जैनकुल में जन्म लेकर, जिनागम का अभ्यास करके भी, सद्गुरुओं के द्वारा बार-बार समझाये जाने पर भी; उन्हीं पापरूप सांसारिक सुखों की वांछा करता है, उन्हें प्राप्त करने के लिए सब कुछ करने को तैयार रहता है।

णो ठिदिबंधट्ठाणा पयडिट्ठाणा पदेसठाणा वा।
णो अणुभागट्ठाणा जीवस्स ण उदयठाणा वा ।।४०।।

न स्थितिबंधस्थानानि प्रकृतिस्थानानि प्रदेशस्थानानि वा।
नानुभागस्थानानि जीवस्य नोदयस्थानानि वा।।४०।।

अत्र प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धोदयस्थाननिचयो जीवस्य न समस्तीत्युक्तम्। नित्य-निरुपरागस्वरूपस्य निरंजननिजपरमात्मनतत्त्वस्य न खलु जघन्यमध्यमोत्कृष्टद्रव्य-कर्मस्थितबन्धस्थानानि। ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मणां तत्तद्योग्यपुद्गलद्रव्यस्वाकारः प्रकृति-बंधः, तस्य स्थानानि न भवन्ति। अशुद्धान्तस्तत्त्वकर्मपुद्गलयोः परस्परप्रदेशानुप्रवेशः प्रदेश-बन्धः, अस्य बन्धस्य स्थानानि वा न भवन्ति। शुभाशुभकर्मणां निर्जरासमये सुखदुःखफल-

---

यही कारण है कि विषय-कषाय से अत्यन्त विरक्त मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव करुणा से विगलित होकर कह रहे हैं कि हे सुखाभिलाषी भव्यजनों ! तुम ज्ञानी धर्मात्माओं द्वारा अनुभूत उस शुद्धात्मा की भावना क्यों नहीं करते; जो अनंत शाश्वत सुख का सागर है, सदा प्रकाशमान है, अनादि-अनंत है, चैतन्यामृत से लबालब है ? इस विषय-कषाय की भावना से तुझे क्या मिलनेवाला है ?।।५५।।

विगत गाथा में यह स्पष्ट करने के उपरान्त कि आत्मा में विभावभाव के स्थान नहीं हैं, मानापमान के स्थान नहीं हैं और हर्षाहर्षभाव के स्थान भी नहीं हैं; अब इस गाथा में यह बताते हैं कि उक्त आत्मा में बंध व उदय के स्थान भी नहीं हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

स्थिति अनुभाग बंध एवं प्रकृति परदेश के।
अर उदय के स्थान आतम में नहीं ह्न यह जानिये।।४०।।

जीव के न तो स्थितिबंधस्थान है, न प्रकृतिबंधस्थान हैं, न प्रदेशस्थान हैं, न अनुभाग स्थान हैं और न उदयस्थान ही हैं।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध के स्थानों का तथा उदय के स्थानों का समूह जीव के नहीं है ह्न यह कहा गया है। सदा ही जिसका स्वरूप उपराग रहित है ह्न ऐसे निरंजन निज-परमात्मतत्त्व के; द्रव्यकर्म के जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्थान नहीं है। ज्ञानावरणादि अष्टविधकर्मों के, उस-उस कर्म के योग्य पुद्गलद्रव्य का आकार प्रकृतिबंध है; उस प्रकृति बंध के स्थान भी जीव के नहीं है। अशुद्ध आत्मा और कर्मपुद्गल के प्रदेशों का परस्पर प्रवेश प्रदेशबंध है; इस प्रदेशबंध के स्थान भी जीव के नहीं हैं।

प्रदानशक्तियुक्तो ह्यनुभागबन्धः, अस्य स्थानानां वा न चावकाशः। न च द्रव्यभावकर्मोदय-स्थानानामप्यवकाशोऽस्ति इति।

तथा चोक्तं श्री अमृतचन्द्रसूरिभिः ह्न

(मालिनी)

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्तात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम्।।१८।।[१]

शुभाशुभ कर्मों की निर्जरा के समय सुख-दुख रूप फल देने की सामर्थ्य ही अनुभाग बंध है; इस अनुभागबंध के स्थान भी जीव के नहीं हैं। जिसप्रकार बंध के उक्त स्थान जीव के नहीं है; उसीप्रकार द्रव्यकर्म और भावकर्मों के उदय के स्थान भी जीव के नहीं हैं।''

इस गाथा में मात्र इतना ही कहा गया है कि प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग ह्न इन चारों बंधों के स्थान व कर्मों के उदय के स्थान शुद्ध जीव में नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि कर्मों के बंध व उदय में होनेवाली आत्मा की अवस्थायें भी वह आत्मा नहीं है कि जिस आत्मा के आश्रय से मुक्तिमार्ग प्रगट होता है, मुक्ति की प्राप्ति होती है।।४०।।

टीकाकार मुनिराज टीका के उपरान्त **'तथा आचार्य अमृतचन्द्र के द्वारा भी कहा गया हैं' ह्न** ऐसा लिखकर एक छन्द उद्धृत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

पावें न जिसमें प्रतिष्ठा बस तैरते हैं बाह्य में।
ये बद्धस्पृष्टादि सब जिसके न अन्तरभाव में।।
जो है प्रकाशित चतुर्दिक् उस एक आत्मस्वभाव का।
हे जगतजन ! तुम नित्य ही निर्मोह हो अनुभव करो।।१८।।

ये बद्धस्पृष्टादि पाँच भाव जिस आत्मस्वभाव में प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं करते, मात्र ऊपर-ऊपर ही तैरते हैं और जो आत्मस्वभाव चारों ओर से प्रकाशमान है अर्थात् सर्व-अवस्थाओं में प्रकाशमान है; आत्मा के उस सम्यक्स्वभाव का हे जगत के प्राणियो ! तुम मोहरहित होकर अनुभव करो।

उक्त छन्द में शुद्धनय के विषयभूत बद्धस्पृष्टादि पाँच भावों से रहित, अपनी समस्त अवस्थाओं में प्रकाशमान सम्यक् आत्मस्वभाव के अनुभव करने की प्रेरणा दी गई है और यह भी कहा गया है कि शुद्धनय के विषयभूत इस भगवान आत्मा के अतिरिक्त जो बद्धस्पृष्टादि पाँच भाव हैं, उनसे एकत्व का मोह तोड़ो, उन्हें अपना मानना छोड़ो।।१८।।

१. समयसार : आत्मख्याति, छन्द ११

तथा हि ह्न

(अनुष्टुभ्)

नित्यशुद्धचिदानन्दसंपदामाकरं परम् ।
विपदामिदमेवोच्चैरपदं चेतये पदम् ।।५६।।

(वसंततिलका)

यः सर्वकर्मविषभूरुहसंभवानि
मुक्त्वा फलानि निजरूपविलक्षणानि ।
भुंक्तेऽधुना सहजचिन्मयमात्मतत्त्वं
प्राप्नोति मुक्तिमचिरादिति संशयः कः ।।५७।।

इसके उपरान्त एक अनुष्टुप और एक वसंततिलका इसप्रकार दो छन्द मुनिराज पद्मप्रभ-मलधारिदेव स्वयं लिखते हैं; जिनमें से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

चिदानन्द निधियाँ बसें मुझमें नेकानेक।
विपदाओं का अपद मैं नित्य निरंजन एक।।५६।।

जो नित्यशुद्धचिदानन्दरूप सम्पदा का आकर (भंडार-खान) है तथा जो विपत्तियों का अत्यन्त अपद है अर्थात् जिसमें विपत्तियों का अभाव है, उसी आत्मपद का मैं अनुभव करता हूँ।

उक्त छन्द में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि जिसमें सभी प्रकार की विपत्तियों का अभाव और सभीप्रकार की संपदाओं का सद्भाव है ह्न ऐसे शुद्धचिदानंदस्वरूप आत्मा का मैं नित्य अनुभव करता हूँ। तात्पर्य यह है कि आप भी हमेशा इसी आत्मा का अनुभव करो ।।५६।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

निज रूप से अति विलक्षण अफल फल जो।
तज सर्व कर्म विषवृक्षज विष-फलों को।।
जो भोगता सहजसुखमय आतमा को।
हो मुक्तिलाभ उसको संशय न इसमें।।५७।।

निजरूप से विलक्षण, सभीप्रकार के शुभाशुभकर्मरूपी विषवृक्षों से उत्पन्न होनेवाले विषफलों को छोड़कर जो जीव इसी समय, सहज चैतन्यमय आत्मतत्त्व को भोगता है; वह जीव अल्पकाल में मुक्ति को प्राप्त करता है। ह्न इसमें क्या संशय है अर्थात् इसमें रंचमात्र भी संशय नहीं है।

णो खइयभावठाणा णो खयउवसमसहावठाणा वा।
ओदइयभावठाणा णो उवसमणे सहावठाणा वा।।४१।।

न क्षायिकभावस्थानानि न क्षयोपशमस्वभावस्थानानि वा।
औदयिकभावस्थानानि नोपशमस्वभावस्थानानि वा।।४१।।

चतुर्णां विभावस्वभावानां स्वरूपकथनद्वारेण पंचमभावस्वरूपाख्यानमेतत्। कर्मणां क्षये भवः क्षायिकभावः। कर्मणां क्षयोपशमे भवः क्षायोपशमिकभावः। कर्मणामुदये भवः औदयिकभावः। कर्मणामुपशमे भवः औपशमिकभावः। सकलकर्मोपाधिविनिर्मुक्तः परिणामे भवः पारिणामिकभावः।

एषु पंचसु तावदौपशमिकभावो द्विविधः, क्षायिकभावश्च नवविधः, क्षायोपशमिकभावोऽष्टादशभेदः, औदयिकभाव एकविंशतिभेदः, पारिणामिकभावस्त्रिभेदः।

अथौपशमिकभावस्य उपशमसम्यक्त्वम् उपशमचारित्रम् च।

उक्त छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की गई है कि **जो पुरुष शुभाशुभकर्मों से विरक्त होकर चैतन्यमय निज आत्मतत्त्व की आराधना करता है; वह अल्पकाल में मुक्ति की प्राप्ति करता है। साथ में वे यह भी कहते हैं कि उक्त कथन परमसत्य है, इसमें रंचमात्र भी शंका-आशंका की गुंजाइश नहीं है।।५७।।**

विगत गाथा में यह स्पष्ट करने के उपरान्त कि आत्मा में बंध व उदय के स्थान नहीं है; अब इस गाथा में यह बताते हैं कि आत्मा में उपशम, क्षयोपशम, क्षय और उदयभावों के स्थान भी नहीं हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

इस जीव के क्षायिक क्षयोपशम और उपशम भाव के।
एवं उदयगत भाव के स्थान भी होते नहीं।।४१।।

इस जीव के न तो क्षायिकभाव के स्थान हैं और न क्षयोपशम स्वभाव के स्थान हैं, न औदयिकभाव के स्थान हैं और न उपशम स्वभाव के स्थान हैं।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह चार विभावस्वभावों के कथन के द्वारा पंचमभाव के स्वरूप का कथन है। कर्मों के क्षय से होनेवाले भाव क्षायिकभाव हैं; कर्मों के क्षयोपशम से होनेवाले भाव क्षयोपशमभाव हैं; कर्मों के उदय से होने वाले भाव औदयिक भाव हैं; कर्मों के उपशम से होनेवाले भाव औपशमिक भाव हैं और सम्पूर्ण कर्मोपाधि से विमुक्त परिणाम से होने वाले भाव पारिणामिकभाव हैं।

इन पाँच भावों में औपशमिकभाव के दो, क्षायिकभाव के नौ, क्षयोपशमभाव के अठारह, औदयिकभाव के इक्कीस और पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं।

उपशम सम्यक्त्व और उपशमचारित्र के भेद से औपशमिक भाव दो प्रकार के हैं।

क्षायिकभावस्य क्षायिकसम्यक्त्वं, यथाख्यातचारित्रं, केवलज्ञानं केवलदर्शनं च, अन्तरायकर्मक्षयसमुपजनितदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि चेति।

क्षायोपशमिकभावस्य मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानानि चत्वारि, कुमतिकुश्रुतविभंगभेदाद-ज्ञानानि त्रीणि, चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनभेदाद्दर्शनानि त्रीणि, कालकरणोपदेशोपशमप्रायोग्यता-भेदाल्लब्धयः पंच, वेदकसम्यक्त्वं, वेदकचारित्रं, संयमासंयमपरिणतिश्चेति।

औदयिकभावस्य नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवभेदाद् गतयश्चतस्रः, क्रोधमानमायालोभभेदात् कषायाश्चत्वारः, स्त्रीपुंनपुंसकभेदाल्लिंगानि त्रीणि, सामान्यसंग्रहनयापेक्षया मिथ्यादर्शन-मेकम्, अज्ञानं चैकम्, असंयमता चैका, असिद्धत्वं चैकम्, शुक्लपद्मपीतकापोतनीलकृष्ण-भेदाल्लेश्याः षट् च भवन्ति।

पारिणामिकस्य जीवत्वपारिणामिकः, भव्यत्वपारिणामिकः, अभव्यत्वपारिणामिकः इति त्रिभेदाः। अथायं जीवत्वपारिणामिकभावो भव्याभव्यानां सदृशः, भव्यत्वपारिणा-मिकभावो भव्यानामेव भवति, अभव्यत्वपारिणामिकभावोऽभव्यानामेव भवति। इति पंचमभावप्रपंचः।

पंचानां भावानां मध्ये क्षायिकभावः कार्यसमयसारस्वरूपः स त्रैलोक्यप्रक्षोभहेतुभूत-

---

क्षायिकसम्यक्त्व, यथाख्यातचारित्र, केवलज्ञान, केवलदर्शन और अन्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न होनेवाले क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिक-उपभोग और क्षायिकवीर्य ह्न इसप्रकार क्षायिकभाव नौ प्रकार के हैं।

मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ह्न ये चार प्रकार के ज्ञान; चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ह्न ये तीन प्रकार के दर्शन; काललब्धि, करणलब्धि, उपदेशलब्धि, उपशमलब्धि और प्रायोग्य-लब्धि के भेद से पाँच लब्धियाँ और वेदकसम्यक्त्व, वेदकचारित्र और संयमासंयमपरिणति ह्न इसप्रकार क्षायोपशमिकभाव अठारह प्रकार के हैं।

नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति ह्न ये चार गतियाँ; क्रोधकषाय, मान कषाय, मायाकषाय और लोभकषाय ह्न ये चार कषायें; स्त्रीलिंग, पुल्लिंग और नपुंसकलिंग ह्न ये तीन लिंग; सामान्यसंग्रहनय की अपेक्षा से मिथ्यादर्शन एक, अज्ञान एक और असंयम एक, असिद्धत्व एक; शुक्ललेश्या, पद्मलेश्या, पीतलेश्या, कापोतलेश्या, नीललेश्या और कृष्णलेश्या ह्न ये छह लेश्यायें ह्न इसप्रकार औदयिकभाव इक्कीस प्रकार के होते हैं।

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ह्न इसप्रकार पारिणामिकभाव तीन प्रकार के हैं। जीवत्वपारिणामिकभाव भव्यों तथा अभव्यों ह्न सभी के होता है; भव्यत्वपारिणामिक भाव भव्यों के ही होता है और अभव्यत्वपारिणामिकभाव अभव्यों के ही होता है। इसप्रकार पाँच भावों का कथन किया।

पाँच भावों में क्षायिकभाव कार्यसमयसारस्वरूप है; वह त्रिलोक में प्रक्षोभ के हेतुभूत

तीर्थकरत्वोपार्जितसकलविमलकेवलावबोधसनाथतीर्थनाथस्य भगवत: सिद्धस्य वा भवति। औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकभावा: संसारिणामेव भवन्ति, न मुक्तानाम्। पूर्वोक्तभाव-चतुष्टयमावरणसंयुक्तत्वात् न मुक्तिकारणम्। त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपनिरंजननिजपरमपंचम-भावभावनया पंचमगतिं मुमुक्षवो यान्ति यास्यन्ति गताश्चेति।

तीर्थंकरत्व द्वारा प्राप्त होनेवाले सकल-विमल केवलज्ञान से युक्त तीर्थनाथ के, उपलक्षण से सामान्य केवली के तथा सिद्धभगवान के होता है। औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव संसारियों के ही होते हैं, मुक्त जीवों के नहीं। पूर्वोक्त चार भाव आवरण संयुक्त होने से मुक्ति के कारण नहीं हैं। त्रिकालनिरुपाधि स्वरूप निरंजन निज परमपंचमभाव (परमपारिणामिकभाव) की भावना से पंचमगति में मुमुक्षु जाते हैं, जायेंगे और गये हैं।''

इस गाथा में मूल बात तो मात्र यही कही गई है कि भगवान आत्मा में न तो औपशमिकभाव हैं, न क्षायोपशमिकभाव हैं, न क्षायिकभाव हैं और न औदयिक भाव ही हैं; वह तो परमपारिणामिकभावस्वरूप ही है।

टीका में उक्त पाँचों भावों के ५३ भेद गिना कर यह स्पष्ट कर दिया है कि एक जीवत्व नामक परमपारिणामिकभाव को छोड़कर शेष ५२ भाव आत्मा नहीं हैं। अन्त में कह दिया कि **मुक्ति की प्राप्ति तो एकमात्र परमपारिणामिकभाव के आश्रय से ही होती है।**

जानने योग्य विशेष बात यह है कि इस गाथा की टीका में १८ प्रकार के क्षायोपशमिक भावों में समागत पाँच लब्धियों के जो नाम गिनाये गये हैं; वे आचार्य उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र पर आचार्य अकलंकदेव कृत तत्त्वार्थराजवार्तिक नामक वार्तिक से मिलते नहीं हैं।

यहाँ नियमसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में १८ प्रकार के क्षायोपशमिक भावों में काललब्धि, करणलब्धि, उपदेश (देशना) लब्धि, उपशमलब्धि और प्रायोग्यलब्धि के रूप में पाँच लब्धियों को लिया है; जबकि तत्त्वार्थराजवार्तिक के दूसरे अध्याय के पाँचवें सूत्र के सातवें वार्तिक में क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिकदान ह्न इनको पाँच लब्धि के रूप में लिया गया है।[१]

उपशम सम्यग्दर्शन के पूर्व होनेवाली पाँच लब्धियों में इसप्रकार के भेद अवश्य पाये जाते हैं; किन्तु उक्त प्रकरण का यहाँ कोई प्रसंग नहीं है।

दूसरी बात यह है कि वहाँ जो नाम प्राप्त होते हैं, ये नाम पूरी तरह उनसे भी नहीं मिलते। वहाँ प्राप्त होनेवाले नाम इसप्रकार हैं ह्न क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि।[२]

नियमसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में समागत पाँच लब्धियों में क्षयोपशमलब्धि और विशुद्धिलब्धि प्राप्त नहीं होती। उनके स्थान पर काललब्धि और उपशमलब्धि है।

---

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक : अध्याय २, सूत्र ५ का ८वाँ वार्तिक २. गोम्मटसार : जीवकाण्ड, गाथा ६५१

(आर्या)

अंचितपंचमगतये पंचमभावं स्मरन्ति विद्वान्सः ।
संचितपंचाचाराः किंचनभावप्रपंचपरिहीणाः ।।५८।।

(मालिनी)

सुकृतमपि समस्तं भोगिनां भोगमूलं
त्यजतु परमतत्त्वाभ्यासनिष्णातचित्तः ।
उभयसमयसारं सारतत्त्वस्वरूपं
भजतु भवविमुक्त्यै कोऽत्र दोषो मुनीशः ।।५९ ।।

यदि काललब्धि को क्षयोपशमलब्धि और उपशमलब्धि को विशुद्धिलब्धि माने तो भी दोनों कथनों में क्रम का अन्तर तो है ही ।।४१।।

टीका के अन्त में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव दो छन्द लिखते हैं। उनमें से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

विरहित ग्रंथ प्रपंच से पंचाचारी संत।
पंचमगति की प्राप्ति को पंचमभाव भजंत ।।५८।।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्यरूप पंचाचारों से युक्त एवं सम्पूर्ण परिग्रह के प्रपंच से रहित विद्वान (मुनिराज) पूज्यनीय पंचमगति को प्राप्त करने के लिए पंचमभावरूप परमपारिणामिकभाव का स्मरण करते हैं; उसी को निजरूप जानते हैं, उसमें ही अपनापन स्थापित करते हैं और उसी का ध्यान करते हैं।

ध्यान रहे इस छन्द में **विद्वान शब्द का प्रयोग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से सम्पन्न मुनिराजों के अर्थ में किया गया है;** क्योंकि पंचाचारों से सम्पन्न और सभी प्रकार के परिग्रहों से रहित मुनिराज ही होते हैं ।।५८।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

भोगियों के भोग के हैं मूल सब शुभकर्म जब।
तत्त्व के अभ्यास से निष्णातचित मुनिराज तब ।।
मुक्त होने के लिए सब क्यों न छोड़ें कर्म शुभ।
क्यों ना भजें शुद्धातमा को प्राप्त जिससे सर्व सुख ।।५९।।

सभी प्रकार के शुभकर्म भोगियों के भोग के मूल हैं। इसलिए परम तत्त्व के अभ्यास में

चउगइभवसंभमणं जाइजरामरणरोगसोगा य ।
कुलजोणिजीवमग्गणठाणा जीवस्स णो संति ।।४२।।

चतुर्गतिभवसंभ्रमणं जातिजरामरणरोगशोकाश्च ।
कुलयोनिजीवमार्गणस्थानानि जीवस्य नो सन्ति ।।४२।।

इह हि शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धजीवस्य समस्तसंसारविकारसमुदयो न समस्तीत्युक्तम् । द्रव्यभावकर्मस्वीकाराभावाच्चतुसृणां नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवत्वलक्षणानां गतीनां परिभ्रमणं न भवति । नित्यशुद्धचिदानन्दरूपस्य कारणपरमात्मस्वरूपस्य द्रव्यभावकर्मग्रहणयोग्यविभा–

चतुरचित्तवाले हे मुनिजनों ! तुम संसारबंधन से मुक्त होने के लिए सभी प्रकार के शुभकर्मों को छोड़ो और सारतत्त्वरूप द्रव्य और भाव ह्न दोनों प्रकार के समयसार (शुद्धात्मा) को भजो । इसमें क्या दोष है ? अर्थात् इसमें कोई दोष नहीं है ।

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि **सभी प्रकार के शुभ कर्मों का फल अधिकांशत: भोग सामग्री की उपलब्धि ही होता है। यही कारण है कि यहाँ चतुरचित्तवाले मुनिराजों से यह अनुरोध किया गया है कि वे सभी प्रकार के शुभकर्मों से विरक्त हो निज शुद्धात्मा का ध्यान करें।** साथ में यह भी कहा गया है कि हम जो कह रहे हैं; वह बात पूर्णत: निर्दोष है। इस कथन में किसी भी प्रकार का दोष निकालना समझदारी का काम नहीं है।।५९।।

जीव के क्षायिकभाव, क्षयोपशमभाव, उपशमभाव और उदयभाव के स्थान नहीं हैं ह्न विगत गाथा में यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में यह बताते हैं कि जीव के चतुर्गति परिभ्रमण, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान भी नहीं हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

चतुर्गति भव भ्रमण रोग रु शोक जन्म-जरा-मरण।
जीवमार्गणथान अर कुल-योनि ना हों जीव के।।४२।।

चार गति के भवों में परिभ्रमण, जन्म, जरा, मरण, शोक, रोग, कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान भी इस जीव के नहीं हैं।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ इस गाथा में यह कहा गया है कि शुद्धनिश्चयनय से शुद्धजीव के समस्त संसार विकारों का समुदाय नहीं है। द्रव्यकर्म और भावकर्मों की स्वीकृति का अभाव होने से नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ह्न इन चार गतियों का परिभ्रमण जीव के नहीं है। नित्य शुद्ध चिदानन्दस्वरूप कारणपरमात्मस्वरूप जीव के द्रव्यकर्म व भावकर्म के ग्रहण करने योग्य

वपरिणतेरभावान्न जातजरामरणरोगशोकाश्च । चतुर्गतिजीवानां कुलयोनिविकल्प इह नास्ति इत्युच्यते ।

तद्यथा ह्न पृथ्वीकायिकजीवानां द्वाविंशतिलक्षकोटिकुलानि, अप्कायिकजीवानां सप्तलक्षकोटिकुलानि, तेजस्कायिकजीवानां त्रिलक्षकोटिकुलानि, वायुकायिकजीवानां सप्त-लक्षकोटिकुलानि, वनस्पतिकायिकजीवानाम् अष्टोत्तरविंशतिलक्षकोटिकुलानि, द्वीन्द्रिय-जीवानां सप्तलक्षकोटिकुलानि, त्रीन्द्रियजीवानाम् अष्टलक्षकोटिकुलानि, चतुरिन्द्रियजीवानां नवलक्षकोटिकुलानि, पंचेन्द्रियेषु जलचराणां सार्द्धद्वादशलक्षकोटिकुलानि, आकाशचर-जीवानां द्वादशलक्षकोटिकुलानि, चतुष्पदजीवानां दशलक्षकोटिकुलानि, सरीसृपानां नव-लक्षकोटिकुलानि, नारकाणां पंचविंशतिलक्षकोटिकुलानि, मनुष्याणां द्वादशलक्षकोटि-कुलानि, देवानां षड्विंशतिलक्षकोटिकुलानि । सर्वाणि सार्द्धसप्तनवत्यग्रशतकोटिलक्षाणि १९७५००००००००००० ।

पृथ्वीकायिकजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, अप्कायिकजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, तेजस्कायिकजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, वायुकायिकजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, नित्य-निगोदिजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, चतुर्गतिनिगोदिजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, वनस्पति कायिकजीवानां दशलक्षयोनिमुखानि, द्वीन्द्रियजीवानां द्विलक्षयोनिमुखानि, त्रीन्द्रियजीवानां

विभावपरिणति का अभाव होने से जन्म, जरा, मरण, रोग और शोक जीव के नहीं हैं । चार गतियों में परिभ्रमण करनेवाले जीवों को होनेवाले कुल और योनि के भेद भी शुद्धजीव के नहीं हैं ।

कुल व योनि के वे भेद इसप्रकार हैं ह्न पृथ्वीकायिक जीवों के बाईस लाख करोड़ कुल हैं; अपकायिक जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं; तेजकायिक जीवों के तीन लाख करोड़ कुल हैं; वायुकायिक जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं; वनस्पतिकायिक जीवों के अट्ठाईस लाख करोड़ कुल हैं; द्वीन्द्रिय जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं; त्रीन्द्रिय जीवों के आठ लाख करोड़ कुल हैं; चतुरिन्द्रिय जीवों के नौ लाख करोड़ कुल हैं; पंचेन्द्रिय जीवों में जलचर जीवों के साढे बारह लाख करोड़ कुल हैं; खेचर (नभचर) जीवों के बारह लाख करोड़ कुल हैं; चार पैरवाले जीवों के दस लाख करोड़ कुल हैं; सर्पादिक पेट से चलनेवाले जीवों के नौ लाख करोड़ कुल हैं; नारकी जीवों के पच्चीस लाख करोड़ कुल हैं; मनुष्यों के बारह लाख करोड़ कुल और देवों के छब्बीस लाख करोड़ कुल हैं । इसप्रकार कुल मिलाकर एक सौ साढे सत्तानवे लाख करोड़ (१९७५०००,०००,०००,००) कुल हैं ।

पृथ्वीकायिक जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; अपकायिक जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; तेजकायिक जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; वायुकायिक जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; नित्यनिगोदी जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; चतुर्गति (चार गति में परिभ्रमण करनेवाले अर्थात् इतर) निगोदी जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; वनस्पतिकायिक

द्विलक्षयोनिमुखानि, चतुरिन्द्रियजीवानां द्विलक्षयोनिमुखानि, देवानां चतुर्लक्षयोनिमुखानि, नारकाणां चतुर्लक्षयोनिमुखानि, तिर्यग्जीवानां चतुर्लक्षयोनिमुखानि, मनुष्याणां चतुर्दशलक्ष–योनिमुखानि।

स्थूलसूक्ष्मैकेन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपंचेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तकभेदसनाथ–चतुर्दशजीवस्थानानि। गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्व–संज्ञ्याहारविकल्पलक्षणानि मार्गणास्थानानि। एतानि सर्वाणि च तस्य भगवतः परमात्मनः शुद्धनिश्चयनयबलेन न सन्तीति भगवतां सूत्रकृतामभिप्रायः।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचंद्रसूरिभिः ह्न

(मालिनी)

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।
इममुपरि चरंतं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतम्।।१९।।[१]

जीवों के दस लाख योनिमुख हैं; द्वीन्द्रिय जीवों के दो लाख योनिमुख हैं; त्रीन्द्रिय जीवों के दो लाख योनिमुख हैं; चतुरिन्द्रिय जीवों के दो लाख योनिमुख हैं; देवों के चार लाख योनिमुख हैं; नारकी जीवों के चार लाख योनिमुख हैं; तिर्यंच जीवों के चार लाख योनिमुख हैं; मनुष्यों के चौदह लाख योनिमुख हैं। इसप्रकार कुल मिलाकर चौरासी लाख (८४००००) योनिमुख हैं।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, स्थूल एकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, द्वीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, त्रीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, चतुरिन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त ह्न ऐसे भेदोंवाले चौदह जीवस्थान हैं। गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहार ह्न ऐसे भेदस्वरूप चौदह मार्गणास्थान हैं।

यह सब, उन भगवान परमात्मा को शुद्धनिश्चयनय के बल से अर्थात् शुद्धनिश्चयनय से नहीं हैं ह्न ऐसा भगवान सूत्रकर्ता श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव का अभिप्राय है।''

यद्यपि इस गाथा में मात्र इतना ही कहा गया है कि इस भगवान आत्मा के जन्म, जरा, मरण, शोक, रोग, कुल, योनि, जीवस्थान, मार्गणास्थान और चतुर्गति परिभ्रमण नहीं है; तथापि टीका में जीवस्थान और मार्गणास्थान के भेदों को भी नाम सहित गिना दिया है। न केवल इतना ही बल्कि चौरासी लाख योनियाँ और एक सौ साढे सत्तानवे लाख करोड़ कुलों को भी विस्तार से स्पष्ट किया है।।४२।।

१. समयसार : आत्मख्याति, छन्द ३५

(अनुष्टुभ्)

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम् ।
अतोऽतिरिक्ता: सर्वेऽपि भावा: पौद्गलिका अमी ।।२०।।[१]

इसके बाद टीकाकार **'तथा आचार्य अमृतचन्द्र ने भी कहा है'** ह्न ऐसा लिखकर दो छन्द उद्धृत करते हैं, उनमें से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(हरिगीत)

चैतन्यशक्ति से रहित परभाव सब परिहार कर।
चैतन्यशक्ति से सहित निजभाव नित अवगाह कर।।
है श्रेष्ठतम जो विश्व में सुन्दर सहज शुद्धातमा।
अब उसी का अनुभव करो तुम स्वयं हे भव्यातमा।।१९।।

हे भव्यात्मन् ! चैतन्यशक्ति से रहित अन्य समस्त भावों को छोड़कर और अपने चैतन्य-शक्तिमात्र भाव को प्रगटरूप से अवगाहन करके लोक के समस्त सुन्दरतम पदार्थों के ऊपर तैरनेवाले अर्थात् पर से पृथक् एवं सर्वश्रेष्ठ इस एकमात्र अविनाशी आत्मा को अपने आत्मा में ही देखो, अपने-आप में ही साक्षात्कार करो, साक्षात् अनुभव करो ।

समयसार की आत्मख्याति टीका में समागत उक्त छन्द में यही कहा गया है कि वर्णादि से लेकर गुणस्थान पर्यन्त जितने भी भाव हैं; वे सभी चित्शक्तिमात्र आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं; अत: उन सभी भावों से अपने उपयोग को समेटकर अनन्त गुणों के अखण्डपिण्ड चित्शक्तिमात्र अविनाशी एक उक्त आत्मा में ही लगा दो ।।१९।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

चित् शक्ति सर्वस्व जिन, केवल वे हैं जीव।
उन्हें छोड़कर और सब, पुद्गलमयी अजीव।।२०।।

जिसका सर्वस्व, जिसका सार चैतन्यशक्ति से व्याप्त है; वह जीव मात्र इतना ही है; क्योंकि इस चैतन्यशक्ति से शून्य जो भी अन्यभाव हैं; वे सभी पौद्गलिक हैं, पुद्गलजन्य हैं, पुद्गल ही हैं ।

इस छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि भगवान आत्मा तो चैतन्य शक्तिमात्र है । इससे भिन्न जितने भी भाव हैं; वे सभी भाव पौद्गलिक हैं, अजीव हैं, अचेतन हैं । **तात्पर्य यह है कि ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा को छोड़कर अन्य सभी भाव अपनापन स्थापित करने**

---

१. समयसार : आत्मख्याति, छन्द ३६

तथाहि ह्न

(मालिनी)

अनवरतमखण्डज्ञानसद्भावनात्मा
व्रजति न च विकल्पं संसृतेर्घोररूपम् ।
अतुलमनघमात्मा निर्विकल्पः समाधिः
परपरिणतिदूरं याति चिन्मात्रमेषः ।।६०।।

(स्रग्धरा)

इत्थं बुद्ध्वोपदेशं जननमृतिहरं यं जरानाशहेतुं
भक्तिप्रह्वामरेन्द्रप्रकटमुकुटसद्रत्नमालार्चितांघ्रेः ।
वीरात्तीर्थाधिनाथाद्दुरितमलकुलध्वांतविध्वंसदक्षं
एते संतो भवाब्धेरपरतटममी यांति सच्छीलपोताः ।।६१।।

योग्य नहीं हैं, निजरूप जानने योग्य नहीं हैं, जमने-रमने योग्य नहीं हैं; अतः हे आत्मन् अन्य सभी भावों से एकत्व-ममत्व तोड़कर स्वयं में ही समा जावो ।।२०।।

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव दो छन्द स्वयं लिखते हैं, उनमें से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

रहे निरन्तर ज्ञानभावना निज आतम की।
जिनके वे नर भव विकल्प में नहीं उलझते ।।
परपरिणति से दूर समाधि निर्विकल्प पा।
पा जाते हैं अनघ अनूपम निज आतम को ।।६०।।

अनवरतरूप से अखण्ड ज्ञान की सद्भावनावाला आत्मा संसार के घोर विकल्पों में नहीं उलझता; अपितु निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करता हुआ परपरिणति से दूर, अनुपम, अनघ (पाप रहित) चिन्मात्र आत्मा को प्राप्त करता है ।

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि इस भगवान आत्मा की आराधना करनेवाला आत्मा सांसारिक विकल्पों में नहीं उलझता; वह तो निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करके अनुपम चिन्मात्र निज भगवान आत्मा को प्राप्त करता है ।

तात्पर्य यह है कि यदि हम भी आत्मा की आराधना करना चाहते हैं तो हमें सांसारिक विकल्पों से दूर ही रहना चाहिए; क्योंकि निर्विकल्प हुए बिना आत्मा की प्राप्ति संभव नहीं है ।।६०।।

णिद्दंडो णिद्दंद्दो णिम्मओ णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा।।४३।।

निर्दण्ड: निर्द्वन्द्व: निर्मम: नि:कल: निरालंब:।
नीराग: निर्दोष: निर्मूढ़: निर्भय: आत्मा।।४३।।

इह हि शुद्धात्मन: समस्तविभावाभावत्वमुक्तम्। मनोदण्डो वचनदण्ड: कायदण्डश्चेत्येतेषां

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

भक्तामर की मुकुट रत्नमाला से वंदित।
चरणकमल जिनके वे महावीर तीर्थंकर।।
का पावन उपदेश प्राप्त कर शीलपोत से।
संत भवोदधि तीर प्राप्त कर लेते सत्वर।।६१।।

भक्ति से नमस्कार करते हुए देवेन्द्र के मुकुट में जड़ित रत्नों की प्रभा से प्रकाशित हैं चरण-कमल जिनके; उन तीर्थंकर भगवान महावीर का जन्म-जरा-मृत्यु और पाप समूह का नाशक उपदेश प्राप्त कर, सत्शील रूपी जहाज द्वारा, संतगण संसार सागर से उस पार पहुँच जाते हैं।

इस छन्द को हम मध्य मंगलाचरण के रूप में देख सकते हैं। इसमें शत इन्द्रों से पूजित भगवान महावीर के उपदेश से सत्शीलरूप जहाज के सहारे संतगण संसार समुद्र से पार होते हैं ह्न यह कहा गया है। तात्पर्य यह है कि तीर्थंकरों की वाणी, जिनवाणी के माध्यम से तत्त्व समझकर, आत्मानुभूति पूर्वक संयम धारण करके संसार से पार हुआ जा सकता है, मुक्ति की प्राप्ति की जा सकती है।।६१।।

विगत गाथा में चतुर्गति परिभ्रमण व जन्म-जरादि भावों से आत्मा को भिन्न बताकर अब इस गाथा में आत्मा का स्वरूप निर्दण्डादिरूप है ह्न यह समझाते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

निर्दण्ड है निर्द्वन्द है यह निरालम्बी आतमा।
निर्देह है निर्मूढ़ है निर्भयी निर्मम आतमा।।४३।।

यह आत्मा निर्दण्ड है, निर्द्वन्द है, निर्मम है, अदेह है, निरालंबी है, नीराग है, निर्दोष है, निर्मूढ है और निर्भय है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ इस गाथा में यह कहा गया है कि शुद्धात्मा के समस्त विभावों का अभाव है।

योग्यद्रव्यभावकर्मणामभावान्निर्दण्डः। निश्चयेन परमपदार्थव्यतिरिक्तसमस्तपदार्थसार्थाभावान्निर्द्वन्द्वः। प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तमोहरागद्वेषाभावान्निर्ममः। निश्चयेनौदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणाभिधानपंचशरीरप्रपंचाभावान्निःकलः। निश्चयेन परमात्मनः परद्रव्यनिरवलम्बत्वान्निरालंबः।

मिथ्यात्ववेदरागद्वेषहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साक्रोधमानमायालोभाभिधानाभ्यन्तरचतुर्दशपरिग्रहाभावान्नीरागः। निश्चयेन निखिलदुरितमलकलंकपंकनिर्न्निक्तसमर्थसहजपरमवीतरागसुखसमुद्रमध्यनिर्मग्नस्फुटितसहजावस्थात्मसहजज्ञानगात्रपवित्रत्वान्निर्दोषः।

सहजनिश्चयनयबलेन सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजपरमवीतरागसुखाद्यनेकपरमधर्माधारनिजपरमतत्त्वपरिच्छेदनसमर्थत्वान्निर्मूढः, अथवा साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारनयबलेन त्रिकालत्रिलोकवर्तिस्थावरजंगमात्मकनिखिलद्रव्यगुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकलविमलकेवलज्ञानावस्थत्वान्निर्मूढश्च। निखिलदुरितवीरवैरिवाहिनीदुःप्रवेशनिजशुद्धान्तस्तत्त्वमहादुर्गनिलयत्वान्निर्भयः। अयमात्मा ह्युपादेयः इति।

मनदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड के योग्य द्रव्यकर्मों और भावकर्मों का अभाव होने से आत्मा निर्दण्ड है। निश्चयरूप से आत्मा में परमपदार्थ के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों का अभाव होने से आत्मा निर्द्वन्द्व है। प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त मोह–राग–द्वेष का अभाव होने से आत्मा निर्मम है। निश्चय से औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण नामक पाँचों शरीरों का आत्मा में अभाव होने से आत्मा निक्कल (निःशरीर) है। निश्चय से परमात्मा को परद्रव्यों के अवलम्बन का अभाव होने से आत्मा निरालंब है।

आत्मा में मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा तथा स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ह्न इन चौदह अभ्यन्तर परिग्रहों का अभाव होने से आत्मा निराग है। निश्चय से सम्पूर्ण पापमलकलंकरूपी कीचड़ को धो डालने में समर्थ, सहज, परमवीतराग, सुखसमुद्र में निमग्न, प्रगट, सहज अवस्थारूप, सहजज्ञानशरीर के द्वारा पवित्र होने के कारण आत्मा निर्दोष है।

सहज निश्चयनय के बल से सहज ज्ञान, सहज दर्शन, सहज चारित्र, सहज परमवीतरागसुख आदि अनेक परमधर्मों के आधारभूत निज परमतत्त्व को जानने में समर्थ होने से आत्मा निर्मूढ है अथवा शुद्धसद्भूत–व्यवहारनय के बल से सादि–अनंत, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाववान तथा तीन काल और तीन लोक के स्थावर–जंगमस्वरूप समस्त द्रव्य–गुण–पर्यायों को एक समय जानने में समर्थ सम्पूर्णतः निर्मल केवलज्ञानरूप से अवस्थित होने से, केवलज्ञानस्वभावी होने से आत्मा निर्मूढ़ है। और समस्त पापरूपी शूरवीर शत्रुओं की सेना जिसमें प्रवेश नहीं कर सकती ह्न ऐसे निज शुद्ध अन्तःतत्त्वरूप महादुर्ग में निवास करने से आत्मा निर्भय है। ह्न ऐसा यह आत्मा ही वस्तुतः उपादेय है।''

तथा चोक्तममृताशीतौ ह्न

(मालिनी)

स्वरनिकरविसर्गव्यंजनाद्यक्षरैर्यद्
रहितमहितहीनं शाश्वतं मुक्तसंख्यम् ।
अरसतिमिररूपस्पर्शगंधाम्बुवायु–
क्षितिपवनसखाणुस्थूल दिक्चक्रवालम् ।।२१।।[१]

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि परमशुद्धनिश्चयनय अथवा परमभावग्राही शुद्ध–द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत परमपारिणामिकभावरूप त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में मन–वचन–कायरूप दण्ड नहीं है; परपदार्थों और परभावों का अभाव होने से किसी भी प्रकार का द्वैत नहीं है; औदारिकादि पाँच शरीर नहीं हैं; परद्रव्यों का आलम्बन नहीं है; चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रह नहीं हैं; किसी भी प्रकार का कोई दोष नहीं है; किसी भी प्रकार की मूढता और भय नहीं है; अत: वह निर्दण्ड है, निर्द्वन्द्व है, निर्मम है, अदेह है, निरालम्बी है, नीराग है, निर्दोष है, निर्मूढ है और निर्भय है।

ऐसा भगवान आत्मा ही उपादेय है। **तात्पर्य यह है कि ऐसा निज भगवान आत्मा ही अपनापन स्थापित करने योग्य है और इसी में समा जाना साक्षात् धर्म है।।४३।।**

इसके उपरान्त मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा अमृताशीति में भी कहा है'** ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द उद्धृत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो आतमा स्वरव्यंजनाक्षर-अंक के समुदाय से।
स्पर्श रस गंध रूप से अर अहित से अंधकार से।।
भूमि जल से अनल से अर अनिल की अणु राशि से।
दिगचक्र से भी रहित वह नित रहे शाश्वत भाव से।।२१।।

यह भगवान आत्मा स्वर समूह, विसर्ग और व्यंजनादि अक्षरों से रहित, संख्या से रहित और अहित से रहित शाश्वत तत्त्व है। अंधकार से रहित यह आत्मतत्त्व स्पर्श, रस, गंध और रूप से भी रहित है। इनके अलावा पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के अणुओं से भी रहित है तथा स्थूल दिशाओं के समूह से भी रहित है।

तात्पर्य यह है कि दृष्टि का विषयभूत भगवान आत्मा अकारादि स्वरों; क, ख आदि

१.योगीन्द्रदेव, अमृताशीति, श्लोक ५७

तथा हि ह्न

(मालिनी)

दुरघवनकुठारः प्राप्तदुःकर्मपारः
परपरिणतिदूरः प्रास्तरागाब्धिपूरः ।
हतविविधविकारः सत्यशर्माब्धिनीरः
सपदि समयसारः पातु मामस्तमारः ।।६२।।

जयति परमतत्त्वं तत्त्वनिष्णातपद्म–
प्रभमुनिहृदयाब्जे संस्थितं निर्विकारम् ।
हतविविधविकल्पं कल्पनामात्ररम्याद्
भवभवसुखदुःखान्मुक्तमुक्तं बुधैर्यत् ।।६३।।

व्यंजनों तथा विसर्ग आदि सभी अक्षरों और एक, दो, तीन आदि संख्यारूप अंकों से रहित है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि अंधकार और अहित से रहित यह अनुभूतिगम्य शाश्वत तत्त्व अक्षर और अंक विद्या से पकड़ में आने वाला नहीं है। तात्पर्य यह है कि भाषा की पकड़ से बाहर है। स्पर्श, रस, रूप, गंध और पृथ्वी आदि पंचभूतों से रहित यह आत्मतत्त्व इन्द्रियों के माध्यम से भी नहीं जाना जा सकता। इन्द्रियज्ञान और भाषा की पकड़ में न आनेवाला यह भगवान आत्मा तो एकमात्र अनुभूतिगम्य परमपदार्थ है।।२१।।

इसके उपरान्त मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथाहि'** लिखकर सात छन्द स्वयं प्रस्तुत करते हैं। उनमें से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

परपरिणति से दूर और दुष्कर्म पार है।
अस्तमार दुर्वार पापवन का कुठार है।।
रक्षक हो मम रागोदधि का पूर पार जो।
सुखसागरजल निर्विकार है समयसार जो ।।६२।।

जो समयसार (शुद्धात्मा) दुष्ट पापोंरूप वन का छेदन–भेदन करने के लिए कुठार (कुल्हाड़ा) के समान है, दुष्कर्मों के पार को प्राप्त है, पर परिणति से दूर है, जिसने रागरूपी सागर के पूर (बाढ़) को अस्त किया है, जिसने विविध विकारों को नष्ट कर दिया है, जो सच्चे सुख–सागर का जल है और जिसने कामभाव को अस्त किया है; वह समयसार (शुद्धात्मा) मेरी रक्षा शीघ्र करे।

इस छन्द में समयसाररूप शुद्धात्मा की स्तुति करते हुए उससे रक्षा करने की प्रार्थना

(मालिनी)

अनिशमतुलबोधाधीनमात्मानमात्मा
सहजगुणमणीनामाकरं तत्त्वसारम् ।
निजपरिणतिशर्माम्भोधिमज्जन्तमेनं
भजतु भवविमुक्त्यै भव्यताप्रेरितो यः ।।६४।।

की गयी है; क्योंकि **अनंतदुखों से रक्षा तो एकमात्र समयसाररूप आत्मा के आश्रय से ही होती है ।।६२।।**

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

बुधजन जिनको कहें कल्पनामात्र रम्य है
उन सुख-दुख से रहित नित्य जो निर्विकार है।
विविध विकल्प विहीन पद्मप्रभ मुनिवर मन में
जो संस्थित वह परमतत्त्व जयवंत रहे नित।।६३।।

वह परमतत्त्व जयवंत वर्तता है; जो पद्मप्रभ मुनिराज के हृदयकमल में स्थित है, निर्विकार है, जिसने विविध विकल्पों का हनन कर दिया है और जो भव-भव के उन सुख-दुखों से मुक्त है; जिन सुख-दुखों को बुधपुरुषों ने कल्पनामात्र रम्य कहा है ।

इस छन्द में उस समयसार (शुद्धात्मा) रूप परमतत्त्व के जयवंत वर्तने की बात कही गई है, भावना व्यक्त की गई है; जो विकल्पातीत है, सांसारिक सुख-दुःखों से रहित है और मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव के हृदय में विराजमान है; उनकी श्रद्धा का श्रद्धेय है और उनके ध्यान का एकमात्र ध्येय है ।।६३।।

तीसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

सर्वतत्त्व में सार मगन जो निज परिणति में
सुखसागर में सदा खान जो गुण मणियों की।
उस आतम को भजो निरन्तर भव्यभाव से
भव्यभावना से प्रेरित हो भव्य आत्मन्।।६४।।

भव्यता से प्रेरित हे निकट भव्यात्माओं ! भव से मुक्त होने के लिए निरन्तर उस आत्मा को भजो; जो अनुपम ज्ञान के आधीन है, सहज गुणमणियों की खान है, सर्वतत्त्वों में सारभूत तत्त्व है और जो निज परिणति के सुखसागर में मग्न है ।।६४।।

इस छन्द में भी भव्यात्माओं को संसार सुखों से मुक्त होने के लिए अनुपम, ज्ञानाधीन,

(द्रुतविलंबित)

भवभोगपराङ्मुख हे यते पदमिदं भवहेतुविनाशनम् ।
भज निजात्मनिमग्नमते पुनस्तव किमध्रुववस्तुनि चिन्तया ।।६५।।
समयसारमनाकुलमच्युतं जननमृत्युरुजादिविवर्जितम् ।
सहजनिर्मलशर्मसुधामयं समरसेन सदा परिपूजये ।।६६।।

(इन्द्रवज्रा)

इत्थं निजज्ञेन निजात्मतत्त्वमुक्तं पुरा सूत्रकृता विशुद्धम् ।
बुद्ध्वा च यन्मुक्तिमुपैति भव्यस्तद्भावयाम्युत्तमशर्मणेऽहम् ।।६७।।

सहजगुणोंरूपी मणियों की खान, सर्वतत्त्वों में सारभूत आत्मतत्त्व की आराधना करने की प्रेरणा दी गई है ।।६४।।

चौथे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

भवभोगों से पराङ्गमुख भवदुखनाशन हेतु ।
ध्रुव निज आतम को भजो अध्रुव से क्या हेतु ।।६५।।

भव और भोगों से पराङ्गमुख हे यति ! यह ध्रुवपद संसार के कारणों का विनाश करनेवाला है । निजात्मा में मग्न होने की भावनावाले हे यतिगणो ! इस ध्रुवपद को ही भजो; अध्रुव वस्तुओं की चिन्ता से तुम्हें क्या प्रयोजन है ?

इस छन्द में संसार और सांसारिक भोगों से विरक्त सन्तों से यह कहा गया है कि इस **दुखमय संसार के कारणों के अभाव का हेतुभूत त्रिकालीध्रुव आत्मतत्त्व की आराधना करो,** अध्रुव विनाशशील वस्तुओं के चिन्तन से क्या प्रयोजन है ?।।६५।।

पाँचवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

जन्म मृत्यु रोगादि से रहित अनाकुल आत्म ।
अमृतमय अच्युत अमल मैं बंदूँ शुद्धात्म ।।६६।।

जो अनाकुल है, अच्युत है, जन्म-मृत्यु-रोगादि से रहित है, सहज निर्मल सुखामृतमय है; उस समयसाररूप शुद्धात्मा को मैं समताभाव से सदा पूजता हूँ ।

यहाँ टीकाकार मुनिराज उत्तम पुरुष में बात करते हुए कह रहे हैं कि मैं तो सदा समताभाव से समयसाररूप शुद्धात्मा की आराधना करता हूँ। तात्पर्य यह है कि **प्रत्येक आत्मार्थी को निरन्तर निज भगवान आत्मा की आराधना करना चाहिए ।।६६।।**

(वसन्ततिलका)

आद्यन्तमुक्तमनघं परमात्मतत्त्वं
निर्द्वन्द्वमक्षयविशालवरप्रबोधम् ।
तद्भावनापरिणतो भुवि भव्यलोकः
सिद्धिं प्रयाति भवसंभवदुःखदूराम् ।।६८।।

छठवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

सूत्रकार मुनिराज ने आतम दियो बताय।
उससे भवि मुक्ति लहें मैं पूजूँ मन लाय।।६७।।

इसप्रकार निज आत्मा को जाननेवाले सूत्रकार आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने जिस निजात्मतत्त्व का निरूपण किया है और जिसे जानकर भव्यजीव मुक्ति की प्राप्ति करते हैं; उस निजात्मतत्त्व को उत्तमसुख की प्राप्ति हेतु मैं भाता हूँ।

इस छन्द में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव उत्तम पुरुष में ही बात करते हुए कह रहे हैं कि आत्मा के स्वरूप को भलीभांति जाननेवाले आत्मानुभवी पूर्वाचार्य श्रीकुन्दकुन्ददेव ने अपने आत्मा का जो स्वरूप बताया है; आत्मा के उस स्वरूप को जानकर भव्यजीव मुक्ति की प्राप्ति करते हैं; इसलिए मैं भी उत्तम सुख की प्राप्ति के लिए उक्त निजात्मतत्त्व की भावना भाता हूँ।।६७।।

सातवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

ज्ञानरूप अक्षय विशाल निर्द्वन्द्व अनूपम
आदि-अन्त अर दोष रहित जो आत्मतत्त्व है।
उसको पाकर भव्य भवजनित भ्रम से छूटें
उसमें रमकर भव्य मुक्ति रमणी को पाते।।६८।।

आदि-अन्त और दोषरहित जो अक्षय, विशाल, उत्तम, ज्ञानस्वरूप, निर्द्वन्द्व परमात्मतत्त्व है; जगत में जो भव्यजन उस परमात्मतत्त्व की भावनारूप परिणमित होते हैं; वे भव्यजन भवजनित दुःख से दूर मुक्तिरूप सिद्धि को प्राप्त करते हैं।

उक्त छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि परमात्मतत्त्व की भावना से भव्यजन भवजनित दुःखों से मुक्ति प्राप्त करते हैं। इसलिए सभी आत्मार्थी भाई-बहिनों को परमात्मतत्त्व की भावना को भाना चाहिए।।६८।।

णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ।।४४।।

निर्ग्रन्थो नीरागो निःशल्यः सकलदोषनिर्मुक्तः।
निःकामो निःक्रोधो निर्मानो निर्मदः आत्मा ।।४४।।

अत्रापि शुद्धजीवस्वरूपमुक्तम्। बाह्याभ्यन्तरचतुर्विंशतिपरिग्रहपरित्यागलक्षणत्वान्निर्ग्रन्थः। सकलमोहरागद्वेषात्मकचेतनकर्माभावान्नीरागः। निदानमायामिथ्याशल्यत्रयाभावान्निःशल्यः। शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धजीवास्तिकायस्य द्रव्यभावनोकर्माभावात् सकलदोषनिर्मुक्तः। शुद्धनिश्चयनेयन निजपरमतत्त्वेऽपि वाञ्छाभावान्निःकामः। निश्चयनयेन प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तद्रव्यपरिणतेरभावान्निःक्रोधः। निश्चयनयेन सदा परमसमरसीभावात्मकत्वान्निर्मानः। निश्चयनयेननिःशेषतोऽन्तर्मुखत्वान्निर्मदः। उक्तप्रकारविशुद्धसहजसिद्धनित्यनिरावरणनिजकारणसमयसारस्वरूपमुपादेयमिति।

विगत गाथा में आत्मा को निर्दण्डादिरूप से निरूपित किया गया है और अब इस गाथा में उक्त आत्मा को निर्ग्रंथादि विशेषणों के माध्यम से स्पष्ट करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

निर्ग्रन्थ है नीराग है निःशल्य है निर्दोष है।
निर्मान-मद यह आतमा निष्काम है निष्क्रोध है ।।४४।।

यह आत्मा निर्ग्रन्थ है, नीराग है, निःशल्य है, सर्व दोषों से रहित है, निष्काम है, निष्क्रोध है, निर्मान है और निर्मद है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ इस गाथा में भी जीव के शुद्धस्वरूप का कथन किया गया है। शुद्धजीव बाह्याभ्यन्तर चौबीस प्रकार के परिग्रहों के परित्यागस्वरूप (अभावस्वरूप) होने से निर्ग्रन्थ है; सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेषात्मक चेतन कर्मों (भावकर्मों) के अभाव से नीराग है; माया, मिथ्यात्व और निदान ह्न इन शल्यों के अभाव से निःशल्य है। शुद्धनिश्चयनय से शुद्धजीवास्तिकाय के द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का अभाव होने से शुद्धजीव सर्वदोष-विमुक्त है। शुद्धनिश्चयनय से उसे निजपरमतत्त्व की भी वांछा नहीं है; इसकारण वह शुद्ध जीव निष्काम है। निश्चयनय से प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त परद्रव्यपरिणति के अभाव से निष्क्रोध, सदा परमसमरसीभावस्वरूप होने से निष्काम और निःशेषरूप से (पूर्णतः) अन्तर्मुख होने से निर्मद है। उपर्युक्त विशुद्ध, सहजसिद्ध, नित्यनिरावरण, निजकारणसमयसार स्वरूप भगवान आत्मा उपादेय है।''

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः ह्न

(मंदाक्रान्ता)

इत्युच्छेदात्परपरिणतेः कर्तृकर्मादिभेद-
भ्रान्तिध्वंसादपि च सुचिराल्लब्धशुद्धात्मतत्त्वः।
सञ्चिन्मात्रे महसि विशदे मूर्च्छितश्चेतनोऽयं
स्थास्यत्युद्यत्सहजमहिमा सर्वदा मुक्त एव।।२२।।[१]

उक्त गाथा में परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत परमपारिणामिकभाव रूप भगवान आत्मा के निर्ग्रन्थादि जो भी विशेषण दिये गये हैं; वे सभी द्रव्यस्वभाव के हैं, पर्याय के नहीं। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व और क्रोधादि अंतरंग परिग्रह वर्तमान पर्याय में होने पर भी द्रव्यस्वभाव में नहीं है। **उक्त द्रव्यस्वभाव में अपनापन स्थापित होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल पर्याय प्रगट होती है और मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप विकारी पर्यायों का पर्याय में भी अभाव हो जाता है।।४४।।**

इसके बाद **'तथा श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है' ह्न** ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(मनहरण कवित्त)

इस भाँति परपरिणति का उच्छेद कर।
करता-करम आदि भेदों को मिटा दिया।।
इस भाँति आतमा का तत्त्व उपलब्ध कर।
कल्पनाजन्य भेदभाव को मिटा दिया।।
ऐसा यह आतमा चिन्मात्र निरमल।
सुखमय शान्तिमय तेज अपना लिया।।
आपनी ही महिमामय परकाशमान।
रहेगा अनंतकाल जैसा सुख पा लिया।।२२।।

परपरिणति के उच्छेद और कर्ता, कर्म आदि भेदों की भ्रान्ति के नाश से जिसने शुद्धात्मतत्त्व उपलब्ध किया है; ऐसा वह आत्मा चैतन्यमात्ररूप निर्मल तेज में लीन होता हुआ अपनी ही सहज महिमा में प्रकाशमानरूप से सदा मुक्त ही रहेगा।

इसप्रकार इस छन्द में यह बताया गया है कि जिस आत्मा ने परपरिणति के उच्छेद और कर्ता-कर्म संबंधी भ्रान्ति के नाश से शुद्धनय के विषयभूत शुद्धात्मा को उपलब्ध किया है; वह आत्मा स्वयं में ही समा जायेगा और दुःखों से सदा ही मुक्त रहेगा, प्रकाशमान रहेगा।।२२।।

१. प्रवचनसार : तत्त्वप्रदीपिका, छन्द ८

तथा हि ह्न

(मंदाक्रांता)

ज्ञानज्योतिः प्रहतदुरितध्वान्तसंघातकात्मा
नित्यानन्दाद्यतुलमहिमा सर्वदा मूर्तिमुक्तः ।
स्वस्मिन्नुच्चैरविचलतया जातशीलस्य मूलं
यस्तं वन्दे भवभयहरं मोक्षलक्ष्मीशमीशम् ।।६९।।

वण्णरसगंधफासा थीपुंसणउंसयादिपज्जाया ।
संठाणा संहणणा सव्वे जीवस्स णो संति ।।४५।।
अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।।४६।।

इसके बाद पद्मप्रभमलधारिदेव स्वयं एक छंद लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(मनहरण कवित्त)

ज्ञानज्योति द्वारा पापरूपी अंधकार का।
नाशक ध्रुव नित्य आनन्द का है धारक जो।।
अमूरतिक आतमा अत्यन्त अविचल।
स्वयं में ही उत्तम सुशील का है कारक जो।।
भवभयहरण पति मोक्षलक्ष्मी का अति।
ऐश्वर्यवान नित्य आतम विलासी जो।।
करता हूँ वंदना मैं आत्मदेव की सदा।
अलख अखण्ड पिण्ड चण्ड अविनाशी जो।।६९।।

ज्ञानज्योति द्वारा पापरूपी अंधकार समूह का नाशक, नित्यानन्दादि अतुल महिमा का सदा धारक जो अमूर्तिक आत्मा स्वयं में अत्यन्त अविचलपने से उत्तमशील का मूल है; उस भवभय को हरनेवाले मोक्ष लक्ष्मी के ऐश्वर्यवान स्वामी निजकारणपरमात्मा को मैं वंदन करता हूँ।

मध्य मंगलाचरण के रूप में समागत इस छन्द में त्रिकाली ध्रुव कारणपरमात्मारूप निज भगवान आत्मा को नमस्कार किया गया है; क्योंकि अज्ञानरूप अंधकार का नाश अपने आत्मा में अपनापन लाने, उसी को निजरूप जानने और उसी में समा जाने से ही होता है।।६९।।

विगत गाथा में जिस शुद्धात्मा को निर्ग्रन्थादिरूप बताया गया था; अब इन गाथाओं में उसी शुद्धात्मा को वर्णादि से रहित अरस-अरूपादिरूप बताते हैं।

वर्णरसगंधस्पर्शा: स्त्रीपुंनपुंसकादिपर्याया: ।
संस्थानानि संहननानि सर्वे जीवस्य नो सन्ति ।।४५।।
अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ।।४६।।

इह हि परमस्वभावस्य कारणपरमात्मस्वरूपस्य समस्तपौद्गलिकविकारजातं न समस्ती–त्युक्तम् । निश्चयेन वर्णपंचकं, रसपंचकं, गन्धद्वितयं, स्पर्शाष्टकं, स्त्रीपुंनपुंसकादिविजातीय विभावव्यंजनपर्याया:, कुब्जादिसंस्थानानि, वज्रर्षभनाराचादिसंहननानि विद्यंते पुद्गलानामेव, न जीवानाम् । संसारावस्थायां संसारिणो जीवस्य स्थावरनामकर्मसंयुक्तस्य कर्मफलचेतना भवति, त्रसनामकर्मसनाथस्य कार्ययुतकर्मफलचेतना भवति । कार्यपरमात्मन: कारण–परमात्मनश्च शुद्धज्ञानचेतना भवति । अत एव कार्यसमयसारस्य वा शुद्धज्ञानचेतना सहज–

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

स्पर्श रस गंध वर्ण एवं संहनन संस्थान भी।
नर, नारि एवं नपुंसक लिंग जीव के होते नहीं ।।४५ ।।
चैतन्यगुणमय आतमा अव्यक्त अरस अरूप है।
जानो अलिंगग्रहण इसे यह अर्निदिष्ट अशब्द है ।।४६ ।।

वर्ण, रस, गंध, स्पर्श और स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकदेव आदि पर्यायें तथा संस्थान और संहनन ह्न ये सब जीव के नहीं हैं।

इस जीव को अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, अशब्द और चेतना गुणवाला, अनिर्दिष्ट संस्थान और अलिंगग्रहण जानो।

इन गाथाओं का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ इन दो गाथाओं में ऐसा कहा है कि परमस्वभावभूत कारणपरमात्मा का स्वरूप समस्त पौद्गलिक विकार समूह से रहित है। निश्चय से पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध, आठ स्पर्श और स्त्री, पुरुष, नपुंसकादि विजातीय विभावव्यंजनपर्यायें तथा कुब्जादि संस्थान, वज्रर्षभनाराचादि संहनन पुद्गलों के ही हैं, जीवों के नहीं। संसारदशा में स्थावर नामकर्मयुक्त संसारी जीवों के अर्थात् स्थावर जीवों के कर्मफलचेतना होती है, त्रसनामकर्मयुक्त संसारी जीवों के अर्थात् त्रस जीवों के कार्य सहित अर्थात् कर्मचेतना सहित कर्मफलचेतना होती है। कार्यपरमात्मा और कारणपरमात्मा के शुद्धज्ञानचेतना होती है। इसी से कार्यसमयसार अथवा कारणसमयसार को सहजफल रूप शुद्धज्ञानचेतना होती है।

फलरूपा भवति। अतः सहजशुद्धज्ञानचेतनात्मानं निजकारणपरमात्मानं संसारावस्थायां मुक्तावस्थायां वा सर्वदैकरूपत्वादुपादेयमिति हे शिष्य त्वं जानीहि इति।

इसलिए सहजशुद्धज्ञानचेतनास्वरूप निज कारणपरमात्मा संसारावस्था में या मुक्तावस्था में सर्वदा एक होने से उपादेय है ह्न ऐसा हे शिष्य तू जान !''

उक्त दो गाथाओं में समागत दूसरी गाथा, वही बहुचर्चित गाथा है, जो आचार्य कुन्दकुन्द के पंचपरमागमों में प्राप्त होती है। समयसार में ४९वीं, प्रवचनसार में १७२वीं, पंचास्तिकाय में १२७वीं, अष्टपाहुड़ के भावपाहुड़ में ६४वीं और इस नियमसार में ४६वीं गाथा के रूप में है।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी यह गाथा पाई जाती है। धवल के तीसरे भाग में भी यह गाथा है। पद्मनन्दिपंचविंशतिका एवं द्रव्यसंग्रहादि में यह उद्धृत की गई है। इसप्रकार आत्मा का स्वरूप प्रतिपादन करनेवाली यह गाथा जिनागम की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गाथा है।

आचार्य कुन्दकुन्द कृत समयसार की आत्मख्याति टीका में इस गाथा का अर्थ करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त और अशब्द पदों के छह-छह अर्थ करते हैं और अनिर्दिष्ट-संस्थान पद के चार अर्थ करते हैं; किन्तु उन्होंने अलिंगग्रहण पद का अर्थ सामान्य सा करके ही छोड़ दिया है। प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में अलिंगग्रहण पद पर जोर दिया है, उसके २० अर्थ किये हैं।

समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय ह्न इन तीनों ग्रंथों पर आचार्य अमृतचन्द्र ने संस्कृत भाषा में जो टीकायें लिखीं, उनमें से किसी भी टीका में इस गाथा का अर्थ करते समय चेतनागुण के संबंध में विशेष विस्तार नहीं किया है; किन्तु यहाँ इस गाथा का अर्थ करते समय मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव का ध्यान इसी पद पर केन्द्रित हैं, शेष पदों पर विशेष प्रकाश नहीं डाला। इसके पूर्व की गाथा के अर्थ में ही इस गाथा के अरसादि विशेषणों को समाहित कर लिया है; क्योंकि उक्त गाथा में भी तो यही कहा है कि आत्मा में रूप, रस, गंध और स्पर्श नहीं है और इसमें भी यही कहा जा रहा है कि आत्मा अरस, अरूप, अगंध और अस्पर्श है। इसीप्रकार अन्य विशेषणों के बारे में भी विचार कर लेना चाहिए। चेतनागुण विशेषण के संदर्भ में यहाँ चेतना के भेद कर्मचेतना, कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतना की चर्चा विस्तार से की है।

कहा गया है कि स्थावर जीवों के कर्मफलचेतना की प्रधानता है; क्योंकि सहज पुण्य-पाप के योग से उन्हें जो भी संयोग प्राप्त होते हैं, संयोगी भाव अर्थात् मोह-राग-द्वेषभाव होते हैं; वे तो उन्हें ही भोगते रहते हैं, उनका ही वेदन करते रहते हैं।

तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ ह्न

(मंदाक्रांता)

आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत्कर्म भिन्नं तयोर्या
प्रत्यासत्तेर्भवति विकृतिः साऽपि भिन्ना तथैव।
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत्तच्च भिन्नं मतं मे
भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालंकृतं सर्वमेतत्।।२३।।[१]

त्रस जीवों के कर्मचेतना सहित कर्मफलचेतना की प्रधानता होती है; क्योंकि पर में एकत्व-ममत्व होने से वे उनमें कुछ न कुछ करने और उन्हें भोगने के भावों में उलझे रहते हैं।

टीका में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा गया है कि कारणपरमात्मा और कार्यपरमात्मा को शुद्धज्ञानचेतना होती है। यह तो स्पष्ट ही है कि कारणपरमात्मा तो उस त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा को कहते हैं कि जो निगोद से लेकर मोक्ष तक के सभी जीवों के सदा विद्यमान है। यही कारण है कि वह शुद्धज्ञानचेतना सभी जीवों में विद्यमान है और सभी को परम उपादेय है; क्योंकि उसके आश्रय से ही यह संसारी आत्मा सिद्ध बनता है।

उक्त कारणपरमात्मा के आश्रय से जो अरहंत-सिद्धरूप परमात्म दशा प्रगट होती है; उसे कार्यपरमात्मा कहते हैं। इसप्रकार हम देखते हैं कि यहाँ कर्मचेतना और कर्मफलचेतना की मुख्यतावाले अज्ञानी जीवों और शुद्धज्ञानचेतनावाले अरहंत-सिद्धरूप पूर्ण ज्ञानियों की चर्चा तो की; किन्तु **साधकदशा में विद्यमान जीवों की बात नहीं की।।४५-४६।।**

मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसके बाद **'तथा एकत्वसप्तति में भी कहा है' ह्न** ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

जड़ कर्मों से भिन्न आतमा होता है ज्यों।
भावकर्म से भिन्न आतमा होता है त्यों।।
सभी स्वयं के गुण-पर्यायों से अभिन्न हैं।
परद्रव्यों से भिन्न सदा सब ही होते हैं।।२३।।

आचार्य पद्मनन्दी कहते हैं कि मेरा मत (मन्तव्य) ऐसा है कि जिसप्रकार आत्मा भिन्न है और उसका अनुगमन करनेवाला कर्म भिन्न है; उसीप्रकार आत्मा और कर्म की अति निकटता से जो विकार होता है, वह भी आत्मा से भिन्न ही है तथा काल-क्षेत्रादिक जो भी हैं, वे सभी आत्मा से भिन्न हैं। अपनी-अपनी गुण कला से अलंकृत ये सभी भिन्न-भिन्न ही हैं। तात्पर्य यह है कि अपने-अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न सभी द्रव्य परस्पर अत्यन्त भिन्न-भिन्न हैं।

---

१. पद्मनन्दिपंचविंशतिका, एकत्वसप्तति अधिकार, छन्द ७९

तथा हि ह्न

(मालिनी)

असति च सति बन्धे शुद्धजीवस्य रूपाद्
रहितमखिलमूर्त्तद्रव्यजालं विचित्रम् ।
इति जिनपतिवाक्यं वक्ति शुद्धं बुधानां
भुवनविदितमेतद्द्रव्य जानीहि नित्यम् ।।७०।।

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति ।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण ।।४७।।

यादृशा: सिद्धात्मानो भवमालीना जीवास्तादृश भवन्ति ।
जरामरणजन्ममुक्ता अष्टगुणालंकृता येन ।।४७।।

इसप्रकार एकत्वसप्तति के इस छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यही कहा गया है कि सभी पदार्थ अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न और परद्रव्य और उनके गुण-पर्यायों से पूर्णत: भिन्न हैं। यह तो ठीक; किन्तु कर्मोदय के निमित्तपूर्वक होनेवाले मोह-राग-द्वेषादि भावों से भी यह आत्मा भिन्न ही है। **अत: आत्मार्थी भाई-बहिनों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे परपदार्थों में संलग्न उपयोग को वहाँ से हटाकर निज भगवान आत्मा में लगावें।।२३।।**

इसके बाद पद्मप्रभमलधारिदेव एक छंद स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(रोला)

अरे बंध हो अथवा न हो शुद्धजीव तो।
सदा भिन्न ही विविध मूर्त द्रव्यों से जानो।।
बुधपुरुषों से कहे हुए जिनदेव वचन इस।
परमसत्य को भव्य आतमा तुम पहिचानो।।७०।।

बंध हो या न हो अर्थात् चाहे बंधावस्था हो, चाहे मोक्षावस्था हो ह्न दोनों ही अवस्थाओं में अनेकप्रकार के मूर्त पदार्थों के समूह शुद्धजीव के रूप से अत्यन्त भिन्न हैं। बुधपुरुषों से कहा हुआ जिनदेव का ऐसा शुद्धवचन है। जगप्रसिद्ध इस परमसत्य को हे भव्य! तू सदा जान।

इस छन्द में मात्र यही कहा गया है कि हे भव्यजीवो ! जिनदेव द्वारा कहे गये इस जगप्रसिद्ध परमसत्य को जानो, पहिचानो कि हर हालत में यह शुद्ध आत्मा अनेकप्रकार के समस्त परद्रव्यों से भिन्न है। ऐसे ज्ञान-श्रद्धान से, आचरण से अनंत अतीन्द्रिय आनंद की प्राप्ति होती है।।७०।।

विगत गाथाओं में यह स्पष्ट करने के उपरान्त कि आत्मा में वर्णादि भाव नहीं हैं, वह अरस-अरूपादि भावों से संयुक्त चेतनागुणवाला है; अब इस गाथा में यह बताते हैं कि **शुद्धद्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से संसारी और सिद्ध जीवों में कुछ भी अन्तर नहीं है।**

शुद्धद्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण संसारिजीवानां मुक्तजीवानां विशेषाभावोपन्यासोयम्।

ये केचिद् अत्यासन्नभव्यजीवाः ते पूर्वं संसारावस्थायां संसारक्लेशायासचित्ताः सन्तः सहजवैराग्यपरायणाः द्रव्यभावलिंगधराः परमगुरुप्रसादासादितपरमागमाभ्यासेन सिद्धक्षेत्रं परिप्राप्य निर्व्याबाधसकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलसुखकेवलशक्तियुक्ताः सिद्धात्मानः कार्यसमयसाररूपाः कार्यशुद्धाः। ते यादृशास्तादृशा एव भविनः शुद्धनिश्चयनयेन। येन कारणेन तादृशास्तेन जरामरणजन्ममुक्ताः सम्यक्त्वाद्यष्टगुणपुष्टितुष्टाश्चेति।

(अनुष्टुभ्)

प्रागेव शुद्धता येषां सुधियां कुधियामपि।
नयेन केनचित्तेषां भिदां कामपि वेद्म्यहम्।।७१।।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

गुण आठ से हैं अलंकृत अर जन्म-मरण-जरा नहीं।
हैं सिद्ध जैसे जीव त्यों भवलीन संसारी कहे।।४७।।

जैसे सिद्ध जीव जन्म, मरण और जरा से मुक्त तथा आठ गुणों से अलंकृत हैं; वैसे ही तुम भवलीन संसारी जीवों को जानो।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह कथन शुद्धद्रव्यार्थिकनय के अभिप्राय से संसारी जीव और मुक्त जीवों में अन्तर न होने का है। जो कोई अत्यासन्न भव्यजीव; पहले संसारावस्था में संसारक्लेश से थके चित्तवाले होते हुए सहज वैराग्यपरायण होने से द्रव्यलिंग और भावलिंग को धारण करके, परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त परमागम के अभ्यास द्वारा सिद्धक्षेत्र को प्राप्त करके, अव्याबाध सकल विमल केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलवीर्य युक्त सिद्ध हो गये हैं; वे सिद्धात्मा कार्यसमयसाररूप हैं, कार्यसिद्ध हैं। जिसप्रकार वे सिद्ध भगवान शुद्ध हैं; उसीप्रकार शुद्धनिश्चयनय से संसारी जीव भी शुद्ध हैं। जिसकारण से अर्थात् जिस अपेक्षा से वे संसारी जीव सिद्धसमान हैं; उसीकारण से अर्थात् उसी अपेक्षा से वे संसारी जीव जन्म-जरा-मरण से रहित हैं और सम्यक्त्वादि आठ गुणों की पुष्टि से तुष्ट हैं।''

उक्त गाथा में परमशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से संसारी और सिद्ध जीवों में कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि सभी जीवों के द्रव्यस्वभाव में तो कोई अन्तर है ही नहीं और वर्तमान पर्यायों में जो अन्तर है, यह नय उन पर्यायों को ग्रहण नहीं करता। **अतः परमशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से संसारी और सिद्धों में कोई अन्तर नहीं है ह्न यह बताया गया है।।४७।।**

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया।।४८।।

अशरीरा अविनाशा अतीन्द्रिया निर्मला विशुद्धात्मानः।
यथा लोकाग्रे सिद्धास्तथा जीवाः संसृतौ ज्ञेयाः।।४८।।

टीकाकार मुनिराज इस गाथा की टीका के अन्त में एक छन्द लिख रहे हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

पहले से ही शुद्धता जिनमें पाई जाय।
उन सुधिजन कुधिजनों में कुछ भी अंतर नाय।।
किस नय से अन्तर करूँ उनमें समझ न आय।
मैं पूँछूँ इस जगत से देवे कोई बताय।।७१।।

जिन सुबुद्धियों को तथा कुबुद्धियों को पहले से ही शुद्धता विद्यमान है तो मैं उन सुबुद्धियों और कुबुद्धियों में अन्तर किस नय से जानूँ?

उक्त छन्द में भाषा तो ऐसी है कि जैसे टीकाकार मुनिराज श्री को उस नय का पता नहीं है कि जिस नय से सुबुद्धि और कुबुद्धियों में महान अन्तर है; पर बात ऐसी नहीं है।

ऐसा कहकर वे यह कहना चाहते हैं कि जब परमशुद्धनिश्चयनय की स्वभावदृष्टि ही परमार्थ है अर्थात् **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग और मोक्ष की उत्कृष्टतम साधक है तो मैं व्यवहारनयाश्रित पर्यायदृष्टि से क्यों देखूँ, पर्यायदृष्टि को मुख्य क्यों करूँ ?**

तात्पर्य यह है कि यदि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति करनी है तो सभी आत्मार्थी भाई-बहिनों को परमशुद्धनिश्चयनय की इस स्वभावग्राही परमार्थदृष्टि को ही मुख्य करना चाहिए।।७१।।

विगत गाथा में यह स्पष्ट करने के उपरान्त कि द्रव्यदृष्टि से संसारी और सिद्ध जीवों में कोई अन्तर नहीं है; अब इस गाथा में यह बताते हैं कि कार्यसमयसार और कारणसमयसार में कोई अन्तर नहीं है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

शुद्ध अविनाशी अतीन्द्रिय अदेह निर्मल सिद्ध ज्यों।
लोकाग्र में जैसे विराजे जीव हैं भवलीन त्यों।।४८।।

जिसप्रकार लोकाग्र में स्थित सिद्ध भगवान अशरीरी, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा हैं; उसीप्रकार सभी संसारी जीवों को जानो।

अयं च कार्यकारणसमयसारयोर्विशेषाभावोपन्यासः। निश्चयेन पंचशरीरप्रपंचाभावादशरीराः, निश्चयेन नरनारकादिपर्यायपरित्यागस्वीकाराभावादविनाशाः, युगपत्परमतत्त्वस्थितसहजदर्शनादिकारणशुद्धस्वरूपपरिच्छित्तिसमर्थसहजज्ञानज्योतिरपहस्तितसमस्तसंशयस्वरूपत्वादतीन्द्रियाः, मलजनकक्षायोपशमिकादिविभावस्वभावानामभावान्निर्मलाः, द्रव्यभावकर्माभावात् विशुद्धात्मानः यथैव लोकाग्रे भगवन्तः सिद्धपरमेष्ठिनस्तिष्ठन्ति, तथैव संसृतावपि अमी केनचिन्निश्चयबलेन संसारिजीवाः शुद्धा इति।

(शार्दूलविक्रीडित)

शुद्धाशुद्धविकल्पना भवति सा मिथ्यादृशि प्रत्यहं
शुद्धं कारणकार्यतत्त्वयुगलं सम्यग्दृशि प्रत्यहम्।
इत्थं यः परमागमार्थमतुलं जानाति सद्दृक् स्वयं
सारासारविचारचारुधिषणा वन्दामहे तं वयम्।।७२।।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह कार्यसमयसार और कारणसमयसार में कोई अन्तर न होने का कथन है। जिसप्रकार लोकाग्र में सिद्ध भगवान निश्चय से पाँच शरीरों के प्रपंच के अभाव के कारण अशरीरी हैं, नर-नारकादि पर्यायों के त्याग-ग्रहण के अभाव के कारण अविनाशी हैं, परमतत्त्व में स्थित सहजदर्शन-ज्ञानरूप कारणशुद्धस्वरूप को युगपद जानने में समर्थ सहजज्ञानज्योति के द्वारा जिसमें से समस्त संशय दूर कर दिये गये हैं ह्न ऐसे स्वरूपवाले होने के कारण अतीन्द्रिय हैं, मलजनक क्षायोपशमिक विभावस्वभाव के अभाव के कारण निर्मल और द्रव्य-भावकर्मों के अभाव के कारण विशुद्धात्मा हैं; उसीप्रकार संसारी जीव भी किसी नय के बल से शुद्ध हैं।''

इस गाथा और उसकी टीका में मात्र इतना ही कहा गया है कि जिसप्रकार सिद्ध भगवान पाँच शरीरों से रहित होने के कारण **अशरीरी**, नर-नारकादि पर्यायों के ग्रहण-त्याग से रहित होने के कारण **अविनाशी**, संशयरहित प्रत्यक्षज्ञान के धारी होने से **अतीन्द्रिय**, विभावस्वभाव के अभाव के कारण **निर्मल** और द्रव्य-भावकर्म के अभाव के कारण **विशुद्धात्मा** हैं; उसीप्रकार संसारी जीव भी परमशुद्धनिश्चयनय से सतत शुद्ध ही हैं।।४८।।

इसके बाद पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

शुद्ध है यह आतमा अथवा अशुद्ध इसे कहें।
अज्ञानि मिथ्यादृष्टि के ऐसे विकल्प सदा रहें।।
कार्य-कारण शुद्ध सारासारग्राही बुद्धि से।
जानते सद्दृष्टि उनकी वंदना हम नित करें।।७२।।

एदे सव्वे भावा ववहारणयं पहुच्च भणिदा हु।
सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा।।४९।।

एते सर्वे भावा व्यवहारनयं प्रतीत्य भणिताः खलु।
सर्वे सिद्धस्वभावाः शुद्धनयात् संसृतौ जीवाः।।४९।।

निश्चयव्यवहारनययोरुपादेयत्वप्रद्योतनमेतत्। ये पूर्वं न विद्यन्ते इति प्रतिपादितास्ते सर्वे विभावपर्यायाः खलु व्यवहारनयादेशेन विद्यन्ते। संसृतावपि ये विभावभावैश्चतुर्भिः परिणताः सन्तस्तिष्ठन्ति अपि च ते सर्वे भगवतां सिद्धानां शुद्धगुणपर्यायैः सदृशाः शुद्धनयादेशादिति।

मिथ्यादृष्टियों को आत्मा शुद्ध है या अशुद्ध है ह्न इसप्रकार की विपरीत कल्पनायें निरन्तर हुआ करती हैं; किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव को ऐसा निश्चय होता है कि कारणतत्त्व और कार्यतत्त्व ह्न दोनों शुद्ध हैं। इसप्रकार परमागम के अनुपम अर्थ को जो सम्यग्दृष्टि जीव सारासार की विचार वाली बुद्धि से स्वयं को जानता है; हम सब उसकी वंदना करते हैं।

इस छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव अपेक्षाओं को न समझने के कारण आत्मा शुद्ध है या अशुद्ध ह्न इसप्रकार के विकल्पों में उलझे रहते हैं; परन्तु सम्यग्दृष्टि जीवों को स्याद्वाद में प्रवीणता होने से वे जानते हैं कि कारणसमयसार (त्रिकाली ध्रुव आत्मा) और कार्यसमयसार (अरहंत-सिद्ध भगवान) ह्न दोनों ही शुद्ध हैं। इसप्रकार सार और असार को जानने की बुद्धि के धनी ज्ञानियों की हम वंदना करते हैं।।७२।।

विगत गाथा में सिद्धों के समान संसारी जीव भी स्वभाव से शुद्ध ही हैं ह्न यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में उक्त तथ्य को निश्चय-व्यवहारनय की भाषा में प्रस्तुत करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

व्यवहारनय से कहे हैं ये भाव सब इस जीव के।
पर शुद्धनय से सिद्धसम हैं जीव संसारी सभी।।४९।।

उक्त सभी भाव व्यवहारनय से संसारी जीवों में कहे गये हैं, किन्तु शुद्धनिश्चयनय से तो संसार में रहनेवाले सभी जीव सिद्धस्वभावी ही हैं, सिद्धों के समान ही हैं।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह कथन निश्चय-व्यवहारनयों की उपादेयता का प्रकाशन करनेवाला है। पहले जिन विभाव पर्यायों के बारे में ऐसा कहा गया था कि वे विद्यमान नहीं हैं; वे सब विभावपर्यायें व्यवहारनय की अपेक्षा से देखें तो विद्यमान ही हैं। इसीप्रकार जिन औदयिकादि विभावभाववाले जीवों को व्यवहारनय से संसारी कहा गया था; वे सभी संसारी शुद्धनय से शुद्ध गुण और शुद्ध पर्यायवाले होने से सिद्धों के समान ही हैं।''

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः ह्न

(मालिनी)

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हंत हस्तावलंबः ।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमंतः पश्यतां नैष किंचित् ।।२४।।[१]

इस गाथा और उसकी टीका में यही बात स्पष्ट की गई है कि यद्यपि द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु का स्वरूप समझने के लिए व्यवहारनय की उपयोगिता है; क्योंकि व्यवहारनय का विषय भी लोक में विद्यमान है; तथापि **व्यवहारनय के विषयभूत पक्ष के आश्रय से धर्म प्रगट नहीं होता, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति नहीं होती। अतः उसके विषय को भलीभांति जानकर, उसमें से अपनापन तोड़कर, परमशुद्ध-निश्चयनय के विषयभूत अपने आत्मा में ही अपनापन स्थापित करना चाहिए।।४९।।**

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **तथा आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने भी कहा है ह्न** ऐसा कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(रोला)

ज्यों दुर्बल को लाठी है हस्तावलम्ब त्यों।
उपयोगी व्यवहार सभी को अपरमपद में।।
पर उपयोगी नहीं रंच भी उन लोगों को।
जो रमते हैं परम-अर्थ चिन्मय चिद्घन में।।२४।।

यद्यपि खेद है कि जिन्होंने पहली पदवी में पैर रखा है, उनके लिए व्यवहारनय हस्तावलम्ब है, हाथ का सहारा है; तथापि जो परद्रव्यों और उनके भावों से रहित, चैतन्यचमत्कारमात्र परम-अर्थ को अन्तर में अवलोकन करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं, उसमें लीन होकर चारित्रभाव को प्राप्त होते हैं; उन्हें यह व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान नहीं है।

जिसप्रकार बीमारी से उठे अशक्त व्यक्ति को कमजोरी के कारण चलने-फिरने में लाठी का सहारा लेना पड़ता है; पर उसकी भावना तो यही रहती है कि कब इस लाठी का आश्रय छूटे। वह यह नहीं चाहता कि मुझे सदा ही यह सहारा लेना पड़े।

उसीप्रकार निचली दशा में व्यवहार का सहारा लेते हुए भी कोई आत्मार्थी यह नहीं चाहता कि उसे सदा ही यह सहारा लेना पड़े। वह तो यही चाहता है कि कब इसका आश्रय छूटे और कब मैं अपने में समा जाऊँ। बस यही भाव उक्त छन्द में व्यक्त किया गया है।।२४।।

---

१. समयसार : आत्मख्याति, छन्द ५

तथा हि ह्न

(स्वागता)

शुद्धनिश्चययेन विमुक्तौ संसृतावपि च नास्ति विशेषः ।
एवमेव खलु तत्त्वविचारे शुद्धतत्त्वरसिकाः प्रवदन्ति ।।७३।।

पुव्वुत्तसयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं ।
सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा ।।५०।।

पूर्वोक्तसकलभावाः परद्रव्यं परस्वभावा इति हेयाः ।
स्वकद्रव्यमुपादेयं अन्तस्तत्त्वं भवेदात्मा ।।५०।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

संसारी अर सिद्ध में अन्तर नहीं है रंच।
शुद्धतत्त्व के रसिकजन बतलाते यह मर्म ।।७३।।

शुद्धनिश्चयनय से मुक्ति और संसार में कोई अन्तर नहीं है । शुद्धतत्त्व के रसिकजन शुद्धतत्त्व की मीमांसा करते हुए ऐसा ही कहते हैं ।

उक्त छन्द में यही कहा गया है कि शुद्धतत्त्व के रसिकजनों की दृष्टि शुद्धनयप्रधान होती है । अतः वे तो शुद्धतत्त्व की प्राप्ति की प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि संसारी और सिद्धों में कोई अन्तर नहीं है ।।७३।।

विगत गाथा में कहा गया है कि पूर्वोक्त वर्णादि सभी भाव यद्यपि व्यवहारनय से जीव के कहे गये हैं; तथापि शुद्धनय से संसार में रहनेवाले सभी जीव सिद्धों के समान स्वभाववाले ही हैं और अब इस गाथा में यह कहा जा रहा है कि **पूर्वोक्त सभी भाव परस्वभाव होने से परद्रव्य हैं; इसलिए हेय हैं और अन्तःतत्त्वरूप स्वद्रव्य उपादेय हैं।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

हैं हेय ये परभाव सब ही क्योंकि ये परद्रव्य हैं।
आदेय अन्तस्तत्त्व आतम क्योंकि वह स्वद्रव्य है ।।५०।।

पूर्वोक्त सभी भाव परस्वभाव हैं, परद्रव्य हैं; इसलिए हेय हैं तथा अन्तःतत्त्वरूप आत्मा स्वद्रव्य है; अतः उपादेय है ।

हेयोपादेयत्यागोपादानलक्षणकथनमिदम्। ये केचिद् विभावगुणपर्यायास्ते पूर्वं व्यवहार-नयादेशादुपादेयत्वेनोक्ताः शुद्धनिश्चयनयबलेन हेया भवन्ति। कुतः ? परस्वभावत्वात्, अत एव परद्रव्यं भवति। सकलविभावगुणपर्यायनिर्मुक्तं शुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपं स्वद्रव्यमुपादेयम्। अस्य खलु सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजपरमवीतरागसुखात्मकस्य शुद्धान्तस्तत्त्व-स्वरूपस्याधारः सहजपरमपारिणामिकभावलक्षणकारणसमयसार इति।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

सिद्धान्तोऽमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसंति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ।।२५।।[१]

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह हेयोपादेय अथवा त्याग-ग्रहण के स्वरूप का कथन है। पहले ४९वीं गाथा में जिन विभाव गुणपर्यायों को व्यवहारनय से उपादेय कहा था; वे सभी विभावगुणपर्यायें शुद्धनिश्चयनय से हेय हैं; क्योंकि वे पर-स्वभाव हैं; इसलिए परद्रव्य हैं। तथा सभी प्रकार की विभावगुणपर्यायों से रहित शुद्ध अन्तःतत्त्वरूप अपना आत्मा स्वद्रव्य होने से उपादेय है। वस्तुतः बात यह है कि सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहजपरमवीतरागसुखात्मक शुद्ध अन्तःतत्त्वस्वरूप स्वद्रव्य का आधार सहजपरमभावलक्षणवाला कारणसमयसार है।''

इसप्रकार इस गाथा में यह कहा गया है कि पर और पर्याय से रहित, परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत, त्रिकालीध्रुव अपना आत्मा ही एकमात्र उपादेय है, अपनापन स्थापित करने योग्य है, आराधना करने योग्य है, ध्यान का ध्येय है। अतः समस्त जगत से दृष्टि हटाकर एकमात्र निज-शुद्धात्मा पर केन्द्रित करने में ही सार है, शेष सब असार है, संसार है।।५०।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने भी कहा है' ह्न** ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं। छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

मैं तो सदा ही शुद्ध परमानन्द चिन्मयज्योति हूँ।
सेवन करें सिद्धान्त यह सब ही मुमुक्षु बन्धुजन।।
जो विविध परभाव मुझ में दिखें वे मुझ से पृथक्।
वे मैं नहीं हूँ क्योंकि वे मेरे लिए परद्रव्य हैं।।२५।।

---

१. समयसार : आत्मख्याति, छन्द १८५

तथा हि ह्न

(शालिनी)

न ह्यस्माकं शुद्धजीवास्तिकायादन्ये सर्वे पुद्गलद्रव्यभावाः ।
इत्थं व्यक्तं वक्ति यस्तत्त्ववेदी सिद्धिं सोऽयं याति तामत्यपूर्वाम् ।।७४।।

विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं ।
संसयविमोहविब्भमविविज्जियं होदि सण्णाणं ।।५१।।
चलमलिणमगाढत्तविवज्जियसद्दहणमेव सम्मतं ।
अधिगमभावो णाणं हेयोवादेयतच्चाणं ।।५२।।
सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा ।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ।।५३।।
सम्मत्तं सण्णाणं विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण चरणं।
ववहारणिच्छएण दु तम्हा चरणं पवक्खामि ।।५४।।
ववहारणयचरित्ते ववहारणयस्य होदि तवचरणं ।
णिच्छयणयचारित्ते तवचरणं होदि णिच्छयदो ।।५५।।

जिनका चित्त और चरित्र उदार हैं ह्न ऐसे मोक्षार्थी के द्वारा इस सिद्धान्त का सेवन किया जाना चाहिए कि मैं तो सदा एक शुद्ध चैतन्यमय परमज्योति हूँ और मुझसे पृथक् लक्षणवाले विविधप्रकार के जो भाव प्रगट होते हैं; वे मैं नहीं हूँ; क्योंकि वे सभी मेरे लिए परद्रव्य हैं ।

उक्त कलश में यही बात कही गयी है कि जो मोक्षार्थी हैं, मुमुक्षु हैं, जिन्हें दु:खों से मुक्त होने की आकांक्षा है; उन्हें इस महान सिद्धान्त पर अपनी श्रद्धा दृढ़ करना चाहिए और इसी के अनुसार आचरण भी करना चाहिए। इसप्रकार हम देखते हैं कि **मोह-राग-द्वेष भावों से भिन्न ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करना ही धर्म है और तदनुसार आचरण ही धर्माचरण है।।२५।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद स्वयं लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(सोरठा)

वे न हमारे भाव, शुद्धातम से अन्य जो।
ऐसे जिनके भाव, सिद्धि अपूरव वे लहें।।७४।।

शुद्धजीवास्तिकाय से भिन्न अन्य जो पुद्गलद्रव्य के भाव हैं; वस्तुत: वे सभी हमारे नहीं हैं, जो तत्त्ववेदी स्पष्टरूप से इसप्रकार कहते हैं; वे सभी अति अपूर्व सिद्धि को प्राप्त होते हैं ।

विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानमेव सम्यक्त्वम्।
संशयविमोहविभ्रमविवर्जितं भवति संज्ञानम्।।५१।।
चलमलिनमगाढत्वविवर्जितश्रद्धानमेव सम्यक्त्वम्।
अधिगमभावो ज्ञानं हेयोपादेयतत्त्वानाम्।।५२।।
सम्यक्त्वस्य निमित्तं जिनसूत्रं तस्य ज्ञायकाः पुरुषाः।
अन्तर्हेतवो भणिताः दर्शनमोहस्य क्षयप्रभृतेः।।५३।।
सम्यक्त्वं संज्ञानं विद्यते मोक्षस्य भवति शृणु चरणम्।
व्यवहारनिश्चयेन तु तस्माच्चरणं प्रवक्ष्यामि।।५४।।
व्यवहारनयचरित्रे व्यवहारनयस्य भवति तपश्चरणम्।
निश्चयनयचारित्रे तपश्चरणं भवति निश्चयतः।।५५।।

उक्त छन्द में यही कहा गया है कि जो व्यक्ति यह स्वीकार करता है कि मैं तो शुद्धजीवास्तिकाय ही हूँ, अन्य कुछ भी नहीं; वही व्यक्ति आत्मोपलब्धिरूप अपूर्व सिद्धि को प्राप्त करता है।।७४।।

विगत गाथा में यह कहा गया है कि दृष्टि के विषयभूत और ध्यान के ध्येय तथा परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत भगवान आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है। अब आगामी गाथाओं में उक्त उपादेय भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

मिथ्याभिप्राय विहीन जो श्रद्धान वह सम्यक्त्व है।
विभरम संशय मोह विरहित ज्ञान ही सद्ज्ञान है।।५१।।
चल मल अगाढ़पने रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है।
आदेय हेय पदार्थ का ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।।५२।।
जिन सूत्र समकित हेतु पर जो सूत्र के ज्ञायक पुरुष।
वे अंतरंग निमित्त हैं दृग मोह क्षय के हेतु से।।५३।।
सम्यक्त्व सम्यग्ज्ञान पूर्वक आचरण है मुक्तिमग।
व्यवहार-निश्चय से अतः चारित्र की चर्चा करूँ।।५४।।
व्यवहारनय चारित्र में व्यवहारनय तपचरण हो।
नियतनय चारित्र में बस नियतनय तपचरण हो।।५५।।

विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है और संशय, विमोह और विभ्रम रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

रत्नत्रयस्वरूपाख्यानमेतत् । भेदोपचाररत्नत्रयमपि तावद् विपरीताभिनिवेशविवर्जित–श्रद्धानरूपं भगवतां सिद्धिपरंपराहेतुभूतानां पंचपरमेष्ठिनां चलमलिनागाढविवर्जितसमुप–जनितनिश्चलभक्तियुक्तत्वमेव । विपरीते हरिहिरण्यगर्भादिप्रणीते पदार्थसार्थे ह्यभिनिवेशाभाव इत्यर्थः । संज्ञानमपि च संशयविमोहविभ्रमविवर्जितमेव । तत्र संशयः तावत् जिनो वा शिवो वा देव इति । विमोहः शाक्यादिप्रोक्ते वस्तुनि निश्चयः । विभ्रमो ह्यज्ञानत्वमेव । पापक्रिया–निवृत्तिपरिणामश्चारित्रम् । इति भेदोपचाररत्नत्रयपरिणतिः । तत्र जिनप्रणीतहेयोपादेयतत्त्व–परिच्छित्तिरेव सम्यग्ज्ञानम् । अस्य सम्यक्त्वपरिणामस्य बाह्यसहकारिकारणं वीतरागसर्वज्ञ–मुखकमलविनिर्गतसमस्तवस्तुप्रतिपादनसमर्थद्रव्यश्रुतमेव तत्त्वज्ञानमिति । ये मुमुक्षवः तेऽप्युचारतः पदार्थनिर्णयहेतुत्वात् अंतरंगहेतव इत्युक्ताः दर्शनमोहनीयकर्मक्षयप्रभृतेः

चल, मल और अगाढ़ दोषों से रहित श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है तथा हेय और उपादेय तत्त्वों का जाननेरूप भाव ही सम्यग्ज्ञान है।

सम्यक्त्व का निमित्त जिनसूत्र है और जिनसूत्र के ज्ञायक पुरुष सम्यग्दर्शन के अंतरंग हेतु कहे गये हैं; क्योंकि उनके दर्शनमोह के क्षयादिक होते हैं।

मोक्ष का कारण सम्यक्त्व है, सम्यग्ज्ञान है और सम्यग्दर्शन–ज्ञानपूर्वक चारित्र है; इसलिए मैं व्यवहार और निश्चयचारित्र का निरूपण करूँगा।

व्यवहारनय के चारित्र में व्यवहारनय का तपश्चरण होता है और निश्चयनय के चारित्र में निश्चयनय का तपश्चरण होता है।

इन गाथाओं का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह रत्नत्रय के स्वरूप का कथन है। भेदोपचाररत्नत्रय इसप्रकार है। विपरीत अभिप्राय से रहित श्रद्धानरूप, सिद्धि का परम्परा हेतुभूत; भगवंत पंचपरमेष्ठी के प्रति; चल, मल और अगाढ ह्न दोषों से रहित; निश्चल भक्ति ही सम्यक्त्व है। इसका अर्थ यह है कि विष्णु–ब्रह्मादि द्वारा कहे हुए विपरीत पदार्थ समूह के प्रति अभिनिवेश का अभाव ही सम्यक्त्व है।

इसीप्रकार संशय, विमोह और विभ्रम रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। देव शिव हैं या जिन हैं ह्न इसप्रकार का शंकारूप अनिश्चय का भाव संशय है। शाक्यादि (बुद्धादि कथित वस्तु) में निश्चय विमोह (विपर्यय) है और वस्तुस्वरूप के संबंध में अजानपना (अज्ञान) ही विभ्रम (अनध्यवसाय) है। इसीप्रकार पापक्रिया से निवृत्तिरूप परिणाम चारित्र है। उक्त सभी भेदोपचार रत्नत्रय परिणति है। उसमें जिनप्रणीत हेयोपादेय तत्त्वों का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। इस सम्यक्त्व परिणाम का बाह्य सहकारीकारण वीतराग–सर्वज्ञ के मुख कमल से निकला हुआ, समस्त वस्तुओं के प्रतिपादन में समर्थ द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान ही है और जो ज्ञानी धर्मात्मा मुमुक्षु हैं; उन्हें भी उपचार से पदार्थनिर्णय में हेतुपने के कारण अंतरंग हेतु (निमित्त) कहा है; क्योंकि उन्हें दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयादिक हैं।

सकाशादिति। अभेदानुपचाररत्नत्रयपरिणतेजीवस्य टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावनिजपरम-तत्त्वश्रद्धानेन, तत्परिच्छित्तिमात्रांतर्मुखपरमबोधेन, तद्रूपाविचलस्थितिरूपसहजचारित्रेण अभूतपूर्वः सिद्धपर्यायो भवति। यः परमजिनयोगीश्वरः प्रथमं पापक्रियानिवृत्तिरूपव्यवहार-नयचारित्रे तिष्ठति, तस्य खलु व्यवहारनयगोचरतपश्चरणं भवति। सहजनिश्चयनयात्मक-परमस्वभावात्मकपरमात्मनि प्रतपनं तपः। स्वस्वरूपाविचलस्थितिरूपं सहजनिश्चयचारित्रम् अनेन तपसा भवतीति।

उन भेद अनुपचार रत्नत्रय परिणतिवाले जीव को; टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावरूप निजपरमतत्त्व के श्रद्धान से, उस परमतत्त्व के ज्ञानरूप अन्तर्मुख परमबोध से और उस परमतत्त्व में अविचल स्थितिरूप सहज चारित्र से अभूतपूर्व सिद्धपर्याय होती है। जो परम जिनयोगीश्वर पहले पापक्रिया से निवृत्तिरूप व्यवहारनय से चारित्र में स्थित होते हैं; उन्हें व्यवहारनयगोचर तपश्चरण होता है। सहज निश्चयनयात्मक परमस्वभावरूप परमात्मा में प्रतपन तप है। उस परमयोगीश्वर को निजस्वरूप में अविचलस्थितिरूप इस सहजतप से निश्चयचारित्र होता है।''

इन गाथाओं और उनकी टीका में भेदरत्नत्रय (व्यवहारत्नत्रय) और अभेदरत्नत्रय (निश्चयरत्नत्रय) का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ सम्यग्दर्शन के बाह्य सहकारी कारण (निमित्त) के रूप में वीतराग-सर्वज्ञ के मुखकमल से निकला हुआ, समस्त वस्तुओं के प्रतिपादन में समर्थ द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान को स्वीकार किया गया है और दर्शनमोहनीय के क्षयादिक के कारण ज्ञानी धर्मात्माओं को पदार्थ निर्णय में हेतुपने के कारण अंतरंगहेतु (निमित्त) उपचार से कहा गया है। यद्यपि अन्य शास्त्रों में दर्शनमोहनीय के क्षयादिक को सम्यग्दर्शन का अंतरंग हेतु (निमित्त) और देव-शास्त्र-गुरु व उनके उपदेश को बहिरंग हेतु (निमित्त) के रूप में स्वीकार किया गया है; तथापि यहाँ ज्ञानी धर्मात्माओं को अंतरंग हेतु बताया जा रहा है।

प्रश्न ह्न दर्शनमोहनीय के क्षयादिक का उल्लेख तो यहाँ भी है।

उत्तर ह्न हाँ; है तो, पर यहाँ पर तो जिसका उपदेश निमित्त है, उस ज्ञानी के दर्शनमोहनीय के क्षयादिक की बात है और अन्य शास्त्रों में जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है या होना है, उसमें दर्शनमोह के क्षयादिक की बात है।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि यहाँ ज्ञानी धर्मात्माओं को उपचार से अंतरंग हेतु (निमित्त) कहा है। यद्यपि **उपचार** शब्द के प्रयोग से बात स्वयं कमजोर पड़ जाती है; तथापि जिनगुरु और जिनागम की निमित्तता के अंतर को स्पष्ट करने के लिए ज्ञानी धर्मात्माओं को अंतरंग निमित्त कहा गया है। **जिनवाणी और ज्ञानी धर्मात्माओं में यह अंतर है कि जिनवाणी को तो मात्र पढ़ा ही जा सकता है; पर ज्ञानी धर्मात्माओं से पूछा भी जा सकता है, उनसे चर्चा भी की जा सकती है। जिनवाणी में तो जो भी लिखा है, हमें उससे ही संतोष करना**

तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ ह्न

(अनुष्टुभ्)

दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते।
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः ।।२६।।[1]

तथा च ह्न

(मालिनी)

जयति सहजबोधस्तादृशी दृष्टिरेषा
चरणमपि विशुद्धं तद्विधं चैव नित्यम्।
अघकुलमलपंकानीकनिर्मुक्तमूर्तिः
सहजपरमतत्त्वे संस्थिता चेतना च ।।७५।।

होगा; पर वक्ता तो हमारी पात्रता के अनुसार हमें समझाता है। वह अकेली वाणी से ही सब कुछ नहीं कहता, अपने हाव-भावों से भी बहुत कुछ स्पष्ट करता है। यही अंतर स्पष्ट करने के लिए यहाँ उक्त अन्तर रखा गया है।।५१-५५।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा एकत्व सप्तति में भी कहा है' ह्न** ऐसा कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

आत्मबोध ही बोध है, निश्चय दर्शन जान।
आत्मस्थिति चारित्र है युति शिवमग पहचान।।२६।।

आत्मा का निश्चय सम्यग्दर्शन है, आत्मा का बोध सम्यग्ज्ञान है और आत्मा में लीनता सम्यक्चारित्र है ह्न ऐसा योग अर्थात् तीनों की एकरूपता मुक्ति का मार्ग है।

इस छन्द में निश्चय मोक्षमार्ग अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र और इन तीनों की एकतारूप निश्चय मोक्षमार्ग को संक्षेप में अत्यन्त सरल शब्दों में स्पष्ट कर दिया गया है।।२६।।

इसके बाद पद्मप्रभमलधारिदेव भी एक छंद स्वयं लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(हरिगीत)

जयवंत है सद्बोध अर सद्दृष्टि भी जयवंत है।
अर चरण भी सुविशुद्ध जो वह भी सदा जयवंत है।।
अर पापपंकविहीन सहजानन्द आतमतत्त्व में।
ही जो रहे, वह चेतना भी तो सदा जयवंत है।।७५।।

---

१. पद्मनन्दिपंचविंशतिका, एकत्वसप्तति अधिकार, श्लोक १४

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव–विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ शुद्धभावाधिकारः तृतीयः श्रुतस्कन्धः ।

सहजज्ञान जयवंत है, सहजदृष्टि भी सदा जयवंत है और विशुद्ध सहज चारित्र ही सदा जयवंत है । पापसमूहरूपी कीचड़ की पंक्ति से रहित स्वरूपवाली सहजपरमतत्त्व में संस्थित चेतना भी सदा जयवंत है ।

अधिकार के अन्त में समागत इस कलश में रत्नत्रयरूप मुक्तिमार्ग की जयवंतता-जीवन्तता को स्पष्ट करते हुए अन्तमंगलाचरण किया गया है ।।७५।।

शुद्धभावाधिकार की समाप्ति के अवसर पर टीकाकार जो पंक्ति लिखते हैं; उसका भाव इसप्रकार है ह्न

''इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में शुद्धभावाधिकार नामक तृतीय श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ ।''

यहाँ नियमसार एवं उसकी तात्पर्यवृत्ति टीका के साथ–साथ डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत आत्मप्रबोधिनी हिन्दी टीका में शुद्धभावाधिकार नामक तृतीय श्रुतस्कन्ध भी समाप्त होता है ।

•••

व्यवहार के बिना निश्चय का प्रतिपादन नहीं होता और व्यवहार के निषेध बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं होती। निश्चय के प्रतिपादन के लिए व्यवहार का प्रयोग अपेक्षित है और निश्चय की प्राप्ति के लिए व्यवहार का निषेध आवश्यक है। यदि व्यवहार का प्रयोग नहीं करेंगे तो वस्तु हमारी समझ में नहीं आवेगी, यदि व्यवहार का निषेध नहीं करेंगे तो वस्तु प्राप्त नहीं होगी।

व्यवहार का प्रयोग भी जिनवाणी में प्रयोजन से ही किया गया है और निषेध भी प्रयोजन से ही किया गया है। जिनवाणी में बिना प्रयोजन एक शब्द का भी प्रयोग नहीं होता।

ह्न परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ ५५

(४)

व्यवहारचारित्र अधिकार

(गाथा ५६ से गाथा ७६ तक)

अथेदानीं व्यवहारचारित्राधिकार उच्यते ह्न

कुलजोणिजीवमग्गणठाणाइसु जाणिऊण जीवाणं ।
तस्सारंभणियत्तणपरिणामो होइ पढमवदं ।।५६।।

कुलयोनिजीवमार्गणास्थानादिषु ज्ञात्वा जीवानाम् ।
तस्यारम्भनिवृत्तिपरिणामो भवति प्रथमव्रतम् ।।५६।।

अहिंसाव्रतस्वरूपाख्यानमेतत् । कुलविकल्पो योनिविकल्पश्च जीवमार्गणास्थान–विकल्पाश्च प्रागेव प्रतिपादिता: । अत्र पुनरुक्तिदोषभयान्न प्रतिपादिता: । तत्रैव तेषां भेदान् बुद्ध्वा तद्रक्षापरिणतिरेव भवत्यहिंसा । तेषां मृतिर्भवतु वा न वा, प्रयत्नपरिणाममन्तरेण सावद्यपरिहारो न भवति । अत एव प्रयत्नपरे हिंसापरिणतेरभावादहिंसाव्रतं भवतीति ।

जीवाधिकार, अजीवाधिकार एवं शुद्धभावाधिकार के उपरान्त अब व्यवहारचारित्राधिकार आरंभ करते हैं। इस अधिकार में अहिंसादि पंच व्रतों की चर्चा करते हैं। सबसे पहले ५६वीं गाथा में अहिंसाव्रत की चर्चा है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

कुल योनि जीवस्थान मार्गणथान जिय के जानकर।
उन्हीं के आरंभ से बचना अहिंसाव्रत कहा।।५६।।

कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान आदि को जानकर, उनके आरंभ से निवृत्तिरूप परिणाम पहला (अहिंसा) व्रत है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह अहिंसाव्रत के स्वरूप का कथन है। कुलभेद, योनिभेद, जीवस्थान और मार्गणास्थान के भेद पहले ४२वीं गाथा की टीका में कहे गये हैं। यहाँ पुनरुक्ति दोष के भय से उनके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा रहा है। वहाँ कहे गये भेदों को जानकर उनकी रक्षा करने के भावरूप परिणति ही अहिंसाव्रत है। उन जीवों का मरण हो या न हो; प्रयत्नरूप परिणाम के बिना सावद्य का परिहार नहीं होता। अत: प्रयत्नपरायण व्यक्ति को ही हिंसा परिणति का अभाव होने से अहिंसाव्रत होता है।''

इस गाथा में अहिंसा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि जीवों का घात हो

तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः ह्न

(शिखरिणी)

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ।।२७।।[१]

तथा हि ह्न

(मालिनी)

त्रसहतिपरिणामध्वांतविध्वंसहेतुः
सकलभुवनजीवग्रामसौख्यप्रदो यः।
स जयति जिनधर्मः स्थावरैकेन्द्रियाणां
विविधवधविदूरश्चारुशर्माब्धिपूरः ।।७६।।

या न हो, प्रयत्नरूप परिणाम के बिना सावद्य का परिहार नहीं होता। यही कारण है कि **प्रयत्नपरायण व्यक्ति को ही हिंसा परिणति का अभाव होने से अहिंसाव्रत होता है।।५६।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा आचार्य समन्तभद्रदेव ने भी कहा है' ह्न** यह कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

अहिंसा परमब्रह्म है सारा जगत यह जानता।
अर गृहस्थ आश्रम में सदा आरंभ होता नियम से।।
बस इसलिए नमिदेव ने दो विध परिग्रह त्यागकर।
छोड़ विकृत वेश सब निर्ग्रन्थपन धारण किया।।२७।।

सारा जगत यह जानता है कि अहिंसा परमब्रह्म है। जिस आश्रम (गृहस्थ) की विधि में लेश भी आरंभ है; उस गृहस्थाश्रम में अहिंसा धर्म की पूर्णतः सिद्धि नहीं हो सकती। यही कारण है कि हे नमिनाथप्रभु ! अत्यन्त करुणावंत आपने द्रव्य और भाव ह्न दोनों प्रकार के परिग्रहों को तथा विकृत वेश को त्यागकर एवं परिग्रह से विरत होकर निर्ग्रन्थपना अंगीकार किया है।

इस छन्द में अहिंसा को परमब्रह्म कहा है और यह स्पष्ट किया है कि गृहस्थ अवस्था में इसका परिपूर्ण पालन संभव नहीं है। यही कारण है कि तीर्थंकरदेव गृहस्थावस्था त्यागकर मुनिधर्म अंगीकार करते हैं।।२७।।

---

१. बृहत् स्वयंभूस्तोत्र : ११९वाँ छन्द, नमिनाथ भगवान की स्तुति

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं।
जो पजहदि साहु सया बिदियवदं होइ तस्सेव ।।५७।।

रागेण व द्वेषेण वा मोहेन वा मृषाभाषापरिणामं।
यः प्रजहाति साधुः सदा द्वितीयव्रतं भवति तस्यैव ।।५७।।

सत्यव्रतस्वरूपाख्यानमेतत्। अत्र मृषापरिणामः सत्यप्रतिपक्षः, स च रागेण वा द्वेषेणवा मोहेन वा जायते। सदा यः साधुः आसन्नभव्यजीवः तं परिणामं परित्यजति तस्य द्वितीयव्रतं भवति इति।

इसके बाद पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(हरिगीत)

त्रसघात के परिणाम तम के नाश का जो हेतु है।
और थावर प्राणियों के विविध वध से दूर है।।
आनन्द सागरपूर सुखप्रद प्राणियों को लोक के।
वह जैनदर्शन जगत में जयवंत वर्ते नित्य ही।।७६।।

जो जैनधर्म त्रसघात के परिणामरूप अंधकार के नाश का हेतु है, सम्पूर्ण लोक के जीवसमूह को सुख देनेवाला है, एकेन्द्रिय अर्थात् स्थावर जीवों की अनेकप्रकार की हिंसा से बहुत दूर है और सुन्दर सुख सागर की बाढ है; वह जैनधर्म जगत में जयवंत वर्तता है।

इस छन्द में अहिंसाव्रत का उपसंहार करते हुए कहा गया है कि त्रसघात से रहित, स्थावर जीवों के घात से विरक्त, आनन्दसागर अहिंसामयी जिनधर्म जयवंत वर्तता है और निरन्तर जयवंत वर्तता रहे।।७६।।

विगत गाथा में अहिंसाव्रत के स्वरूप का विवेचन किया गया है और अब इस गाथा में सत्यव्रत के स्वरूप का कथन करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

मोह एवं राग-द्वेषज मृषा भाषण भाव को।
हैं त्यागते जो साधु उनके सत्यभाषण व्रत कहा।।५७।।

मोह से अथवा राग-द्वेष से होनेवाले झूठ बोलने के भावों को जो साधु छोड़ते हैं; उन साधुओं को दूसरा व्रत होता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह सत्यव्रत के स्वरूप का कथन है। यहाँ ऐसा कहा गया है कि सत्य का प्रतिपक्षी परिणाम मृषापरिणाम है। वे मृषापरिणाम राग से, द्वेष से और मोह से होते हैं। जो आसन्नभव्य जीव साधु उक्त परिणामों को त्याग देता है; उस साधु को दूसरा व्रत होता है।''

(शालिनी)

वक्ति व्यक्तं सत्यमुच्चैर्जनो यः
स्वर्गस्त्रीणां भूरिभोगैकभाक् स्यात् ।
अस्मिन् पूज्यः सर्वदा सर्वसद्भिः
सत्यासत्यं चान्यदस्ति व्रतं किम् ।।७७।।

गामे वा णयरे वाऽरण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं ।
जो मुयदि गहणभावं तिदियवदं होदि तस्सेव ।।५८।।

मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण संबंधी राग-द्वेष के अभाव में मुनिराजों के असत्यभाषण के परिणाम ही नहीं होते; इसकारण उनके असत्यभाषण होता ही नहीं है। यही उनका असत्यत्याग महाव्रत है।।५७।।

इसके बाद पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो पुरुष बोलें सत्य अति स्पष्ट वे सब स्वर्ग की।
देवांगनाओं के सुखों को भोगते भरपूर हैं।।
इस लोक में भी सज्जनों से पूज्य होते वे पुरुष।
इसलिए इस सत्य से बढकर न कोई व्रत कहा।।७७।।

जो पुरुष अति स्पष्टरूप से सत्य बोलते हैं, वे स्वर्ग की देवांगनाओं के सुख के भागी होते हैं और इस लोक में भी सभी सत्पुरुषों से पूज्य होते हैं। इसीलिए तो कहते हैं कि क्या इस सत्य से बढकर भी कोई व्रत है।

सत्य महाव्रत के फल का निरूपण करते हुए उक्त छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि झूठ नहीं बोलने और सदा सत्य बोलने का भाव शुभभाव है; अतः उसके फल में परलोक में देवांगनाओं से भरे स्वर्ग की प्राप्ति होती है और इहलोक में पूज्यपना प्राप्त होता है; इसलिए इससे बढकर कोई व्रत नहीं है।।७७।।

विगत गाथा में सत्यव्रत की बात की है और अब इस गाथा में अचौर्यव्रत की बात करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

ग्राम में वन में नगर में देखकर परवस्तु जो।
उसके ग्रहण का भाव त्यागे तीसरा व्रत उसे हो।।५८।।

ग्रामे वा नगरे वाऽरण्ये वा प्रेक्षयित्वा परमर्थम्।
यो मुंचति ग्रहणभावं तृतीयव्रतं भवति तस्यैव ।।५८।।

तृतीयव्रतस्वरूपाख्यानमेतत्। वृत्यावृत्तो ग्रामः तस्मिन् वा चतुर्भिर्गोपुरैर्भासुरं नगरं तस्मिन् वा मनुष्यसंचारशून्यं वनस्पतिजातवल्लीगुल्मप्रभृतिभिः परिपूर्णमरण्यं तस्मिन् वा परेण विसृष्टं निहितं पतितं वा विस्मृतं वा परद्रव्यं दृष्ट्वा स्वीकारपरिणामं यः परित्यजति, तस्य हि तृतीयव्रतं भवति इति।

(आर्या)

आकर्षति रत्नानां संचयमुच्चैरचौर्य्यमेतदिह।
स्वर्गस्त्रीसुखमूलं क्रमेण मुक्त्यंगनायाश्च ।।७८।।

ग्राम में, नगर में अथवा वन में पराई वस्तु को देखकर जो साधु उसे ग्रहण करने के भाव को छोड़ता है, उसी को तीसरा अचौर्य महाव्रत होता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह तीसरे व्रत के स्वरूप का कथन है। जिसके चारों ओर बाढ हो, वह ग्राम है और जो चार दरवाजों से सुशोभित हो, वह नगर है। जो मनुष्यों के संचार से रहित हो, वनस्पति समूह, बेलों और वृक्षों के झुंड आदि से भरा हो; वह अरण्य है। इसप्रकार के ग्राम, नगर या अरण्य (वन) में अन्य से छोड़ी हुई, रखी हुई, गिरी हुई या भूली हुई परवस्तु को देखकर उसको ग्रहण करने के परिणामों को जो छोड़ता है; उसको तीसरा अचौर्यव्रत होता है।''

इस गाथा में अचौर्यव्रत का स्वरूप स्पष्ट करते हुए ग्राम, नगर और अरण्य (वन) को परिभाषित किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव के काल में सुरक्षा की दृष्टि से प्रत्येक ग्राम के चारों ओर परकोटा होता होगा और बड़े ग्रामों अर्थात् नगरों में परकोटे के साथ-साथ चारों ओर चार दरवाजे भी होते होंगे।।५८।।

इसके बाद पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

अचौर्यव्रत इस लोक में धन सम्पदा का हेतु है।
परलोक में देवांगनाओं के सुखों का हेतु है।।
शुद्ध एवं सहज निर्मल परिणति के संग से।
परम्परा से मुक्तिवधु का हेतु भी कहते इसे।।७८।।

यद्यपि यह उग्र अचौर्यव्रत इस लोक में रत्नों के संचय को आकर्षित करता है और परलोक में देवांगनाओं के सुख का कारण है; तथापि क्रमानुसार मुक्तिरूपी अंगना (स्त्री) के सुख का कारण भी है।

दट्ठूण इत्थिरूवं वांछाभावं णियत्तदे तासु।
मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरीयवदं ।।५९।।

दृष्ट्वा स्त्रीरूपं वांच्छाभावं निवर्तते तासु।
मैथुनसंज्ञाविवर्जितपरिणामोऽथवा तुरीयव्रतम् ।।५९।।

चतुर्थव्रतस्वरूपकथनमिदम्। कमनीयकामिनीनां तन्मनोहराङ्गनिरीक्षणद्वारेण समुपजनितकौतूहलचित्तवांछापरित्यागेन, अथवा पुंवेदोदयाभिधाननोकषायतीव्रोदयेन संजातमैथुनसंज्ञापरित्यागलक्षणशुभपरिणामेन च ब्रह्मचर्यव्रतं भवति इति।

इस कलश में यही कहा गया है कि जिसप्रकार सत्यव्रत से इस लोक में यश और परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति होती है; उसीप्रकार इस अचौर्यव्रत से इस भव में रत्नों (धन) का संचय होता है और अगले भव में स्वर्ग की प्राप्ति होती है। साथ में अचौर्यव्रत को परम्परा मुक्ति का कारण भी बताया गया है। भले ही अहिंसा व सत्यव्रत के फल को परम्परा से मुक्ति का कारण न कहा हो; पर स्थिति तो यही है कि ये सभी व्रत परम्परा मुक्ति के कारण कहे जाते हैं; क्योंकि इन व्रतों के साथ मुनिराजों के तीन कषाय के अभावरूप शुद्धपरिणति होती है। **मुक्ति का कारण तो वह शुद्ध परिणति है; पर उसके संयोग से इन व्रतों को भी परम्परा से मुक्ति का कारण कह देते हैं।।७८।।**

विगत तीन गाथाओं में क्रमश: अहिंसा, सत्य और अचौर्य ह्न इन तीन व्रतों की चर्चा की गई है। अब इस गाथा में ब्रह्मचर्य नामक चौथे व्रत की चर्चा करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

देख रमणी रूप वांछा भाव से निर्वृत्त हो।
या रहित मैथुनभाव से है वही चौथा व्रत अहो।।५९।।

महिलाओं का रूप देखकर उनके लक्ष्य से होनेवाले वांछारूप भावों से निवृत्ति अथवा मैथुनसंज्ञा से रहित परिणामों को ब्रह्मचर्य नामक चौथा व्रत कहते हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह चौथे व्रत के स्वरूप का कथन है। कमनीय कामनियों (सुन्दर महिलाओं) के मनोहर अंगों को देखकर चित्त में उत्पन्न होनेवाले वांछा रूप कौतुहल के त्याग से अथवा पुरुषवेद के उदयरूप नो कषाय के तीव्र उदय के कारण होनेवाली मैथुन संज्ञा के परित्यागरूप शुभ परिणाम से ब्रह्मचर्य नामक चौथा व्रत होता है।''

(मालिनी)

भवति तनुविभूतिः कामिनीनां विभूतिं
स्मरसि मनसि कामिंस्त्वं तदा मद्वचः किम् ।
सहजपरमतत्त्वं स्वस्वरूपं विहाय
व्रजसि विपुलमोहं हेतुना केन चित्रम् ।।७९।।

सव्वेसिं गंथाणं चागो णिरवेक्खभावणापुव्वं ।
पंचमवदमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स ।।६०।।

सर्वेषां ग्रन्थानां त्यागो निरपेक्षभावनापूर्व्वम् ।
पंचमव्रतमिति भणितं चारित्रभरं वहतः ।।६०।।

इस गाथा और उसकी टीका में मात्र इतना ही कहा गया है कि महिलाओं के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाले रमणरूप भाव और मैथुनरूप प्रवृत्ति का त्याग ही ब्रह्मचर्य नामक चौथा व्रत है।

उक्त कथन व्यवहार ब्रह्मचर्य का है। निश्चय ब्रह्मचर्य तो छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते रहनेवाले मुनिराजों की मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी आदि तीन कषाय चौकड़ी के अभाव में होनेवाली वीतराग परिणति ही है।।५९।।

इसके बाद पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

कामी पुरुष यदि तू सदा ही कामनी की देह के।
सौन्दर्य के संबंध में ही सोचता है निरन्तर।।
तेरे लिये मेरे वचन किस काम के किस हेतु से।
निज रूप को तज मोह में तू फंस रहा है निरन्तर।।७९।।

हे कामी पुरुष ! यदि तू सुन्दर महिलाओं के शरीर के सौन्दर्य को देख-देखकर मन में उसका ही स्मरण करता रहता है, विचार करता रहता है तो फिर मेरे वचनों से तुझे क्या लाभ होगा ? अहो आश्चर्य तो यह है कि सहजपरमतत्त्वरूप निजस्वरूप को छोड़कर तू अत्यधिक मोह को किसलिए प्राप्त हो रहा है ?

उक्त छन्द में निरन्तर वैराग्यभाव में सराबोर रहनेवाले मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर कह रहे हैं कि यह जगत अनंत आनंद के कंद निज परमात्मतत्त्व के सौन्दर्य से विरक्त होकर अत्यन्त मलिन नारी की देह में अनुरक्त क्यों हो रहा है ? तू इस बात पर जरा गंभीरता से विचार कर। खेद व्यक्त करते हुए आचार्यदेव कह रहे हैं कि ऐसे लोगों को वैराग्यरस के पोषक हमारे उपदेश से कोई लाभ होनेवाला नहीं है।।७९।।

इह हि पंचमव्रतस्वरूपमुक्तम् । सकलपरिग्रहपरित्यागलक्षणनिजकारणपरमात्मस्वरूपा–वस्थितानां परमसंयमिनां परमजिनयोगीश्चराणां सदैव निश्चयव्यवहारात्मकचारुचारित्रभरं वहतां, बाह्याभ्यन्तरचतुर्विंशतिपरिग्रहपरित्याग एव परंपरया पंचमगतिहेतुभूतं पंचमव्रतमिति ।

तथा चोक्तं समयसारे ह्न

मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज ।
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ ।।२८।।[1]

(हरिगीत)

निरपेक्ष भावों पूर्वक सब परिग्रहों का त्याग ही ।
चारित्रधारी मुनिवरों का पाँचवाँ व्रत कहा है ।।६०।।

पर की अपेक्षा से रहित शुद्धनिरपेक्ष भावनापूर्वक सभी प्रकार के परिग्रहों के त्याग संबंधी शुभभाव के साथ भूमिका के योग्य चारित्र का भार वहन करनेवाले मुनिवरों को पाँचवाँ परिग्रहत्याग व्रत होता है ।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ परिग्रहत्याग नामक पाँचवें व्रत का स्वरूप कहा गया है । सम्पूर्ण परिग्रह के त्यागरूप है स्वरूप जिसका, उस निजरूप कारण परमात्मा के स्वरूप में स्थित; निश्चय–व्यवहाररूप चारु चारित्र के भार को वहन करनेवाले, परमसंयमी, परमजिनयोगीश्वरों का; बाह्याभ्यन्तर २४ प्रकार के परिग्रहों का परित्याग ही, परम्परा से पंचमगति का हेतुभूत पाँचवाँ परिग्रहत्यागव्रत है ।''

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि अपरिग्रहस्वभावी निजकारणपरमात्मा में स्थित, निश्चय–व्यवहारचारित्र के धनी सन्तों का सभी प्रकार के चौबीसों परिग्रहों का त्याग ही परिग्रहत्याग महाव्रत है ।।६०।।

इसके बाद **'तथा समयसार में कहा है'** ह्न ऐसा लिखकर टीकाकार मुनिराज समयसार की एक गाथा उद्धृत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

यदि परिग्रह मेरा बने तो मैं अजीव बनूँ अरे ।
पर मैं तो ज्ञायकभाव हूँ इसलिए पर मेरे नहीं ।।२८।।

यदि परद्रव्यरूप परिग्रह मेरा हो तो मैं अजीवत्व को प्राप्त हो जाऊँ । चूँकि मैं तो ज्ञाता ही हूँ; इसलिए परद्रव्यरूप परिग्रह मेरा नहीं है ।

---

१. समयसार, गाथा २०८

तथा हि ह्न

(हरिणी)

त्यजतु भवभीरुत्वाद्भव्यः परिग्रहविग्रहं
निरुपमसुखावासप्राप्त्यै करोतु निजात्मनि।
स्थितिमविचलां शर्माकारां जगज्जनदुर्लभां
न च भवति महाच्चित्रं चित्रं सतामसताभिदम् ।।८०।।

उक्त गाथा में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि **यदि तू जड़ परिग्रह को अपना मानेगा तो तू अपनी मान्यता में जड़ हो जावेगा; क्योंकि जड़ का स्वामी तो जड़ ही होता है। इसलिए हे भव्यप्राणी परिग्रह के स्वामित्व की मान्यता को जड़मूल से उखाड़ फैंक ।।२८।।**

इसके बाद '**तथा हि**' लिखकर मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

हे भव्यजन ! भवभीरुता बस परिग्रह को छोड़ दो।
परमार्थ सुख के लिए निज में अचलता धारण करो।।
जो जगतजन को महादुर्लभ किन्तु सज्जन जनों को।
आश्चर्यकारी है नहीं आश्चर्य दुर्जन जनों को।।८०।।

हे भव्यजीव ! भवभय के कारण परिग्रह विस्तार को छोड़ो और निश्चयसुख के आवास (घर) की प्राप्ति के लिए, निज आत्मा में, जगतजनों में दुर्लभ ऐसी सुखकर अविचल स्थिरता धारण करो।

यह अविचल स्थिरता धारण करना सत्पुरुषों को कोई आश्चर्य की बात नहीं है; पर असत्पुरुषों को तो आश्चर्य की बात है ही। उक्त कलश में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव भवभ्रमण से भयभीत भव्यों को प्रेरणा दे रहे हैं कि **यदि तुम भवभ्रमण से बचना चाहते हो तो अनंत संसार के कारणरूप इन बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहों का परित्याग कर दो और अपने आत्मा में अपनापन स्थापित करो, उसे गहराई से जानो, निजरूप जानो और उसी में जम जावो, रम जावो; क्योंकि सुखी होने का एकमात्र उपाय यही है।**

यद्यपि यह कार्य असत्पुरुषों को इतना आसान नहीं है; तथापि सत्पुरुषों के लिए तो सहज ही है। इसलिए हे सत्पुरुषो ! इस दिशा में आगे बढ़ो।।८०।।

विगत पाँच गाथाओं में पाँच महाव्रतों की चर्चा की गई है; अब आगामी पाँच गाथाओं में पाँच समितियों की चर्चा करेंगे।

पासुगमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि।
गच्छइ पुरदो समणो इरियासमिदी हवे तस्स ।।६१।।

प्रासुकमार्गेण दिवा अवलोकयत् युगप्रमाणं खलु।
गच्छति पुरतः श्रमणः ईर्यासमितिर्भवेत्तस्य ।।६१।।

अत्रेर्यासमितिस्वरूपमुक्तम्। यः परमसंयमी गुरुदेवयात्रादिप्रशस्तप्रयोजनमुद्दिश्यैक-युगप्रमाणं मार्गम् अवलोकयन् स्थावरजंगमप्राणिपरिरक्षार्थं दिवैव गच्छति, तस्य खलु परम-श्रमणस्येर्यासमितिर्भवति। व्यवहारसमितिस्वरूपमुक्तम्। इदानीं निश्चयसमितिस्वरूपमुच्यते। अभेदानुपचाररत्नत्रयमार्गेण परमधर्मिणमात्मानं सम्यग् इता परिणतिः समितिः। अथवा निजपरमतत्त्व निरतसहजपरमबोधादिपरमधर्माणां संहतिः समितिः। इति निश्चयव्यवहार-समितिभेदं बुद्ध्वा तत्र परमनिश्चयसमितिमुपयातु भव्य इति।

इस ६१वीं गाथा में ईर्यासमिति नामक पहली समिति की चर्चा करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जिन श्रमण धुरा प्रमाण भूलख चले प्रासुक मार्ग से।
दिन में करें विहार नित ही समिति ईर्या यह कही।।६१।।

जो श्रमण प्रासुक (निर्जन्तु) मार्ग पर दिन में धुरा प्रमाण अर्थात् चार हाथ जमीन देखकर चलते हैं; उन मुनिराजों के उक्त सावधानी पूर्वक होनेवाले गमन (विहार) और तत्संबंधी भावों को ईर्यासमिति कहते हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ ईर्यासमिति का स्वरूप कहा गया है। जो परमसंयमी मुनिराज, देवदर्शन या गुरु से मिलने आदि के प्रशस्त प्रयोजनवश स्थावर-जंगम जीवों की रक्षा के हेतु से चार हाथ आगे मार्ग को देखते हुए दिन में विहार करते हैं; उनके ईर्यासमिति होती है। यह व्यवहार समिति का स्वरूप है, अब आगे निश्चयसमिति का स्वरूप कहते हैं। अभेद-अनुपचार रत्नत्रयमार्ग से परमधर्मी निजात्मा के प्रति सम्यक् इति-गति-परिणति ही निश्चय समिति है अथवा निजपरमतत्त्व में लीन सहज परमज्ञानादि परमधर्मों की संहति-मिलन-संगठन ही निश्चयसमिति है। इसप्रकार निश्चय और व्यवहाररूप समिति के भेदों को जानकर उनमें से हे भव्यजीव! परमनिश्चयसमिति को प्राप्त करो।''

इस गाथा और उसकी टीका में निश्चय-व्यवहार ईर्यासमिति का स्वरूप समझाया गया है। अपने आत्मा में श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की परिणति ही निश्चय ईर्यासमिति है और

(मंदाक्रांता)

इत्थं बुद्ध्वा परमसमितिं मुक्तिकान्तासखीं यो।
मुक्त्वा संगं भवभयकरं हेमरामात्मकं च।
स्थित्वाऽपूर्वे सहजविलसच्चिच्चमत्कारमात्रे
भेदाभावे समयति च सः सर्वदा मुक्त एव।।८१।।

(मालिनी)

जयति समितिरेषा शीलमूलं मुनीनां
त्रसहतिपरिदूरा स्थावराणां हतेर्वा।
भवदवपरितापक्लेशजीमूतमाला
सकलसुकृतसीत्यानीकसन्तोषदायी।।८२।।

देवदर्शन, गुरुदर्शन, तीर्थदर्शन आदि के शुभ विकल्पपूर्वक त्रस-स्थावर जीवों की रक्षा के भाव से चार हाथ आगे तक जमीन को देखकर दिन में विहार करना व्यवहार ईर्यासमिति है। अध्यात्मरस के रसिया टीकाकार मुनिराज टीका के अन्त में यह कहना नहीं भूले कि दोनों प्रकार की समितियों को भलीभांति जानकर परमनिश्चय समिति को प्राप्त करो।

तात्पर्य यह है कि **व्यवहार समिति तो पुण्यबंध का कारण है; किन्तु निश्चयसमिति बंध के अभाव का कारण है, मुक्ति का कारण है। अतः परम उपादेय तो वही है।।६१।।**

इस गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव चार छन्द लिखते हैं; जिनमें पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

मुक्तिकान्ता की सखी जो समिति उसको जानकर।
जो संत कंचन-कामिनी के संग को परित्याग कर।।
चैतन्य में ही रमण करते नित्य निर्मल भाव से।
विलग जग से निजविहारी मुक्त ही हैं संत वे।।८१।।

इसप्रकार मुक्तिकान्ता की सखी परमसमिति को जानकर जो जीव भवभय करनेवाले कंचन-कामिनी के संग को छोड़कर, सहजविलासरूप अपूर्व अभेद चैतन्यचमत्कारमात्र में स्थित रहकर उसमें सम्यक् गति करते हैं अर्थात् सम्यक्रूप से परिणमित होते हैं; वे सर्वदा मुक्त ही हैं।

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि समिति मुक्तिरूपी पत्नी की सखी (सहेली) है और कंचन-कामिनी के त्यागी **निश्चय-व्यवहार समिति के धारक मुनिराज एक अपेक्षा से मुक्त ही हैं।।८१।।**

(मालिनी)

नियतमिह जनानां जन्म जन्मार्णवेऽस्मिन्
समितिविरहितानां कामरोगातुराणाम् ।
मुनिप कुरु ततस्त्वं त्वन्मनोगेहमध्ये
ह्यपवरकममुष्याश्चारुयोषित्सुमुक्तेः ।।८३।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जयवंत है यह समिति जो त्रस और थावर घात से।
संसारदावानल भयंकर क्लेश से अतिदूर है।।
मुनिजनों के शील की है मूल धोती पाप को।
यह मेघमाला सींचती जो पुण्यरूप अनाज को।।८२।।

जो समिति मुनिराजों के शील का मूल है, जो त्रस और स्थावर जीवों के घात से पूर्णत: दूर है, जो भवदावानल के परिणामरूपी क्लेश को शान्त करनेवाली है और समस्त पुण्यरूपी अनाज के ढेर को पोषण देकर संतोष देनेवाली मेघमाला है ह्न ऐसी यह समिति जयवंत वर्तती है।

उक्त छन्द में त्रस और स्थावर जीवों के घात से अतिदूर समिति को मुनिराजों के शील का मूल कहा गया है। साथ में भवदावानल के ताप को दूर करनेवाली और पुण्य को प्राप्त करनेवाली बताया गया है।।८२।।

तीसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

समिति विरहित काम रोगी जनों का दुर्भाग्य यह।
संसार-सागर में निरंतर जन्मते-मरते रहें।।
हे मुनिजनो ! तुम हृदयघर में सावधानी पूर्वक।
जगह समुचित सदा रखना मुक्ति कन्या के लिए।।८३।।

इस विश्व में यह सुनिश्चित ही है कि इस भवसागर में समिति से रहित, इच्छारूपी रोग से पीड़ित जनों का जन्म होता है। इसलिए हे मुनिराजो ! तुम अपने मनरूपी घरों में इस मुक्तिरूपी स्त्री के लिए आवास की व्यवस्था रखना, इसका सदा ध्यान रखना।

उक्त छन्द में टीकाकार मुनिराज मुनिराजों को सावधान कर रहे हैं कि **समितियों की उपेक्षा करनेवाले संसार-सागर में गोते लगाते रहते हैं; मुक्ति की प्राप्ति तो निश्चयसमितियों के पालकों को ही होती है।।८३।।**

(आर्या)

निश्चयरूपां समितिं सूते यदि मुक्तिभाग्भवेन्मोक्षः ।
बत न च लभतेऽपायात् संसारमहार्णवे भ्रमति ।।८४।।
पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं ।
परिचत्ता सपरहिदं भासासमिदी वदंतस्स ।।६२।।

पैशून्यहास्यकर्कशपरनिन्दात्मप्रशंसितं वचनम् ।
परित्यक्त्वा स्वपरहितं भाषासमितिर्वदतः ।।६२।।

अत्र भाषासमितिस्वरूपमुक्तम् । कर्णेजपमुखविनिर्गतं नृपतिकर्णाभ्यर्णगतं चैकपुरुषस्य

चौथे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

जो पाले निश्चय समिति, निश्चित मुक्ति जाँहि ।
समिति भ्रष्ट तो नियम से भटकें भव के माँहि ।।८४।।

यदि जीव निश्चयरूप समिति को उत्पन्न करता है, प्राप्त करता है, धारण करता है तो वह मुक्ति को अवश्य प्राप्त करता है, मोक्षरूप होता है; परन्तु अरे रे समिति के नाश से/अभाव से मुक्ति को प्राप्त नहीं कर पाता, संसाररूप महासागर में भटकता रहता है, गोता लगाता रहता है ।

इस छन्द में पूर्व छन्द की बात को ही दुहराया गया है कि निश्चय-समिति के धारक अवश्य ही मुक्ति की प्राप्ति करते हैं और समितियों की उपेक्षा करनेवाले भव-भव में भटकते हैं ।।८४।।

विगत गाथा, उसकी टीका और उसमें समागत छन्दों में ईर्यासमिति का स्वरूप और महिमा बताने के बाद अब इस गाथा में भाषा समिति का स्वरूप स्पष्ट करते हैं ।।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

परिहास चुगली और निन्दा तथा कर्कश बोलना ।
यह त्यागना ही समिति दूजी स्व-पर हितकर बोलना ।।६२।।

चुगली करना, हँसी उड़ाना, कठोर भाषा का प्रयोग करना, दूसरों की निन्दा करना और अपनी प्रशंसा करना ह्न इन कार्यों के त्यागी और स्वपरहितकारी वचन बोलनेवाले के भाषा समिति होती है ।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ भाषा समिति का स्वरूप कहा गया है । चुगलखोर मनुष्य के मुँह से निकले हुए

एककुटुम्बस्य एकग्रामस्य वा महद्विपत्कारणं वचः पैशून्यम्। क्वचित् कदाचित् किंचित् परजनविकाररूपमवलोक्य त्वाकर्ण्य च हास्याभिधाननोकषायसमुपजनितम् ईषच्छुभ-मिश्रितमप्यशुभकर्मकारणं पुरुषमुखविकारगतं हास्यकर्म।

कर्णशष्कुलीविवराभ्यर्णगोचरमात्रेण परेषामप्रीतिजननं हि कर्कशवचः। परेषां भूता-भूतदूषणपुरस्सरवाक्यं परनिन्दा।

स्वस्य भूताभूतगुणस्तुतिरात्मप्रशंसा।

एतत्सर्वमप्रशस्तवचः परित्यज्य स्वस्य च परस्य च शुभशुद्धपरिणतिकारणं वचो भाषासमितिरिति।

तथा चोक्तं श्रीगुणभद्रस्वामिभिः ह्न

(मालिनी)

समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः
स्वहितनिहितचित्ताः शांतसर्वप्रचाराः।
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ।।२९।।[१]

और राजा के कान तक पहुँचे हुए; किसी एक पुरुष, एक कुटुम्ब या किसी एक गाँव को महाविपत्ति के कारणभूत वचनों को पैशून्य (चुगली) कहते हैं। कहीं, कभी, किंचित् परजनों के विकृतरूप को देखकर अथवा सुनकर हास्य नामक नोकषाय से उत्पन्न होनेवाला, किंचित् शुभ के साथ मिश्रित होने पर भी अशुभ कर्म का कारण, पुरुष के मुख से विकार के साथ संबंधवाला हास्य कर्म है।

कान के छेद के पास पहुँचने मात्र से जो दूसरों को अप्रीति उत्पन्न करते हैं, ऐसे वचन कर्कश वचन हैं।

दूसरों में विद्यमान-अविद्यमान दोषों को कहनेवाले वचन परनिन्दा है और अपने विद्यमान-अविद्यमान गुणों की स्तुति आत्मप्रशंसा है।

इन सब अप्रशस्त वचनों के त्यागपूर्वक स्व और पर को शुभ व शुद्ध परिणति के कारणभूत वचन भाषा समिति हैं।''

यद्यपि चुगली, हास्य, कर्कश, निन्दा, प्रशंसा ह्न ये शब्द सामान्यजनों के लिए अत्यन्त सुपरिचित शब्द हैं; तथापि यहाँ टीका में उन्हें भी परिभाषित किया गया है।

उक्त सभी प्रकार के स्व-पर अहितकारी अप्रशस्त वचनों के त्यागपूर्वक स्व-पर हितकारी प्रिय परिमित वचनों का उपयोग और तत्संबंधी भाव भाषासमिति हैं।।६२।।

---

१. आत्मानुशासन, छन्द २२६

तथा च ह्न

(अनुष्टुभ्)

परब्रह्मण्यनुष्ठाननिरतानां मनीषिणाम् ।
अन्तरैरप्यलं जल्पैः बहिर्ज्जल्पैश्च किं पुनः ।।८५।।

कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च ।
दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसणासमिदी ।।६३।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथा गुणभद्रस्वामी ने भी कहा है'** ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(वीर)

जान लिये हैं सभी तत्त्व अर दूर सर्व सावद्यों से।
अपने हित में चित्त लगाकर सब प्रकार से शान्त हुए।।
जिनकी वाणी स्वपर हितकरी संकल्पों से मुक्त हुए।
मुक्ति भाजन क्यों न हो जब सब प्रकार से मुक्त हुए।।२९।।

जिन्होंने वस्तुस्वरूप को जान लिया है, जो सभी प्रकार के सावद्य (पापकर्म) से दूर हैं, जिन्होंने अपने चित्त को स्वहित में स्थापित किया है, जिनके प्रचारित होने से विकल्प शान्त हो गये हैं, जिनका बोलना स्व-परहित से सफल है और सभी प्रकार के संकल्पों से विशुद्ध हैं; ऐसे विमुक्त पुरुष इस लोक में मुक्ति के भाजन क्यों नहीं होंगे ?

गुणभद्राचार्य के आत्मानुशासन के इस छन्द में भाषासमिति के संबंध में कुछ विशेष नहीं कहा गया है; अपितु सामान्यरूप से मुक्ति प्राप्त करने के अधिकारी मुनिवरों का स्वरूप ही स्पष्ट किया गया है। कहा गया है कि वस्तुस्वरूप के जानकार, पापकर्मों से अत्यन्त दूर, अपने में ही मगन, शान्तचित्त, हित-मित-प्रिय वचनों से अलंकृत, भव-भोगों से विरक्त मुनिराज अवश्य ही मुक्ति प्राप्त करने के अधिकारी हैं।।२९।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(दोहा)

आत्मनिरत मुनिवरों के अन्तर्जल्प विरक्ति।
तब फिर क्यों होगी अरे बहिर्जल्प अनुरक्ति।।८५।।

परब्रह्म के अनुष्ठान में निरत मनीषियों के जब अन्तर्जल्प से भी विरक्ति है तो फिर बहिर्जल्प की तो बात ही क्या करें; उनसे तो विरक्ति नियम से होगी ही।

उक्त छन्द में भी यही कहा गया है कि आत्मज्ञानी-ध्यानी मुनिराज अन्तर्बाह्य विकल्पों से पार पहुँच गये होते हैं।।८५।।

कृतकारितानुमोदनरहितं तथा प्रासुकं प्रशस्तं च।
दत्तं परेण भक्तं संभुक्तिः एषणासमितिः ।।६३।।

अत्रैषणासमितिस्वरूपमुक्तम्। तद्यथा ह्न मनोवाक्कायानां प्रत्येकं कृतकारितानुमोदनैः कृत्वा नव विकल्पा भवन्ति, न तैः संयुक्तमन्नं नवकोटिविशुद्धमित्युक्तम्; अतिप्रशस्तं मनोहरं, हरितकायात्मकसूक्ष्मप्राणिसंचारागोचरं प्रासुक मित्यभिहितम्; प्रतिग्रहोच्चस्थानपाद-क्षालनार्चनप्रणामयोगशुद्धिभिक्षाशुद्धिनामधेयैर्नवविधपुण्यैः प्रतिपत्तिं कृत्वा श्रद्धाशक्त्य-लुब्धताभक्तिज्ञानदयाक्षमाऽभिधानसप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन योग्याचारेणोपासकेन दत्तं भक्तं भुंजानः तिष्ठति यः परमतपोधनः तस्यैषणासमितिर्भवति। इति व्यवहारसमितिक्रमः। अथ निश्चयतो जीवस्याशनं नास्ति परमार्थतः, षट्प्रकारमशनं व्यवहारतः संसारिणामेव भवति।

ईर्यासमिति और भाषासमिति के उपरान्त अब एषणासमिति की चर्चा करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

स्वयं करना कराना अनुमोदना से रहित जो।
निर्दोष प्रासुक भुक्ति ही है एषणा समिति अहो ।।६३।।

स्वयं की कृत, कारित, अनुमोदना से रहित, पर के द्वारा दिया हुआ प्रासुक और प्रशस्त भोजन करनेरूप सम्यक् आहार ग्रहण एवं तत्संबंधी शुभभाव एषणासमिति है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ एषणासमिति का स्वरूप कहा है। वह इसप्रकार है ह्न मन, वचन और काय ह्न इन तीनों का कृत, कारित और अनुमोदना ह्न इन तीनों से गुणा करने पर नौ भेद हो जाते हैं। जिस भोजन में मुनिराजों की उक्त नौ प्रकारों की किसी भी रूप में संयुक्तता हो, वह भोजन विशुद्ध नहीं है ह्न ऐसा शास्त्रों में कहा है। हरितकाय के सूक्ष्म प्राणियों के संचार से अगोचर अति प्रशस्त अन्न प्रासुक अन्न है ह्न ऐसा शास्त्रों में कहा है।

पड़गाहन, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, अर्चन, प्रणाम, मन-वचन-काय की शुद्धि और भिक्षा शुद्धि ह्न इन नवधा भक्ति से आदर करके; श्रद्धा, शक्ति, अलुब्धता, भक्ति, ज्ञान, दया, और क्षमा ह्न दाता के इन सात गुणों सहित शुद्ध योग्य आचारवाले उपासक द्वारा दिया गया आहार जो परम तपोधन लेते हैं, उसे एषणासमिति कहते हैं। यह व्यवहार एषणासमिति है। निश्चय एषणासमिति की तो ऐसी बात है कि जीव के परमार्थतः तो भोजन होता ही नहीं है। छह प्रकार का भोजन तो व्यवहार से संसारियों के ही होता है।''

उक्त गाथा में एषणासमिति का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। जिस आहार से आहार ग्रहण करनेवाले मुनिराज का नवकोटि से किसी भी प्रकार का संबंध न हो; ऐसा अनुद्दिष्ट, प्रासुक आहार ४६ दोष और ३२ अन्तराय टालकर विधिपूर्वक ग्रहण करना, एषणासमिति है।।६३।।

तथा चोक्तं ह्न

णोकम्मकम्महारो लेप्याहारो य कवलमाहारो ।
उज्ज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो ।।३०।।[1]

अशुद्धजीवानां विभावधर्मं प्रति व्यवहारनयस्योदाहरणमिदम् । इदानीं निश्चयस्योदाहृति–रुच्यते । तद्यथा ह्न

जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा ।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ।।३१।।[2]

इसके बाद टीकाकार मुनिराज '**तथा चोक्तं ह्न** तथा कहा भी' ह्न ऐसा कहकर एक गाथा प्रस्तुत करते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

लेप कवल मन ओज अर कर्म और नो कर्म।
छह प्रकार आहार के कहे गये जिनधर्म।।३०।।

नोकर्माहार, कर्माहार, लेपाहार, कवलाहार, ओजाहार और मनाहार ह्न इसप्रकार क्रम से आहार छह प्रकार का जानना।

अशुद्ध जीवों के विभावधर्म के संबंध में यह व्यवहारनय का उदाहरण है।।३०।।

अब निश्चयनय का उदाहरण कहा जाता है ह्न

(हरिगीत)

अरे भिक्षा मुनिवरों की एषणा से रहित हो।
वे यतीगण ही कहे जाते हैं अनाहारी श्रमण।।३१।।

एषणा (आहार की इच्छा) रहित आत्मा को युक्ताहार भी तप ही है और आत्मोपलब्धि के लिए प्रयत्नशील श्रमणों की भिक्षा भी एषणा रहित होती है। इसलिए वे श्रमण अनाहारी ही हैं।

प्रवचनसार की इस गाथा में यह कहा गया है कि श्रमण दो प्रकार से युक्ताहारी सिद्ध होता है। पहली बात तो यह है कि उसका ममत्व शरीर पर न होने से वह उचित आहार ही ग्रहण करता है ह्न इसलिए युक्ताहारी है। दूसरी बात यह है कि 'आहार ग्रहण करना आत्मा का स्वभाव ही नहीं है' ह्न ऐसे परिणामरूप योग मुनिराजों के निरन्तर वर्तता है; इसलिए वह श्रमण योगी है, उसका आहार युक्ताहार है, योगी का आहार है। तात्पर्य यह है कि वह **एषणासमितिपूर्वक आहार लेने से और अनशनस्वभावी होने से मुनिराज युक्ताहारी ही हैं।।३१।।**

---

१. अनुपलब्ध है २. वही

तथा चोक्तं श्रीगुणभद्रस्वामिभिः ह्न

(मालिनी)

यमनियमनितान्तः शांतबाह्यान्तरात्मा
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकंपी ।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ।।३२।।[1]

तथा हि ह्न

(शालिनी)

भुक्त्वा भक्तं भक्तहस्ताग्रदत्तं ध्यात्वात्मानं पूर्णबोधप्रकाशम् ।
तप्त्वा चैवं सत्तपः सत्तपस्वी प्राप्नोतीद्धां मुक्तिवारांगनां सः ।।८६।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा गुणभद्रस्वामी ने भी कहा है'** ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो सभी के प्रति दया समता समाधि के भाव से।
नित्य पाले यम-नियम अर शान्त अन्तर बाह्य से।।
शास्त्र के अनुसार हित-मित असन निद्रा नाश से।
वे मुनीजन ही जला देते क्लेश के जंजाल को।।३२।।

जिन्होंने अध्यात्म का सार निश्चित किया है, समझा है; जो अत्यन्त यम-नियम सहित हैं; जिनका आत्मा भीतर-बाहर से शान्त हुआ है; जिन्हें समाधि प्रगट हुई है, परिणमित हुई है; जिनके हृदय में सभी जीवों के प्रति अनुकंपा है; जो शास्त्रानुसार हितकारी सीमित भोजन करनेवाले हैं; जिन्होंने निद्रा का नाश किया है; वे मुनिराज क्लेशजाल को समूल भस्म कर देते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस छन्द में भी समितियों के धारी तपस्वी मुनिराजों के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।।३२।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथा हि'** लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

भक्त के हस्ताग्र से परिशुद्ध भोजन प्राप्त कर।
परिपूर्ण ज्ञान प्रकाशमय निज आत्मा का ध्यान धर।।
इसतरह तप तप तपस्वी हैं निरन्तर निज में मगन।
मुक्तिरूपी अंगना को प्राप्त करते संतजन।।८६।।

---

१. आत्मानुशासन, छन्द २२७

पोत्थइकमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो।
आदावणणिक्खेवणसमिदी होदि त्ति णिद्दिट्ठा।।६४।।

पुस्तककमण्डलादिग्रहणविसर्गयोः प्रयत्नपरिणामः।
आदाननिक्षेपणसमितिर्भवतीति निर्दिष्टाः।।६४।।

अत्रादाननिक्षेपणसमितिस्वरूपमुक्तम्। अपहृतसंयमिनां संयमज्ञानाद्युपकरणग्रहणविसर्गसमयसमुद्भवसमितिप्रकारोक्तिरियम्। उपेक्षासंयमिनां न पुस्तकमण्डलुप्रभृतयः, अतस्ते परमजिनमुनयः एकान्ततो निस्पृहाः, अत एव बाह्योपकरणनिर्मुक्ताः। अभ्यन्तरोपकरणं निजपरमतत्त्वप्रकाशदक्षं निरुपाधिस्वरूपसहजज्ञानमन्तरेण न किमप्युपादेयमस्ति। अपहृतसंयमधराणां परमागमार्थस्य पुनः पुनः प्रत्यभिज्ञानकारणं पुस्तकं ज्ञानोपकरणमिति यावत्, शौचौपकरणं

भक्तों के हाथ के अग्रभाग से दिया गया भोजन लेकर, पूर्ण ज्ञान-प्रकाशवाले आत्मा का ध्यान करके; इसप्रकार सम्यक् तप को तपकर सच्चे तपस्वी संतजन दैदीप्यमान मुक्तिरूपी वारांगना (स्त्री) को प्राप्त करते हैं।

इस छन्द में यही कहा गया है कि निश्चय-व्यवहार एषणासमिति के धनी तपस्वी मुनिराज मुक्ति को प्राप्त करते हैं।।८६।।

विगत गाथा में एषणासमिति की चर्चा करने के उपरान्त अब इस गाथा में आदान-निक्षेपणसमिति की चर्चा करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

पुस्तक कमण्डल संत जन नित सावधानीपूर्वक।
आदाननिक्षेपणसमिति में ग्रहण-निक्षेपण करें।।६४।।

पुस्तक, कमण्डल आदि रखने-उठाने संबंधी प्रयत्न परिणाम आदाननिक्षेपणसमिति है ह्न ऐसा कहा गया है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ आदाननिक्षेपणसमिति का स्वरूप कहा गया है। यह अपहृत संयमियों (व्यवहार-संयम या अपवादसंयम) को संयम और ज्ञानादिक के उपकरण उठाते-रखते समय उत्पन्न होनेवाली समिति का प्रकार कहा है। उपेक्षा संयमियों (निश्चयसंयम-उत्सर्गसंयम) के पुस्तक व कमण्डलादि नहीं होते; क्योंकि वे परमजिनमुनि सम्पूर्णतः निष्पृह होते हैं; इसलिए वे बाह्य उपकरणों से रहित होते हैं। निजपरमात्मतत्त्व को प्रकाशन करने में दक्ष आभ्यन्तर उपकरणरूप निरुपाधिस्वरूप सहज ज्ञान के अतिरिक्त उन्हें अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है। अपहृत संयमधरों को परमागम के अर्थ का पुनः पुनः प्रत्यभिज्ञान होने में कारणभूत

च कायविशुद्धिहेतुः कमण्डलुः, संयमोपकरणहेतुः पिच्छः। एतेषां ग्रहणविसर्गयोः समयसमुद्भवप्रयत्नपरिणामविशुद्धिरेव हि आदाननिक्षेपणसमितिरिति निर्दिष्टेति।

(मालिनी)

समितिषु समितीयं राजते सोत्तमानां
परमजिनमुनीनां संहतौ क्षांतिमैत्री।
त्वमपि कुरु मनःपंकेरुहे भव्य नित्यं
भवसि हि परमश्रीकामिनीकांतकांतः ।।८७।।

पुस्तक ज्ञान का उपकरण है, कायविशुद्धिभूत शौच का उपकरण कमण्डलु है और संयम का उपकरण पीछी है। इन उपकरणों को उठाते-रखते समय उत्पन्न होनेवाली प्रयत्न-परिणामरूप विशुद्धि ही आदाननिक्षेपणसमिति है ह्न ऐसा शास्त्रों में कहा है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि जब मुनिराज छठवें गुणस्थान में होते हैं; तब उनके पास पीछी, कमण्डलु और शास्त्र होते हैं, हो सकते हैं; क्योंकि पीछी के बिना अहिंसक आचरण, कमण्डल के बिना शौचादि की शुद्धि और शास्त्र के बिना स्वाध्याय संभव नहीं है। इन तीनों को उपकरण कहा गया है। जब ये उपकरण उनके पास होंगे तो इनके उठाने-रखने में प्रमादवश या असावधानी के कारण किसी भी प्रकार के जीवों का घात न हो जावे ह्न इस बात की सावधानी रखना ही आदाननिक्षेपणसमिति है।।६४।।

इस ६४वीं गाथा को पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

उत्तम परमजिन मुनि के सुख-शान्ति अर मैत्री सहित।
आदाननिक्षेपण समिति सब समितियों में शोभती।।
हे भव्यजन ! तुम सदा ही इस समिति को धारण करो।
जिससे तुम्हें भी प्राप्त हो प्रियतम परम श्री कामिनी।।८७।।

उत्तम परमजिन मुनियों की यह आदाननिक्षेपण समिति सभी समितियों में शोभायमान होती है और इस समिति के साथ में उन मुनिराजों के शान्ति और मैत्री भी होते ही हैं। हे भव्यजनो ! तुम भी अपने हृदयकमल में उक्त समिति को धारण करो कि जिससे तुम भी परमश्री कामिनी के कंत हो जावोगे।

इस कलश में यही प्रेरणा दी गई है कि आप भी इस समिति को धारण करो, इससे तुम्हें भी मुक्तिवधू प्राप्त हो जावेगी।।८७।।

पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण।
उच्चारादिच्चागो पइट्ठासमिदी हवे तस्स ।।६५।।

प्रासुकभूमिप्रदेशे गूढे रहिते परोपरोधेन।
उच्चारादित्याग: प्रतिष्ठासमितिर्भवेत्तस्य ।।६५।।

मुनीनां कायमलादित्यागस्थानशुद्धिकथनमिदम्। शुद्धनिश्चयतो जीवस्य देहाभावान्न चान्नग्रहणपरिणति:। व्यवहारतो देह: विद्यते, तस्यैव हि देहे सति ह्याहारग्रहणं भवति, आहार-ग्रहणान्मलमूत्रादय: संभवन्त्येव। अत एव संयमिनां मलमूत्रविसर्गस्थानं निर्जन्तुकं परेषामु-परोधेन विरहितम्। तत्र स्थाने शरीरधर्मं कृत्वा पश्चात्तस्मात्स्थानादुत्तरेण कतिचित् पदानि गत्वा ह्युदङ्मुख: स्थित्वा चोत्सृज्य कायकर्माणि संसारकारणं परिणामं मनश्च संसृतेर्निमित्तं, स्वात्मानमव्यग्रो भूत्वा ध्यायति य: परमसंयमी मुहुर्मुह: कलेवरस्याप्यशुचित्वं वा परिभावयति,

---

विगत गाथा में आदाननिक्षेपणसमिति का स्वरूप स्पष्ट किया गया है और अब इस गाथा में प्रतिष्ठापनसमिति का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

प्रतिष्ठापन समिति में उस भूमि पर मल मूत्र का।
क्षेपण करें जो गूढ प्रासुक और हो अवरोध बिन।।६५।।

परोपरोध से रहित, गूढ, प्रासुक भूमिप्रदेश में इसप्रकार मल-मूत्र का त्याग करना कि उससे किसी जीव का घात न हो, प्रतिष्ठापनासमिति है।

दूसरे के द्वारा रोके जाने को परोपरोध कहते हैं। तात्पर्य यह है कि मुनिराज ऐसे स्थान पर मल-मूत्र का क्षेपण करें कि जहाँ कोई रोक-टोक नहीं हो, थोड़ी-बहुत आड़ हो और उक्त भूमि पर जीव-जन्तु भी न हों।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह मुनियों के काय के मलादिक के त्याग के स्थान की शुद्धि का कथन है। शुद्धनिश्चयनय से तो जीव के देह का अभाव होने से अन्नग्रहणरूप परिणति ही नहीं है; परन्तु व्यवहारनय से जीव के शरीर होता है; इसलिए देह होने से आहार ग्रहण भी होता ही है। आहार ग्रहण के कारण मल-मूत्रादिक भी होते ही हैं। इसलिए संयमियों के मल मूत्रादिक त्याग का स्थान जन्तुरहित और पर के उपरोध से रहित होता है। उक्त स्थान पर शरीरधर्म करके पश्चात् परमसंयमी उस स्थान से उत्तर दिशा की ओर कुछ डग जाकर उत्तरमुख खड़े रहकर शरीर की क्रियाओं का और संसार के कारणभूत परिणामों और मन का उत्सर्ग करके निजात्मा को अव्यग्र होकर ध्याता है अथवा पुन: पुन: शरीर की अशुचिता

तस्य खलु प्रतिष्ठापनसमितिरिति। नान्येषां स्वैरवृत्तीनां यतिनामधारिणां काचित् समितिरिति।

(मालिनी)

समितिरिह यतीनां मुक्तिसाम्राज्यमूलं
जिनमतकुशलानां स्वात्मचिंतापराणाम्।
मधुसखनिशितास्त्रव्रातसंभिन्नचेतःह्न
सहितमुनिगणानां नैव सा गोचरा स्यात्।।८८।।

को सर्व ओर से भाता है; उस परमसंयमी के प्रतिष्ठापनासमिति होती है। दूसरे स्वच्छन्द-वृत्तिवाले यतिनामधारियों के कोई समिति नहीं होती।''

इस समिति में यह बताया गया है कि छठवें-सातवें गुणस्थान में निरन्तर आने-जाने वाले मुनिराज जब सातवें गुणस्थान में होते हैं; तब तो उनके निश्चयप्रतिष्ठापनासमिति होती है, परन्तु छठवें गुणस्थान में हों, तब उन्हें मल-मूत्रादि क्षेपण का विकल्प हो सकता है।

ऐसी स्थिति में उनके भाव और आचरण ऐसा होता है कि वे परोपरोध से रहित निर्जन्तु प्रासुक भूमि पर अच्छी तरह देखकर सावधानीपूर्वक मल-मूत्र का क्षेपण करते हैं। उनकी उक्त क्रिया और तत्संबंधी शुभभाव व्यवहारप्रतिष्ठापनसमिति है।।६५।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव तीन छन्द लिखते हैं; जिनमें से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

आत्मचिंतन में परायण और जिनमत में कुशल।
उन यतिवरों को यह समिति है मूल शिव साम्राज्य की।।
कामबाणों से विंधे हैं हृदय जिनके अरे उन।
मुनिवरों के यह समिति तो हमें दिखती ही नहीं।।८८।।

जिनमत में कुशल और स्वात्मचिन्तन में परायण मुनिवरों को यह समिति मुक्तिसाम्राज्य का मूल है; किन्तु कामदेव के तीक्ष्णबाणों से विंधे हुए हृदयवाले मुनिगणों को तो यह समिति होती ही नहीं है।

इस छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि जिनसिद्धान्त में कुशल, उसके मर्म को गहराई से समझनेवाले एवं अपने आत्मा के चिंतन में प्रवीण मुनिराजों को यह समिति मुक्ति का साम्राज्य दिलानेवाली है; किन्तु इच्छाओं के गुलाम कामान्ध लोगों के तो यह होती ही नहीं है।।८८।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिणी)

समितिसमितिं बुद्ध्वा मुक्त्यंगनाभिमतामिमां
भवभवभयध्वांतप्रध्वंसपूर्णशशिप्रभाम् ।
मुनिप तव सद्दीक्षाकान्तासखीमधुना मुदा
जिनमततपःसिद्धं यायाः फलं किमपि ध्रुवम् ।।८९।।

(द्रुतविलंबित)

समितिसंहतितः फलमुत्तमं सपदि याति मुनिः परमार्थतः ।
न च मनोवचसामपि गोचरं किमपि केवलसौख्यसुधामयम् ।।९०।।

(रोला)

दीक्षाकान्तासखी परमप्रिय मुक्तिरमा को।
भवतपनाशक चन्द्रप्रभसम श्रेष्ठ समिति जो।।
उसे जानकर हे मुनि तुम जिनमत प्रतिपादित।
तप से होनेवाले फल को प्राप्त करोगे।।८९।।

जो मुक्तिरूपी अंगना को प्रिय है, भव-भव के भयरूपी अंधकार को नष्ट करने के लिए पूर्ण चन्द्रमा की प्रभा के समान है, तेरी दीक्षारूपी कान्ता की सखी है; सभी समितियों में श्रेष्ठ इस समिति को प्रमोद से जानकर हे मुनिराज ! तुम जिनमत निरूपित तप से सिद्ध होनेवाले ध्रुव फल को प्राप्त करोगे।

इस छन्द में भी यही कहा गया है कि मुक्तिरूपी स्त्री को प्रिय, भवभय के अंधकार को नष्ट करने के लिए चन्द्रमा के समान एवं दीक्षारूपी कान्ता की सखी इस समिति को जानकर तुम जिनमत में निरूपित तप के फल में प्राप्त होनेवाले फलों को प्राप्त करोगे।।८९।।

तीसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

समिति सहित मुनिवरों को उत्तम फल अविलम्ब।
केवल सौख्य सुधामयी अकथित और अचिन्त्य।।९०।।

मुनिराज समिति की संगति द्वारा वस्तुतः मन के अचिन्त्य और वाणी से अकथनीय केवलसुखरूपी अमृतमय उत्तम फल शीघ्र प्राप्त करते हैं।

इस छन्द में भी यह कहा जा रहा है कि मुनिराज इस समिति के फल में अचिन्त्य और अकथनीय उत्तमसुख को प्राप्त करते हैं।।९०।।

कालुस्समोहसण्णारागद्दोसाइअसुहभावाणं।
परिहारो मणुगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं।।६६।।

कालुष्यमोहसंज्ञारागद्वेषाद्यशुभभावानाम्।
परिहारो मनोगुप्तिः व्यवहारनयेन परिकथिता।।६६।।

व्यवहारमनोगुप्तिस्वरूपाख्यानमेतत्। क्रोधमानमायालोभाभिधानैश्चतुर्भिः कषायैः क्षुभितं चित्तं कालुष्यम्। मोहो दर्शनचारित्रभेदाद् द्विधा। संज्ञा आहारभयमैथुनपरिग्रहाणां भेदाश्चतुर्धा। रागः प्रशस्ताप्रशस्तभेदेन द्विविधः। असह्याजनेषु वापि चासह्यपदार्थसार्थेषु वा वैरस्य परिणामो द्वेषः। इत्याद्यशुभपरिणामप्रत्ययानां परिहार एव व्यवहारनयाभिप्रायेण मनोगुप्तिरिति।

(वसन्ततिलका)

गुप्तिर्भविष्यति सदा परमागमार्थ–
चिंतासनाथमनसो विजितेन्द्रियस्य।
बाह्यान्तरंगपरिषंगविवर्जितस्य
श्रीमज्जिनेन्द्रचरणस्मरणान्वियतस्य।।९१।।

व्यवहारचारित्राधिकार की विगत १० गाथाओं में पाँच महाव्रत और पाँच समितियों का विवेचन करने के उपरान्त अब तीन गुप्तियों की चर्चा करते हैं। उनमें से पहली गाथा में पहली गुप्ति मनोगुप्ति का स्वरूप बताया गया है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

मोह राग द्वेष संज्ञा कलुषता के भाव जो।
इन सभी का परिहार मनगुप्ति कहा व्यवहार से।।६६।।

कलुषता, मोह, संज्ञा, राग–द्वेष आदि अशुभभावों के परिहार को व्यवहारनय से मनोगुप्ति कहा है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह व्यवहार मनोगुप्ति के स्वरूप का कथन है। क्रोध, मान, माया और लोभ ह्न इन चार कषायों से चित्त की क्षुब्धता कलुषता है। दर्शनमोह और चारित्रमोह के भेद से मोह दो प्रकार का है। आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा के भेद से संज्ञा चार प्रकार की है। प्रशस्तराग और अप्रशस्त राग के भेद से राग दो प्रकार का है। असह्य जनों या असह्य पदार्थों के प्रति बैर का परिणाम द्वेष है। इत्यादि अशुभपरिणामप्रत्ययों का परिहार ही व्यवहारनय के अभिप्राय से मनोगुप्ति है।''

थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स ।
परिहारो वयगुत्ती अलियादिणियत्तिवयणं वा ।।६७।।

स्त्रीराजचौरभक्तकथादिवचनस्य पापहेतोः ।
परिहारो वाग्गुप्तिरलीकादिनिवृत्तिवचनं वा ।।६७।।

इह वाग्गुप्तिस्वरूपमुक्तम् । अतिप्रवृद्धकामैः कामुकजनैः स्त्रीणां संयोगविप्रलंभजनित–

इस गाथा में मनोगुप्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कषायभावरूप कलुषता; आहार, भय, मैथुन और परिग्रहरूप संज्ञा; राग–द्वेष–मोह आदि अशुभभावों के अभाव को मनोगुप्ति कहा गया है ।।६६।।

इसके बाद पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

जो जिनेन्द्र के चरणों को स्मरण करे नित ।
बाह्य और आन्तरिक ग्रंथ से सदा रहित हैं ।।
परमागम के अर्थों में मन चिन्तन रत है ।
उन जितेन्द्रियों के तो गुप्ति सदा ही होगी ।।९१।।

जिनका मन परमागम के अर्थों से चिन्तन युक्त है, जो विजितेन्द्रिय हैं, जो बाह्य व अंतरंग परिग्रहों से रहित हैं और जिनेन्द्र भगवान के चरणों के स्मरण संयुक्त है; उन मुनिराजों के गुप्ति सदा ही होगी ।

इस छन्द में यही कहा गया है कि परमागम के विषयों में चिन्तनरत, अन्तर्बाह्य परिग्रह से रहित, जिनेन्द्र भक्ति में मग्न, जितेन्द्रयी सन्तों के मनोगुप्ति सदा होगी ही ।।९१।।

विगत गाथा में मनोगुप्ति का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में वचनगुप्ति का स्वरूप समझाते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

पापकारण राज दारा चोर भोजन की कथा ।
मृषा भाषण त्याग लक्षण है वचन की गुप्ति का ।।६७।।

पाप के हेतुभूत स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा और भक्तकथा आदि रूप वचनों का परिहार अथवा आहारादिक की निवृत्तिरूप वचन वचनगुप्ति है ।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ वचनगुप्ति का स्वरूप कहा है । बड़ी हुई कामवासनावाले कामुकजनों द्वारा की जानेवाली और सुनी जानेवाली महिलाओं की संयोग–वियोजजनित विविध वचन रचना

विविधवचनरचना कर्त्तव्या श्रोतव्या च सैव स्त्रीकथा। राज्ञां युद्धहेतूपन्यासो राजकथाप्रपंचः। चौराणां चौरप्रयोगकथनं चौरकथाविधानम्। अतिप्रवृद्धभोजनप्रीत्या विचित्रमंडकावली-खण्डदधि खंडसिताशनपानप्रशंसा भक्तकथा। आसामपि कथानां परिहारो वाग्गुप्तिः। अलीकनिवृत्तिश्च वाग्गुप्तिः। अन्येषां अप्रशस्तवचसां निवृत्तिरेव वा वाग्गुप्तिः इति।

तथा चोक्तं श्रीपूज्यपादस्वामिभिः ह्न

(अनुष्टुभ्)

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः।।३३।।[१]

ही स्त्रीकथा है; राजाओं का युद्धहेतुक कथन राजकथा है; चोरों का चोर्यप्रयोग संबंधी कथन चोरकथा है और अत्यन्त बढी हुई भोजन की प्रीतिपूर्वक मैदा की पूड़ी, चीनी, दही, मिश्री आदि अनेकप्रकार के भोजन की प्रशंसा भक्तकथा अर्थात् भोजनकथा है ह्न इन समस्त कथाओं का परिहार वचनगुप्ति है। असत्य की निवृत्ति भी वचनगुप्ति है अथवा अन्य अप्रशस्तवचनों की निवृत्ति भी वचनगुप्ति है।''

यहाँ वचनगुप्ति के स्वरूप में असत्य और अप्रशस्त बोलने का निषेध तो किया ही गया है, साथ में चार प्रकार की विकथाओं के करने का भी निषेध किया गया है। उक्त चार प्रकार की विकथाओं का पढना-पढाना, सुनना-सुनाना, लिखना-लिखाना आदि तत्संबंधी सभी प्रवृत्तियों का निषेध है।।६७।।

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा श्री पूज्यपादस्वामी ने भी कहा है'** ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(सोरठा)

छोड़ो अन्तर्जल्प बहिर्जल्प को छोड़कर।
दीपक आतमराम यही योग संक्षेप में।।३३।।

इसप्रकार बहिर्वचनों को त्यागकर अन्तर्वचनों को संपूर्णतः छोड़ें। यह संक्षेप से योग है, समाधि है। यह योग परमात्मा को प्रकाशित करने वाला दीपक है।

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि अन्तर्बाह्य वचन विकल्पों के त्यागपूर्वक अपने से जुड़ना योग है, समाधि है। यह योग और समाधि परमात्मा को प्रकाशित करने के लिए दीपक के समान है। तात्पर्य यह है कि **आत्मा और परमात्मा के दर्शन इस योग से ही होते हैं, समाधि से ही होते हैं। यही योग व समाधि वचन विकल्पों से परे होने से वचनगुप्ति है।।३३।।**

---

१. पूज्यपाद : समाधितंत्र, श्लोक १७

तथा हि ह्न

(मन्दाक्रान्ता)

त्यक्त्वा वाचं भवभयकरीं भव्यजीवः समस्तां
ध्यात्वा शुद्धं सहजविलसच्चिमत्कारमेकम् ।
पश्चान्मुक्तिं सहजमहिमानंदसौख्याकरीं तां
प्राप्नोत्युच्चैः प्रहतदुरितध्वांतसंघतारूपः ।।९२।।

बंधणछेदणमारण आकुंचण तह पसारणादीया ।
कायकिरियाणियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुप्ति त्ति ।।६८।।

बंधनछेदनमारणाकुञ्चनानि तथा प्रसारणादीनि ।
कायक्रियानिवृत्तिः निर्दिष्टा कायगुप्तिरिति ।।६८।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा हि'** लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

भवभयकारी वाणी तज शुध सहज विलसते ।
एकमात्र कर ध्यान नित्य चित् चमत्कार का ।
पापतिमिर का नाश सहज महिमा निजसुख की ।
मुक्तिपुरी को प्राप्त करें भविजीव निरन्तर ।।९२।।

भवभय करनेवाली संपूर्ण वाणी को छोड़कर, शुद्ध सहज विलासमान एक चैतन्य-चमत्कार का ध्यान करके, फिर पापरूपी अंधकार समूह को नष्ट करके भव्यजीव सहज महिमावंत अतीन्द्रिय आनन्द और परमसुख की खानरूप मुक्ति को अतिशयरूप से प्राप्त करते हैं ।

इस छन्द में भी यही कहा गया है कि वचनगुप्ति के बल से संसार-भ्रमण का भय पैदा करनेवाली वाणी को छोड़कर, शुद्धात्मा का ध्यान करके यह भव्यजीव पापरूप अंधकार का नाश कर सहज महिमावंत सुख की खान मुक्ति को प्राप्त करता है ।।९२।।

विगत गाथा में वचनगुप्ति की चर्चा करके अब इस गाथा में कायगुप्ति की चर्चा करते हैं । गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

मारन प्रसारन बंध छेदन और आकुंचन सभी ।
कायिक क्रियाओं की निवृत्ति कायगुप्ति जिन कही ।।६८।।

अत्र कायगुप्तिस्वरूपमुक्तम्। कस्यापि नरस्य तस्यान्तरंगनिमित्तं कर्म, बंधनस्य बहिरंगहेतुः कस्यापि कायव्यापारः। छेदनस्याप्यन्तरंगकारणं कर्मोदयः, बहिरंगकारणं प्रमत्तस्य कायक्रिया। मारणस्याप्यन्तरंगहेतुरांतर्यक्षयः, बहिरंगकारणं कस्यापि कायविकृतिः। आकुंचनप्रसारणादिहेतुः संहरणविसर्पणादिहेतुसमुद्घातः। एतासां कायक्रियाणां निवृत्तिः कायगुप्तिरिति।

(अनुष्टुभ्)

मुक्त्वा कायविकारं यः शुद्धात्मानं मुहुर्मुहः।
संभावयति तस्यैव सफलं जन्म संसृतौ।।९३।।

बंधन, छेदन, मारन (मार डालना) आकुंचन (सिकुड़ना) तथा प्रसारण (फैलना) आदि क्रियाओं की निवृत्ति को कायगुप्ति कहते हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ कायगुप्ति का स्वरूप कहा है। किसी पुरुष को बंधन का अंतरंग निमित्त कर्म है और बहिरंग हेतु किसी का कायव्यापार है; छेदन का भी अंतरंग कारण कर्मोदय है और बहिरंग कारण प्रमत्त जीव की काय की क्रिया है। मारन का भी अंतरंग हेतु (आयु) का क्षय है और बहिरंग कारण किसी की शारीरिक विकृति है। आकुंचन, प्रसारण आदि का हेतु संकोचविस्तारादिक के हेतुभूत समुद्घात है। ह्न इन काय क्रियाओं की निवृत्ति कायगुप्ति है।''

उक्त गाथा में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि **बंधन, छेदन, मारन, संकुचन और प्रसारण आदि शारीरिक क्रियाओं से निवृत्ति ही कायगुप्ति है।।६८।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(दोहा)

जो ध्यावे शुद्धात्मा तज कर काय विकार।
जन्म सफल है उसी का शेष सभी संसार।।९३।।

जो काय विकार को छोड़कर बारम्बार शुद्धात्मा की संभावना (सम्यक् भावना) करता है; इस संसार में उसी का जन्म सफल है।

इस छन्द में भी अत्यन्त संक्षेप में यही कहा है कि जो व्यक्ति शारीरिक विकृतियों से विरक्त हो अपने आत्मा में अनुरक्त होता है, उसी के ध्यान में मग्न रहता है; इस लोक में उसी का जन्म सफल है।।९३।।

विगत तीन गाथाओं में क्रमशः व्यवहार मनोगुप्ति, व्यवहार वचन-गुप्ति और व्यवहार कायगुप्ति का स्वरूप बताया गया है और इस गाथा में निश्चय मनोगुप्ति और निश्चय वचनगुप्ति की चर्चा करते हैं।

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तं मणोगुत्ती।
अलियादि णियत्तिं वा मोणं वा होइ वइगुत्ती।।६९।।

या रागादिनिवृत्तिर्म्मनसो जानीहि तां मनोगुप्तिम्।
अलीकादिनिवृत्तिर्वा मौनं वा भवति वाग्गुप्तिः।।६९।।

निश्चयनयेन मनोवाग्गुप्तिसूचनेयम्। सकलमोहरागद्वेषाभावादखंडाद्वैतपरमचिद्रूपे सम्यगवस्थितिरेव निश्चयमनोगुप्तिः। हे शिष्य त्वं तावदचलितां मनोगुप्तिमिति जानीहि। निखिलानृतभाषापरिहतिर्वा मौनव्रतं च। मूर्तद्रव्यस्य चेतनाभावाद् अमूर्तद्रव्यस्येंद्रियज्ञाना-गोचरत्वादुभयत्र वाक्प्रवृत्तिर्न भवति। इति निश्चयवाग्गुप्तिस्वरूपमुक्तम्।

(शार्दूलविक्रीडित)

शस्ताशस्तमनोवचस्समुदयं त्यक्त्वात्मनिष्ठापरः
शुद्धाशुद्धनयातिरिक्तमनघं चिन्मात्रचिन्तामणिम्।
प्राप्यानंतचतुष्टयात्मकतया सार्धं स्थितां सर्वदा
जीवन्मुक्तिमुपैति योगितिलकः पापाटवीपावकः।।९४।।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

मनोगुप्ति हृदय से रागादि का मिटना अहा।
वचनगुप्ति मौन अथवा असत् न कहना कहा।।६९।।

मन में से जो रागादि से निवृत्ति होती है, उसे मनोगुप्ति जानो और असत्यादिक वचन से निवृत्ति अथवा मौन वचनगुप्ति है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह निश्चयनय से मनोगुप्ति और वचनगुप्ति की सूचना है। सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण, अखण्ड अद्वैत परमचिद्रूप में सम्यक् रूप से अवस्थित रहना ही निश्चय मनोगुप्ति है। हे शिष्य तू उसे अचलित मनोगुप्ति जान। समस्त असत्य भाषा का परिहार अथवा मौनव्रत ही वचनगुप्ति है। मूर्त द्रव्यों में चेतना का अभाव होने से अमूर्तद्रव्यों का इन्द्रियज्ञान के अगोचर होने से मूर्त और अमूर्त ह्न दोनों प्रकार के द्रव्यों के प्रति वचन-प्रवृत्ति नहीं होती। इसप्रकार निश्चय वचनगुप्ति का स्वरूप कहा गया।''

इस गाथा में निश्चय मनोगुप्ति और निश्चय वचनगुप्ति का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। अखण्ड अद्वैत त्रिकालीध्रुव आत्मा का ध्यान ही निश्चय मनोगुप्ति है और मौन अथवा असत्य भाषण के सम्पूर्णतः त्यागपूर्वक आत्मध्यान की अवस्था ही निश्चय वचनगुप्ति है।।६९।।

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसाइणियत्ती वा सरीरगुत्ति त्ति णिद्दिट्ठा।।७०।।

कायक्रियानिवृत्तिः कायोत्सर्गः शरीरके गुप्तिः।
हिंसादिनिवृत्तिर्वा शरीरगुप्तिरिति निर्दिष्टा।।७०।।

निश्चयशरीरगुप्तिस्वरूपाख्यानमेतत्। सर्वेषां जनानां कायेषु बह्वायः क्रिया विद्यन्ते, तासां निवृत्तिः कायोत्सर्गः, स एव गुप्तिर्भवति। पंचस्थावराणां त्रसानां च हिंसानिवृत्तिः कायगुप्तिर्वा।

इसके बाद पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

अप्रशस्त और प्रशस्त सब मनवचन के समुदाय को।
तज आत्मनिष्ठा में चतुर पापाटवी दाहक मुनी।।
चिन्मात्र चिन्तामणि शुद्धाशुद्ध विरहित प्राप्त कर।
अनंतदर्शनज्ञानसुखमय मुक्ति की प्राप्ति करें।।९४।।

पापरूपी अटवी को जलाने में अग्नि समान योगी तिलक मुनिराज प्रशस्त और अप्रशस्त मन व वाणी के समुदाय को छोड़कर आत्मनिष्ठा में परायण, शुद्धनय और अशुद्धनय से रहित निर्दोष चैतन्यचिन्तामणि को प्राप्त करके अनन्तचतुष्टयात्मक जीवनमुक्ति को प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि निश्चय मनोगुप्ति और निश्चय वचनगुप्ति के धनी मुनिराज अनन्तचतुष्टय से संयुक्त मुक्ति को प्राप्त करते हैं।।९४।।

विगत गाथा में निश्चय मनोगुप्ति और निश्चय वचनगुप्ति का स्वरूप समझाया है; अब इस गाथा में निश्चय कायगुप्ति की चर्चा करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

दैहिक क्रिया की निर्वृत्ति तनगुप्ति कायोत्सर्ग है।
या निवृत्ति हिंसादि की ही कायगुप्ति जानना।।७०।।

दैहिक क्रियाओं की निवृत्तिरूप कायोत्सर्ग ही काय संबंधी गुप्ति है अथवा हिंसादि की निवृत्ति को शरीरगुप्ति कहा है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह निश्चय कायगुप्ति के स्वरूप का कथन है। सभी लोगों को शरीर संबंधी बहुत सी क्रियायें होती हैं। उनकी निवृत्ति ही कायोत्सर्ग है और वही कायगुप्ति है अथवा पाँच स्थावर जीवों और त्रस जीवों की हिंसा से निवृत्ति ही कायगुप्ति है। जो परम संयम को धारण

परमसंयमधर: परमजिनयोगीश्वर: य: स्वकीयं वपु: स्वस्य वपुषा विवेश तस्यापरिस्पंदमूर्तिरेव निश्चयकायगुप्तिरिति।

तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने ह्न

(अनुष्टुभ्)

उत्सृज्य कायकर्माणि भावं च भवकारणम्।
स्वात्मावस्थानमव्यग्रं कायोत्सर्ग: स उच्यते।।३४।।[1]

तथा हि ह्न

(अनुष्टुभ्)

अपरिस्पन्दरूपस्य परिस्पन्दात्मिका तनु:।
व्यवहाराद्भवेन्मेऽतस्त्यजामि विकृतिं तनो:।।९५।।

करनेवाले परमजिन योगीश्वर हैं; वे अपने चैतन्यरूप शरीर में अपने चैतन्यरूप शरीर से प्रविष्ट हो गये हैं; उनकी यह अकंपदशा ही निश्चय कायगुप्ति है।''

इस गाथा में मात्र यह कहा गया है कि वस्तुत: कायोत्सर्ग ही निश्चय कायगुप्ति है। **यह कायोत्सर्ग की स्थिति त्रस-स्थावर जीवों के घात से सर्वथा रहित होती है; इसलिए हिंसादि की निवृत्ति को भी कायगुप्ति कहा जाता है। मुनिराजों की अकंपध्यानावस्था ही वस्तुत: कायगुप्ति है।।७०।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा तत्त्वानुशासन में भी कहा है' ह्न** ऐसा कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(सोरठा)

दैहिक क्रिया कलाप भव के कारण भाव सब।
तज निज आतम माँहि रहना कायोत्सर्ग है।।३४।।

दैहिक क्रियाओं और संसार के कारणभूत जीवों को छोड़कर अव्यग्र रूप से निज आत्मा में स्थित रहना ही कायोत्सर्ग कहलाता है।

इस छन्द में कायोत्सर्ग का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। कहा गया है कि भव के कारणरूप मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र रूप भावों और शारीरिक क्रियाकलापों को छोड़कर अपने आत्मा में स्थिर रहना ही कायोत्सर्ग है।।३४।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छंद स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

---

१. तत्त्वानुशासन, श्लोक संख्या अनुपलब्ध है।

घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइपरमगुणसहिया।
चोत्तिसअदिसयजुत्ता अरिहंता एरिसा होंति।।७१।।

घनघातिकर्मरहिता: केवलज्ञानादिपरमगुणसहिता:।
चतुस्त्रिंशदतिशययुक्ता अर्हन्त ईदृशा भवन्ति।।७१।।

भगवतोऽर्हत्परमेश्वरस्य स्वरूपाख्यानमेतत्। आत्मगुणघातकानि घातिकर्माणि घन-रूपाणि सान्द्रीभूतात्मकानि ज्ञानदर्शनावरणान्तरायमोहनीयानि तैर्विरहितास्तथोक्ता:; प्रागुप्त-घातिचतुष्कप्रध्वंसनासादितत्रैलोक्यप्रक्षोभहेतुभूतसकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शन-

---

(दोहा)

परिस्पन्दमय देह यह मैं हूँ अपरिस्पन्द।
यह मेरी ह्न व्यवहार यह तजू इसे अविलम्ब।।९५।।

मैं अपरिस्पन्दरूप हूँ और यह देह परिस्पन्दात्मक है। यह देह व्यवहार से मेरी कही जाती है; इसलिए मैं इस देह की विकृति को छोड़ता हूँ।

परिस्पन्द का अर्थ होता है कंपन। मेरा स्वभाव अकंप है, मैं अकंपन हूँ और यह शरीर कंपनशील स्वभाव का है। यद्यपि इस शरीर से मेरा कुछ भी संबंध नहीं है; तथापि व्यवहार से यह मेरा कहा जाता रहा है। अत: मैं अब इस व्यवहार से भी मुक्त होता हूँ ह्न इसप्रकार के चिन्तनपूर्वक काय का ममत्व छोड़कर आत्मसन्मुख होना कायोत्सर्ग है।

यही भाव है इस कलश का।।९५।।

व्यवहारचारित्राधिकार में अब तक पंच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियों की चर्चा हुई; अब अरहंतादि पंचपरमेष्ठियों की चर्चा आरंभ करते हैं। सबसे पहले अरहंत परमेष्ठी के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

अरिहंत केवलज्ञान आदि गुणों से संयुक्त हैं।
घनघाति कर्मों से रहित चौतीस अतिशय युक्त हैं।।७१।।

घनघाति कर्मों से रहित, केवलज्ञानादि परमगुणों से सहित और चौंतीस अतिशयों से संयुक्त ह्न ऐसे अरहंत होते हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह अरिहंत भगवान के स्वरूप का कथन है। आत्मगुणों के घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामक घातिकर्मों से रहित; पूर्व में अर्जित चार घाति कर्मों के नाश से प्राप्त, तीन लोक के प्रक्षोभ के हेतुभूत सकल विमल केवलज्ञान,

केवलशक्तिकेवलसुखसहिताश्च; निःस्वेदनिर्मलादिचतुस्त्रिंशदतिशयगुणनिलयाः; ईदृशा भवन्ति भगवन्तोऽर्हन्त इति।

(मालिनी)

जयति विदितगात्रः स्मेरनीरेजनेत्रः
सुकृतनिलयगोत्रः पण्डिताम्भोजमित्रः।
मुनिजनवनचैत्रः कर्मवाहिन्यमित्रः
सकलहितचरित्रः श्रीसुसीमासुपुत्रः ।।९६।।

केवलदर्शन, केवलशक्ति और केवलसुख से सहित; स्वेद रहित, मल रहित इत्यादि चौंतीस अतिशयों के निवास स्थान ह्न ऐसे भगवंत अरहंत होते हैं।''

इस गाथा में तीर्थंकर अरहंत का स्वरूप स्पष्ट करते हुए तीन बातें कही गई हैं। **पहली** बात तो यह है कि वे घातिकर्मों से रहित हैं, **दूसरे** उनके अनंतचतुष्टय प्रगट हो गये हैं और **तीसरी** बात यह है कि उनके चौंतीस अतिशय होते हैं। घातिकर्म के अभाव में ही अनंतचतुष्टय प्रगट होते हैं। अतः नास्ति से घाति कर्मों का अभाव कहा और अस्ति से अनंतचतुष्टय से सहित की बात कही। अतः एक प्रकार से दोनों एक ही बात है। चौंतीस अतिशय तो पुण्य के फल हैं। उनसे आत्मा का कोई सीधा संबंध नहीं है। **इसप्रकार कुल मिलाकर यही सुनिश्चित है कि अरहंत भगवान अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य ह्न इन चार अनंत चतुष्टयों से संपन्न होते हैं।।७१।।**

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव पाँच छन्द लिखते हैं, जिनमें भगवान पद्मप्रभु की स्तुति की गई है। उनमें से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

विकसित कमलवत नेत्र पुण्य निवास जिनका गोत्र है।
हैं पण्डिताम्बुज सूर्य मुनिजन विपिन चैत्र वसंत हैं।।
जो कर्मसेना शत्रु जिनका सर्वहितकर चरित है।
वे सुत सुसीमा पद्मप्रभजिन विदित तन सर्वत्र हैं।।९६।।

सर्वजनविदित जिनका शरीर है, प्रफुल्लित कमलों के समान जिनके नेत्र हैं, पुण्य का आवास ही जिनका गोत्र है, पण्डितरूपी कमलों को विकसित करने के लिए जो सूर्य हैं, मुनिजनरूपी वन को जो चैत्र माह अर्थात् वसंत ऋतु के समान हैं, कर्म की सेना के जो शत्रु हैं और जिनका चारित्र सबके हितरूप हैं; वे श्रीमती सुसीमा माता के सुपुत्र श्री पद्मप्रभ तीर्थंकर भगवान जयवंत हैं।

(मालिनी)

स्मरकरिमृगराजः पुण्यकंजाह्निराजः
सकलगुणसमाजः सर्वकल्पावनीजः ।
स जयति जिनराजः प्रास्तदुःकर्मबीजः
पद–नुत–सुरराज–स्त्यक्त–संसारभूजः ।।९७।।

जितरतिपतिचापः सर्वविद्याप्रदीपः
परिणतसुखरूपः पापकीनाशरूपः ।
हतभवपरितापः श्रीपदानम्रभूपः
स जयति जितकोपः प्रह्वविद्वत्कलापः ।।९८।।

नाम की समानता एक आध्यात्मिक संत के लिए क्या महत्त्व रखती है; फिर भी जबतक कोई अन्य समर्थ कारण समझ में नहीं आता, तबतक इसे स्वीकार करने में भी कोई हानि नहीं है। पद्मप्रभ के स्थान पर अरहंत परमेष्ठी की भी स्तुति की जा सकती थी।।९६।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो गुणों के समुदाय एवं पुण्य कमलों के रवि।
कामना के कल्पतरु अर कामगज को केशरी।।
देवेन्द्र जिनको नमें वे जयवन्त श्री जिनराजजी।
हे कर्मतरु के बीजनाशक तजा भव तरु आपने।।९७।।

जो कामदेवरूपी हाथी को मारने के लिए सिंह हैं, जो पुण्यरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य हैं, जो सभी गुणों के समाज (समुदाय) हैं, जो सभी इच्छित पदार्थों को देनेवाले कल्पवृक्ष हैं, जिन्होंने दुष्ट कर्मों के बीज को नष्ट कर दिया है; जिनके चरणों में सुरेन्द्र नमस्कार करते हैं और जिन्होंने संसाररूपी वृक्ष का त्याग किया है; वे जिनराज जयवंत हैं।।९७।।

तीसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

दुष्कर्म के यमराज जीता काम शर को आपने।
राजेन्द्र चरणों में नमें रिपु क्रोध जीता आपने।।
सर्वविद्याप्रकाशक भवताप नाशक आप हो।
अरहंत जिन जयवंत जिनको सदा विद्वद्जन नमें।।९८।।

(मालिनी)

जयति विदितमोक्षः पद्मपत्रायताक्षः
प्रजितदुरितकक्षः प्रास्तकंदर्पपक्षः ।
पदयुगनतयक्षः तत्त्वविज्ञानदक्षः
कृतबुधजनशिक्षः प्रोक्तनिर्व्वाणदीक्षः ।।९९।।
मदननगसुरेशः कान्तकायप्रदेशः
पदविनतयमीशः प्रास्तकीनाशपाशः ।
दुरघवनहुताशः कीर्तिसंपूरिताशः
जयति जगदधीशः चारुपद्मप्रभेशः ।।१००।।

कामदेव के बाण को जिन्होंने जीत लिया है, सभी विद्याओं के जो दीपक (प्रकाशक) हैं, जो सुखरूप से परिणमित हुए हैं, जो पापों के नाश के लिए यमराज हैं, जिन्होंने संसार ताप का नाश किया है, महाराजा जिनके चरणों में नमते हैं, जिन्होंने क्रोध को जीत लिया है और विद्वानों का समुदाय जिनके आगे झुक जाता है, नत हो जाता है; वे अरहंत भगवान जयवंत हैं ।।९८।।

चौथे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

पद्मपत्रों सम नयन दुष्कर्म से जो पार हैं।
दक्ष हैं विज्ञान में अर यक्षगण जिनको नमें।।
बुधजनों के गुरु एवं मुक्ति जिनकी विदित है।
कामनाशक जगप्रकाशक जगत में जयवंत हैं।।९९।।

जिनका मोक्ष सर्वविदित है, जिनके नेत्र कमल पत्र के समान बड़े-बड़े हैं, पाप की भूमिका को जिन्होंने पार कर लिया है, कामदेव के पक्ष का जिन्होंने नाश किया है, यक्ष जिनके चरण युगल में नमस्कार करते हैं, तत्त्वविज्ञान में जो दक्ष हैं, बुधजनों को जिन्होंने शिक्षा दी है और निर्वाण दीक्षा का जिन्होंने उच्चारण किया है; वे अरहंत जिन जयवंत हैं ।।९९।।

पाँचवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

मदनगज को वज्रधर पर मदन सम सौन्दर्य है।
मुनिगण नमें नित चरण में यमराज नाशक शौर्य है।।
पापवन को अनल जिनकी कीर्ति दशदिश व्याप्त है।
जगतपति जिन पद्मप्रभ नित जगत में जयवंत हैं।।१००।।

णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति।।७२।।

नष्टानष्टकर्मबन्धा अष्टमहागुणसमन्विताः परमाः।
लोकाग्रस्थिता नित्याः सिद्धास्ते ईदृशा भवन्ति।।७२।।

कामदेवरूपी पर्वत को तोड़ देने के लिए जो वज्रधर इन्द्र के समान हैं, जिनका काय प्रदेश (शरीर) मनोहर है, मुनिवर जिनके चरणों में नमते हैं, यमराज के पाश का जिन्होंने नाश किया है, दुष्ट पापरूपी वन को जलाने के लिए जो अग्नि है, सभी दिशाओं में जिनकी कीर्ति व्याप्त हो गई है और जगत के जो अधीश हैं; वे सुन्दर पद्मप्रभेश जिनदेव जयवंत हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि उक्त पाँचों छन्दों में मुख्यरूप से अरहंत परमेष्ठी के ही गीत गाये हैं; अरहंत परमेष्ठी के बहाने आत्मा के ही गीत गाये हैं। टीकाकार मुनिराज एक आध्यात्मिक संत होने के साथ-साथ एक सहृदय कवि भी हैं। यही कारण है कि वे प्रत्येक गाथा की टीका गद्य में लिखने के उपरान्त न केवल अन्य आचार्यों से संबंधित उद्धरण ही प्रस्तुत करते हैं; अपितु कम से कम एक या एक से अधिक छन्द स्वयं भी लिखते हैं।

उनके उक्त छन्दों में संबंधित विषयवस्तु का स्पष्टीकरण कम और भक्ति रस अधिक मुखरित होता है; साथ में काव्यगत सौन्दर्य भी दृष्टिगोचर होता है। उपमा और रूपक अलंकारों की तो झड़ी लग रही है।

बीच में तीन छन्दों में तो पद्मप्रभ भगवान का कहीं नाम भी नहीं है; पर अन्त के छन्द में **पद्मप्रभेशः** पद प्राप्त होता है। इसीप्रकार आदि के पद में **सुसीमा सुपुत्र** पद प्राप्त होता है। इसप्रकार उक्त पाँच छन्दों में आदि के छन्द में **सुसीमा सुपुत्रः** और अन्त के छन्द में **पद्मप्रभेशः** ह्न इन दो पदों से ही यह पता चलता है कि यह पद्मप्रभ जिनेन्द्र की स्तुति है।

उक्त छन्दों में समागत उल्लेखों के आधार पर ही यह समझ लिया गया है कि पाँचों छन्दों में पद्मप्रभ जिनेन्द्र की ही स्तुति की गई है। जो भी हो, पर भक्ति के इन छन्दों में भक्ति के साथ-साथ अध्यात्म का पुट भी रहता ही है।।१००।।

विगत गाथा में अरहंत परमेष्ठी का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप पर विचार करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

नष्ट कीने अष्ट विध विधि स्वयं में एकाग्र हो।
अष्ट गुण से सहित सिध थित हुए हैं लोकाग्र में।।७२।।

अष्टकर्मों के बंध को नष्ट करनेवाले, आठ महागुणों से सम्पन्न, परम, लोकाग्र में स्थित और नित्य ह्न ऐसे सिद्धपरमेष्ठी होते हैं।

भगवतां सिद्धिपरंपराहेतुभूतानां सिद्धपरमेष्ठीनां स्वरूपमत्रोक्तम्। निरवशेषेणान्तर्मुखाकार-ध्यानध्येयविकल्पविरहितनिश्चयपरमशुक्लध्यानबलेन नष्टाष्टकर्मबंधा:; क्षायिकसम्यक्त्वा-द्यष्टगुणपुष्टितुष्टाश्च; त्रितत्त्वस्वरूपेषु विशिष्टगुणाधारत्वात् परमा:; त्रिभुवनशिखरात्परतो गतिहेतोरभावात् लोकाग्रस्थिता:; व्यवहारतोऽभूतपूर्वपर्यायप्रच्यवनाभावान्नित्या:; ईदृशास्ते भगवन्त: सिद्धपरमेष्ठिन इति।

(मालिनी)

व्यवहरणनयेन ज्ञानपुंज: स सिद्ध:
त्रिभुवनशिखराग्रग्रावचूडामणि: स्यात्।
सहजपरमचिच्चिन्तामणौ नित्यशुद्धे
निवसति निजरूपे निश्चयेनैव देव:।।१०१।।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ सिद्धि के परम्परा हेतुभूत भगवान सिद्धपरमेष्ठी का स्वरूप कहा गया है। सम्पूर्णत: अन्तर्मुखाकार, ध्यान-ध्येय के विकल्पों से रहित, निश्चय परम शुक्लध्यान के बल से अष्टकर्मों के बंधन को नष्ट करनेवाले; क्षायिक सम्यक्त्वादि अष्टगुणों की पुष्टि से तुष्ट; विशिष्ट गुणों के धारक होने से तत्त्व के तीन स्वरूपों में परम; तीन लोक के शिखर के आगे गतिहेतु का अभाव होने से लोकाग्र में स्थित; व्यवहार से अभूतपूर्व पर्याय से च्युत न होने के कारण नित्य ह्न ऐसे वे भगवन्त सिद्ध परमेष्ठी होते हैं।''

गाथा में सिद्ध भगवान की विशेषताओं को बताने के लिए जिन-जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है; टीका में उक्त सभी विशेषणों की हेतु सहित सार्थकता सिद्ध की गई है।

कहा गया है कि आठ कर्मों के बंधन से मुक्त सिद्ध भगवान क्षायिक सम्यक्त्वादि अष्टगुणों से सम्पन्न हैं; लोकाग्र में स्थित हैं, परम हैं, नित्य हैं, लौटकर कभी संसार में नहीं आवेंगे। उन्होंने यह अवस्था ध्यान-ध्येय के विकल्पों से पार अन्तर्मुख शुक्लध्यान के बल से प्राप्त की है। वे सिद्ध भगवान हमारे आदर्श हैं; क्योंकि हमें उन्हीं जैसा बनना है।।७२।।

टीका के उपरान्त टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव तीन छन्द स्वयं लिखते हैं; जिनमें से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

निश्चय से निज में रहें नित्य सिद्ध भगवान।
तीन लोक चूड़ामणी यह व्यवहार बखान।।१०१।।

व्यवहारनय से ज्ञानपुंज वे सिद्ध भगवान तीन लोकरूपी पर्वत की चोटी के ठोस चूड़ामणि हैं और निश्चयनय से सहज परमचैतन्य चिंतामणिस्वरूप नित्य शुद्ध निजरूप में वास करते हैं।

(स्रग्धरा)

नीत्वास्तान् सर्वदोषान् त्रिभुवनशिखरे ये स्थिता देहमुक्ता:
तान् सर्वान् सिद्धिसिद्ध्यै निरुपमविशदज्ञानदृक्शक्तियुक्तान् ।
सिद्धान् नष्टानष्टकर्मप्रकृतिसमुदयान् नित्यशुद्धाननन्तान्
अव्याबाधान्नमामि त्रिभुवनतिलकान् सिद्धिसीमन्तिनीशान् ।।१०२।।

(अनुष्टुभ्)

स्वस्वरूपस्थितान् शुद्धान् प्राप्ताष्टगुणसंपद: ।
नष्टानष्टकर्मसंदोहान् सिद्धान् वंदे पुन: पुन: ।।१०३।।

तात्पर्य यह है कि वे सिद्ध भगवान निश्चय से तो निज में ही रहते हैं; पर व्यवहारनय से ऐसा कहा जाता है कि वे लोकाग्र में स्थित सिद्धशिला पर विराजमान हैं।।१०१।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(वीर)

देहमुक्त लोकाग्र शिखर पर रहे नित्य अन्तर्यामी।
अष्ट कर्म तो नष्ट किये पर मुक्ति सुन्दरी के स्वामी।।
सर्व दोष से मुक्त हुए पर सर्वसिद्धि के हैं दातार।
सर्वसिद्धि की प्राप्ति हेतु मैं करूँ वन्दना बारंबार।।१०२।।

जो सर्व दोषों को नष्ट करके देह से मुक्त होकर तीन लोक के शिखर पर विराजमान हैं, जो अनुपम निर्मल ज्ञान-दर्शनशक्ति से युक्त हैं; जिन्होंने आठ कर्म की प्रकृतियों के समुदाय को नष्ट किया है; जो नित्य शुद्ध हैं, अनंत हैं, अव्याबाध हैं, तीन लोक के तिलक हैं और मुक्ति सुन्दरी के स्वामी हैं; उन सभी सिद्धों को सिद्धि की कामना से नमस्कार करता हूँ।

उक्त छन्द में सिद्ध भगवान की स्तुति करते हुए उनके स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। उनका वास्तविक स्वरूप यह है कि वे सर्व दोषों से मुक्त हैं, देह से भी मुक्त हो गये हैं और लोकाग्र में स्थित हैं। उनके ज्ञान-दर्शनादि सभी गुणों का परिणमन पूर्ण निर्मल हो गया है और वे आठों कर्मों की १४८ प्रकृतियों से पूर्णत: मुक्त हैं। ऐसे सिद्ध भगवान संख्या में अनंत हैं, प्रत्येक में अनंत-अनंत गुण हैं, उन्हें अव्याबाध सुख की प्राप्ति हो गई है; अब उसमें अनंत काल में कभी कोई बाधा आनेवाली नहीं है। **मैं भी उन जैसा ही बनना चाहता हूँ। इसके अतिरिक्त मेरी अन्य कोई चाह नहीं है। अत: मैं उन्हें पूर्णत: निस्वार्थ भाव से नमस्कार करता हूँ।।१०२।।**

तीसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा।
धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति।।७३।।

पंचाचारसमग्राः पंचेन्द्रियदंतिदर्प्पनिर्दलनाः।
धीरा गुणगंभीरा आचार्य्या ईदृशा भवन्ति।।७३।।

अत्राचार्यस्वरूपमुक्तम्। ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याभिधानैः पंचभिः आचारैः समग्राः; स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुः श्रोत्राभिधानपंचेन्द्रियमदान्धसिंधुरदर्पनिर्दलनदक्षाः; निखिलघोरोपसर्गविजयोपार्जितधीर गुणगंभीराः; एवं लक्षणलक्षितास्ते भगवन्तो ह्याचार्या इति।

(दोहा)

जो स्वरूप में थिर रहे शुद्ध अष्ट गुणवान।
नष्ट किये विधि अष्ट जिन नमों सिद्ध भगवान।।१०३।।

जो निज स्वरूप में स्थित हैं, शुद्ध हैं; जिन्होंने अष्टगुणरूपी सम्पत्ति प्राप्त की है। अष्ट कर्मों का नाश किया है; उन सिद्ध भगवन्तों को मैं बार-बार वंदन करता हूँ।।१०३।।

विगत गाथा में सिद्धपरमेष्ठी का स्वरूप स्पष्ट किया गया है और अब इस गाथा में आचार्य परमेष्ठी के स्वरूप पर विचार करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

पंचेन्द्रिय गजमदगलन हरि मुनि धीर गुण गंभीर अर।
परिपूर्ण पंचाचार से आचार्य होते हैं सदा।।७३।।

पंचाचारों से परिपूर्ण, पंचेन्द्रियरूपी हाथी के मद का दलन करने वाले, धीर और गुणों से गंभीर मुनिराज आचार्य परमेष्ठी होते हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप कहा है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य नामक पाँच आचारों से परिपूर्ण; स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण नामक पाँच इन्द्रियरूपी मदोन्मत्त हाथियों के अभिमान को दलन कर देने में दक्ष; सभी प्रकार के घोर उपसर्ग पर विजय प्राप्त करनेवाले धीर एवं गुणों में गंभीर ह्न इसप्रकार के लक्षणों से लक्षित मुनिराज आचार्य भगवन्त होते हैं।''

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा और उसकी टीका में पंचाचार के धनी, पंचेन्द्रियजयी, उपसर्गविजेता और धीर-गंभीर आचार्यदेव के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।।७३।।

इसके बाद **'तथा श्री वादिराजदेव के द्वारा भी कहा गया है'** ह्न ऐसा लिखकर टीकाकार मुनिराज एक छन्द उद्धृत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

तथा चोक्तं श्रीवादिराजदेवैः ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

पंचाचारपरान्नकिंचनपतीन्नष्टकषायाश्रमान्
चंचज्ज्ञानबलप्रपंचितमहापंचास्तिकायस्थितीन्।
स्फाराचंचलयोगचंचुरधियः सूरीनुदंचद्गुणान्
अंचामो भवदुःखसंचयभिदे भक्तिक्रियाचंचवः ।।३५।।[१]

तथा हि ह्न

(हरिणी)

सकलकरणग्रामालंबाद्विमुक्तमनाकुलं
स्वहितनिरतं शुद्धं निर्वाणकारणकारणम् ।
शमदमयमावासं मैत्रीदयादममंदिरं
निरुपमिदं वंद्यं श्रीचन्द्रकीर्तिमुनेर्मनः ।।१०४।।

(हरिगीत)

अकिंचनता के धनी परवीण पंचाचार में।
अर जितकषायी निपुणबुद्धि हैं समाधि योग में।।
ज्ञानबल से बताते जो पंच अस्तिकाय हम।
उन्हें पूजें भवदुखों से मुक्त होने के लिए।।३५।।

पंचाचारपरायण, अकिंचनता के स्वामी, कषायभावों को नष्ट करनेवाले और विकसित स्थिर समाधि में निपुणबुद्धिवाले आचार्यदेव परिणमित ज्ञान के बल से पंचास्तिकाय के स्वरूप को समझाते हैं। उन उछलते हुए अनंत गुणों के धनी आचार्य भगवन्तों को सांसारिक दुःखों की राशि को भेदने के लिए, भक्तिक्रिया में कुशल हम लोग पूजते हैं।।३५।।

इसके बाद **'तथाहि'** लिखकर एक छन्द वे स्वयं भी लिखते हैं, जिसमें महामुनि चन्द्रकीर्तिजी की वंदना की गई है। छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

सब इन्द्रियों के सहारे से रहित आकुलता रहित।
स्वहित में नित हैं निरत मैत्री दया दम के धनी।।
मुक्ति के जो हेतु शम, दम, नियम के आवास जो।
उन चन्द्रकीर्ति महामुनि का हृदय वंदन योग्य है।।१०४।।

---

१. आचार्य वादिराज, ग्रंथ नाम एवं श्लोक संख्या अनुपलब्ध है।

रयणत्तयसंजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा।
णिक्कंखभावसहिया उवज्झाया एरिसा होंति ।।७४।।

रत्नत्रयसंयुक्ताः जिनकथितपदार्थदेशकाः शूराः।
निःकांक्षभावसहिताः उपाध्याया ईदृशा भवन्ति ।।७४।।

अध्यापकाभिधानपरमगुरुस्वरूपाख्यानमेतद्। अविचलिताखंडाद्वैतपरमचिद्रूपश्रद्धान–

सभी इन्द्रियों के आलंबन से रहित; अनाकुल; स्वहित में निरत; शुद्ध; मुक्ति के कारण; शम, दम और यम के आवास; मित्रता, दया और दम के मंदिर; श्री चन्द्रकीर्ति मुनि का अनुपम मन वंदनीय है।

इस छन्द में टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव श्रीचन्द्रकीर्ति मुनिराज को वंदनीय बता रहे हैं, उनकी वंदना कर रहे हैं।

ये चन्द्रकीर्ति मुनिराज कौन हैं ? **यद्यपि इस संदर्भ में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है; तथापि यह अनुमान तो किया ही जा सकता है कि वे पद्मप्रभमलधारिदेव के गुरु रहे होंगे या फिर उस समय के विशेष प्रभावशाली सन्त होंगे।**

जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश में एक चन्द्रकीर्ति मुनिराज का उल्लेख है; जिन्हें मलधारिदेव के शिष्य और दिवाकरनंदि का गुरु बताया गया है। हो सकता है कि उक्त मलधारिदेव टीकाकार मलधारिदेव से भिन्न हों।[१]

जो भी हो, पर यहाँ उन्हें जितेन्द्रिय, शमी, दमी, यमी और सभी प्राणियों से मैत्रीभाव रखनेवाले दयालु संत बताया गया है।।१०४।।

विगत गाथा में आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप बताया गया है और अब इस गाथा में उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप बताया जा रहा है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

रतन त्रय संयुक्त अर आकांक्षाओं से रहित।
तत्त्वार्थ के उपदेश में जो शूर वे पाठक मुनी।।७४।।

रत्नत्रय से संयुक्त, जिनेन्द्रकथित पदार्थों को समझाने में शूरवीर और निकांक्षभावनावाले मुनिराज उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह अध्यापक अर्थात् उपाध्याय नामक परमगुरु के स्वरूप का कथन है। अविचलित;

---

१. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग–२, पृष्ठ २७५

परिज्ञानानुष्ठानशुद्धनिश्चयस्वभावरत्नत्रयसंयुक्ताः; जिनेंद्रवदनारविंदविनिर्गतजीवादिसमस्त-पदार्थसार्थोपदेशशूराः; निखिलपरिग्रहपरित्यागलक्षणनिरंजननिजपरमात्मतत्त्वभावनोत्पन्न-परमवीतरागसुखामृतपानोन्मुखास्तत एव निष्कांक्षाभावनासनाथाः; एवंभूतलक्षणलक्षितास्ते जैनानामुपाध्याया इति।

(अनुष्टुभ्)

रत्नत्रयमयान् शुद्धान् भव्यांभोजदिवाकरान्।
उपदेष्टृनुपाध्यायान् नित्यं वंदे पुनः पुनः।।१०५।।

वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू दे एरिसा होंति।।७५।।

व्यापारविप्रमुक्ताः चतुर्विधराधनासदारक्ताः।
निर्ग्रन्था निर्मोहाः साधवः एतादृशा भवन्ति।।७५।।

अखण्ड; अद्वैत; परमचिद्रूप आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप शुद्धनिश्चय स्वभावरत्नत्रयवाले; जिनेन्द्र भगवान के मुखारविन्द से निकले हुए जीवादि सभी पदार्थों का उपदेश देने में शूरवीर; समस्त परिग्रह के परित्यागस्वभावी; निरंजन निज परमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न होनेवाले; परमवीतरागसुखामृत के पान के सन्मुख होने से निष्कांक्ष भावनावाले मुनिराज जैनियों में उपाध्याय होते हैं।''

उक्त गाथा में उपाध्याय परमेष्ठी के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि **दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से परिणमित, सभी प्रकार की आकांक्षाओं से रहित और वस्तुस्वरूप को समझाने में शूरवीर मुनिराज उपाध्याय कहे जाते हैं। ये उपाध्याय परमेष्ठी मुनिसंघ में अध्यापन का कार्य करते हैं।।७४।।**

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

वंदे बारम्बार हम भव्यकमल के सूर्य।
उपदेशक तत्त्वार्थ के उपाध्याय वैडूर्य।।१०५।।

रत्नत्रयमय, शुद्ध, भव्यजीवरूपी कमलों को प्रफुल्लित करनेवाले सूर्य और उपदेश देनेवाले उपाध्याय परमेष्ठियों की मैं नित्य बारम्बार वंदना करता हूँ।

इस छन्द में संतों को स्वाध्याय करानेवाले उपाध्याय परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है।।१०५।।

निरन्तराखंडितपरमतपश्चरणनिरतसर्वसाधुस्वरूपाख्यानमेतत्। ये महान्तः परमसंयमिनः त्रिकालनिरावरणनिरंजनपरमपंचमभावभावनापरिणताः अत एव समस्तबाह्यव्यापार-विप्रमुक्ताः; ज्ञानदर्शनचारित्रपरमतपश्चरणाभिधानचतुर्विधाराधनासदानुरक्ताः; बाह्याभ्यन्तर-समस्तपरिग्रहाग्रहविनिर्मुक्तत्वान्निर्ग्रन्थाः; सदा निरंजननिजकारणसमयसारस्वरूपसम्यक्-श्रद्धानपरिज्ञानाचरणप्रतिपक्षमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राभावान्निर्मोहाः च; इत्थंभूतपरमनिर्वाण-सीमंतिनीचारुसीमन्तसीमाशोभामसृणघुसृणरजः पुंजपिंजरितवर्णालंकारावलोकनकौतूहल-बुद्धयोऽपि ते सर्वेपि साधवः इति।

विगत गाथा में उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप स्पष्ट किया गया है और अब इस गाथा में साधु परमेष्ठी का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

आराधना अनुरक्त नित व्यापार से भी मुक्त हैं।
जिनमार्ग में सब साधुजन निर्मोह हैं निर्ग्रन्थ हैं।।७५।।

सभी प्रकार के व्यापार से विमुक्त, चार प्रकार की आराधनाओं में सदा रक्त (लीन) निर्ग्रन्थ और निर्मोह साधु परमेष्ठी होते हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह परमतपश्चरण में निरन्तर अखण्डरूप से लीन सर्व साधुओं के स्वरूप का व्याख्यान है। साधु परमेष्ठी, परमतपस्वी महापुरुष होने से त्रिकालनिरावरण निरंजन परमपंचमभाव की भावना में परिणमित होने के कारण समस्त बाह्य-व्यापार से मुक्त हैं; ज्ञान, दर्शन, चारित्र और परमतप नामक चार आराधनाओं में सदा अनुरक्त हैं; समस्त बाह्याभ्यन्तर परिग्रह के ग्रहण से रहित होने के कारण निर्ग्रन्थ हैं; तथा सदा निरंजन निजकारण समयसार के स्वरूप के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और आचरण से विरुद्ध मिथ्यादर्शन, ज्ञान और आचरण का अभाव होने से पूर्णतः निर्मोह होते हैं।

ऐसे सभी साधु, परमनिर्माण सुन्दरी की सुन्दर माँग की शोभारूप कोमल केशर की रजपुंज के सुवर्ण वर्णवाले अलंकार को देखने में कौतूहल बुद्धिवाले होते हैं।''

इस गाथा और उसकी टीका में साधु परमेष्ठी को परमतपस्वी महापुरुष कहा गया है; क्योंकि आचार्य और उपाध्याय तो कदाचित् संघ की व्यवस्था, प्रशासन और पठन-पाठन, अध्यापन में व्यस्त रहते हैं; किन्तु सामान्य साधु तो निरंतर आत्मसाधना में ही मग्न रहते हैं; बाह्य व्यापार से सर्वथा मुक्त ही रहते हैं। निरन्तर चार प्रकार की आराधना में ही तत्पर रहनेवाले सर्व साधु आचार्य-उपाध्याय की अपेक्षा अधिक निर्मोही और पूर्णतः निर्ग्रन्थ होते हैं।।७५।।

(आर्या)

भविनां भवसुखविमुखं त्यक्तं सर्वाभिषंगसंबंधात् ।
मंक्षु विमंक्ष्व निजात्मनि वंद्यं नस्तन्मनः साधोः ।।१०६।।

एरिसयभावणाए ववहारणयस्स होदि चारित्तं ।
णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि ।।७६।।

ईदृग्भावनायां व्यवहारनयस्य भवति चारित्रम् ।
निश्चयनयस्य चरणं एतदूर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ।।७६।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

भव सुख से जो विमुख हैं सर्व संग से मुक्त ।
उनका मन अभिवंद्य है जो निज में अनुरक्त ।।१०६।।

भववाले अर्थात् संसारी जीवों के भवसुख से जो विमुख हैं और सर्वपरिग्रह के संबंध से मुक्त हैं ह्न ऐसे सर्व साधुओं का मन हमारे द्वारा वंदनीय है । हे साधुओ ! उस मन को शीघ्र ही निजात्मा में मग्न करो ।

इस छन्द में पंचेन्द्रिय संबंधी सांसारिक सुखों के त्यागी, अंतरंग और बहिरंग ह्न सभी प्रकार के परिग्रहों से रहित सर्व साधुओं के मन को वंदनीय बताया गया है और सभी साधुओं से स्वयं के पवित्र मन को स्वयं के आत्मा में लगाने का अनुरोध किया गया है ।

तात्पर्य यह है कि **स्वयं के आत्मा में लगा मन ही पवित्र होता है ।।१०६।।**

गाथा ५६ से आरंभ होनेवाले इस व्यवहारचारित्राधिकार में अबतक विगत २० गाथाओं में क्रमशः अहिंसादि पाँच महाव्रत, ईर्यासमिति आदि पाँच समिति और मनोगुप्ति आदि तीन गुप्ति ह्न इसप्रकार कुल मिलाकर मुनिराजों के होनेवाले १३ प्रकार के चारित्र का निरूपण किया गया है। तदुपरान्त पंचपरमेष्ठी का स्वरूप समझाया गया है ।

अब इस ७६वीं गाथा में व्यवहारचारित्राधिकार का समापन करते हुए कहते हैं कि अब आगे के अधिकारों में निश्चयचारित्र का निरूपण करेंगे । गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

इसतरह की भावना व्यवहार से चारित्र है ।
अब कहूँगा मैं अरे निश्चयनयाश्रित चरण को ।।७६।।

इसप्रकार की भावना में व्यवहारनय संबंधी चारित्र है और अब आगे निश्चयनय संबंधी चारित्र की चर्चा करूँगा ।

व्यवहारचारित्राधिकारव्याख्यानानोपसंहारनिश्चयचारित्रसूचनोपन्यासोऽयम्। इत्थंभूतायां प्रागुक्तपंचमहाव्रतपंचसमितिनिश्चयव्यवहारत्रिगुप्तिपंचपरमेष्ठिध्यानसंयुक्तायाम् अतिप्रशस्तशुभभावनायां व्यवहारनयाभिप्रायेण परमचारित्रं भवति, वक्ष्यमाणपंचमाधिकारे परमपंचमभावनिरतपंचमगतिहेतुभूतशुद्धनिश्चयनयात्मपरमचारित्रं द्रष्टव्यं भवतीति।

तथा चोक्तं मार्गप्रकाशे ह्न

(वंशस्थ)

कुसूलगर्भस्थितबीजसोदरं भवेद्विना येन सुदृष्टिबोधनम्।
तदेव देवासुरमानवस्तुतं नमामि जैनं चरणं पुनः पुनः ।।३६।।[१]

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह व्यवहारचारित्राधिकार के व्याख्यान का उपसंहार और निश्चय चारित्राधिकार आरंभ करने की सूचना का कथन है। व्यवहारनय के अभिप्राय से पूर्वोक्त पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ और निश्चय-व्यवहाररूप तीन गुप्तियाँ तथा पंचपरमेष्ठी के ध्यान से संयुक्त अतिप्रशस्त शुभ भावना परमचारित्र है। अब आगे कहे जानेवाले पाँचवें अधिकार में परम पंचमभाव में लीन, पंचमगति के हेतुभूत, शुद्धनिश्चयनयात्मक परमचारित्र देखने योग्य है।''

यह गाथा व्यवहारचारित्र अधिकार के समापन एवं परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार के आरंभ के संधिकाल की गाथा है। इसमें मात्र यह सूचना दी गई है कि पंच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति और पंच परमेष्ठी का स्वरूप स्पष्ट करनेवाला व्यवहारचारित्राधिकार समाप्त हो रहा है और आगे के अधिकारों में जो भी निरूपण होगा, वह सब निश्चयचारित्र की मुख्यता से होगा।।७६।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथा मार्गप्रकाश नामक शास्त्र में भी कहा गया है' ह्न** ऐसा कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

कोठार के भीतर पड़े ज्यों बीज उग सकते नहीं।
बस उसतरह चारित्र बिन दृग-ज्ञान फल सकते नहीं।।
असुर मानव देव भी थुति करें जिस चारित्र की।
मैं करूँ वंदन नित्य बारंबार उस चारित्र को।।३६।।

जिस चारित्र के बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कोठार में पड़े हुए बीज के समान है; देव, असुर और मानवों से स्तवन किये गये उस चारित्र को मैं बारंबार नमस्कार करता हूँ।

---

१. मार्गप्रकाश, श्लोक संख्या अनुपलब्ध है।

तथा हि ह्न

(आर्या)

शीलमपवर्गयोषिदनंगसुखस्यापि मूलमाचार्याः ।
प्राहुर्व्यवहारात्मकवृत्तमपि तस्य परंपरा हेतुः ।।१०७।।

यद्यपि यह बात तो जिनवाणी में अनेक स्थानों पर प्राप्त हो जाती है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान के बिना सम्यक्चारित्र हो ही नहीं सकता; तथापि यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि जिसप्रकार कोठार में रखा बीज उगता नहीं, बढ़ता नहीं, फलता भी नहीं है। उगने, बढ़ने और फलने के लिए उसे उपजाऊ मिट्टीवाले खेत में बोना आवश्यक है, उसे आवश्यक खाद-पानी दिया जाना भी आवश्यक है।

उसीप्रकार चारित्र को धारण किये बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कोठार में रखे हुए बीज के समान निष्फल हैं, मुक्तिरूपी फल को प्राप्त कराने में समर्थ नहीं है; इसलिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से मण्डित जीवों को जल्दी से जल्दी सम्यक्चारित्र धारण करना चाहिए।।३६।।

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं भी लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(अडिल्ल)

आत्मरमणतारूप चरण ही शील है।
निश्चय का यह कथन शील शिवमूल है।।
शुभाचरण मय चरण परम्परा हेतु है।
सूरिवचन यह सदा धर्म का मूल है।।१०७।।

आचार्यों ने शील को मुक्तिसुन्दरी के अनंगसुख का मूल कहा है और व्यवहारचारित्र को भी उसका परम्परा कारण कहा है।

अनंग का अर्थ कामदेव भी होता है और अंगरहित अर्थात् अशरीरी भी होता है। यद्यपि लोक में सुन्दरियों का सुख काममूलक होता है; तथापि यहाँ यह कहा जा रहा है कि **शील अर्थात् निश्चयचारित्रधारियों को मुक्तिसुन्दरी का अनंग (अशरीरी) सुख प्राप्त होता है।**

यह एक विरोधाभास अलंकार का प्रयोग है; क्योंकि इसमें विरोध का आभास तो हो रहा है, पर विरोध है नहीं। निश्चयचारित्र अर्थात् शीलधारियों को किसी कामिनी के काम-वासना संबंधी सुख प्राप्त होने में विरोध है, विरोधाभास है; परन्तु उक्त विरोध का परिहार यह है कि मुक्तिसुन्दरी का अनंग सुख अर्थात् **मुक्ति में प्राप्त होने वाला अशरीरी अतीन्द्रिय सुख शीलधारियों को प्राप्त होता है।**

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव-विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ व्यवहारचारित्राधिकार: चतुर्थ: श्रुतस्कन्ध: ।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सहित निश्चय सम्यक्चारित्र धारकों को मुक्ति की प्राप्ति होती है, मुक्ति में प्राप्त होनेवाले अनंत अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति होती है ।।१०७।।

व्यवहारचारित्राधिकार की समाप्ति के अवसर पर टीकाकार जो पंक्ति लिखते हैं; उसका भाव इसप्रकार है ह्न

''इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में व्यवहारचारित्राधिकार नामक चतुर्थ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ ।''

यहाँ नियमसार एवं उसकी तात्पर्यवृत्ति टीका के साथ-साथ डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत आत्मप्रबोधिनी हिन्दी टीका में व्यवहारचारित्राधिकार नामक चतुर्थ श्रुतस्कन्ध भी समाप्त होता है ।

•••

वस्तु तो पर से निरपेक्ष ही है । उसे अपने गुण-धर्मों को धारण करने में किसी पर की अपेक्षा रंचमात्र भी नहीं है । उसमें नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता आदि सब धर्म एक साथ विद्यमान रहते हैं । द्रव्यदृष्टि से वस्तु जिस समय नित्य है, पर्याय दृष्टि से उसी समय अनित्य भी है, वाणी से जब नित्यता का कथन किया जायेगा, तब अनित्यता का कथन सम्भव नहीं है ।

अत: जब हम वस्तु की नित्यता का प्रतिपादन करेंगे, तब श्रोता यह समझ सकता है कि वस्तु नित्य ही है, अनित्य नहीं । अत: हम 'किसी अपेक्षा नित्य भी हैं,' ऐसा कहते हैं । ऐसा कहने से उसके ज्ञान में यह बात सहज आ जावेगी कि किसी अपेक्षा अनित्य भी है । भले ही वाणी के असामर्थ्य के कारण वह बात कही नहीं जा रही है ।

अत: वाणी में स्याद्-पद का प्रयोग आवश्यक है, स्याद्-पद अविवक्षित धर्मों को गौण करता है, पर अभाव नहीं । उसके प्रयोग बिना अभाव का भ्रम उत्पन्न हो सकता है ।

ह्न तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-१४४

(५)

परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार

(गाथा ७७ से गाथा ९४ तक)

(वंशस्थ)

नमोऽस्तु ते संयमबोधमूर्तये स्मरेभकुम्भस्थलभेदनाय वै ।
विनेयपंकेजविकाशभानवे विराजते माधवसेनसूरये ।।१०८।।

अथ सकलव्यावहारिकचारित्रतत्फलप्राप्तिप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयनयात्मकपरमचारित्रप्रति–पादनपरायणपरमार्थप्रतिक्रमणाधिकार: कथ्यते । तत्रादौ तावत् पंचरत्नस्वरूपमुच्यते । तद्यथाह्न

इस अधिकार की टीका आरंभ करते समय मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव मंगलाचरण के रूप में आचार्य माधवसेन को नमस्कार करते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

कामगज के कुंभथल का किया मर्दन जिन्होंने ।
विकसित करें जो शिष्यगण के हृदयपंकज नित्य ही ।।
परम संयम और सम्यक्बोध की हैं मूर्ति जो ।
हो नमन बारम्बार ऐसे सूरि माधवसेन को ।।१०८।।

संयम और ज्ञान की मूर्ति, कामरूपी हाथी के कुंभस्थल को भेदनेवाले तथा शिष्यरूपी कमलों को विकसित करने में सूर्य के समान सुशोभित हे माधवसेनसूरि ! आपको नमस्कार हो ।

जिन माधवसेन सूरि को नियमसार परमागम के टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव स्मरण कर रहे हैं, नमस्कार कर रहे हैं, संयम और ज्ञान की मूर्ति बता रहे हैं, कामगज के कुंभस्थल को भेदनेवाले कह रहे हैं और शिष्यरूपी कमलों को खिलानेवाले बता रहे हैं; यद्यपि वे माधवसेन आचार्य कोई साधारण व्यक्ति तो हो नहीं सकते, कोई प्रभावशाली आचार्य ही होने चाहिए; तथापि उनके संबंध में न तो विशेष जानकारी उपलब्ध है और न उनकी कोई कृति ही प्राप्त होती है ।

उनके बारे में जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश में मात्र इतना ही लिखा है कि वे माथुर संघ की गुर्वावली के अनुसार नेमिषेण के शिष्य और श्रावकाचार के कर्ता अमितगति के गुरु थे और उनका समय विक्रम संवत् १०२५ से १०७५ के बीच का था ।

डॉ. नेमीचन्दजी ज्योतिषाचार्य के **भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा** नामक ग्रन्थ में भी उनके संदर्भ में कुछ नहीं लिखा गया । जो भी हो, पर वे ऐसे प्रभावक आचार्य

अथ पंचरत्नावतारः ।

णाहं णारयभावो तिरियत्थो मणुवदेवपज्जाओ ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ।।७७।।
णाहं मग्गणठाणो णाहं गुणठाण जीवठाणो ण ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ।।७८।।
णाहं बालो बुड्ढो ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ।।७९।।
णाहं रागो दोसो ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ।।८०।।

अवश्य रहे होंगे, जिन्हें पद्मप्रभमलधारिदेव जैसे अध्यात्मरसिया मुनिराज नियमसार की टीका जैसे ग्रंथ में स्मरण करें और श्रद्धापूर्वक उन्हें नमस्कार करें।।१०८।।

उक्त गाथाओं की उत्थानिका लिखते हुए पद्मप्रभमलधारिदेव विगत और आगत ह्न दोनों अधिकारों की संधि भी बताते हैं। कहते हैं कि विगत अधिकार में निरूपित सम्पूर्ण व्यवहारचारित्र और उसके फल की प्राप्ति से प्रतिपक्ष जो शुद्धनिश्चयपरमचारित्र है, उसका प्रतिपादन करनेवाले परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार की चर्चा आरंभ करते हैं।

तात्पर्य यह है कि विगत व्यवहारचारित्राधिकार में मुख्यरूप से पुण्यबंध के कारणरूप व्यवहारचारित्र का स्वरूप बताया गया है।

अब इस अधिकार में सर्वप्रकार के पुण्य-पाप के बंध से मुक्त होने का कारणभूत निश्चयचारित्र का निरूपण करेंगे। सबसे पहले पंचरत्न का स्वरूप कहते हैं। इसप्रकार अब यहाँ पाँच रत्नों का अवतरण होता है। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

मैं नहीं नारक देव मानव और तिर्यग मैं नहीं।
कर्ता कराता और मैं कर्तानुमंता भी नहीं।।७७।।
मार्गणास्थान जीवस्थान गुणथानक नहीं।
कर्ता कराता और मैं कर्तानुमंता भी नहीं।।७८।।
बालक तरुण बूढा नहीं इन सभी का कारण नहीं।
कर्ता कराता और मैं कर्तानुमंता भी नहीं।।७९।।
मैं मोह राग द्वेष न इन सभी का कारण नहीं।
कर्ता कराता और मैं कर्तानुमंता भी नहीं।।८०।।

णाहं कोहो माणो ण चेव माया ण होमि लोहो हं।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं।।८१।।

नाहं नारकभावस्तिर्यङ्मानुषदेवपर्यायः।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम्।।७७।।
नाहं मार्गणास्थानानि नाहं गुणस्थानानि जीवस्थानानि वा।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम्।।७८।।
नाहं बालो वृद्धो न चैव तरुणो न कारणं तेषाम्।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम्।।७९।।
नाहं रागो द्वेषो न चैव मोहो न कारणं तेषाम्।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम्।।८०।।
नाहं क्रोधो मानो न चैव माया न भवामि लोभोऽहम्।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम्।।८१।।

(हरिगीत)

मैं मान माया लोभ एवं क्रोध भी मैं हूँ नहीं।
कर्ता कराता और मैं कर्तानुमंता भी नहीं।।८१।।

नरकपर्याय, तिर्यंचपर्याय, मनुष्यपर्याय और देवपर्यायरूप मैं नहीं हूँ। इन पर्यायों का करनेवाला, करानेवाला और करने-कराने की अनुमोदना करनेवाला भी मैं नहीं हूँ।

मार्गणास्थान, गुणस्थान और जीवस्थान भी मैं नहीं हूँ। इनका करनेवाला, करानेवाला और करने-कराने की अनुमोदना करनेवाला भी मैं नहीं हूँ।

मैं बालक, वृद्ध या जवान भी नहीं हूँ और इन तीनों का कारण भी नहीं हूँ। उन तीनों अवस्थाओं का करनेवाला, करानेवाला और करने-कराने की अनुमोदना करनेवाला भी मैं नहीं हूँ।

मैं मोह, राग और द्वेष नहीं हूँ, इनका कारण भी नहीं हूँ। इनका करनेवाला, करानेवाला और करने-कराने की अनुमोदना करनेवाला भी मैं नहीं हूँ।

मैं क्रोध, मान, माया और लोभ भी नहीं हूँ। इनका करनेवाला, करानेवाला और करने-कराने की अनुमोदना करनेवाला भी मैं नहीं हूँ।

इसप्रकार इन गाथाओं में यही बताया गया है कि नर-नारकादि पर्यायों; मार्गणा, गुणस्थान और जीवस्थान आदि भावों; बालक, तरुण, वृद्ध आदि अवस्थाओं, मोह-राग-

अत्र शुद्धात्मनः सकलकर्तृत्वाभावं दर्शयति। बह्वारंभपरिग्रहाभावादहं तावन्नारकपर्यायो न भवामि। संसारिणो जीवस्य बह्वारंभपरिग्रहत्वं व्यवहारतो भवति अत एव तस्य नारकायुष्क-हेतुभूतनिखिलमोहरागद्वेषा विद्यन्ते, न च मम शुद्धनिश्चयबलेन शुद्धजीवास्तिकायस्य; तिर्यक्पर्यायप्रायोग्यमायामिश्राशुभाकर्माभावात्सदा तिर्यक्पर्यायकर्तृत्वविहीनोऽहम्; मनुष्यनाम-कर्मप्रायोग्यद्रव्यभावकर्माभावान्न मे मनुष्यपर्यायः शुद्धनिश्चयतो समस्तीति। निश्चयेन देवना-मधेयाधारदेवपर्याययोग्यसुरससुगंधस्वभावात्मकपुद्गलद्रव्यसंबंधाभावान्न मे देवपर्यायः इति।

चतुर्दशभेदभिन्नानि मार्गणास्थानानि तथाविधभेदविभिन्नानि जीवस्थानानि गुणस्थानानि वा शुद्धनिश्चयनयतः परमभावस्वभावस्य न विद्यन्ते। मनुष्यतिर्यक्पर्यायकायवयःकृतविकार-समुपजनितबालयौवनस्थविरवृद्धावस्थाद्यनेकस्थूलकृशविविधभेदाः शुद्धनिश्चयनयाभिप्रायेण न मे सन्ति। सत्तावबोधपरमचैतन्यसुखानुभूतिनिरतविशिष्टात्मतत्त्वग्राहकशुद्धद्रव्यार्थिकनय-बलेन मे सकलमोहरागद्वेषा न विद्यन्ते।

द्वेष आदि विकारी परिणामों और क्रोधादि कषायोंरूप आत्मा नहीं है। **इन सबका करनेवाला, करानेवाला और करने-कराने की अनुमोदना करनेवाला भी आत्मा नहीं है।**

तात्पर्य यह है कि इनसे त्रिकाली ध्रुव आत्मा का कोई संबंध नहीं है और वह त्रिकाली ध्रुव आत्मा मैं ही हूँ। मेरा अपनापन भी एकमात्र इसी में है।

उक्त गाथाओं का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं्ह

''अब यहाँ शुद्धात्मा को सकल कर्तृत्व का अभाव दिखाते हैं। बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह का अभाव होने के कारण मैं नारकपर्याय रूप नहीं हूँ। संसारी जीवों के बहुत आरंभ और परिग्रह व्यवहार से होता है; इसलिए उसे नरकायु के हेतुभूत सभी प्रकार के मोह-राग-द्वेष होते हैं, परन्तु वे मुझे नहीं हैं; क्योंकि शुद्धनिश्चयनय के बल से अर्थात् शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा शुद्धजीवास्तिकाय में वे नहीं होते। तिर्यंचपर्याय के योग्य मायामिश्रित अशुभकर्म का अभाव होने से मैं तिर्यंचपर्याय के कर्तृत्व से रहित हूँ। मनुष्यनामकर्म के योग्य द्रव्यकर्म और भावकर्मों का अभाव होने से मुझे शुद्धनिश्चयनय से मनुष्यपर्याय नहीं है। 'देव' इस नामवाली देवपर्याय के योग्य सुरससुगंधस्वभाववाले पुद्गलद्रव्य का अभाव होने से निश्चय से मुझे देवपर्याय नहीं है।

चौदह-चौदह भेदवाले मार्गणास्थान, जीवस्थान और गुणस्थान शुद्धनिश्चयनय से परमभाव स्वभाववाले आत्मा को (मुझे) नहीं है। मनुष्य और तिर्यंचपर्याय की काया के वयकृत विकार से उत्पन्न होनेवाले बाल, युवा, प्रौढ़ और वृद्ध आदि अवस्थारूप उनके स्थूल, कृश आदि अनेक प्रकार के भेद शुद्धनिश्चयनय के अभिप्राय से मेरे नहीं हैं। सत्ता, अवबोध, परमचैतन्य और सुख की अनुभूति में लीन ह्न ऐसे विशिष्ट आत्मतत्त्व को ग्रहण करनेवाले शुद्धद्रव्यार्थिकनय के बल से मुझे सभीप्रकार के मोह-राग-द्वेष नहीं हैं।

सहजनिश्चयनयतः सदा निरावरणात्मकस्य शुद्धावबोधरूपस्य सहजच्छिक्तिमयस्य सहजदृक्स्फूर्तिपरिपूर्णमूर्तेः स्वरूपाविचलस्थितिरूपसहजयथाख्यातचारित्रस्य न मे निखिल-संसृतिक्लेशहेतवः क्रोधमानमायालोभाः स्युः।

अथामीषां विविधविकल्पाकुलानां विभावपर्यायाणां निश्चयतो नाहं कर्ता, न कारयिता वा भवामि, न चानुमंता वा कर्तृणां पुद्गलकर्मणामिति।

नाहं नारकपर्यायं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये। नाहं तिर्यक्पर्यायं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये। नाहं मनुष्यपर्यायं कुर्वे, सहजचिद्विला-सात्मकमात्मानमेव संचिंतये। नाहं देवपर्यायं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये।

नाहं चतुर्दशमार्गणास्थानभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये। नाहं मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये। नाहमेकेन्द्रि-यादिजीवस्थानभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये।

नाहं शरीरगतबालाद्यवस्थानभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये।

सहजनिश्चयनय से सदा निरावरणस्वरूप, शुद्धज्ञानरूप, सहजचित्शक्तिमय, सहजदर्शन के स्फुरण से परिपूर्ण मूर्ति और स्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज यथाख्यातचारित्रवाले मुझे समस्त संसारक्लेश के हेतु क्रोध, मान, माया और लोभ नहीं हैं।

अब इन विविध विकल्पों से आकुलित विभावपर्यायों का निश्चय से मैं कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ और पुद्गल कर्मरूप कर्ता का अनुमोदक नहीं हूँ।

मैं नारकपर्याय को नहीं करता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता (चेतता) हूँ। मैं तिर्यंचपर्याय को नहीं करता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ। मैं मनुष्यपर्याय को नहीं करता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ। मैं देवपर्याय को नहीं करता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ।

मैं चौदहमार्गणा के भेदों को नहीं करता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ।

मैं मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान भेदों को नहीं भाता; मैं तो सहजचैतन्य विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ।

मैं एकेन्द्रियादि जीवस्थान भेदों को नहीं भाता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ।

मैं शरीरसंबंधी बालकादि अवस्था भेदों को नहीं करता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ।

नाहं रागादिभेदभावकर्मभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये।
नाहं भावकर्मात्मककषायचतुष्कं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये।
इति पंचरत्नांचितोपन्यासप्रपंचनसकलविभावपर्यायसंन्यासविधानमुक्तं भवतीति।

(वसंततिलका)

भव्यः समस्तविषयाग्रहमुक्तचिन्तः
स्वद्रव्यपर्ययगुणात्मनि दत्तचित्तः।
मुक्त्वा विभावमखिलं निजभावभिन्नं
प्राप्नोति मुक्तिमचिरादिति पंचरत्नात्।।१०९।।

मैं रागादि भेदरूप भावकर्म के भेदों को नहीं करता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ।

मैं तो भावकर्मात्मक चार कषायों के भेदों को नहीं करता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ।

इसप्रकार पाँच रत्नों के शोभित कथनविस्तार के द्वारा सम्पूर्ण विभाव पर्यायों के संन्यास का विधान कहा।''

गाथाओं और उसकी टीका का सार यह है कि परमशुद्धनिश्चयनय और दृष्टि के विषयभूत ध्यान के ध्येयरूप त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में, जो कि स्वयं मैं ही हूँ, न तो नरकादि पर्यायें हैं, न मार्गणास्थान, जीवस्थान और गुणस्थान ही हैं, न वह बालक, जवान और वृद्ध ही होता है, न उसमें मोह-राग-द्वेष हैं और न क्रोधादि कषायें हैं।

उक्त सभी प्रकार की अवस्थाओं और भावों का यह भगवान आत्मा स्वामी और कर्ता-भोक्ता भी नहीं है। **तात्पर्य यह है कि यह भगवान आत्मा अर्थात् मैं स्वयं न तो इन्हें करता हूँ, न कराता हूँ और न करने-कराने का अनुमोदक ही हूँ। इसप्रकार मैं इनसे कृत, कारित और अनुमोदना से भी अत्यन्त दूर हूँ।** प्रतिक्रमण में इसप्रकार का चिन्तन-मनन किया जाता है। इसप्रकार का चिन्तन करते हुए यह आत्मा इनसे संन्यास लेता है।।७७-८१।।

इसके बाद पद्मप्रभमलधारिदेव एक कलश लिखते हैं, जिसमें उक्त प्रतिक्रमण और संन्यास का फल बताया गया है। उक्त कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

सम्पूर्ण विषयों के ग्रहण की भावना से मुक्त हों।
निज द्रव्य गुण पर्याय में जो हो गये अनुरक्त हों।।
छोड़कर सब विभावों को नित्य निज में ही रमें।
अति शीघ्र ही वे भव्य मुक्तीरमा की प्राप्ति करें।।१०९।।

एरिसभेदब्भासे मज्झत्थो होदि तेण चारित्तं।
तं दिढकरणणिमित्तं पडिक्कमणादी पवक्खामि ।।८२।।

ईदृग्भेदाभ्यासे मध्यस्थो भवति तेन चारित्रम्।
तद्दृढीकरणनिमित्तं प्रतिक्रमणादिं प्रवक्ष्यामि ।।८२।।

अत्र भेदविज्ञानात् क्रमेण निश्चयचारित्रं भवतीत्युक्तम्। पूर्वोक्तपंचरत्नांचितार्थपरिज्ञानेन पंचमगतिप्राप्तिहेतुभूते जीवकर्मपुद्गलयोर्भेदाभ्यासे सति, तस्मिन्नेव च ये मुमुक्षव: सर्वदा संस्थितास्ते ह्यत एव मध्यस्था: तेन कारणेन तेषां परमसंयमिनां वास्तवं चारित्रं भवति। तस्य

इसप्रकार उक्त पंचरत्नों के माध्यम में जिसने सभीप्रकार के विषयों के ग्रहण की चिन्ता को छोड़ा है और अपने द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप में चित्त को एकाग्र किया है; वह भव्य जीव निजभाव से भिन्न सम्पूर्ण विभावों को छोड़कर अतिशीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त करता है।

इसप्रकार इस कलश में निष्कर्ष के रूप में मात्र इतना ही कहा है कि जो आत्मार्थी उक्त पाँच गाथाओं और उनकी टीका में समझाये गये भाव को गहराई से ग्रहण कर, **पंचेन्द्रिय विषयों के ग्रहण संबंधी विकल्पों से विरक्त हो, उनकी चिन्ता को छोड़कर अपने आत्मा में उपयोग को स्थिर करता है; उसे ही निजरूप जानता है, मानता है और उसी में जमता-रमता है; वह आत्मार्थी अल्पकाल में ही समस्त विभावभावों से मुक्त हो मुक्ति सुंदरी का वरण करता है।।१०९।।**

पंचरत्न संबंधी विगत गाथाओं की चर्चा के उपरान्त अब ८२वीं गाथा में परमार्थ-प्रतिक्रमणादि के बारे में चर्चा करने का संकल्प व्यक्त करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

इस भेद के अभ्यास से मध्यस्थ हो चारित्र हो।
चारित्र दृढता के लिए प्रतिक्रमण की चर्चा करूँ।।८२।।

इसप्रकार का भेदाभ्यास (परपदार्थों से भिन्नता का अभ्यास) होने पर जीव मध्यस्थ होता है और उससे चारित्र होता है। उस चारित्र को दृढ़ करने के लिए अब मैं प्रतिक्रमणादि की चर्चा करूँगा।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''भेदविज्ञान से क्रमश: निश्चयचारित्र होता है ह्न यहाँ ऐसा कहा है। पूर्वोक्त पंचरत्नों से शोभित अर्थपरिज्ञान से होनेवाले पंचमगति की प्राप्ति का हेतुभूत जीव और कर्मपुद्गलों का भेदाभ्यास होने पर उसी में स्थित रहनेवाले मुमुक्षु मध्यस्थ हो जाते हैं। इसी मध्यस्थता के कारण परम संयमियों के वास्तविक चारित्र होता है। उक्त चारित्र में अविचलरूप से

चारित्राविचलस्थितिहेतोः प्रतिक्रमणादिनिश्चयक्रिया निगद्यते। अतीतदोषपरिहारार्थं यत्प्रायश्चित्तं क्रियते तत्प्रतिक्रमणम्। आदिशब्देन प्रत्याख्यानादीनां संभवश्चोच्यत इति।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः ह्न

(अनुष्टुभ्)

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।।३७।।[१]

स्थिति रहे, इसलिए यहाँ प्रतिक्रमणादि की निश्चयक्रिया कही जा रही है। भूतकाल के दोषों का परिहार करने के लिए जो प्रायश्चित्त किया जाता है; वह प्रतिक्रमण है। आदि शब्द में प्रत्याख्यानादि का समावेश भी संभव होता है।''

गाथा और टीका का सार यह है कि पंचरत्न संबंधी विगत पाँच गाथाओं में नर-नारकादि पर्यायों; मार्गणा, गुणस्थान और जीवस्थान आदि भावों; बालकादि अवस्थाओं और क्रोधादि कषायों से भगवान आत्मा का जो भेदविज्ञान कराया गया है; उससे माध्यस्थ भाव प्रगट होता है। उक्त माध्यस्थभाव से निश्चयचारित्र प्रगट होता है और निश्चयचारित्र के धारक सन्तों के जीवन में निश्चय प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान प्रगट होते हैं।

प्रायश्चित्तपूर्वक भूतकाल के दोषों का परिमार्जन करना प्रतिक्रमण है, वर्तमान दोषों का परिमार्जन आलोचना है और भविष्य में कोई दोष न हो ह्न इसप्रकार का संकल्प करना प्रत्याख्यान है। तात्पर्य यह है कि जीवन को संयमित करने के लिए, संयमित जीवन में दृढता लाने के लिए; प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान अत्यन्त आवश्यक है। अतः यहाँ प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान का स्वरूप समझाते हैं।।८२।।

इसके उपरान्त टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा आचार्य अमृतचन्द्र ने भी कहा है' ह्न** लिखकर एक छन्द उद्धृत करते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

अबतक जो भी हुए सिद्ध या आगे होंगे।
महिमा जानो एकमात्र सब भेदज्ञान की।।
और जीव जो भटक रहे हैं भवसागर में।
भेदज्ञान के ही अभाव से भटक रहे हैं।।३७।।

आजतक जो कोई भी सिद्ध हुए हैं; वे सब भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो कोई बँधे हैं; वे सब उस भेदविज्ञान के अभाव से ही बँधे हैं।

---

१. समयसार, श्लोक १३१

तथा हि ह्न

(मालिनी)

इति सति मुनिनाथस्योच्चकैर्भेदभावे
स्वयमयमुपयोगाद्राजते मुक्तमोहः ।
शमजलनिधिपूरक्षालितांहः कलंकः
स खलु समयसारस्यास्य भेदः क एषः ।।११०।।

मोत्तूण वयणरयणं रागादीभाववारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदि त्ति पडिकमणं ।।८३।।

मुक्त्वा वचनरचनां रागादिभाववारणं कृत्वा ।
आत्मानं यो ध्यायति तस्य तु भवतीति प्रतिक्रमणम् ।।८३।।

भेदविज्ञान की महिमा इससे अधिक और क्या बताई जा सकती है कि आजतक जितने भी जीव मोक्ष गये हैं, वे सब भेदविज्ञान से गये हैं और जो जीव कर्मों से बँधे हैं, संसार में अनादि से अनन्त दु:ख उठा रहे हैं; वे सब भेदविज्ञान के अभाव से ही उठा रहे हैं ।।३७।।

इसके बाद पद्मप्रभमलधारिदेव एक छंद स्वयं लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(रोला)

इसप्रकार की थिति में मुनिवर भेदज्ञान से ।
पापपंक को धोकर समतारूपी जल से ।।
ज्ञानरूप होने से आतम मोहमुक्त हो ।
शोभित होता समयसार की कैसी महिमा ।।११०।।

ऐसा होने पर जब मुनिराज को अत्यन्त भेदविज्ञान परिणाम होता है, तब यह समयसाररूप भगवान आत्मा स्वयं उपयोगरूप होने से मोह से मुक्त होता हुआ उपशमरूपी जलनिधि के ज्वार से पापरूपी कलंक को धोकर शोभायमान होता है। यह समयसार का कैसा भेद (रहस्य) है ?

इस कलश में यही कहा गया है कि प्रतिक्रमणादि में संलग्न भावलिंगी संतों का आत्मा स्वयं उपयोगस्वरूप होने से भेदज्ञान के बल से मोहमुक्त होता हुआ उपशमरूपी सागर के ज्वार से पुण्य-पापरूप कर्मकलंक धोकर अत्यन्त पवित्र भाव से शोभित होता है। यह समयसाररूप भगवान आत्मा का अद्भुत माहात्म्य है ।।११०।।

अब जिस गाथा में निश्चय प्रतिक्रमण का स्वरूप स्पष्ट करते हैं; उस गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

दैनं दैनं मुमुक्षुजनसंस्तूयमानवाङ्मयप्रतिक्रमणनामधेयसमस्तपापक्षयहेतुभूतसूत्रसमुदय-निरासोयम्। यो हि परमतपश्चरणकारणसहजवैराग्यसुधासिन्धुनाथस्य राकानिशीथिनीनाथः अप्रशस्तवचनरचनापरिमुक्तोऽपि प्रतिक्रमणसूत्रविषमवचनरचनां मुक्त्वा संसारलतामूलकंदानां निखिलमोहरागद्वेषभावानां निवारणं कृत्वाऽखण्डानंदमयं निजकारणपरमात्मानं ध्यायति, तस्य खलु परमतत्त्वश्रद्धानावबोधानुष्ठानाभिमुखस्य सकलवाग्विषयव्यापारविरहितनिश्चय-प्रतिक्रमणं भवतीति।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः ह्न

(हरिगीत)

वचन रचना छोड़कर रागादि का कर परिहरण।
ध्याते सदा जो आतमा होता उन्हीं को प्रतिक्रमण ॥८३॥

वचन रचना को छोड़कर, रागादिभावों का निवारण करके जो आत्मा का ध्यान करता है, उसे प्रतिक्रमण होता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मुमुक्षुजनों द्वारा प्रतिदिन बोले जानेवाला समस्त पापक्षय का हेतुभूत जो वचनात्मक प्रतिक्रमण है; यहाँ उसका निराकरण करते हैं। परमतप का कारणभूत जो सहज वैराग्य है, उस वैराग्यरूप अमृत के समुद्र में ज्वार लाने के लिए, उछालने के लिए पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान जो जीव हैं; उनके अप्रशस्त वचन रचना से मुक्त होने पर भी जब वे प्रतिक्रमण सूत्र की विषम (विविध) वचन रचना को छोड़कर, संसाररूपी बेल की जड़ जो मोह-राग-द्वेष हैं, उनका भी निवारण करके अखण्डानन्दमय निज कारण परमात्मा को ध्याते हैं; तब परमतत्त्व के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान के सन्मुख उन जीवों को वचन संबंधी सम्पूर्ण व्यापार रहित निश्चय प्रतिक्रमण होता है।''

अशुभ वार्तालाप से विरक्त होकर जिनागम उल्लिखित प्रतिक्रमण पाठ को बोलकर जो प्रतिक्रमण मुनिराजों द्वारा किया जाता है; उसे व्यवहार प्रतिक्रमण कहते हैं। उसमें भूतकाल में हुए दोषों का उल्लेख करते हुए प्रायश्चित्त पूर्वक उनका परिमार्जन किया जाता है। यह व्यवहार प्रतिक्रमण शुभभाव रूप होता है, शुभ वचनात्मक होता है। इसमें अशुभभाव और अशुभ-वचनों की निवृत्ति तो होती है; शुभभाव और शुभवचन से निवृत्ति नहीं होती; किन्तु परमार्थ प्रतिक्रमण में, निश्चय प्रतिक्रमण में शुभवचन और शुभभावों से भी निवृत्ति हो जाती है।

यह परमार्थ प्रतिक्रमण अखण्डानन्दमय निजकारणपरमात्मा के ध्यानरूप होता है। ध्यान रहे इस अधिकार का नाम ही परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार है। यही कारण है कि यहाँ परमार्थ प्रतिक्रमण पर विशेष जोर दिया जा रहा है॥८३॥

(मालिनी)

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै–
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः ।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा–
न्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति ।।३८।।[१]

तथा हि ह्न

(आर्या)

अतितीव्रमोहसंभवपूर्वार्जितं तत्प्रतिक्रम्य ।
आत्मनि सद्बोधात्मनि नित्यं वर्तेऽहमात्मना तस्मिन् ।।१११।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा भी कहा गया है' ह्न** ऐसा लिखकर एक छन्द उद्धृत करते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

क्या लाभ है ऐसे अनल्प विकल्पों के जाल से।
बस एक ही है बात यह परमार्थ का अनुभव करो।।
क्योंकि निजरसभरित परमानन्द के आधार से।
कुछ भी नहीं है अधिक सुन लो इस समय के सार से।।३८।।

अधिक कहने से क्या लाभ है, अधिक दुर्विकल्प करने से भी क्या लाभ है ? यहाँ तो मात्र इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस एक परमार्थस्वरूप आत्मा का ही नित्य अनुभव करो। निजरस के प्रसार से परिपूर्ण ज्ञान के स्फुरायमान होनेरूप समयसार से महान इस जगत में कुछ भी नहीं है।

इसप्रकार इस कलश में समयसाररूप शुद्धात्मा और समयसार नामक ग्रन्थाधिराज की महिमा बताई गई है; साथ में यह आदेश दिया गया है, उपदेश दिया गया है कि अब इस विकल्पजाल से मुक्त होकर निज आत्मा की शरण में जाओ ! आत्मा के कल्याण का एकमात्र उपाय आत्मानुभव ही है; अन्य कुछ नहीं।

उक्त कलश का सार मात्र इतना ही है कि जो कुछ कहना था; वह विस्तार से कहा जा चुका है, इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। जिसकी समझ में आना होगा, उसकी समझ में आने के लिए, देशनालब्धि के लिए इतना ही पर्याप्त है; जिसकी समझ में नहीं आना है, उसके लिए कितना ही क्यों न कहो, कुछ भी होनेवाला नहीं है। अतः अब हम (आचार्यदेव) विराम

१. समयसार : आत्मख्याति, छन्द २४४

आराहणाइ वट्टइ मोत्तूण विराहणं विसेसेण।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ।।८४।।

आराधनायां वर्तते मुक्त्वा विराधनं विशेषेण।
स प्रतिक्रमणमुच्चते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ।।८४।।

अत्रात्माराधनायां वर्तमानस्य जन्तोरेव प्रतिक्रमणस्वरूपमुक्तम्। यस्तु परमतत्त्वज्ञानी जीव: निरंतराभिमुखतया ह्यत्रुट्यत्परिणामसंतत्या साक्षात् स्वभावस्थितावात्माराधनायां वर्तते अयं निरपराध:। विगतात्मराधन: सापराध:, अत एव निरवशेषेण विराधनं मुक्त्वा...।

लेते हैं; क्योंकि आखिर यह प्रतिपादन भी विकल्पजाल ही तो है; तुम भी विकल्पों से विराम लेकर स्वयं में समा जाओ और हम तो स्वयं में जाते ही हैं।।३८।।

इसके उपरांत पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

तीव्र मोहवश जीव जो किये अशुभतम कृत्य।
उनका कर प्रतिक्रमण मैं रहूँ आतम में नित्य।।१११।।

अत्यन्त तीव्रमोह की उत्पत्ति से जो कर्म पहले उपार्जित किये थे; उनका प्रतिक्रमण करके मैं सम्यग्ज्ञानमयी आत्मा में नित्य वर्तता हूँ।

तात्पर्य यह है कि तीव्र मोहवश किये गये कर्मों से विरत होकर अपने निज भगवान आत्मा में अपनेपन पूर्वक स्थिर होना ही परमार्थप्रतिक्रमण है।।१११।।

अब आगामी गाथा में यह कहते हैं कि आत्मा की आराधना ही प्रतिक्रमण है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

विराधना को छोड़ जो आराधना में नित रहे।
प्रतिक्रमणमय है इसलिए वह स्वयं ही प्रतिक्रमण है।।८४।।

जो जीव विशेषरूप से विराधना छोड़कर आराधना में वर्तता है, वह जीव ही प्रतिक्रमण है; क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय ही है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ आत्मा की आराधना में वर्तते हुए जीव को ही प्रतिक्रमण कहा गया है। जो परमतत्त्वज्ञानी जीव निरंतर धारावाहीरूप से आत्माभिमुख होकर परिणामों द्वारा साक्षात् स्वभाव में स्थित होकर आत्माराधना में रत रहते हैं; वे निरपराध हैं। जो जीव आत्माराधना रहित हैं, वे अपराधी हैं। इसीलिए सम्पूर्णतया विराधना छोड़कर ह्न ऐसा कहा है।

विगतो राधो यस्य परिणामस्य स विराधनः। यस्मान्निश्चयप्रतिक्रमणमयः स जीवस्तत एव प्रतिक्रमणस्वरूपइत्युच्यते।

तथा चोक्तं समयसारे ह्न

संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं।
अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो ।।३९।।[१]

उक्तं हि समयसारव्याख्यायां च ह्न

(मालिनी)

अनवरतमनंतैर्बध्यते सापराधः
स्पृशति निरपराधो बंधनं नैव जातु।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो
भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ।।४०।।[२]

जो परिणाम राध अर्थात् आराधना रहित हैं, वे परिणाम ही विराधना हैं। विराधना रहित जीव ही निश्चयप्रतिक्रमणमय है; इसीलिए उसे प्रतिक्रमणस्वरूप कहा है।''

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में यही कहा गया है कि अभेदरूप से देखने पर प्रतिक्रमणमय होने से प्रतिक्रमण करनेवाला आत्मा ही प्रतिक्रमण है। तात्पर्य यह है कि **आत्मा की आराधना ही प्रतिक्रमण है और आत्मा की विराधना ही अप्रतिक्रमण है।।८४।।**

'तथा समयसार में भी कहा है' ह्न ऐसा लिखकर एक गाथा प्रस्तुत करते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

साधित अराधित राध अर संसिद्धि सिद्धि एक है।
बस राध से जो रहित है वह आतमा अपराध है।।३९।।

संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित ह्न यह सब एकार्थवाची हैं। जो आत्मा अपगतराध अर्थात् राध से रहित है, वह आत्मा अपराध है।।३९।।

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि आत्मा की साधना ही राध है और जो आत्मा उक्त साधना से रहित है, वह आत्मा स्वयं अपराध है। तात्पर्य यह है कि **आत्मा की साधना से रहित भाव अपराध है और उस अपराध से सहित होने से आत्मा अपराधी है। आत्मा अपराधी है; इसलिए एक प्रकार से आत्मा ही अपराध है।।३९।।**

---

१. समयसार, गाथा ३०४

२. समयसार : आत्मख्याति, छन्द १८७

तथा हि ह्न

(मालिनी)

अपगतपरमात्मध्यानसंभावनात्मा
नियतमिह भवार्तः सापराधः स्मृतः सः ।
अनवरतमखंडाद्वैतचिद्भावयुक्तो
भवति निरपराधः कर्मसंन्यासदक्षः ।।११२ ।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव '**उक्तं हि समयसार व्याख्यायां च ह्न** समयसार की व्याख्या आत्मख्याति टीका में भी कहा है' ह्न लिखकर एक छन्द उद्धृत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो सापराधी निरन्तर वे कर्मबंधन कर रहे।
जो निरपराधी वे कभी भी कर्मबंधन ना करें।।
अशुद्ध जाने आतमा को सापराधी जन सदा।
शुद्धात्मसेवी निरपराधी शान्ति सेवें सर्वदा।।४०।।

अपराधी आत्मा अनन्त पौद्गलिक कर्मों से बंधन को प्राप्त होता है और निरपराधी आत्मा बंधन को कभी स्पर्श भी नहीं करता। अज्ञानी आत्मा तो नियम से स्वयं को अशुद्ध जानता हुआ, अशुद्ध मानता हुआ और अशुद्ध भावरूप परिणमित होता हुआ सदा अपराधी ही है; किन्तु निरपराधी आत्मा तो सदा शुद्धात्मा का सेवन करनेवाला ही होता है।।४०।।

इसप्रकार इस कलश में मात्र इतना ही कहा गया है कि पर में एकत्व-ममत्व धारण करनेवाला अपराधी आत्मा निरन्तर बंध को प्राप्त होता है और शुद्धात्मसेवी आत्मा अर्थात् अपने आत्मा में ही एकत्व-ममत्व धारण कर उसमें ही जमने-रमनेवाला आत्मा कर्मबंधन को प्राप्त नहीं होता। इसलिए **शुद्धात्मा का सेवन निरन्तर किया जाना चाहिए; क्योंकि निरपराधी होने का एकमात्र यही उपाय है।।४०।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव '**तथाहि**' लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

परमात्मा के ध्यान की संभावना से रहित जो।
संसार पीड़ित अज्ञजन वे सापराधी जीव हैं।।
अखण्ड अर अद्वैत चेतनभाव से संयुक्त जो।
निपुण हैं संन्यास में वे निरपराधी जीव हैं।।११२।।

मोत्तूण अणायारं आयारे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ।।८५।।

मुक्त्वानाचारमाचारे यस्तु करोति स्थिरभावम्।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ।।८५।।

अत्र निश्चयचरणात्मकस्य परमोपेक्षासंयमधरस्य निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपं च भवती-त्युक्तम्। नियतं परमोपेक्षासंयमिनः शुद्धात्माराधनाव्यतिरिक्तः सर्वोऽप्यनाचारः, अत एव सर्वमनाचारं मुक्त्वा ह्याचारे सहजचिद्विलासलक्षणनिरंजने निजपरमात्मतत्त्वभावनास्वरूपे यः सहजवैराग्यभावनापरिणतः स्थिरभावं करोति, स परमतपोधन एव प्रतिक्रमणस्वरूप

इस लोक में जो जीव परमात्मध्यान की भावना से रहित हैं; परमात्म ध्यानरूप परिणमित नहीं हुए हैं; सांसारिक दु:खों से दु:खी उन जीवों को नियम से अपराधी माना गया है; किन्तु जो जीव अखण्ड-अद्वैत चैतन्य भाव से निरंतर युक्त हैं, कर्मों से संन्यास लेने में निपुण वे जीव निरपराधी हैं।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि सांसारिक दु:खों से दु:खी अज्ञानी जीव अपने शुद्ध त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान की भावना से रहित होने से, आत्मा की आराधना से रहित होने से अपराधी हैं और **ज्ञानादि अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड निज भगवान आत्मा की आराधना करनेवाले, उसे जाननेवाले, उसका श्रद्धान करनेवाले और उसके ही ध्यान में मग्न रहनेवाले जीव निरपराधी हैं ।।११२।।**

अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि निश्चयचारित्र के धारक सन्तों को ही निश्चयप्रतिक्रमण होता है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो जीव छोड़ अनाचरण आचार में थिरता धरे।
प्रतिक्रमणमय है इसलिए प्रतिक्रमण कहते हैं उसे ।।८५।।

जो जीव अनाचार छोड़कर आचार में स्थिरता करता है, वह जीव प्रतिक्रमण कहा जाता है; क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ निश्चयचारित्रात्मक परमोपेक्षा संयम धारण करनेवाले को निश्चयप्रतिक्रमण होता है ह्न ऐसा कहा है। परमोपेक्षा संयम धारण करनेवाले के लिए अथवा उसकी अपेक्षा शुद्ध आत्मा की आराधना के अतिरिक्त सभी कार्य अनाचार हैं। इसप्रकार के सभी अनाचार छोड़कर सहज चिद्विलास लक्षण निरंजन निज परमात्मतत्त्व की भावनास्वरूप आचरण में जो परमतपोधन सहज वैराग्यभावनारूप से परिणमित होता हुआ स्थिरभाव को धारण

इत्युच्यते, यस्मात् परमसमरसीभावनापरिणत: सहजनिश्चयप्रतिक्रमणमयो भवतीति।

(मालिनी)

अथ निजपरमानन्दैकपीयूषसान्द्रं
स्फुरितसहजबोधात्मानमात्मानमात्मा।
निजशममयवार्भिर्निर्भरानंदभक्त्या
स्नपयतु बहुभि: किं लौकिकालापजालै: ।।११३।।

करता है; वह परमतपोधन ही प्रतिक्रमणस्वरूप कहा जाता है; क्योंकि वह परमसमरसी भावनारूप से परिणमित होता हुआ सहज निश्चयप्रतिक्रमणमय है।''

इस गाथा और उसकी टीका में मूल रूप से यही कहा गया है कि **परमोपेक्षा संयम को धारण करनेवाले के लिए तो एकमात्र निज शुद्धात्मा की आराधना ही संयम है, सदाचार है; इससे सभी शुभाशुभभाव और शुभाशुभ क्रियायें अनाचार ही हैं, कदाचार ही हैं, हेय ही हैं।** इसप्रकार हम देखते हैं कि सहज वैराग्यभावना से सम्पन्न और समरसीभाव से परिणमित सन्त स्वयं निश्चयप्रतिक्रमण हैं, प्रतिक्रमण रूप हैं।।८५।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव दो छन्द लिखते हैं; उनमें से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

रे स्वयं से उत्पन्न परमानन्द के पीयूष से।
रे भरा है जो लबालब ज्ञायकस्वभावी आतमा।।
अब उसे शम जल से नहाओ प्रशम भक्तिपूर्वक।
सोचो जरा क्या लाभ है इस व्यर्थ के आलाप से।।११३।।

हे आत्मन् ! अब अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हुए परमानन्दरूपी अमृत से भरे हुए स्फुरित सहज ज्ञानस्वरूप आत्मा को निर्भरानन्द भक्ति पूर्वक स्वयं से उत्पन्न समतारूपी जल द्वारा स्नान कराओ; अन्य बहुत से आलापजालों से क्या लाभ है, अन्य लौकिक वचन विकल्पों से क्या लाभ है ?

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि शुभभावपूर्वक शुभ वचनों रूप व्यवहारप्रतिक्रमण से कोई विशेष लाभ होनेवाला नहीं है; इसलिए आत्म-श्रद्धान-ज्ञानपूर्वक आत्मध्यान में मग्न होनेरूप परमार्थप्रतिक्रमणरूप ही परिणमन करो। एकमात्र यही करने योग्य कार्य है, इससे ही यह आत्मा परमात्मपद को प्राप्त करेगा।।११३।।

दूसरे कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(स्रग्धरा)

मुक्त्वानाचारमुच्चैर्जननमृतकरं सर्वदोषप्रसंगं
स्थित्वात्मन्यात्मनात्मा निरुपमसहजानंददृग्ज्ञप्तिशक्तौ ।
बाह्याचारप्रमुक्तः शमजलनिधिवार्बिन्दुसंदोहपूतः
सोऽयं पुण्यः पुराणः क्षपितमलकलिर्भाति लोकोद्घसाक्षी ।।११४।।

उम्मग्गं परिचत्ता जिणमग्गे जो दु कुणदि थिरभावं ।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ।।८६।।

उन्मार्गं परित्यज्य जिनमार्गे यस्तु करोति स्थिरभावम् ।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ।।८६।।

(रोला)

जन्म-मरण के जनक सर्व दोषों को तजकर ।
अनुपम सहजानन्दज्ञानदर्शनवीरजमय ।।
आतम में थित होकर समताजल समूह से ।
कर कलिमलक्षय जीव जगत के साक्षी होते ।।११४।।

जन्म-मरण के जनक सर्व दोषों से युक्त अनाचार को सम्पूर्णतः छोड़कर, अनुपम सहज आनन्द-दर्शन-ज्ञान-वीर्यवाले अपने आत्मा में स्वयं स्थित होकर, सम्पूर्ण बाह्याचार से मुक्त होता हुआ समतारूपी समुद्र के जलबिन्दुओं के समूह से पवित्र वह सनातन पवित्र आत्मा, मलरूपी क्लेश का क्षय करके लोक का उत्कृष्ट साक्षी होता है ।

उक्त कलश में सबकुछ मिलाकर मात्र इतना ही कहा गया है कि यह भगवान आत्मा जन्म-मरणरूप भव-भ्रमण करानेवाले सम्पूर्ण दोषों से युक्त अनाचार को पूर्णतः छोड़कर अपने आत्मा में स्थिर होकर सम्पूर्ण बाह्याचार अर्थात् बाह्यप्रतिक्रमण को छोड़कर अन्तर में लीनतारूप परमार्थप्रतिक्रमण करता हुआ जगत का साक्षीरूप परिणमित होता है। यही कारण है कि यह कहा गया है कि यह भगवान आत्मा स्वयं प्रतिक्रमण है, प्रतिक्रमणमय है ।।११४।।

अब इस गाथा में यह कह रहे हैं कि जो उन्मार्ग को छोड़कर जिनमार्ग में स्थिर होता है, वह स्वयं प्रतिक्रमणस्वरूप ही है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

छोड़कर उन्मार्ग जो जिनमार्ग में थिरता धरे ।
प्रतिक्रमणमय है इसलिए प्रतिक्रमण कहते हैं उसे ।।८६।।

अत्र उन्मार्गपरित्यागः सर्वज्ञवीतरागमार्गस्वीकारश्चोक्तः। यस्तु शंकाकांक्षाविचिकित्सा-ऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवमलकलंकपंकनिर्मुक्तः शुद्धनिश्चयसद्दृष्टिः बुद्धादिप्रणीतमिथ्यादर्शन-ज्ञानचारित्रात्मकं मार्गाभासमुन्मार्गं परित्यज्य व्यवहारेण महादेवाधिदेवपरमेश्वरसर्वज्ञवीतराग-मार्गे पंचमहाव्रतपंचसमितित्रिगुप्तिपंचेन्द्रियनिरोधषडावश्यकाद्यष्टाविंशतिमूलगुणात्मके स्थिर-परिणामं करोति, शुद्धनिश्चयनयेन सहजबोधादिशुद्धगुणालंकृते सहजपरमचित्सामान्यविशेष-भासिनि निजपरमात्मद्रव्ये स्थिरभावं शुद्धचारित्रमयं करोति, स मुनिर्निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इत्युच्यते, यस्मान्निश्चयप्रतिक्रमणं परमतत्त्वगतं तत एव स तपोधनः सदा शुद्ध इति।

जो जीव उन्मार्ग को छोड़कर जिनमार्ग में स्थिरभाव करता है, वह जीव ही प्रतिक्रमण कहा जाता है; क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ उन्मार्ग के त्याग और सर्वज्ञ वीतराग द्वारा प्रणीत जिनमार्ग की स्वीकृति का निरूपण है। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा[1] और अन्यदृष्टि संस्तव[2] रूप मलकलंकरूपी कीचड़ से रहित जो शुद्धनिश्चयसम्यग्दृष्टि जीव; बुद्धादिप्रणीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक मार्गाभासरूप उन्मार्ग को छोड़कर; व्यवहार से महादेवाधिदेव, परमेश्वर, सर्वज्ञ-वीतरागप्रणीत मार्ग में पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, पाँच इन्द्रियों का निरोध, छह आवश्यक इत्यादि अट्ठाईस मूलगुणस्वरूप व्यवहारमार्ग में स्थिर परिणाम करता है और शुद्धनिश्चयनय से सहज-ज्ञानादि शुद्ध गुणों से अलंकृत सहज परमचैतन्य-सामान्य तथा चैतन्यविशेष जिसका प्रकाश है ह्न ऐसे निजात्मद्रव्य में शुद्धचारित्रमय स्थिरभाव करता है; वह मुनि निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप कहा जाता है; क्योंकि उसे परमतत्त्वगत निश्चयप्रतिक्रमण है; इसलिए वह तपोधन सदा शुद्ध है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि उन्मार्ग को छोड़कर वीतरागी-सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत जिनमार्ग को धारण करना ही प्रतिक्रमण है। **तात्पर्य यह है कि शंका-कांक्षा आदि दोषों से रहित निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव जब जिनेन्द्रकथित महाव्रतादि धारण करनेरूप व्यवहारमार्ग और अपने भगवान आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और रमणतारूप निश्चयमार्ग को धारण करता है; तब मुनिदशा को प्राप्त वह निश्चय सम्यग्दृष्टि स्वयं ही प्रतिक्रमणस्वरूप होता है।।८६।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा चोक्तं प्रवचनसार व्याख्यायां' ह्न** तथा प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में भी कहा है ह्न ऐसा कहकर एक छन्द उद्धृत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

---

१. मन से मिथ्यादृष्टियों की महिमा करना अन्यदृष्टि प्रशंसा है।

२. वचन से मिथ्यादृष्टियों की महिमा करना अन्यदृष्टि संस्तव है।

तथा चोक्तं प्रवचनसारव्याख्यायाम् ह्न

(शार्दूलविक्रीडित्)

इत्येवं चरणं पुराणपुरुषैर्जुष्टं विशिष्टादरै-
रुत्सर्गादपवादतश्च विचरद्वह्नीः पृथग्भूमिकाः ।
आक्रम्य क्रमतो निवृत्तिमतुलां कृत्वा यतिः सर्वत-
श्चित्सामान्यविशेषभासिनि निजद्रव्ये करोतु स्थितिम् ।।४१।।[१]

तथा हि ह्न

(मालिनी)

विषयसुखविरक्ताः शुद्धतत्त्वानुरक्ताः
तपसि निरतचित्ता शास्त्रसंघातमत्ताः ।
गुणमणिगणयुक्ताः सर्वसंकल्पमुक्ताः
कथममृतवधूटीवल्लभा न स्युरेते ।।११५।।

(मनहरण कवित्त)

उतसर्ग और अपवाद के विभेद द्वारा।
भिन्न-भिन्न भूमिका में व्याप्त जो चरित्र है।।
पुराणपुरुषों के द्वारा सादर है सेवित जो।
उसे प्राप्त कर संत हुए जो पवित्र हैं।।
चित्सामान्य और चैतन्यविशेष रूप।
जिसका प्रकाश ऐसे निज आत्मद्रव्य में।।
क्रमशः पर से पूर्णतः निवृत्ति करके।
सभी ओर से सदा वास करो निज में।।४१।।

हे मुनिवरो ! इसप्रकार विशेष आदरपूर्वक पुराण पुरुषों के द्वारा सेवित, उत्सर्ग और अपवाद द्वारा पृथक्-पृथक् अनेक भूमिकाओं में व्याप्त चारित्र को प्राप्त करके, क्रमशः अतुलनिवृत्ति करके, चैतन्यसामान्य और चैतन्यविशेषरूप से प्रकाशित निजद्रव्य में चारों ओर से स्थिति करो।

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि उत्सर्ग और अपवाद मार्ग की मैत्रीवाले इस मुक्तिमार्ग को पुराणपुरुषों ने विशेष आदरपूर्वक अपनाकर मुक्ति प्राप्त की है; इसलिए हे मुनिजनो ! तुम भी उन्हीं के समान जगत से पूर्ण निवृत्ति लेकर सामान्य-विशेषात्मक निजद्रव्य में स्थिति करो, लीन हो जाओ। एकमात्र इसमें ही सार है, शेष सब असार संसार है।।४१।।

---

१. प्रवचनसार : तत्त्वप्रदीपिका टीका, छन्द १५

मोत्तूण सल्लभावं णिस्सल्ले जो दु साहु परिणमदि ।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ।।८७।।

मुक्त्वा शल्यभावं नि:शल्ये यस्तु साधु: परिणमति ।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ।।८७।।

इसके बाद एक छन्द टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो मुक्त सब संकल्प शुध निजतत्त्व में अनुरक्त हों।
तप मग्न जिनका चित्त नित स्वाध्याय में जो मत्त हों।।
धन्य हैं जो सन्त गुणमणि युक्त विषय विरक्त हों।
वे मुक्तिरूपी सुन्दरी के परम वल्लभ क्यों न हों।।११५।।

जो मुनिराज विषयसुख से विरक्त हैं, शुद्धतत्त्व में अनुरक्त हैं, तप में जिनका चित्त लवलीन है, शास्त्रों में जो मत्त (मस्त) हैं, गुणरूपी मणियों के समूह से युक्त हैं और सर्वसंकल्पों से मुक्त हैं; वे मुक्तिसुन्दरी के वल्लभ क्यों न होंगे ? होंगे ही होंगे, अवश्य होंगे ।

इस कलश में वीतरागी सन्तों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वीतरागी सन्त पाँच इन्द्रियों के विषय सेवन से पूर्णत: विरक्त रहते हैं, उनके चित्त में पंचेन्द्रिय विषयों के लिए कोई स्थान नहीं है। वे तो उन्हें मधुर विष के समान मानते हैं। वे मुनिराज शुद्धात्मतत्त्व में लीन रहते हैं, उनका चित्त आत्मध्यानरूप तप में लगा रहता है। गुणरूपी मणियों से आकण्ठपूरित वे मुनिराज शास्त्रों के ही पठन-पाठन, अध्ययन में मस्त रहते हैं। सभीप्रकार के संकल्प-विकल्पों से मुक्त वे मुनिराज मुक्तिरूपी सुन्दरी के अत्यन्त प्रिय क्यों न होंगे ?

तात्पर्य यह है कि उक्त गुणों से युक्त सन्तों का संसार-बंधन से मुक्त होना और मुक्त अवस्था को प्राप्त होना दूर नहीं है, अत्यन्त निकट ही है।।११५।।

अब इस गाथा में यह कहते हैं कि माया, मिथ्यात्व और निदान ह्न इन शल्यों से रहित मुनिराज स्वयं प्रतिक्रमणस्वरूप ही हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

छोड़कर त्रिशल्य जो नि:शल्य होकर परिणमे।
प्रतिक्रमणमय है इसलिए वह स्वयं ही प्रतिक्रमण है।।८७।।

जो साधु शल्यभाव को छोड़कर नि:शल्यभाव से परिणमित होता है, उस साधु को प्रतिक्रमण कहा जाता है; क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय है ।

इह हि निःशल्यभावपरिणतमहातपोधन एव निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इत्युक्तः ।

निश्चयतो निःशल्यस्वरूपस्य परमात्मनस्तावद् व्यवहारनयबलेन कर्मपंकयुक्तत्वात् निदानमायामिथ्याशल्यत्रयं विद्यत इत्युचारतः । अत एव शल्यत्रयं परित्यज्य परमनिःशल्य-स्वरूपे तिष्ठति यो हि परमयोगी स निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इत्युच्यते, यस्मात् स्वरूपगत-वास्तवप्रतिक्रमणमस्त्येवेति ।

(अनुष्टुभ्)

शल्यत्रयं परित्यज्य निःशल्ये परमात्मनि ।
स्थित्वा विद्वान्सदा शुद्धमात्मानं भावयेत्स्फुटम् ।।११६।।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ निःशल्यभाव से परिणमित महातपोधन को ही निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप कहा है।

निःशल्यस्वरूप परमात्मा के यद्यपि व्यवहारनय के बल से कर्मरूपी कीचड़ के साथ संबंध होने से मिथ्यात्व, माया और निदान नामक शल्य वर्तते हैं ह्न ऐसा उपचार से कहा जाता है; तथापि ऐसा होने से ही जो परमयोगी तीन शल्यों का परिहार करके परमनिःशल्य-स्वरूप में रहता है; उसे निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप कहा जाता है; क्योंकि उसे स्वरूपगत वास्तविक प्रतिक्रमण तो है ही।''

उक्त गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि मिथ्यात्व, माया और निदान ह्न इन तीन शल्यों को छोड़कर जो ज्ञानी धर्मात्मा या मुनिराज परमनिःशल्यस्वभाव में ही ठहरते हैं, निःशल्यभावरूप परिणमित होते हैं; वे स्वयं ही निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप हैं; क्योंकि उन्हें स्वरूपगत परमार्थप्रतिक्रमण तो है ही।।८७।।

इस गाथा की टीका के उपरान्त मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव दो छन्द लिखते हैं, जिसमें से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

शल्य रहित परमात्म में तीन शल्य को छोड़।
स्थित रह शुद्धात्म को भावैं पंडित लोग।।११६।।

तीन शल्यों को छोड़कर, निःशल्य परमात्मा में स्थिर रहकर, विद्वानों को शुद्धात्मा को सदा स्फुटरूप से भाना चाहिए।

इस कलश में मात्र इतना ही कहा गया है कि ज्ञानी धर्मात्मा विद्वानों और वीतरागी सन्तों को तो निरन्तर शुद्धात्म भावनारूप ही परिणमित होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि **ज्ञानी धर्मात्मा विद्वान और सन्त तो निरन्तर शुद्धात्मभावनारूप ही परिणमित होते हैं।।११६।।**

(पृथ्वी)

कषायकलिरंजितं त्यजतु चित्तमुच्चैर्भवान्
भवभ्रमणकारणं स्मरशराग्निदग्धं मुहुः ।
स्वभावनियतं सुखं विधिवशादनासादितं
भजत्वमलिनं यते प्रबलसंसृतेर्भीतितः ।।११७।।

चत्ता अगुत्तिभावं तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू ।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ।।८८।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(कुण्डलिया)

अरे कषायों से रंगा भव का हेतु अजोड़।
कामबाण की आग से दग्ध चित्त को छोड़।।
दग्ध चित्त को छोड़ भाग्यवश जो न प्राप्त है।
ऐसा सुख जो निज आतम में सदा व्याप्त है।।
निजस्वभाव में नियत आत्मरस माँहि पगा है।
उसे भजो जो नाँहि कषायों माँहि रंगा है।।११७।।

भवभ्रमण के कारण, कामबाण की अग्नि से दग्ध एवं कायक्लेश से रंगे हुए चित्त को हे यतिजनो ! तुम पूर्णतः छोड़ दो और भाग्यवश अप्राप्त, निर्मल स्वभावनियत सुख को तुम संसार के प्रबल डर से भजो ।

इस कलश में यतिजनों को संबोधित करते हुए कहा गया है कि कामबाण की अग्नि से दग्ध अर्थात् कामवासना में संलिप्त और कायक्लेश से रंजित अर्थात् शारीरिक क्रियाकाण्ड में उलझे हुए स्वयं के चित्त को दूर से ही छोड़ देना चाहिए; क्योंकि इसप्रकार की वृत्ति संसार परिभ्रमण का कारण है। **तात्पर्य यह है कि कामवासनारूप अशुभभाव और क्रियाकाण्ड में संलग्न शुभभावरूप अशुद्धभाव सांसारिक बंधन के कारण हैं। इनसे बचना चाहिए। तथा दुर्भाग्यवश जो अबतक अप्राप्त रहा है, ऐसा जो निर्मल स्वभावजन्य सुख है, प्रबल संसार के भय से भयभीत हो, उसे भजना चाहिए, उसे प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।।११७।।**

अब इस गाथा में यह कहते हैं कि **त्रिगुप्तिधारी साधु ही प्रतिक्रमण हैं; क्योंकि वे प्रतिक्रमणमय हैं।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

तज अगुप्तिभाव जो नित गुप्त गुप्ती में रहें।
प्रतिक्रमणमय है इसलिए प्रतिक्रमण कहते हैं उन्हें।।८८।।

त्यक्त्वा ह्यगुप्तिभावं त्रिगुप्तिगुप्तो भवेद्यः साधुः ।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ।।८८।।

त्रिगुप्तिगुप्तलक्षणपरमतपोधनस्य निश्चयचारित्राख्यानमेतत् । यः परमतपश्चरण सरः-सरसिरुहाकरचंडचंडरश्मिरत्यासन्नभव्यो मुनीश्वरः बाह्यप्रपंचरूपम् अगुप्तिभावं त्यक्त्वा त्रिगुप्तिगुप्तनिर्विकल्पपरमसमाधिलक्षणलक्षितम् अत्यपूर्वमात्मानं ध्यायति, यस्मात् प्रतिक्रमणमयः परमसंयमी अत एव स च निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपो भवतीति ।

(हरिणी)

अथ तनुमनोवाचां त्यक्त्वा सदा विकृतिं मुनिः
सहजपरमां गुप्तिं संज्ञानपुंजमयीमिमाम् ।
भजतु परमां भव्यः शुद्धात्मभावनया समं
भवति विशदं शीलं तस्य त्रिगुप्तिमयस्य तत् ।।११८।।

जो साधु अगुप्तिभाव को छोड़कर त्रिगुप्ति में गुप्त रहते हैं; वे साधु प्रतिक्रमण कहे जाते हैं; क्योंकि वे प्रतिक्रमणमय ही हैं ।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''त्रिगुप्तिगुप्त लक्षणवाले परमतपोधन सन्तों को निश्चयचारित्र होने का यह कथन है ।

परमतपश्चरणरूपी सरोवर के कमलसमूह को खिलाने के लिए जो प्रचंड सूर्य समान हैं; ऐसे अति आसन्नभव्य मुनीश्वर; बाह्य प्रपंचरूप अगुप्तिभाव छोड़कर, त्रिगुप्तिरूप निर्विकल्प परमसमाधिलक्षण से लक्षित अति-अपूर्व आत्मा को ध्याते हैं, वे मुनिराज प्रतिक्रमणमय परमसंयमी होने से निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप ही हैं ।''

इस गाथा और उसकी टीका में मात्र इतना ही कहा गया है कि तीन गुप्तियों के धनी, निर्विकल्प समाधि में समाधिस्थ, आत्मध्यानी महामुनिराज परमसंयमी होने से प्रतिक्रमण स्वरूप ही हैं । तात्पर्य यह है कि **वास्तविक प्रतिक्रमण आत्मध्यानी सन्तों के ही होता है ।।८८।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

सद्ज्ञानमय शुद्धात्मा पर है न कोई आवरण।
त्रिगुप्तिधारी मुनिवरों का परम निर्मल आचरण।।
मन-वचन-तन की विकृति को छोड़कर हे भव्यजन!
शुद्धात्मा की भावना से परम गुप्ती को भजो।।११८।।

हे आसन्नभव्य मुनिजन ! मन-वचन-काय की विकृति को छोड़कर सम्यग्ज्ञानमयी

मोत्तूण अट्टरुद्दं झाणं जो झादि धम्मसुक्कं वा।
सो पडिकमणं उच्चइ जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु ।।८९।।

मुक्त्वार्तरौद्रं ध्यानं यो ध्यायति धर्मशुक्लं वा।
स प्रतिक्रमणमुच्यते जिनवरनिर्दिष्टसूत्रेषु ।।८९।।

ध्यानविकल्पस्वरूपाख्यानमेतत्। स्वदेशत्यागात् द्रव्यनाशात् मित्रजनविदेशगमनात् कमनीयकामिनीवियोगात् अनिष्टसंयोगाद्वा समुपजातमार्तध्यानम्, चौरजारशात्रवजनवध-बंधननिबद्धमहद्द्वेषजनितरौद्रध्यानं च, एतद्द्वितयम् अपरिमितस्वर्गापवर्गसुखप्रतिपक्षं संसारदु:खमूलत्वान्निरवशेषेण त्यक्त्वा, स्वर्गापवर्गनि:सीमसुखमूलस्वात्माश्रितनिश्चयपरम-धर्मध्यानम्, ध्यानध्येयविविधविकल्पविरहितान्तर्मुखाकारसकलकरणग्रामातीतनिर्भेदपरम-

---

सहज परम गुप्ति को शुद्धात्मा की भावना सहित उत्कृष्टरूप से भजो; क्योंकि त्रिगुप्तिधारी ऐसे मुनिराजों का चारित्र निर्मल होता है।

इस कलश में मात्र यही कहा गया है कि हे आसन्नभव्य मुनिजनो ! मन-वचन-काय के माध्यम से व्यक्त होनेवाली विकृतियों को छोड़कर सम्यग्ज्ञानमयी सहज परम गुप्ति को शुद्धात्मा की भावना में एकाग्र होकर उत्कृष्टरूप से भजो; क्योंकि **तीन गुप्तियों के धारी संतों का चरित्र अत्यंत निर्मल होता है। इसलिए वे स्वयं प्रतिक्रमण हैं, प्रतिक्रमणमय हैं।।११८।।**

अब इस गाथा में यह कहते हैं कि धर्मध्यान और शुक्लध्यान ही प्रतिक्रमण है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

तज आर्त एवं रौद्र ध्यावे धरम एवं शुकल को।
परमार्थ से वह प्रतिक्रमण यह कहा जिनवर सूत्र में।।८९।।

जो जीव आर्त और रौद्र ह्न इन दो ध्यानों को छोड़कर धर्म या शुक्ल ह्न ध्यान को ध्याता है; वह जीव जिनवरकथित सूत्रों में प्रतिक्रमण कहा जाता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह ध्यान के भेदों के स्वरूप का कथन है। स्वदेश के त्याग से, द्रव्य के नाश से, मित्रजनों के विदेश जाने से एवं कमनीय कामिनी के वियोग से इष्टवियोगज और अनिष्टसंयोगों से उत्पन्न होनेवाला अनिष्टसंयोगज नामक आर्तध्यान तथा चोर-जार, शत्रुजनों के बध-बंधन संबंधी महाद्वेष से उत्पन्न होनेवाला रौद्रध्यान ह्न ये आर्त और रौद्र ह्न दोनों ध्यान स्वर्ग और मोक्ष के अपरिमित सुख से प्रतिपक्ष संसार दु:ख के मूल कारण होने के कारण, उन दोनों ध्यानों को पूर्णत: छोड़कर; स्वर्ग और मोक्ष के असीम सुख के मूल ह्न ऐसे जो स्वात्माश्रित निश्चय परमधर्मध्यान तथा ध्यान और ध्येय के विकल्पों से रहित, अन्तर्मुखाकार,

कलासनाथनिश्चयशुक्लध्यानं च ध्यात्वा य: परमभावभावनापरिणत: भव्यवरपुंडरीक: निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपो भवति, परमजिनेन्द्रवदनारविन्दविनिर्गतद्रव्यश्रुतेषु विदितमिति। ध्यानेषु च चतुर्षु हेयमाद्यं ध्यानद्वितयं, त्रितयं तावदुपादेयं, सर्वदोपादेयं च चतुर्थमिति।

तथा चोक्तम् ह्न

(अनुष्टुभ्)

निष्क्रियं करणातीतं ध्यानध्येयविवर्जितम्।
अन्तर्मुखं तु यद्ध्यानं तच्छुक्लं योगिनो विदु: ।।४२।।[१]

इन्द्रियातीत और अभेद परमकला सहित निश्चय शुक्लध्यान ह्न इन धर्म और शुक्ल ध्यानों को ध्याकर जो भव्योत्तम परमभाव की भावनारूप से परिणमित होता है; वह निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप है। ह्न ऐसा जिनेन्द्र भगवान के मुखकमल में से निकले द्रव्यश्रुत में कहा है। उक्त चार ध्यानों में आरंभ के आर्त और रौद्र ह्न ये दो ध्यान हेय हैं, धर्मध्यान नामक तीसरा ध्यान उपादेय है और शुक्लध्यान नामक चौथा ध्यान सर्वदा उपादेय है।''

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि टीकाकार मुनिराज ने आर्तध्यान में इष्टवियोगज और अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान की चर्चा तो की, पर वेदनाजन्य और निदान नामक आर्तध्यान की चर्चा नहीं की। इसीप्रकार रौद्रध्यान के भेदों की भी चर्चा न करके मात्र इतना ही कह दिया कि द्वेषभाव से उत्पन्न होनेवाला रौद्रध्यान।

अरे भाई ! यह कोई बात नहीं है; क्योंकि **यहाँ ध्यानों के भेद-प्रभेदों की चर्चा करना इष्ट नहीं है। यदि होता तो फिर धर्मध्यान और शुक्लध्यानों के भेदों की भी चर्चा होती। यहाँ तो मात्र यह बताना अभीष्ट है कि धर्मध्यान और शुक्लध्यान ही प्रतिक्रमणस्वरूप हैं, उपादेय हैं।**

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में मात्र इतना ही कहा गया है कि आरंभ के आर्त और रौद्र ह्न ये दो ध्यान नरकादि अशुभ गतियों के कारण हैं, दु:खरूप हैं; अत: हेय हैं, छोड़ने योग्य हैं और धर्मध्यान उपादेय है तथा शुक्लध्यान परम उपादेय है। ये उपादेय ध्यान ही प्रतिक्रमणरूप हैं; इस कारण इनके धारकों को गाथा में अभेदनय से प्रतिक्रमणस्वरूप ही कहा है।।८९।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा चोक्तम् ह्न** तथा कहा भी है' ह्न लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

---

१. ग्रंथ का नाम और श्लोक संख्या अनुपलब्ध है।

(वसंततिलका)

ध्यानावलीमपि च शुद्धनयो न वक्ति
व्यक्तं सदाशिवमये परमात्मतत्त्वे।
सास्तीत्युवाच सततं व्यवहारमार्ग-
स्तत्त्वं जिनेन्द्र तदहो महदिन्द्रजालम् ।।११९।।

सद्बोधमंडनमिदं परमात्मतत्त्वं
मुक्तं विकल्पनिकरैरखिलैः समन्तात्।
नास्त्येष सर्वनयजातगतप्रपंचो
ध्यानावली कथय सा कथमत्र जाता ।।१२०।।

(रोला)

अरे इन्द्रियों से अतीत अन्तर्मुख निष्क्रिय।
ध्यान-ध्येय के जल्पजाल से पार ध्यान जो।
अरे विकल्पातीत आतमा की अनुभूति।
ही है शुक्लध्यान योगिजन ऐसा कहते।।४२।।

जो ध्यान निष्क्रिय है, इन्द्रियातीत है, ध्यान और ध्येय के विकल्पों से रहित है और अन्तर्मुख है; उस ध्यान को योगीजन शुक्लध्यान कहते हैं।

उक्त कलश में शुक्लध्यान को योगियों की साक्षीपूर्वक राग और भेद की क्रिया से रहित, इन्द्रियों से अतीत, ध्यान और ध्येय के विकल्पों से रहित तथा अन्तर्मुख कहा है।।४२।।

इसके उपरान्त टीकाकार दो छन्द स्वयं लिखते हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

सदा प्रगट कल्याणरूप परमात्मतत्त्व में।
ध्यानावलि है कभी कहे न परमशुद्धनय।।
ऐसा तो व्यवहारमार्ग में ही कहते हैं।
हे जिनवर यह तो सब अद्भुत इन्द्रजाल है।।११९।।

ज्ञानतत्त्व का आभूषण परमात्मतत्त्व यह।
अरे विकल्पों के समूह से सदा मुक्त है।।
नय समूहगत यह प्रपंच न आत्मतत्त्व में।
तब ध्यानावलि कैसे आई कहो जिनेश्वर।।१२०।।

मिच्छत्तपहुदिभावा पुव्वं जीवेण भाविया सुइरं।
सम्मत्तपहुदिभावा अभाविया होंति जीवेण।।९०।।

मिथ्यात्वप्रभृतिभावाः पूर्णं जीवेन भाविताः सुचिरम्।
सम्यक्त्वप्रभृतिभावाः अभाविता भवन्ति जीवेन।।९०।।

आसन्नानासन्नभव्यजीवपूर्वापरपरिणामस्वरूपोपन्यासोऽयम्। मिथ्यात्वाव्रतकषाययोग–

प्रगटरूप सदा कल्याणस्वरूप परमात्मतत्त्व में ध्यानावली (ध्यान परंपरा–ध्यानपंक्ति) का होना भी शुद्धनय नहीं कहता; क्योंकि ध्यानावली आत्मा में है ह्न ऐसा तो हमेशा व्यवहार मार्ग में ही कहा जाता है।

हे जिनेन्द्रदेव ! आपके द्वारा कहा गया यह वस्तुस्वरूप अहो महा (बहुत बड़ा) इन्द्रजाल जैसा ही लगता है। सम्यग्ज्ञान का आभूषण यह परमात्मतत्त्व समस्त विकल्पसमूहों से सर्वतः मुक्त है। सर्वनयसमूह संबंधी यह प्रपंच परमात्मतत्त्व में नहीं है तो फिर यह ध्यानावली इसमें किसप्रकार उत्पन्न हुई ? कृपा कर यह बताइये।

इन छन्दों में यह कहा गया है कि जब ध्यान के ध्येयरूप परमात्मतत्त्व में ध्यानावली ह्न ध्यान की श्रेणी है ही नहीं ह्न ऐसा शुद्धनय कहता है; तब यह ध्यानावली उक्त परमात्मतत्त्व में कैसे हो सकती है ?

यद्यपि यह सत्य है कि व्यवहारनय से ऐसा कहा जाता है कि ध्यानावली आत्मा में है; तथापि परमार्थ तो यही है कि ध्येयतत्त्व में ध्यानावली का होना संभव नहीं है।।११९–१२०।।

अब इस गाथा में यह कहते हैं कि इस जीव ने मिथ्यात्वादि भावों को तो अनादि से भाया है; पर सम्यक्त्वादि भावों को आजतक नहीं भाया। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(हरिगीत)

मिथ्यात्व आदिक भाव तो भाये सुचिर इस जीव ने।
सम्यक्त्व आदिक भाव पर भाये नहीं इस जीव ने।।९०।।

मिथ्यात्व आदि भाव तो इस जीव ने बहुत लम्बे काल से भाये हैं; परन्तु सम्यक्त्वादि भावों को कभी नहीं भाया।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह आसन्नभव्य (निकटभव्य) और अनासन्नभव्य (जिसका मोक्ष दूर है ह्न ऐसे भव्य) जीवों के पूर्वापर परिणामों के स्वरूप का कथन है।

मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योगरूप परिणाम सामान्य प्रत्यय (आस्रवभाव) हैं।

परिणामास्सामान्यप्रत्ययाः, तेषां विकल्पास्त्रयोदश भवन्ति 'मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं' इति वचनात्, मिथ्यादृष्टिगुणस्थानादिसयोगिगुणस्थानचरमसमयपर्यंतस्थिता इत्यर्थः। अनासन्नभव्यजीवेन निरंजननिजपरमात्मतत्त्वश्रद्धानविकलेन पूर्वं सुचिरं भाविताः खलु सामान्यप्रत्ययाः, तेन स्वरूपविकलेन बहिरात्मजीवेनानासादितपरमनैष्कर्म्यचरित्रेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि न भावितानि भवन्तीति। अस्य मिथ्यादृष्टेर्विपरीतगुणनिचय-संपन्नोऽत्यासन्नभव्यजीवः।

अस्य सम्यग्ज्ञानभावना कथमिति चेत् ह्न तथा चोक्तं श्रीगुणभद्रस्वामिभिः ह्न

(अनुष्टुभ्)

भावयामि भवावर्ते भावनाः प्रागभाविताः।
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावनाः ।।४३।।[१]

उनके तेरह भेद हैं; क्योंकि 'मिच्छादिट्ठी आदि जाव सजोगिस्स चरमंते' ह्न ऐसा शास्त्र का वचन है और इसका अर्थ ऐसा है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर सयोगकेवली गुणस्थान के अन्तिम समय तक ह्न कुल मिलाकर तेरह विशेष प्रत्यय हैं।

निरंजन निज परमात्मतत्त्व के श्रद्धान रहित दूरभव्य जीव ने सामान्य प्रत्ययों को सुचिरकाल तक भाया है; किन्तु परमनैष्कर्मचारित्र से रहित उक्त स्वरूपशून्य बहिरात्मा ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को नहीं भाया। इस मिथ्यादृष्टि जीव के विपरीत गुणसमुदाय वाला अति आसन्नभव्य जीव होता है।''

उक्त गाथा में मात्र यही कहा गया है कि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ह्न सामान्यरूप से उक्त चार प्रत्यय ही बंध के कारण हैं, आस्रवभाव हैं। ये भाव पहले गुणस्थान से लेकर, तेरहवें गुणस्थान तक पाये जाते हैं। यही कारण है कि आरंभ के तेरह गुणस्थानों को विशेष प्रत्यय कहा गया है। दूरभव्य जीवों ने अनादिकाल से उक्त सामान्य-विशेष प्रत्ययों अर्थात् आस्रवभावों की ही भावना भायी है; सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मुक्तिमार्ग की भावना ही नहीं भायी। इसके विपरीत जीव यानि इन सम्यग्दर्शनादि की भावना भानेवाला जीव आसन्नभव्य होता है।।९०।।

'इस अतिनिकटभव्य जीव को सम्यग्ज्ञान की भावना कैसी होती है ?' इसप्रकार के प्रश्न के उत्तर में टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव, **'तथा चोक्तं श्री गुणभद्रस्वामिभिः ह्न** तथा गुणभद्रस्वामी ने भी कहा है' ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

---

१. आत्मानुशासन, छन्द २३८

तथा हि ह्न

(मालिनी)

अथ भवजलराशौ मग्नजीवेन पूर्वं
किमपि वचनमात्रं निर्वृतेः कारणं यत्।
तदपि भवभवेषु श्रूयते बाह्यते वा
न च न च बत कष्टं सर्वदा ज्ञानमेकम्।।१२१।।

(दोहा)

पहले कभी न भायी जो भवावर्त्त के माँहि।
भवाभाव के लिए अब मैं भाता हूँ ताहि।।४३।।

इस संसार के भँवरजाल में उलझा हुआ मैं; भव का अभाव करने के लिए, अब पहले कभी न भायी गई भावना को भाता हूँ।

उक्त छंद में तो मात्र यही कहा गया है कि इस संसारसागर से पार उतारनेवाली सम्यग्दर्शनादि की भावना मैंने आजतक नहीं भायी; क्योंकि अबतक तो मैं इस संसार के भंवरजाल में उलझा रहा हूँ। अब मुझे कुछ समझ आई है; इसलिए अब मैं भव का अभाव करने के लिए, संसार सागर से पार उतरने के लिए उक्त सम्यग्दर्शनादिरूप धर्म की भावना भाता हूँ।।४३।।

इसके बाद टीकाकार एक छंद स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

संसार सागर में मगन इस आत्मघाती जीव ने।
रे मात्र कहने के धर्म की वार्ता भव-भव सुनी।।
धारण किया पर खेद है कि अरे रे इस जीव ने।
ज्ञायकस्वभावी आत्मा की बात भी न कभी सुनी।।१२१।।

जो मोक्ष का थोड़ा-बहुत कथनमात्र कारण है; उस व्यवहाररत्नत्रय को तो इस संसार समुद्र में डूबे जीव ने अनेक भवों में सुना है और धारण भी किया है; किन्तु अरे रे ! खेद है कि जो हमेशा एक ज्ञानरूप ही है, ऐसे परमात्मतत्त्व को कभी सुना ही नहीं है और न कभी तदनुसार आचरण ही किया है।

इस कलश में मात्र इतना ही कहा गया है कि यद्यपि व्यवहाररत्नत्रय को मुक्ति का कारण व्यवहारनय से कहा गया है; तथापि वह कथनमात्र कारण है; क्योंकि शुभरागरूप और शुभक्रियारूप होने से वह पुण्यबंध का ही कारण है, मोक्ष का कारण नहीं। संसारसमुद्र में डूबे हुए जीवों ने उक्त व्यवहार धर्म की चर्चा तो अनेक बार सुनी है, उसका यथाशक्ति

मिच्छादंसणणाणचरित्तं चइऊण णिरवसेसेण ।
सम्मत्तणाणचरणं जो भावइ सो पडिक्कमणं ।।९१।।

मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रं त्यक्त्वा निरवशेषेण ।
सम्यक्त्वज्ञानचरणं यो भावयति स प्रतिक्रमणम् ।।९१।।

अत्र सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां निरवशेषस्वीकारेण मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणां निरवशेष-त्यागेन च परममुमुक्षोर्निश्चयप्रतिक्रमणं च भवति इत्युक्तम् ।

भगवदर्हत्परमेश्वरमार्गप्रतिकूलमार्गाभासमार्गश्रद्धानं मिथ्यादर्शनं, तत्रैवावस्तुनि वस्तु-बुद्धिर्मिथ्याज्ञानं, तन्मार्गाचरणं मिथ्याचारित्रं च, एतत्त्रितयमपि निरवशेषं त्यक्त्वा, अथवा स्वात्मश्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानरूपविमुखत्वमेवमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रात्मकरत्नत्रयम्, एतदपि त्यक्त्वा । त्रिकालनिरावरणनित्यानंदैकलक्षणनिरंजननिजपरमपारिणामिकभावात्मककारण-परमात्मा ह्यात्मा, तत्स्वरूपश्रद्धानपरिज्ञानाचरणस्वरूपं हि निश्चयरत्नत्रयम्, एवं भगवत्पर-

---

पालन भी किया है; किन्तु **ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा की बात कभी नहीं सुनी और तदनुसार आचरण भी कभी नहीं हुआ।** प्रत्येक आत्मार्थी भाई-बहिन को उक्त तथ्य की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।।१२१।।

अब इस गाथा में कहते हैं कि रत्नत्रयरूप से परिणमित ज्ञानी जीव स्वयं ही प्रतिक्रमण है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

ज्ञानदर्शनचरण मिथ्या पूर्णत: परित्याग कर।
रतनत्रय भावे सदा वह स्वयं ही है प्रतिक्रमण।।९१।।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को पूर्णत: छोड़कर जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को भाता है, वह जीव स्वयं प्रतिक्रमण ही है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को सम्पूर्णत: स्वीकार करने एवं मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का संपूर्णत: त्याग करने से परममुमुक्षु को निश्चयप्रतिक्रमण होता है ह्न ऐसा कहा है।

भगवान अरिहंत परमेश्वर के मार्ग से प्रतिकूल मार्गाभास में मार्ग का श्रद्धान मिथ्यादर्शन है, उसी में कही गई अवस्तु में वस्तुबुद्धि मिथ्याज्ञान है और उस मार्ग का आचरण मिथ्याचारित्र है। इन तीनों को सम्पूर्णत: छोड़कर अथवा निजात्मा के श्रद्धान, ज्ञान एवं अनुष्ठान के रूप से विमुखता ही मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक मिथ्या रत्नत्रय है; इसे भी पूर्णत: छोड़कर; त्रिकाल निरावरण, नित्यानन्द लक्षणवाला, निरंजन, निज परमपारिणामिकभावस्वरूप कारण परमात्मारूप आत्मा के स्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान-आचरण का रूप ही वस्तुत:

मात्मसुखाभिलाषी य: परमपुरुषार्थपरायण: शुद्धरत्नत्रयात्मकम् आत्मानं भावयति स परम-तपोधन एव निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इत्युक्त: ।

(वसंततिलका)

त्यक्त्वा विभावमखिलं व्यवहारमार्ग-
रत्नत्रयं च मतिमान्निजतत्त्ववेदी ।
शुद्धात्मतत्त्वनियतं निजबोधमेकं ।
श्रद्धानमन्यदपरं चरणं प्रपेदे ।।१२२।।

निश्चयरत्नत्रय है । इसप्रकार भगवान परमात्मा के सुख का अभिलाषी जो परमपुरुषार्थ-परायण पुरुष शुद्धरत्नत्रयात्मक आत्मा को भाता है; उस परमतपोधन को ही शास्त्रों में निश्चयप्रतिक्रमण कहा है ।''

इस गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के त्यागी और निश्चयरत्नत्रय के धारक सन्त ही निश्चयप्रतिक्रमण हैं।

यहाँ मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि **अरिहंत भगवान द्वारा प्रतिपादित मार्ग से विपरीत मार्ग के श्रद्धान का नाम मिथ्यादर्शन है। अवस्तु में वस्तुपने की मान्यता मिथ्याज्ञान और अरहंत के विरोधियों द्वारा निरूपित चारित्र मिथ्याचारित्र है।** इन्हें छोड़कर अरहंतों द्वारा प्रतिपादित अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण निश्चयचारित्र है। ऐसे निश्चयरत्नत्रय के धारक श्रमण साक्षात् प्रतिक्रमण हैं।।९१।।

इसके उपरांत टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(दोहा)

जानकार निजतत्त्व के तज विभाव व्यवहार।
आत्मज्ञान श्रद्धानमय धरें विमल आचार।।१२२।।

व्यवहाररत्नत्रय और समस्त विभावभावों को छोड़कर निजात्मा का अनुभवी तत्त्वों का जानकार बुद्धिमान पुरुष; शुद्धात्मतत्त्व के ज्ञान, श्रद्धान एवं आचरणरूप परिणमित होता है।

इस छन्द में मात्र यही कहा गया है कि क्रोधादि विभाव भावों के समान व्यवहाररत्नत्रय संबंधी शुभराग भी हेय है, छोड़ने योग्य है; क्योंकि उसे छोड़े बिना निश्चयप्रतिक्रमण संभव नहीं है। उक्त विभाव भावों और व्यवहाररत्नत्रय संबंधी विकल्पों को छोड़कर **जो मुनिराज शुद्धात्मतत्त्व के श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप परिणमित होते हैं; वे सन्त स्वयं ही प्रतिक्रमण-स्वरूप हैं।।१२२।।**

उत्तमअट्ठं आदा तम्हि ठिदा हणदि मुणिवरा कम्मं ।
तम्हा दु झाणमेव हि उत्तमअट्ठस्स पडिकमणं ।।९२।।

उत्तमार्थ आत्मा तस्मिन् स्थिता घ्नन्ति मुनिवरा: कर्म ।
तस्मात्तु ध्यानमेव हि उत्तमार्थस्य प्रतिक्रमणम् ।।९२।।

अत्र निश्चयोत्तमार्थप्रतिक्रमणस्वरूपमुक्तम् । इह हि जिनेश्वरमार्गे मुनीनां सल्लेखनासमये हि द्विचत्त्वारिंशद्भिराचार्यैर्दत्तोमार्थप्रतिक्रमणाभिधानेन देहत्यागो धर्मो व्यवहारेण । निश्चयेन नवार्थेषूत्तमार्थो ह्यात्मा; तस्मिन् सच्चिदानंदमयकारणसमयसारस्वरूपे तिष्ठन्ति ये तपोधनास्ते नित्यमरणभीरव:, अत एव कर्मविनाशं कुर्वन्ति ।

तस्मादध्यात्मभाषयोक्तभेदकरणध्यानध्येयविकल्पविरहितनिरवशेषेणान्तर्मुखाकार–सकलेन्द्रियागोचरनिश्चयपरमशुक्लध्यानमेव निश्चयोत्तमार्थप्रतिक्रमणमित्यवबोद्धव्यम् ।

किं च, निश्चयोत्तमार्थप्रतिक्रमणं स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुक्लध्यानमयत्वादमृतकुम्भ–

अब इस गाथा में कहते हैं कि आत्मध्यान ही प्रतिक्रमण है ।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

उत्तम पदारथ आतमा में लीन मुनिवर कर्म को ।
घातते हैं इसलिए निज ध्यान ही है प्रतिक्रमण ।।९२।।

आत्मा उत्तम पदार्थ है । उत्तम पदार्थरूप आत्मा में स्थित मुनिराज कर्मों का नाश करते हैं । इसलिए आत्मध्यान ही उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है ।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण का स्वरूप कहा गया है ।

जिनेश्वर के मार्ग में मुनियों की सल्लेखना के समय ब्यालीस आचार्यों के द्वारा उत्तमार्थ प्रतिक्रमण नामक प्रतिक्रमण दिये जाने के कारण होनेवाला देहत्याग व्यवहार से धर्म है ।

निश्चयनय से नौ पदार्थों में उत्तम पदार्थ आत्मा है । सच्चिदानन्दमय कारणसमयसार–स्वरूप आत्मा में जो तपोधन स्थित रहते हैं, वे सदा मरणभीरु होते हैं; इसीलिए वे कर्मों का नाश करते हैं । इसलिए अध्यात्मभाषा में भेदसंबंधी और ध्यान–ध्येयसंबंधी विकल्पों से रहित, सम्पूर्णत: अन्तर्मुख, सभी इन्द्रियों से अगोचर निश्चय परमशुक्लध्यान ही निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है ह्न ऐसा जानना चाहिए ।

दूसरी बात यह है कि निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण; स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान तथा निश्चय शुक्लध्यानमय होने से अमृतकुंभस्वरूप है और व्यवहार उत्तमार्थ प्रतिक्रमण

स्वरूपं भवति, व्यवहारोत्तमार्थप्रतिक्रमणं व्यवहारधर्मध्यानमयत्वाद्विषकुम्भस्वरूपं भवति।

तथा चोक्तं समयसारे ह्न

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होदि विसकुंभो।।४४।।[1]

तथा चोक्तं समयसारव्याख्यायाम् ह्न

(वसंततिलका)

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः।।४५।।[2]

व्यवहारध्यानमय होने से विषकुंभ स्वरूप है।''

इस गाथा और उसकी टीका में मुख्यरूप से यही कहा गया है कि मरणकाल उपस्थित होने पर आचार्यों की अनुमतिपूर्वक जो सल्लेखना ली जाती है, जिसमें आहारादि के क्रमशः त्यागादिरूप शुभक्रिया और तत्संबंधी शुभभाव होते हैं, वह व्यवहारप्रतिक्रमण है और सभी प्रकार के विकल्पों से अतीत होकर निज भगवान आत्मा का ध्यान करना निश्चयप्रतिक्रमण है। इनमें से व्यवहारप्रतिक्रमण शुभभाव और शुभक्रियारूप होने से पुण्यबंध का कारण है और निश्चयप्रतिक्रमण शुद्धभावरूप होने से बंध के अभाव का कारण है।

बंध का कारण होने से व्यवहारप्रतिक्रमण विषकुंभ है और बंध के अभाव का कारण होने से निश्चयप्रतिक्रमण अमृतकुंभ है।।९२।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा चोक्तं समयसारे ह्न तथा समयसार में भी कहा है' ह्न** लिखकर एक गाथा प्रस्तुत करते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

प्रतिक्रमण अर प्रतिसरण परिहार निवृत्ति धारणा।
निन्दा गरहा और शुद्धि अष्टविध विषकुंभ हैं।।४४।।

प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि ह्न ये आठ प्रकार के विषकुंभ हैं; क्योंकि इनमें कर्तृत्वबुद्धि संभवित है।

प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण के विषकुंभ और अमृतकुंभ के संदर्भ में विशेष जानकारी के

---

१. समयसार, गाथा ३०६

२. समयसार : आत्मख्याति, छन्द १८९

तथा हि ह्न

(मंदाक्रांता)

आत्मध्यानादपरमखिलं घोरसंसारमूलं
ध्यानध्येयप्रमुखसुतपः कल्पनामात्ररम्यम् ।
बुद्ध्वा धीमान् सहजपरमानन्दपीयूषपूरे
निर्मज्जन्तं सहजपरमात्मानमेकं प्रपेदे ।।१२३।।

लिए समयसार गाथा ३०६ व ३०७ एवं उनकी आत्मख्याति टीका व उसमें समागत कलशों का अध्ययन सूक्ष्मता से किया जाना चाहिए। उक्त प्रकरण संबंधी अनुशीलन का अध्ययन भी उपयोगी रहेगा ।।४४।।

इसके बाद **'तथा चोक्तं समयसारव्याख्यायाम् ह्न** तथा समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में कहा है' ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

प्रतिक्रमण भी अरे जहाँ विष-जहर कहा हो।
अमृत कैसे कहें वहाँ अप्रतिक्रमण को।।
अरे प्रमादी लोग अधोऽधः क्यों जाते हैं ?
इस प्रमाद को त्याग ऊर्ध्व में क्यों नहीं जाते ? ।।४५।।

जहाँ प्रतिक्रमण को भी विष कहा हो; वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत कहाँ से हो सकता है, कैसे हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि प्रमाददशारूप अप्रतिक्रमण अमृत नहीं है। आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसी स्थिति होने पर भी लोग नीचे-नीचे ही गिरते हुए प्रमादी क्यों होते हैं; निष्प्रमादी होकर ऊपर-ऊपर ही क्यों नहीं चढ़ते ?

उक्त कथन का सार यह है कि अशुभभावरूप जो अप्रतिक्रमण है, पाप प्रवृत्ति करके भी पश्चात्ताप नहीं करने रूप जो वृत्ति है; वह तो महा जहर है और सर्वथा त्याज्य है।

प्रमादवश होनेवाले अपराधों के प्रति पश्चात्ताप के भाव होने रूप जो प्रतिक्रमणादि हैं; वे पाप की अपेक्षा व्यवहार से अमृतकुंभ हैं, कथंचित् करने योग्य हैं।

शुभाशुभभाव से रहित शुद्धोपयोगरूप जो निश्चयप्रतिक्रमण या अप्रतिक्रमणादि हैं, वे साक्षात् अमृतकुंभ हैं, सर्वथा ग्रहण करने योग्य हैं; मुक्ति के साक्षात् कारण हैं ।।४५।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं ।
तम्हा दु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं ।।९३।।

ध्याननिलीन: साधु: परित्यागं करोति सर्वदोषाणाम् ।
तस्मात्तु ध्यानमेव हि सर्वातिचारस्य प्रतिक्रमणम् ।।९३।।

(हरिगीत)

रे ध्यान-ध्येय विकल्प भी सब कल्पना में रम्य हैं।
इक आतमा के ध्यान बिन सब भाव भव के मूल हैं।।
यह जानकर शुध सहज परमानन्द अमृत बाढ में।
डुबकी लगाकर सन्तजन हों मगन परमानन्द में।।१२३।।

आत्मध्यान के अतिरिक्त अन्य सभी भाव घोर संसार के मूल हैं, ध्येय-ध्यान के विकल्पों की प्रमुखता वाला शुभभाव और शुभक्रियारूप तप मात्र कल्पना में ही रमणीय लगता है।

ऐसा जानकर बुद्धिमान पुरुष सहज परमानन्दरूपी अमृत की बाढ में डूबते हुए एकमात्र सहज परमात्मा का आश्रय करते हैं।

उक्त छन्द में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि आत्मध्यान को छोड़कर धर्म के नाम पर चलनेवाला जो भी क्रियाकाण्ड है, जो भी शुभभाव हैं; वे सभी संसार के कारण हैं।

अधिक कहाँ तक कहे कि जब ध्यान-ध्येय संबंधी विकल्प भी रम्य नहीं है, करने योग्य नहीं है; तब अन्य विकल्पों की तो बात ही क्या करें?

अन्त में बुद्धिमान व्यक्ति की वृत्ति और प्रवृत्ति की चर्चा करते हुए कहा गया है कि **बुद्धिमान व्यक्ति तो अतीन्द्रिय आनन्दरूपी अमृत के सागर में डुबकी लगाते हैं, एकमात्र निज आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और ध्यान में ही लीन रहते हैं। यदि हमें अपना कल्याण करना है तो हमें भी स्वयं में समा जाना चाहिए।।१२३।।**

अब इस गाथा में यह कहते हैं कि एकमात्र ध्यान ही उपादेय है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

निजध्यान में लवलीन साधु सर्व दोषों को तजे।
बस इसलिए यह ध्यान ही सर्वातिचारी प्रतिक्रमण।।९३।।

ध्यान में लीन साधु सब दोषों का परित्याग करते हैं। इसलिए वस्तुत: ध्यान ही सभी अतिचारों का प्रतिक्रमण है।

अत्र ध्यानमेकमुपादेयमित्युक्तम्। कश्चित् परमजिनयोगीश्वरः साधुः अत्यासन्नभव्यजीवः अध्यात्मभाषयोक्तस्वात्माश्रितनिश्चयधर्मध्याननिलीनः निर्भेदरूपेण स्थितः, अथवा सकल-क्रियाकांडाडंबरव्यवहारनयात्मकभेदकरणध्यानध्येयविकल्पनिर्मुक्तनिखिलकरणग्रामा-गोचरपरमतत्त्वशुद्धान्तस्तत्त्वविषयभेदकल्पना निरपेक्षनिश्चयशुक्लध्यानस्वरूपे तिष्ठति च, स च निरवशेषेणान्तर्मुखतया प्रशस्ताप्रशस्तमस्तमोहरागद्वेषाणां परित्यागं करोति, तस्मात् स्वात्माश्रितनिश्चयधर्मशुक्लध्यानद्वितयमेव सर्वातिचाराणां प्रतिक्रमणमिति।

(अनुष्टुभ्)

शुक्लध्यानप्रदीपोऽयं यस्य चित्तालये बभौ।
स योगी तस्य शुद्धात्मा प्रत्यक्षो भवति स्वयम्।।१२४।।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ एकमात्र ध्यान ही उपादेय है ह्न यह कहा गया है। कोई अति आसनन्नभव्य परमजिन योगीश्वर साधु, अध्यात्मभाषा में पूर्वोक्त स्वात्माश्रित निश्चय धर्मध्यान में लीन होता हुआ अभेदरूप से स्थित रहता है, अथवा सभीप्रकार के क्रियाकाण्ड के आडम्बर से रहित, व्यवहारनयात्मक भेद संबंधी और ध्यान-ध्येय संबंधी विकल्पों से रहित, सभी इन्द्रियों के अगोचर परमतत्त्व - शुद्ध अन्तःतत्त्व संबंधी भेदकल्पना से निरपेक्ष निश्चय शुक्लध्यान में स्थित रहता है; वह साधु सम्पूर्णतः अन्तर्मुख होने से प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त मोह-राग-द्वेष का परित्याग करता है।

इससे यह सहज ही सिद्ध होता है कि अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले निश्चय धर्मध्यान और निश्चय शुक्लध्यान ह्न ये दो ध्यान ही सभीप्रकार के अतिचारों के प्रतिक्रमण हैं।''

इस गाथा और इसकी टीका में मात्र यही कहा गया है कि **एकमात्र ध्यान ही धर्म है; क्योंकि निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान में धर्म के सभी अंग समाहित हो जाते हैं।** यही कारण है कि यहाँ कहा गया है कि **ध्यान में सभी अतिचारों का प्रतिक्रमण हो जाता है, सभी अतिचारों का निराकरण हो जाता है।।९३।।**

इसके बाद मुनिराज एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

चित्तमंदिर में सदा दीपक जले शुक्लध्यान का।
उस योगि को शुद्धातमा प्रत्यक्ष होता है सदा।।१२४।।

यह शुक्लध्यानरूपी दीपक जिनके मनमंदिर में जलता है, उस योगी को सदा शुद्धात्मा प्रत्यक्ष होता है।

पडिकमणणामधेये सुत्ते जह वण्णिदं पडिक्कमणं।
तह णच्चा जो भावइ तस्स तदा होदि पडिक्कमणं ।।९४।।

प्रतिक्रमणनामधेये सूत्रे यथा वर्णितं प्रतिक्रमणम्।
तथा ज्ञात्वा यो भावयति तस्य तदा भवति प्रतिक्रमणम् ।।९४।।

अत्र व्यवहारप्रतिक्रमणस्य सफलत्वमुक्तम्। यथा हि निर्यापकाचार्यैः समस्तागम-सारासारविचारचारुचातुर्यगुणकदम्बकैः प्रतिक्रमणाभिधानसूत्रे द्रव्यश्रुतरूपे व्यावर्णित-मतिविस्तरेण प्रतिक्रमणं, तथा ज्ञात्वा जिननीतिमलंघयन् चारुचरित्रमूर्तिः सकलसंयमभावनां करोति, तस्य महामुनेर्बाह्यप्रपंचविमुखस्य पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहस्य परमगुरु-चरणस्मरणासक्तचित्तस्य तदा प्रतिक्रमणं भवतीति।

इस कलश में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि जिन योगियों के चित्तरूपी चैत्यालय में शुक्लध्यानरूपी दीपक जलता है; उस योगी के शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव निरन्तर रहता ही है। इसमें रंचमात्र भी संदेह की गुंजाइश नहीं है।।१२४।।

परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार की इस अन्तिम गाथा में व्यवहारप्रतिक्रमण की चर्चा करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

प्रतिक्रमण नामक सूत्र में वर्णन किया जिसरूप में।
प्रतिक्रमण होता उसे जो भावे उसे उस रूप में।।९४।।

प्रतिक्रमण नामक सूत्र में प्रतिक्रमण का स्वरूप जिसप्रकार बताया गया है, उसे जब मुनिराज तदनुसार भाते हैं; तब उन्हें प्रतिक्रमण होता है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ व्यवहारप्रतिक्रमण की सफलता की बात की है। समस्त आगम के सार और असार का विचार करने में अति चतुर तथा अनेक गुणों के धारक निर्यापकाचार्यों ने जिसप्रकार द्रव्यश्रुतरूप प्रतिक्रमण नामक सूत्र में प्रतिक्रमण का अति विस्तृत वर्णन किया है; तदनुसार जानकर जिननीति का उल्लंघन न करते हुए ये चारु चारित्र की मूर्तिरूप जो महामुनिराज सकल संयम की भावना करते हैं, बाह्य प्रपंचों से विमुख, पंचेन्द्रिय विस्तार से रहित, देहमात्र परिग्रहधारी और परमगुरु के चरणों में स्मरण में आसक्त चित्तवाले उन मुनिराजों को प्रतिक्रमण होता है।''

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि निर्यापकाचार्यों द्वारा द्रव्यश्रुत में समागत प्रतिक्रमण सूत्र में निरूपित प्रतिक्रमण के स्वरूप को जानकर जिननीति का उल्लंघन न करने वाले और संयम के धारण करने की भावना रखनेवाले मुनिराजों के प्रतिक्रमण होता है।।९४।।

(इन्द्रवज्रा)

निर्यापकाचार्यनिरुक्तियुक्ता–
मुक्तिं सदाकर्ण्य च यस्य चित्तम् ।
समस्तचारित्रनिकेतनं स्यात्
तस्मै नमः संयमधारिणेऽस्मै ।।१२५ ।।

(वसंततिलका)

यस्य प्रतिक्रमणमेव सदा मुमुक्षो–
र्नास्त्यप्रतिक्रमणमप्यणुमात्रमुच्चैः ।
तस्मै नमः सकलसंयमभूषणाय
श्रीवीरनन्दिमुनिनामधराय नित्यम् ।।१२६ ।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव दो छन्द लिखते हैं; जिनमें पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

निर्यापक आचार्य के सुनकर वचन सयुक्ति।
जिनका चित्त चारित्र घर वन्दूँ उनको नित्य ।।१२५।।

निर्यापकाचार्यों के निरुक्ति सहित कथन सुनकर जिनका चित्त चारित्र का निकेतन (घर) बनता है; ऐसे संयम धारियों को नमस्कार हो ।।१२५।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

अरे जिन्हें प्रतिक्रमण ही नित्य वर्ते।
अणुमात्र अप्रतिक्रमण जिनके नहीं है।।
जो सकल संयम भूषण नित्य धारें।
उन वीरनन्दि मुनि को नित ही नमें हम ।।१२६।।

मोक्ष की इच्छा रखनेवाले वीरनन्दी मुनिराज को सदा प्रतिक्रमण ही है, अणुमात्र भी अप्रतिक्रमण नहीं है; उन सकल संयमरूपी आभूषण को धारण करनेवाले वीरनन्दि मुनिराज को सदा नमस्कार हो ।

इस छन्द में उन वीरनन्दि मुनिराज को नमस्कार किया गया है; जो सकल संयमरूपी आभूषणों के धारण करनेवाले हैं और जिन्हें सदा प्रतिक्रमण है तथा अणुमात्र भी अप्रतिक्रमण नहीं है । **ध्यान रहे, इन वीरनन्दि मुनिराज को तात्पर्यवृत्ति टीका के आरंभिक मंगलाचरण के**

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव–विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार: पंचम: श्रुतस्कन्ध: ।

तीसरे छन्द में भी याद किया गया है और वहाँ इन्हें सिद्धांत, तर्क और व्याकरण ह्न इन तीनों विधाओं से समृद्ध बताया गया है। ये पद्मप्रभमलधारिदेव के साक्षात् गुरु हैं।।१२६।।

परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार की समाप्ति के अवसर पर टीकाकार जो पंक्ति लिखते हैं; उसका भाव इसप्रकार है ह्न

''इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार नामक पंचम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।''

यहाँ नियमसार एवं उसकी तात्पर्यवृत्ति टीका के साथ–साथ डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत आत्मप्रबोधिनी हिन्दी टीका में परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार नामक पंचम श्रुतस्कन्ध भी समाप्त होता है।

•••

'अकेले ही मरना होगा, अकेले ही पैदा होना होगा, सुख–दु:ख भी अकेले ही भोगना होगा' ह्न इसप्रकार के चिन्तन से यदि खेद उत्पन्न होता है तो हमें अपनी चिंतन प्रक्रिया पर गहराई से विचार करना चाहिए। यदि हमारी चिन्तन–प्रक्रिया की दिशा सही हो तो आह्लाद आना ही चाहिए। जरा गहराई से विचार करें तो सबकुछ सहज ही स्पष्ट हो जावेगा।

आपको यह शिकायत हो कि सुख–दु:ख, जीवन–मरण सबकुछ आपको अकेले ही भोगने पड़ते हैं; कोई सगा–संबंधी भी साथ नहीं देता। क्या आपकी यह शिकायत उचित है ?

जरा इस पर गौर कीजिए कि कोई साथ नहीं देता है या दे नहीं सकता ? वस्तुस्वरूप के अनुसार जब कोई साथ दे ही नहीं सकता, तब 'साथ नहीं देता' ह्न यह प्रश्न ही कहाँ रह जाता है ?

जब हम ऐसा सोचते हैं कि कोई साथ नहीं देता तो हमें द्वेष उत्पन्न होता है; पर यदि यह सोचें कि कोई साथ दे नहीं सकता तो सहज ही उदासीनता उत्पन्न होगी, वीतरागभाव जागृत होगा।

ह्न बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ–६७

६

निश्चयप्रत्याख्यान अधिकार

(गाथा ९५ से गाथा १०६ तक)

अथेदानीं सकलप्रव्रज्यासाम्राज्यविजयवैजयन्तीपृथुलदंडमंडनायमानसकलकर्मनिर्जरा-हेतुभूतनि:श्रेयसनिश्रेणीभूतमुक्तिभामिनीप्रथमदर्शनोपायनीभूतनिश्चयप्रत्याख्यानाधिकार: कथ्यते। तद्यथा ह्न अत्र सूत्रावतार: ह्न

मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स।।९५।।

मुक्त्वा सकलजल्पमनागतशुभाशुभनिवारणं कृत्वा।
आत्मानं यो ध्यायति प्रत्याख्यानं भवेत्तस्य।।९५।।

निश्चयनयप्रत्याख्यानस्वरूपाख्यानमेतत्। अत्र व्यवहारनयादेशात् मुनयो भुक्त्वा दैनं दैनं पुनर्योग्यकालपर्यन्तं प्रत्यादिष्टान्नपानखाद्यलेह्यरुचय:, एतद् व्यवहारप्रत्याख्यानस्वरूपम्।

निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार की चर्चा आरंभ करते हुए टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव लिखते हैं ह्न

अब यहाँ सकल प्रव्रज्यारूप साम्राज्य की विजयपताका के विशाल दण्ड की शोभा के समान, समस्त कर्मों की निर्जरा के हेतुभूत, मोक्ष की सीढ़ी, मुक्तिरूपी स्त्री के प्रथम दर्शन की भेंटरूप निश्चयप्रत्याख्यान अधिकार कहा जा रहा है। वह इसप्रकार है ह्न

अब गाथा सूत्र का अवतार होता है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

सब तरह के जल्प तज भावी शुभाशुभ भाव को।
जो निवारण कर आत्म ध्यावे उसे प्रत्याख्यान है।।९५।।

सम्पूर्ण जल्प अर्थात् सम्पूर्ण वचन विस्तार को छोड़कर और भावी शुभ-अशुभ भावों का निवारण करके जो मुनिराज आत्मा को ध्याते हैं, तब उन मुनिराजों को प्रत्याख्यान होता है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह निश्चयनय से कहे गये प्रत्याख्यान के स्वरूप का आख्यान है। यहाँ व्यवहारनय की अपेक्षा मुनिराज दिन-दिन में भोजन करके फिर योग्यकाल तक के लिए अन्न, पीने योग्य पदार्थ, खाद्य और लेह्य की रुचि छोड़ते हैं ह्न यह व्यवहारप्रत्याख्यान का स्वरूप है।

निश्चयनयत: प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तवचनरचनाप्रपंचपरिहारेण शुद्धज्ञानभावनासेवा-प्रसादादभिनवशुभाशुभद्रव्यभावकर्मणां संवर: प्रत्याख्यानम्। य: सदान्तर्मुखपरिणत्या परमकलाधारमत्यपूर्वमात्मानं ध्यायति तस्य नित्यं प्रत्याख्यानं भवतीति।

तथा चोक्तं समयसारे ह्न

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं।।४६।।[१]

निश्चयनय से प्रशस्त-अप्रशस्त वचन रचना के प्रपंच (विस्तार) के परिहार के द्वारा शुद्धज्ञानभावना की सेवा के प्रसाद से नये शुभाशुभ द्रव्यकर्मों और भावकर्मों का संवर होना निश्चयप्रत्याख्यान है। जो अंतर्मुख परिणति के द्वारा परमकला के आधाररूप अति अपूर्व आत्मा को सदा ध्याता है, उसे नित्यप्रत्याख्यान है।''

इस गाथा और इसकी टीका में अत्यन्त स्पष्टरूप से कहा गया है कि **आत्मा का ध्यान ही प्रत्याख्यान है; क्योंकि ध्यान अवस्था में निश्चय-व्यवहार प्रत्याख्यान (त्याग) सहज ही प्रगट हो जाते हैं।।९५।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज '**तथा चोक्तं समयसारे ह्न** तथा समयसार में भी कहा है' ह्न ऐसा लिखकर एक गाथा प्रस्तुत करते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

परभाव को पर जानकर परित्याग उनका जब करे।
तब त्याग हो बस इसलिए ही ज्ञान प्रत्याख्यान है।।४६।।

जिसकारण यह आत्मा अपने आत्मा से भिन्न समस्त पर-पदार्थों का 'वे पर हैं' ह्न ऐसा जानकर प्रत्याख्यान करता है, त्याग करता है; उसी कारण प्रत्याख्यान ज्ञान ही है। ह्न ऐसा नियम से जानना चाहिए।

आत्मा को जानना ज्ञान है और आत्मा को ही लगातार जानते रहना प्रत्याख्यान है, त्याग है, ध्यान है। प्रत्याख्यान, त्याग और ध्यान ह्न ये सभी चारित्रगुण के ही निर्मल परिणमन हैं; जो ज्ञान की स्थिरतारूप ही हैं। अत: यह ठीक ही कहा है कि स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है।

तात्पर्य यह है कि अपने ज्ञान में त्यागरूप अवस्था होना ही प्रत्याख्यान है, त्याग है; अन्य कुछ नहीं।।४६।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव '**तथा समयसारव्याख्यायां ह्न** तथा समयसार की व्याख्या आत्मख्याति टीका में भी कहा है' ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

---

१. समयसार, गाथा ३४

तथा समयसारव्याख्यायां च ह्न

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ।।४७।।[१]

तथा हि ह्न

(मंदाक्रांता)

सम्यग्दृष्टिस्त्यजति सकलं कर्मनोकर्मजातं
प्रत्याख्यानं भवति नियतं तस्य संज्ञानमूर्तेः।
सच्चारित्राण्यघकुलहराण्यस्य तानि स्युरुच्चैः
तं वंदेहं भवपरिभवक्लेशनाशाय नित्यम् ।।१२७।।

(रोला)

नष्ट हो गया मोहभाव जिसका ऐसा मैं।
करके प्रत्याख्यान भाविकर्मों का अब तो।।
वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के।
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में।।४७।।

जिसका मोह नष्ट हो गया है ह्न ऐसा मैं अब भविष्य के समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान करके चैतन्यस्वरूप निष्कर्म आत्मा में आत्मा से ही निरन्तर वर्त रहा हूँ।

इस कलश में तो यह बात स्पष्टरूप से सामने आ जाती है कि आत्मध्यान ही वास्तविक प्रत्याख्यान है; क्योंकि इसमें तो साफ-साफ शब्दों में कहा गया है कि प्रत्याख्यान करके अब मैं तो आत्मा में ही वर्त रहा हूँ।।४७।।

इसके बाद टीकाकार **'तथाहि' ह्न** लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो ज्ञानि छोड़े कर्म अर नोकर्म के समुदाय को।
उस ज्ञानमूर्ति विज्ञजन को सदा प्रत्याख्यान है।।
और सत् चारित्र भी है क्योंकि नाशे पाप सब।
वन्दन करूँ नित भवदुखों से मुक्त होनेके लिए।।१२७।।

जो सम्यग्दृष्टि समस्त कर्म-नोकर्म के समूह को छोड़ता है; उस सम्यग्ज्ञान की मूर्ति को सदा प्रत्याख्यान है। उसे पापसमूह का नाश करनेवाला सम्यक्चारित्र भी अतिशयरूप होता है। भव-भव में होनेवाले क्लेशों का नाश करने के लिए उसे मैं नित्य वंदन करता हूँ।

---

१. समयसार : आत्मख्याति, छन्द २२८

केवलणाणसहावो केवलदंसणसहावसुहमइओ।
केवलसत्तिसहावो सो हं इदि चिंतए णाणी।।९६।।

केवलज्ञानस्वभाव: केवलदर्शनस्वभाव: सुखमय:।
केवलशक्तिस्वभाव: सोहमिति चिंतयेत् ज्ञानी।।९६।।

अनन्तचतुष्टयात्मकनिजात्मध्यानोपदेशोपन्यासोयम्। समस्तबाह्यप्रपंचवासनाविनिर्मुक्तस्य निरवशेषेणान्तर्मुखस्य परमतत्त्वज्ञानिनो जीवस्य शिक्षा प्रोक्ता। कथंकारकम् ?

साद्यनिधनामूर्त्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारेण, शुद्धस्पर्शरसगन्धवर्णानामाधार-भूतशुद्धपुद्गलपरमाणुवत्केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलसुखकेवलशक्तियुक्तपरमात्मा य: सोहमिति भावना कर्तव्या ज्ञानिनेति; निश्चयेन सहजज्ञानस्वरूपोहम, सहजदर्शनस्वरूपोहम्, सहजचारित्रस्वरूपोहम्, सहजचिच्छक्तिस्वरूपोहम् इति भावना कर्त्तव्या चेति।

इस कलश में यही कहा गया है कि **सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित चारित्र धारण करनेवाले सन्तों के तो प्रत्याख्यान (त्याग) सदा वर्तता है।** भव का अभाव करनेवाले प्रत्याख्यान की मैं सदा वंदना करता हूँ।।१२७।।

अब इस गाथा में यह बताते हैं कि ज्ञानी यह विचारते हैं कि मैं अनन्तचतुष्टयस्वरूप हूँ।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

ज्ञानी विचारें इसतरह यह चिन्तवन उनका सदा।
केवल्यदर्शन-ज्ञान-सुख-शक्तिस्वभावी हूँ सदा।।९६।।

ज्ञानी इसप्रकार चिन्तवन करते हैं कि मैं केवलज्ञानस्वभावी हूँ, केवलदर्शनस्वभावी हूँ, मैं सुखमय (केवलसुखस्वभावी) हूँ और केवल-शक्तिस्वभावी हूँ।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह अनंतचतुष्टयात्मक निज आत्मा के ध्यान के उपदेश का कथन है। यहाँ समस्त बाह्य प्रपंच की वासना से विमुक्त, सम्पूर्णत: अन्तर्मुख, परमतत्त्वज्ञानी जीव को शिक्षा दी गई है।

किसप्रकार की शिक्षा दी गई ?

ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं कि सादि-अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाववाले शुद्धसद्भूतव्यवहारनय से शुद्ध स्पर्श-रस-गंध-वर्ण के आधारभूत शुद्ध पुद्गल परमाणु की भाँति; मैं केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख तथा केवलशक्तियुक्त परमात्मा हूँ ह्न ज्ञानी को ऐसी भावना करना चाहिए और निश्चयनय से मैं सहजदर्शनस्वरूप हूँ, मैं सहजचारित्रस्वरूप हूँ तथा मैं सहज चित्-शक्तिस्वरूप हूँ ह्न ऐसी भावना करना चाहिए।''

तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ ह्न

(अनुष्टुभ्)

केवलज्ञानदृक्सौख्यस्वभावं तत्परं महः ।
तत्र ज्ञाते न किं ज्ञातं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम् ।।४८।।[१]

तथा हि ह्न

(मालिनी)

जयति स परमात्मा केवलज्ञानमूर्तिः
सकलविमलदृष्टिः शाश्वतानंदरूपः ।
सहजपरमचिच्छक्त्यात्मकः शाश्वतोयं
निखिलमुनिजनानां चित्तपंकेजहंसः ।।१२८।।

इस गाथा में यह कहा गया है कि ज्ञानी ऐसा सोचते हैं कि मैं अनन्तचतुष्टयस्वरूप हूँ; पर टीकाकार कहते हैं कि ज्ञानी को ऐसा सोचना चाहिए कि मैं अनन्तचतुष्टयस्वरूप हूँ।

आप कह सकते हैं कि इसमें क्या अंतर है, एक ही बात तो है; पर भाईसाहब ! गाथा में कहा है कि ज्ञानी ऐसा सोचते हैं और टीका में कहते हैं कि सोचना चाहिए ह्न यह साधारण अंतर नहीं है; क्योंकि **जब ज्ञानी सदा ऐसा सोचते ही हैं तो फिर यह कहने की क्या आवश्यकता है कि उन्हें ऐसा सोचना चाहिए ? अरे, भाई ! उपयोग बार-बार बाहर चला जाता है; इसलिए आचार्यदेव अपने शिष्यों को ऐसा उपदेश देते हैं कि सदा इसीप्रकार के चिन्तन में रत रहो ।।९६।।**

इसके उपरान्त मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव '**तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ ह्न** तथा एकत्वसप्तति में भी कहा है' ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

केवलदर्शनज्ञानसौख्यमय परमतेज वह।
उसे देखते किसे न देखा कहना मुश्किल ।।
उसे जानते किसे न जाना कहना मुश्किल।
उसे सुना तो किसे न सुना कहना मुश्किल ।।४८।।

वह परमतेज केवलज्ञान, केवलदर्शन और केवलसौख्यस्वभावी है। उसे जानते हुए क्या नहीं जाना, उसे देखते हुए क्या नहीं देखा और उसका श्रवण करते हुए क्या नहीं सुना?

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि **अनन्तचतुष्टय स्वभावी जो अपना आत्मा है; उसे जान लेने पर, देख लेने पर, सुन लेने पर; कुछ जानना-देखना-सुनना**

---

१. पद्मनन्दिपंचविंशतिका, एकत्वसप्तति अधिकार, छन्द २०

णियभावं णवि मुच्चइ परभावं णेव गेण्हए केइ।
जाणदि पस्सदि सव्वं सो हं इदि चिंतए णाणी ।।९७।।

निजभावं नापि मुंचति परभावं नैव गृह्णाति कमपि।
जानाति पश्यति सर्वं सोहमिति चिंतयेद् ज्ञानी ।।९७।।

अत्र परमभावनाभिमुखस्य ज्ञानिनः शिक्षणमुक्तम्। यस्तु कारणपरमात्मा सकलदुरितवीर-वैरिसेनाविजयवैजयन्तीलुंटाकं त्रिकालनिरावरणनिरंजननिजपरमभावं क्वचिदपि नापि मुंचति,

---

शेष नहीं रहता। अतः एक आत्मा को ही सुनो, देखो, जानो; अन्यत्र भटकने की क्या आवश्यकता है ?।।४८।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(अडिल्ल)

मुनिराजों के हृदयकमल का हंस जो।
निर्मल जिसकी दृष्टि ज्ञान की मूर्ति जो।।
सहज परम चैतन्य शक्तिमय जानिये।
सुखमय परमातमा सदा जयवंत है।।१२८।।

सभी मुनिराजों के हृदयकमल का हंस, केवलज्ञान की मूर्ति, सम्पूर्ण निर्मलदृष्टि से संपन्न, शाश्वत आनन्दरूप, सहजपरमचैतन्यशक्तिमय यह शाश्वत परमात्मा जयवंत वर्त रहा है।

इस छन्द में अत्यन्त भक्तिभाव से शाश्वत परमात्मा की स्तुति की गई है। उन्हें मुनिराजों के हृदयकमल का हंस बताया गया है, केवलज्ञान की मूर्ति कहा गया है, निर्मलदृष्टि से सम्पन्न, शाश्वत आनन्दमय और चैतन्य की शक्तिमय कहा गया है।।१२८।।

अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि ज्ञानी जीव सदा किसप्रकार का चिन्तवन करते रहते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

ज्ञानी विचारें देखे-जाने जो सभी को मैं वही।
जो ना ग्रहे परभाव को निज भाव को छोड़े नहीं।।९७।।

ज्ञानी इसप्रकार चिन्तवन करता है कि यह भगवान आत्मा अर्थात् मैं निजभाव को छोड़ता नहीं और किसी भी परभाव को ग्रहण नहीं करता; मात्र सबको जानता-देखता हूँ।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ परमभावना के सम्मुख ज्ञानी को शिक्षा दी गई है। जो कारणपरमात्मा; समस्त पापरूपी बहादुर शत्रुसेना की विजयपताका को लूटनेवाले, त्रिकाल निरावरण, निरंजन,

पंचविधसंसारप्रवृद्धिकारणं विभावपुद्गलद्रव्यसंयोगसंजातं रागादिपरभावं नैव गृह्णाति, निश्चयेन निजनिरावरणपरमबोधेन निरंजनसहजज्ञानसहजदृष्टिसहजशीलादिस्वभावधर्माणा-माधाराधेयविकल्पनिर्मुक्तमपि सदामुक्तं सहजमुक्तिभामिनीसंभोगसंभवपरतानिलयं कारण-परमात्मानं जानाति, तथाविधसहजावलोकेन पश्यति च, स च कारणसमयसारोहमिति भावना सदा कर्तव्या सम्यग्ज्ञानिभिरिति।

तथा चोक्तं श्रीपूज्यपादस्वामिभिः ह्न

(अनुष्टुभ्)

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुंचति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ।।४९।।[१]

निजपरमभाव को कभी नहीं छोड़ता; पाँच प्रकार के संसार की वृद्धि के कारणभूत, विभावरूप पुद्गलद्रव्य के संयोग से उत्पन्न रागादिरूप परभावों को ग्रहण नहीं करता और निश्चय से स्वयं के निरावरण परमबोध से निरंजन सहजज्ञान, सहजदृष्टि, सहजचारित्र स्वभाव धर्मों के आधार-आधेय संबंधी विकल्पों से रहित, सदा मुक्त तथा सहज मुक्तिरूपी स्त्री के संभोग से उत्पन्न होनेवाले सौख्य के स्थानभूत कारणपरमात्मा को निज निरावरण परमज्ञान द्वारा जानता है और उसीप्रकार के सहज अवलोकन द्वारा देखता है; वह कारणसमयसार मैं हूँ ह्न ऐसी भावना सम्यग्ज्ञानियों को सदा करना चाहिए।''

इस गाथा में मात्र यही कहा गया है कि यह **भगवान आत्मा अपने स्वभावभाव को कभी छोड़ता नहीं है और रागादिभावों सहित सम्पूर्ण परभावों का कभी ग्रहण नहीं करता; क्योंकि इसमें एक त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति है, जिसके कारण यह पर के ग्रहण-त्याग से पूर्णतः शून्य है।** यह तो सभी स्व-पर पदार्थों को मात्र जानता-देखता है, उनमें कुछ करता नहीं है। ऐसा यह भगवान आत्मा मैं स्वयं ही हूँ। ज्ञानी जीव सदा ऐसा चिन्तवन करते हैं।।९७।।

इसके बाद पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा चोक्तं श्री पूज्यपादस्वामिभिः ह्न** तथा पूज्यपादस्वामी ने भी कहा है' ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो गृहीत को छोड़े नहीं पर न ग्रहे अग्राह्य को।
जाने सभी को मैं वही है स्वानुभूति गम्य जो।।४९।।

जो अग्राह्य को ग्रहण नहीं करता, गृहीत को अर्थात् शाश्वत शुद्ध स्वभाव को छोड़ता नहीं है और सभी को सभी प्रकार से जानता है; वह स्वसंवेद्य तत्त्व मैं स्वयं ही हूँ।

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि जो रागादि विकारी भाव अग्राह्य

---

१. पूज्यपाद : समाधितंत्र, श्लोक २०

तथा हि ह्न

(वसंततिलका)

आत्मानमात्मनि निजात्मगुणाढ्यमात्मा
जानाति पश्यति च पंचमभावमेकम् ।
तत्याज नैव सहजं परभावमन्यं
गृह्णाति नैव खलु पौद्गलिकं विकारम् ।।१२९।।

(शार्दूलविक्रीडित)

मत्स्वान्तं मयि लग्नमेतदनिशं चिन्मात्रचिंतामणा–
वन्यद्रव्यकृताग्रहोद्भवमिमं मुक्त्वाधुना विग्रहम् ।
तच्चित्रं न विशुद्धपूर्णसहजज्ञानात्मने शर्मणे ।
देवानाममृताशनोद्भवरुचिं ज्ञात्वा किमन्याशने ।।१३०।।

हैं, ग्रहण करने योग्य नहीं; उन्हें ग्रहण नहीं करता और जिसे अनादिकाल से ग्रहण किया हुआ है ह्न ऐसा जो अपना ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है, उसे जो छोड़ता नहीं है तथा जो सभी पदार्थों को देखता-जानता है, वह स्वसंवेद्य पदार्थ अर्थात् स्वानुभूतिगम्य पदार्थ मैं हूँ। ह्न ज्ञानी ऐसा चिन्तवन करते हैं। इसी को धर्मध्यान कहते हैं, प्रत्याख्यान कहते हैं। साधर्मी भाई-बहिनों को करने योग्य एकमात्र कार्य यही है।।४९।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव चार छन्द स्वयं लिखते हैं; जिसमें पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

आतमा में आतमा को जानता है देखता।
बस एक पंचमभाव है जो नंतगुणमय आतमा।।
उस आतमा ने आजतक छोड़ा न पंचमभाव को।
और जो न ग्रहण करता पुद्गलिक परभाव को।।१२९।।

यह आत्मा, आत्मा में अपने आत्मा संबंधी गुणों से समृद्ध आत्मा को अर्थात् एक पंचमभाव को जानता–देखता है; क्योंकि इसने उस सहज पंचमभाव को कभी छोड़ा ही नहीं है और यह पौद्गलिक विकार रूप परभावों को कभी ग्रहण भी नहीं करता।

उक्त कलश में यह कहा गया है कि यह आत्मा, अनंत गुणों से समृद्ध पंचमभावरूप अपने आत्मा को अपने आत्मा में ही जानता-देखता है। इस आत्मा ने उक्त परमपारिणामिकभावरूप पंचमभाव को कभी छोड़ा नहीं है और विकाररूप पौद्गलिक विभावभावों को कभी ग्रहण नहीं किया।।१२९।।

(शार्दूलविक्रीडित)

निर्द्वन्द्वं निरुपद्रवं निरुपमं नित्यं निजात्मोद्भवं
नान्यद्रव्यविभावनोद्भवमिदं शर्मामृतं निर्मलम्।
पीत्वा यः सुकृतात्मकः सुकृतमप्येतद्विहायाधुना
प्राप्नोति स्फुटमद्वितीयमतुलं चिन्मात्रचिंतामणिम्।।१३१।।

दूसरा व तीसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(रोला)

अन्य द्रव्य के आग्रह से जो पैदा होता।
उस तन को तज पूर्ण सहज ज्ञानात्मक सुख की।।
प्राप्ति हेतु नित लगा हुआ है निज आतम में।
अमृतभोजी देव लगें क्यों अन्य असन में।।१३०।।
अन्य द्रव्य के कारण से उत्पन्न नहीं जो।
निज आतम के आश्रय से जो पैदा होता।।
उस अमृतमय सुख को पी जो सुकृत छोड़े।
प्रगटरूप से वे चित् चिन्तामणि को पावें।।१३१।।

अब अन्य द्रव्य का आग्रह (एकत्व) करने से उत्पन्न होनेवाले इस विग्रह (शरीर–राग–द्वेष–कलह) को छोड़कर; विशुद्ध, पूर्ण, सहज ज्ञानात्मक सुख की प्राप्ति के लिए मेरा यह अंतर चैतन्यचिन्तामणिरूप आत्मा निरंतर मुझमें ही लगा है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है; क्योंकि अमृतभोजन जनित स्वाद को चखनेवाले देवों को अन्य भोजन से क्या प्रयोजन है?

जो जीव अबतक पुण्यकार्य में लगा हुआ है; अब इस सुकृत (पुण्यकार्य) को छोड़कर द्वन्द्वरहित, उपद्रवरहित, उपमारहित, नित्य निज आत्मा से उत्पन्न होनेवाले, अन्य द्रव्यों की विभावना से उत्पन्न न होनेवाले इस निर्मल सुखामृत को पीकर अद्वितीय, अतुल, चैतन्य–भावरूप चिन्तामणि को प्रगटरूप से प्राप्त करता है।

इन छन्दों में प्रगट किये भाव का सार यह है कि जिसप्रकार अमृत भोजन का स्वाद लेनेवाले देवों का मन अन्य भोजन में नहीं लगता; उसीप्रकार ज्ञानात्मक सहज सुख को भोगनेवाले ज्ञानीजनों–मुनिराजों का मन सुख के निधान चैतन्य चिन्तामणि के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं लगता। अन्य द्रव्यों से अर्थात् अन्य द्रव्यों संबंधी विकल्प करने से उत्पन्न न होनेवाले तथा अनुपम निजात्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले अतीन्द्रिय सुख का स्वाद चख लेने के बाद पुण्योदय से प्राप्त होनेवाला पंचेन्द्रिय विषयोंवाला सुख दु:खरूप ही है।

(आर्या)

को नाम वक्ति विद्वान् मम च परद्रव्यमेतदेव स्यात् ।
निजमहिमानं जानन् गुरुचरणसमर्च्चनासमुद्भूतम् ।।१३२।।

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं वज्जिदो अप्पा ।
सो हं इदि चिंतिज्जो तत्थेव य कुणदि थिरभावं ।।९८।।

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधैर्विवर्जित आत्मा ।
सोहमिति चिंतयन् तत्रैव च करोति स्थिरभावम् ।।९८।।

अत्र बन्धनिर्मुक्तमात्मानं भावयेदिति भव्यस्य शिक्षणमुक्तम् । शुभाशुभमनोवाक्काय–

उसका तो मात्र नाम ही सुख है, वस्तुत: वह सुख नहीं, दु:ख ही है । **ज्ञानी जीव उस लौकिक सुख को छोड़कर ज्ञानानन्दस्वभावी अपने आत्मा को प्राप्त करते हैं ।।१३०–१३१।।**

चौथे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

गुरुचरणों की भक्ति से जाने निज माहात्म्य ।
ऐसा बुध कैसे कहे मेरा यह परद्रव्य ।।१३२।।

गुरु चरणों की भक्ति के प्रसाद से उत्पन्न हुई अपने आत्मा की महिमा को जाननेवाला कौन विद्वान यह कहेगा कि यह परद्रव्य मेरा है ।

तात्पर्य यह है कि कोई भी ज्ञानी समझदार व्यक्ति यह नहीं कह सकता है कि यह परद्रव्य मेरा है ।।१३२।।

अब आगामी गाथा में यह बताते हैं कि अबंधस्वभावी आत्मा का ध्यान करना ही धर्म है ।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो प्रकृति थिति अनुभाग और प्रदेश बंध बिन आतमा ।
मैं हूँ वही ह्न यह सोचता ज्ञानी करे थिरता वहाँ ।।९८।।

प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागबंध से रहित जो आत्मा है; मैं वही हूँ । ह्न ऐसा चिन्तवन करता हुआ ज्ञानी उसी में स्थिर भाव करता है ।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ बंध रहित आत्मा को भाना चाहिए ह्न ऐसी शिक्षा भव्यों को दी गई है ।

शुभाशुभ मन–वचन–काय संबंधी कर्मों से प्रकृति और प्रदेश बंध होते हैं और चार

कर्मभि: प्रकृतिप्रदेशबंधौ स्याताम्; चतुर्भि: कषायै: स्थित्युनभागबन्धौ स्त:; एभिश्चतुर्भि–बंधैर्निर्मुक्त: सदानिरुपाधिस्वरूपो ह्यात्मा सोहमिति सम्यग्ज्ञानिना निरंतरं भावना कर्तव्येति।

(मंदाक्रांता)

प्रेक्षावद्भि: सहजपरमानन्दचिद्रूपमेकं
संग्राह्यं तैर्निरुपममिदं मुक्तिसाम्राज्यमूलम्।
तस्मादुच्चैस्त्वमपि च सखे मद्वच:सारमस्मिन्
श्रुत्वा शीघ्रं कुरु तव मतिं चिच्चमत्कारमात्रे ।।१३३।।

कषायों से स्थिति और अनुभाग बंध होते हैं। इन चार बंधों से रहित सदा निरुपधिस्वभावी आत्मा ही मैं हूँ ह्न ऐसी भावना सम्यग्ज्ञानी जीव को सदा भाना चाहिए।''

इस गाथा और उसकी टीका में मात्र यही कहा गया है कि बंध चार प्रकार का होता है। उनमें प्रकृति और प्रदेश बंध तो योग से और स्थिति तथा अनुभाग बंध कषाय से होते हैं।

यहाँ कषाय शब्द में मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद भी शामिल समझने चाहिए; क्योंकि महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में बंध के कारण पाँच बताये हैं; जो इसप्रकार हैं ह्न मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

इनमें से योग प्रकृति–प्रदेश बंध का कारण है, शेष चार स्थिति–अनुभाग बंध के कारण हैं। अत: यहाँ कषाय शब्द से कषायान्त का भाव लेना चाहिए। **कषाय हैं अन्त में जिसके उसे कषायान्त कहते हैं। इस न्याय से कषाय में मिथ्यात्वादि भी शामिल हैं।**

इस गाथा में यह भावना भाई गई है कि मैं चारों प्रकार के बंधों से रहित हूँ। ह्न ऐसी भावना वाले के ही सच्चा प्रत्याख्यान होता है।।९८।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो मूल शिव साम्राज्य परमानन्दमय चिद्रूप है।
बस ग्रहण करना योग्य है इस एक अनुपम भाव को।।
इसलिए हे मित्र सुन मेरे वचन के सार को।
इसमें रमो अति उग्र हो आनन्द अपरम्पार हो।।१३३।।

बुद्धिमान व्यक्तियों के द्वारा; मुक्तिरूपी साम्राज्य का मूल कारण, निरुपम, सहज परमानन्दवाले एक चैतन्यरूप भगवान आत्मा को; भली प्रकार ग्रहण किया जाना चाहिए। इसलिए हे मित्र ! मेरे वचनों के सार को सुनकर तू भी अति शीघ्र उग्ररूप से इस चैतन्य चमत्कार में अपनी बुद्धि को लगा।

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो ।
आलंबणं च मे आदा अवसेसं च वोसरे ।।९९।।

ममत्वं परिवर्जयामि निर्ममत्वमुपस्थित: ।
आलम्बनं च मे आत्मा अवशेषं च विसृजामि ।।९९।।

अत्र सकलविभावसंन्यासविधि: प्रोक्त: । कमनीयकामिनीकांचनप्रभृतिसमस्तपरद्रव्य-गुणपर्यायेषु ममकारं संत्यजामि । परमोपेक्षालक्षणलक्षिते निर्ममकारात्मनि आत्मनि स्थित्वा ह्यात्मानमवलम्ब्य च संसृतिपुरंध्रिकासंभोगसंभवसुखदु:खाद्यनेकविभावपरिणतिं परिहरामि ।

उक्त छन्द के माध्यम से टीकाकार मुनिराज अपने शिष्यों को, अपने पाठकों को अथवा हम सभी को प्रेरणा दे रहे हैं कि **मुक्ति को प्राप्त करने का उपाय एकमात्र ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा का अनुभव करना है, ध्यान करना है।** इसलिए मेरे (टीकाकार मुनिराज के) कहने का सार यह है कि तुम भी मेरे समान अपनी बुद्धि को इस चैतन्यचमत्काररूप भगवान आत्मा में लगाओ। इससे तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा।।१३३।।

अब आगामी गाथा में सभी विभावभावों से संन्यास की विधि समझाते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

छोड़कर ममभाव निर्ममभाव में मैं थिर रहूँ।
बस स्वयं का अवलम्ब ले अवशेष सब मैं परिहरूँ।।९९।।

मैं ममत्व को छोड़ता हूँ और निर्ममत्व में स्थित रहता हूँ। मेरा अवलम्बन तो एकमात्र आत्मा है, इसलिए शेष सभी को विसर्जित करता हूँ, छोड़ता हूँ।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ सकल विभाव के संन्यास की विधि कही है। मैं सुन्दर कामिनी और कंचन (सोना) आदि सभी परद्रव्य, उनके गुण और पर्यायों के प्रति ममत्व को छोड़ता हूँ। परमोपेक्षा लक्षण से लक्षित निर्ममत्वात्मक आत्मा में स्थित होकर तथा आत्मा का अवलंबन लेकर संसार रूपी स्त्री के संयोग से उत्पन्न सुख-दु:खादि अनेक विभावरूप परिणति को छोड़ता हूँ।''

उक्त गाथा और उसकी टीका में सम्पूर्ण विभावभावों से संन्यास लेने की विधि बताई गई है। सारा जगत कंचन-कामिनी आदि परद्रव्यों में ही उलझा हुआ है। यहाँ ज्ञानी संकल्प करता है कि मैं इन कंचन-कामिनी आदि सभी परद्रव्यों से, उनके गुणों और पर्यायों से ममता तोड़ता हूँ और निर्ममत्व होकर अपने आत्मा में ही अपनापन स्थापित करके उसी में समा जाने को तैयार हूँ।।९९।।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः ह्न

(शिखरिणी)

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः संत्यशरणाः ।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विंदंत्येते परमममृतं तत्र निरताः ।।५०।।[१]

इसके बाद '**तथा चोक्तं श्रीमद्मृतचन्द्रसूरिभिः ह्न** तथा अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है' ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

सभी शुभाशुभभावों के निषेध होने से।
अशरण होंगे नहीं रमेंगे निज स्वभाव में ।।
अरे मुनीश्वर तो निशदिन निज में ही रहते।
निजानन्द के परमामृत में ही नित रमते ।।५०।।

सुकृत (पुण्य) और दुष्कृत (पाप) ह्न सभी प्रकार के कर्मों का निषेध किये जाने पर निष्कर्म अवस्था में प्रवर्तमान निवृत्तिमय जीवन जीनेवाले मुनिजन कहीं अशरण नहीं हो जाते; क्योंकि निष्कर्म अवस्था में ज्ञान में आचरण करता हुआ, रमण करता हुआ, परिणमन करता हुआ ज्ञान ही उन मुनिराजों की परम शरण है। वे मुनिराज स्वयं ही उस ज्ञानस्वभाव में लीन रहते हुए परमामृत का पान करते हैं, अतीन्द्रियानन्द का अनुभव करते हैं, स्वाद लेते हैं।

शुभभाव को ही धर्म माननेवालों को यह चिन्ता सताती है कि यदि शुभभाव का भी निषेध करेंगे तो मुनिराज अशरण हो जावेंगे, उन्हें करने के लिए कोई काम नहीं रहेगा। आत्मा के ज्ञान, ध्यान और श्रद्धानमय वीतरागभाव की खबर न होने से ही अज्ञानियों को ऐसे विकल्प उठते हैं; किन्तु शुभभाव होना कोई अपूर्व उपलब्धि नहीं है; क्योंकि शुभभाव तो इस जीव को अनेक बार हुए हैं, पर उनसे भव का अन्त नहीं आया।

यदि शुभभाव नहीं हुए होते तो यह मनुष्य भव ही नहीं मिलता। यह मनुष्य भव और ये अनुकूल संयोग ही यह बात बताते हैं कि हमने पूर्व में अनेक प्रकार के शुभभाव किये हैं; पर दुःखों का अन्त नहीं आया है। अतः एक बार गंभीरता से विचार करके यह निर्णय करें कि शुभभाव में धर्म नहीं है, शुभभाव कर्तव्य नहीं है; **धर्म तो वीतरागभावरूप ही है और एकमात्र कर्तव्य भी वही है।**

---

१. समयसार : आत्मख्याति, छन्द १०४

तथा हि ह्न

(मालिनी)

अथ नियतमनोवाक्कायकृत्स्नेन्द्रियेच्छो
भवजलधिसमुत्थं मोहयाद:समूहम् ।
कनकयुवतिवांच्छामप्यहं सर्वशक्त्या
प्रबलतरविशुद्धध्यानमय्या त्यजामि ।।१३४।।

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ।।१००।।

वे वीतरागभाव आत्मा के आश्रय से होते हैं; अत: अपना आत्मा ही परमशरण है। **जिन मुनिराजों को निज भगवान आत्मा का परमशरण प्राप्त है, उन्हें अशरण समझना हमारे अज्ञान को ही प्रदर्शित करता है।।५०।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

मन-वचन-तन व इंद्रियों की वासना का दमक मैं।
भव उदधि संभव मोह जलचर और कंचन कामिनी।।
की चाह को मैं ध्यानबल से चाहता हूँ छोड़ना।
निज आतमा में आतमा को चाहता हूँ जोड़ना।।१३४।।

मन-वचन-काय संबंधी व समस्त इन्द्रियों संबंधी इच्छा को नियंत्रण करनेवाला मैं अब भवसागर में उत्पन्न होनेवाले मोहरूपी जलचर प्राणियों के समूह को तथा कनक और कामिनी की इच्छा को अति प्रबल विशुद्ध ध्यानमयी सर्वशक्ति से छोड़ता हूँ।

इस कलश में प्रतिक्रमण करने वाले वीतरागी सन्तों की भावना को प्रस्तुत किया गया है। प्रतिक्रमण करनेवाला बड़े ही आत्मविश्वास से कह रहा है कि मैंने मन-वचन-काय संबंधी व पाँच इन्द्रियों संबंधी इच्छा पर नियंत्रण कर लिया है और अब मैं संसार समुद्र में उत्पन्न मोहरूपी खूँखार जलचर प्राणियों के समूह को तथा कंचन-कामिनी की इच्छा को अत्यन्त प्रबल ध्यान के सम्पूर्ण बल से छोड़ता हूँ। यहाँ खूँखार जलचर द्वेष के और कंचन-कामिनी की इच्छा राग की प्रतीक है। मिथ्यात्व का तो वे नाश कर ही चुके हैं; अब जो थोड़े-बहुत राग-द्वेष बचे हैं, उनका नाश करने की तैयारी है।।१३४।।

आत्मा खलु मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्रे च।
आत्मा प्रत्याख्याने आत्मा मे संवरे योगे।।१००।।

अत्र सर्वत्रात्मोपादेय इत्युक्तः। अनाद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजसौख्यात्मा ह्यात्मा। स खलु सहजशुद्धज्ञानचेतनापरिणतस्य मम सम्यग्ज्ञाने च, स च प्रांचितपरम-पंचमगतिप्राप्तिहेतुभूतपंचमभावभावनापरिणतस्य मम सहजसम्यग्दर्शनविषये च, साक्षा-न्निर्वाणप्राप्त्युपायस्वस्वरूपाविचलस्थितिरूपसहजपरमचारित्रपरिणतेर्मम सहजचारित्रेऽपि स परमात्मा सदा संनिहितश्च, स चात्मा सदासन्नस्थः शुभाशुभपुण्यपापसुखदुःखानां षण्णां सकलसंन्यासात्मकनिश्चयप्रत्याख्याने च मम भेदविज्ञानिनः परद्रव्यपराङ्मुखस्य पंचेन्द्रिय-प्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहस्य, मम सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणेः स्वरूपगुप्तस्य पापाटवीपावकस्य शुभाशुभसंवरयोश्च, अशुभोपयोगपराङ्मुखस्य शुभोपयोगेऽप्युदासीन-

---

अब आगामी गाथा में यह कहते हैं कि सर्वत्र एकमात्र आत्मा ही उपादेय है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

मम ज्ञान में है आतमा दर्शन चरित में आतमा।
अर योग संवर और प्रत्याख्यान में भी आतमा।।१००।।

वस्तुतः मेरे ज्ञान में आत्मा है, दर्शन में आत्मा है तथा चारित्र में आत्मा है, मेरे प्रत्याख्यान में आत्मा है, मेरे संवर में आत्मा है और मेरे योग (शुद्धोपयोग) में आत्मा है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस गाथा में 'सर्वत्र आत्मा उपादेय है' ह्न ऐसा कहा गया है। वस्तुतः आत्मा अनादि-अनंत, अमूर्त, अतीन्द्रियस्वभाववाला, शुद्ध, सहज सौख्यात्मक है; सहजचेतनारूप से परिणमित मुझमें और मेरे सम्यग्ज्ञान में वह आत्मा है। पूजितपरमपंचमगति की प्राप्ति के हेतुभूत पंचमभाव (परमपारिणामिकभाव) की भावनारूप से परिणमित मुझमें और मेरे सहज सम्यग्दर्शन में वह आत्मा है। साक्षात् निर्वाण प्राप्ति के उपायभूत निजस्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज परमचारित्र परिणतिवाले मुझमें और मेरे सहज चारित्र में भी वह परमात्मा सदा सन्निहित है। सदा सन्निहित शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप और सुख-दुःख ह्न इन छह भावों से संपूर्ण संन्यासात्मक, परद्रव्य से परांगमुख, पंचेन्द्रिय विस्तार से रहित, भेदविज्ञानी और देहमात्र परिग्रहवाले मुझमें और मेरे निश्चय प्रत्याख्यान में वह आत्मा सदा निकट ही विद्यमान है। सहज वैराग्य के महल के शिखर का शिरोमणि, स्वरूपगुप्त और पापरूपी अटवी को जलाने के लिए अग्नि समान जो मैं; उसमें और मेरे शुभाशुभ संवर में वह आत्मा है। अशुभोपयोग से परांगमुख और शुभोपयोग के प्रति उदासीन और साक्षात्

परस्य साक्षाच्छुद्धोपयोगाभिमुखस्य मम परमागममकरंदनिष्यन्दिमुखपद्मप्रभस्य शुद्धोपयोगेपि च स परमात्मा सनातनस्वभावत्वात्तिष्ठति।

तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ ह्न

(अनुष्टुभ्)

तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचि दर्शनम्।
चारित्रं च तदेकं स्यात् तदेकं निर्मलं तपः।।५१।।[१]
नमस्यं च तदेवैकं तदेवैकं च मंगलम्।
उत्तमं च तदेवैकं तदेव शरणं सताम्।।५२।।[२]
आचारश्च तदेवैकं तदैवावश्यकक्रिया।
स्वाध्यायस्तु तदेवैकमप्रमत्तस्य योगिनः।।५३।।[३]

शुद्धोपयोग के सन्मुख जो मैं, जिसके मुख से परमागमरूपी मकरंद सदा झरता है ह्न ऐसे पद्मप्रभ (पद्मप्रभमलधारिदेव) के शुद्धोपयोग में भी वह परमात्मा विद्यमान है; क्योंकि वह परमात्मा सनातन स्वभाववाला है।''

यह गाथा और उसकी टीका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इनमें कहा गया है कि सन्तों को तो सर्वत्र एक आत्मा ही उपादेय है। आचार्य कुन्दकुन्द और टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव उत्तम पुरुष में बात करके ऐसा कह रहे हैं कि मुझमें और मेरे दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप में; तथा प्रत्याख्यान और शुद्धोपयोग में एकमात्र आत्मा ही है, उसी की मुख्यता है।

यद्यपि पद्मप्रभमलधारिदेव का यह कथन कि **हमारे मुख से परमागम का मकरंद झरता है,** कुछ गर्वोक्ति जैसा लगता है; तथापि **यह उनका आत्मविश्वास ही है; जो उनके आध्यात्मिक रस को व्यक्त करता है।।१००।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज '**तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ ह्न** तथा एकत्वसप्तति में भी कहा है' ह्न ऐसा लिखकर तीन छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

वही एक मेरे लिए परमज्ञान चारित्र।
पावन दर्शन तप वही निर्मल परम पवित्र।।५१।।
सत्पुरुषों के लिए वह एकमात्र संयोग।
मंगल उत्तम शरण अर नमस्कार के योग्य।।५२।।
योगी जो अप्रमत्त हैं उन्हें एक आचार।
स्वाध्याय भी है वही आवश्यक व्यवहार।।५३।।

---

१. पद्मनन्दिपंचविंशतिका, एकत्वसप्तति अधिकार, श्लोक ३९, २. वही, ४०, ३. वही, ४१

तथा हि ह्न

(मालिनी)

मम सहजसुदृष्टौ शुद्धबोधे चरित्रे
सुकृतदुरितकर्मद्वन्दसंन्यासकाले।
भवति स परमात्मा संवरे शुद्धयोगे
न च न च भुवि कोऽप्यन्योस्ति मुक्त्यै पदार्थः।।१३५।।

वही (चैतन्यज्योति) एक परमज्ञान है, वही एक पवित्र दर्शन है, वही एक चारित्र है तथा वही एक निर्मल तप है।

सत्पुरुषों को वही एक नमस्कार करने योग्य है, वही एक मंगल है, वही एक उत्तम है तथा वही एक शरण है।

अप्रमत्त योगियों के लिए वही एक आचार, वही एक आवश्यक क्रिया है और वही एक स्वाध्याय है।

उक्त तीनों छन्दों में यह तो कहा ही गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप ह्न ये सब एक आत्मा ही हैं; साथ में यह भी कहा गया है कि नमस्कार करने योग्य भी एक आत्मा ही है; मंगल, उत्तम और शरण भी एक आत्मा ही है; षट् आवश्यक, आचार और स्वाध्याय भी एक आत्मा ही है। यह सम्पूर्ण कथन शुद्ध निश्चयनय का कथन है। इसे इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए।।५१-५३।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव दो छन्द स्वयं लिखते हैं, जिनमें पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

इक आतमा ही बस रहा मम सहज दर्शन-ज्ञान में।
संवर में शुध उपयोग में चारित्र प्रत्याख्यान में।।
दुष्कर्म अर सत्कर्म ह्न इन सब कर्म के संन्यास में।
मुक्ति पाने के लिए अन कोई साधन है नहीं।।१३५।।

मेरे सहज सम्यग्दर्शन में, शुद्ध ज्ञान में, चारित्र में, सुकृत और दुष्कृत रूपी कर्मद्वन्द्व के संन्यास काल में अर्थात् प्रत्याख्यान में, संवर में और शुद्ध योग अर्थात् शुद्धोपयोग में एकमात्र वह परमात्मा ही है; क्योंकि ये सब एक निज शुद्धात्मा के आश्रय से ही प्रगट होते हैं। मुक्ति की प्राप्ति के लिए जगत में अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नहीं है, नहीं है।

इस छन्द में भी मूल गाथा, उसकी टीका और उद्धृत छन्दों में जो बात कही गई है,

(पृथ्वी)

क्वचिल्लसति निर्मलं क्वचन निर्मलानिर्मलं
क्वचित्पुनरनिर्मलं गहनमेवमज्ञस्य यत्।
तदेव निजबोधदीपनिहताघभूछायकं
सतां हृदयपद्मसद्मनि च संस्थितं निश्चलम्।।१३६।।

उसी को दुहराया गया है। अन्त में कहा गया है कि **मुक्ति प्राप्त करने के लिए एक भगवान आत्मा ही एकमात्र आधार है; अन्य कोई पदार्थ नहीं। नहीं है, नहीं है; दो बार लिखकर अपनी दृढ़ता को प्रदर्शित किया है।** साथ में जगत को भी चेताया है कि यहाँ-वहाँ भटकने से क्या होगा, एकमात्र निज भगवान आत्मा की शरण में आओ, उसमें अपनापन स्थापित करो; उसे ही निजरूप जानो, उसमें ही जम जावो, रम जावो।।१३५।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(भुजंगप्रयात)

किया नष्ट जिसने है अघतिमिर को,
रहता सदा सत्पुरुष के हृदय में।
कभी विज्ञजन को निर्मल अनिर्मल,
निर्मल-अनिर्मल देता दिखाई।।
जो नष्ट करता है अघ तिमिर को,
वह ज्ञानदीपक भगवान आतम।
अज्ञानियों के लिए तो गहन है,
पर ज्ञानियों को देता दिखाई।।१३६।।

जिसने पापतिमिर को नष्ट किया है और जो सत्पुरुषों के हृदयकमलरूपी घर में स्थित है; वह निजज्ञानरूपी दीपक अर्थात् भगवान आत्मा कभी निर्मल दिखाई देता है, कभी अनिर्मल दिखाई देता है और कभी निर्मलानिर्मल दिखाई देता है। इसकारण अज्ञानियों के लिए गहन है।

इस कलश में यह बताया गया है कि परमशुद्धनिश्चयनय या परमभावग्राही शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय से यह भगवान आत्मा एकाकार अर्थात् अत्यन्त निर्मल ही है और व्यवहारनय या पर्यायार्थिकनय से यह आत्मा अनेकाकार अर्थात् मलिन ही है। **प्रमाण की अपेक्षा एकाकार भी है और अनेकाकार भी है, निर्मल भी है और मलिन भी है।** उक्त नय कथनों से अपरिचित अज्ञानी जनों को अनेकान्तस्वभावी आत्मा का स्वरूप ख्याल में ही नहीं है; पर

एगो य मरदि जीवो एगो य जीवदि सयं।
एगस्स जादि मरणं एगो सिज्झदि णीरओ।।१०१।।

एकश्च म्रियते जीव: एकश्च जीवति स्वयम्।
एकस्य जायते मरणं एक: सिध्यति नीरजा:।।१०१।।

इह हि संसारावस्थायां मुक्तौ च नि:सहायो जीव इत्युक्त:। नित्यमरणे तद्भवमरणे च सहायमन्तरेण व्यवहारतश्चैक एव म्रियते; सादिसनिधनमूर्तिविजातीयविभावव्यंजननर-नारकादिपर्यायोत्पत्तौ चासन्नगतानुपचरितासद्भूतव्यवहारनयादेशेन स्वयमेवोज्जीवत्येव। सर्वैर्बंधुभि: परिरक्ष्यमाणस्यापि महाबलपराक्रमस्यैकस्य जीवस्याप्रार्थितमपि स्वयमेव जायते मरणम्; एक एव परमगुरुप्रसादासादितस्वात्माश्रयनिश्चयशुक्लध्यानबलेन स्वात्मानं ध्यात्वा नीरजा: सन् सद्यो निर्वाति।

नयपक्षों से भलीभाँति परिचित आत्मानुभवी ज्ञानी जन उक्त भगवान आत्मा के स्वरूप से भलीभाँति परिचित हैं और इसकी आराधना में निरंतर संलग्न रहते हैं।।१३६।।

अब आगामी गाथा में यह बताते हैं कि यह आत्मा संसार और मुक्त ह्न दोनों अवस्थाओं में असहाय ही है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

अकेला ही मरे एवं जीव जन्मे अकेला।
मरण होता अकेले का मुक्त भी हो अकेला।।१०१।।

जीव अकेला मरता है और अकेला ही जन्मता है तथा अकेले का मरण होता है और रजरहित होता हुआ अकेला सिद्धदशा को प्राप्त करता है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ इस गाथा में ऐसा कहते हैं कि संसारावस्था में और मुक्ति में जीव नि:सहाय है।

नित्यमरण में अर्थात् प्रतिसमय होनेवाले आयुकर्म के निषेकों के क्षय में और उस भव संबंधी मरण में अन्य किसी की सहायता बिना व्यवहार से अकेला ही मरता है।

सादि-सान्त मूर्तिक विजातीय विभावव्यंजनपर्यायरूप नर-नारकादि पर्यायों की उत्पत्ति में आसन्न अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय के कथन से जीव अकेला स्वयं ही जन्मता है। सर्व बन्धुजनों के द्वारा सुरक्षा किये जाने पर भी महाबल पराक्रमवाले जीव का अकेले ही, अनिच्छित होने पर भी स्वयमेव मरण होता है। अकेला ही परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त स्वात्माश्रित निश्चय शुक्लध्यान के बल से निज आत्मा को ध्याकर रजरहित होता हुआ शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त करता है।''

तथा चोक्तम् ह्न

(अनुष्टुभ्)

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते ।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ।।५४।।[१]

इस गाथा और उसकी टीका के संदर्भ में विचारणीय बिन्दु ये हैं कि गाथा में **जीवदि** पद का प्रयोग है, जिसका सीधा-सच्चा अर्थ **जीता है** होता है, **जिन्दा रहना** होता है; पर यहाँ इसका अर्थ जन्मना ह्न जन्म लेना किया है। यदि **जीवदि** का अर्थ जिन्दा रहना माने तो यहाँ **जीवन-मरण** ह्न ऐसी जोड़ी बनती है; परन्तु **जीवदि** का जन्मता है ह्न यह अर्थ करने से जन्म-मरण ह्न ऐसी जोड़ी बनी।

गाथा की ऊपर की पंक्ति में **मरदि** पद का प्रयोग है और नीचे की पंक्ति में **मरणं जादि** कहा गया है। **मरदि** का अर्थ **'मरता है'** होता है और **मरणं जादि** का अर्थ **'मरण' होता है** या **'मरण को प्राप्त होता है'** होता है। यद्यपि बात लगभग एक ही है; तथापि यहाँ दो जोड़े बनाये गये हैं। पहला जन्म-मरण का और दूसरा मरण होने व मुक्त होने का। **इसप्रकार गाथा का अर्थ यह होता है कि जीव जन्म-मरण में अकेला है और मरण तथा मुक्ति में भी अकेला ही है।**

टीका में मरण पद के भी दो प्रकार बताये गये हैं। पहला मरण और दूसरा नित्यमरण। एक देह को छोड़कर दूसरी देह धारण करने को मरण और प्रतिसमय आयुकर्म के निषेकों के खिरने को, प्रतिसमय आयु के क्षीण होने को नित्यमरण कहा है।

मरण और मुक्ति में यह अन्तर है कि एक देह को छोड़कर दूसरी देह को धारण करने को **मरण** और देह के बंधन से सदा के लिए मुक्त हो जाने को **मुक्ति** कहते हैं।

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका का भाव यही है कि यह आत्मा जन्म से लेकर मरण तक के सभी प्रसंगों में तथा संसारभ्रमण और मुक्ति प्राप्त करने में सर्वत्र अकेला ही है; कहीं भी किसी का किसी भी प्रकार का कोई सहयोग संभव नहीं है। अत: हमें पर की ओर देखने का भाव छोड़कर स्वयं ही अपने हित में सावधान होना चाहिए।।१०१।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथा चोक्तम्** ह्न तथा कहा भी है' ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द उद्धृत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

स्वयं करे भोगे स्वयं यह आतम जग माँहि।
स्वयं रुले संसार में स्वयं मुक्त हो जाँहि।।५४।।

---

१. ग्रंथ का नाम एवं श्लोक संख्या अनुपलब्ध है।

उक्तं च श्री सोमदेवपंडितदेवै: ह्न

(वसंततिलका)

एकस्त्वमाविशसि जन्मनि संक्षये च
भोक्तुं स्वयं स्वकृतकर्मफलानुबन्धम् ।
अन्यो न जातु सुखदु:खविधौ सहाय:
स्वाजीवनाय मिलितं विटपेटकं ते ।।५५।।[१]

यह आत्मा स्वयं ही कर्म करता है और उसका फल भी स्वयं ही भोगता है। स्वयं संसार में घूमता है और स्वयं ही संसार से मुक्त हो जाता है।

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि यह आत्मा अपने परिणामों को स्वयं अकेला ही करता है और उनके सुख-दु:खरूप फल को स्वयं ही भोगता है। **स्वयं की गलती से संसार में अकेला भटकता है और स्वयं अपनी गलती सुधार कर मुक्त भी हो जाता है। इसलिए पर से सहयोग की आकांक्षा छोड़कर हमें स्वयं अपने कल्याण के मार्ग में लगना चाहिए।।५४।।**

इसके बाद टीकाकार '**उक्तं च श्री सोमदेवपंडितदेवै: ह्न** पण्डित सोमदेव के द्वारा भी कहा गया है' ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(वीर)

जनम-मरण के सुख-दुख तुमने स्वयं अकेले भोगे हैं।
मात-पिता सुत-सुता बन्धुजन कोई साथ न देते हैं।।
यह सब टोली धूर्तजनों की अपने-अपने स्वारथ से।
लगी हुई है साथ तुम्हारे पर न कोई तुम्हारे हैं।।५५।।

स्वयं किये गये कर्म के फलानुबंध को स्वयं भोगने के लिए तू अकेला ही जन्म और मृत्यु में प्रवेश करता है। अन्य कोई स्त्री-पुत्र-मित्रादि सुख-दु:ख में सहायक नहीं होते, साथी नहीं होते। ये सब ठगों की टोली मात्र अपनी आजीविका के लिए तुझे मिली है।

यहाँ जो कुटुम्बीजनों को धूर्तों की टोली कहा है; वह उनसे द्वेष कराने के लिए नहीं कहा है; उनसे एकत्व-ममत्व तोड़ने के लिए कहा है। वस्तुत: बात तो यह है कि वे तेरा सहयोग कर नहीं सकते। यदि वे तेरा सहयोग करना चाहें, तब भी नहीं कर सकते; क्योंकि प्रत्येक जीव को अपने किये कर्मों का फल स्वयं ही भोगना पड़ता है। कोई जीव किसी दूसरे का भला-बुरा कर ही नहीं सकता। किसी दूसरे के भरोसे बैठे रहना समझदारी का काम नहीं है। इसलिए ***'अपनी मदद आप करो'*** ह्न यही कहना चाहते हैं आचार्यदेव ।।५५।।

---

१. श्री सोमदेवपंडितदेव : यशस्तिलकचंपूकाव्य, दूसरा अधिकार, छन्द ११९

(मंदाक्रांता)

एको याति प्रबलदुरघाज्जन्म मृत्युं च जीवः
कर्मद्वन्द्वोद्भवफलमयं चारुसौख्यं च दुःखम् ।
भूयो भुंक्ते स्वसुखविमुखः सन् सदा तीव्रमोहा-
देकं तत्त्वं किमपि गुरुतः प्राप्य तिष्ठत्यमुष्मिन् ।।१३७।।

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ।।१०२।।

इसके बाद एक छन्द टीकाकार स्वयं लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(वीर)

जीव अकेला कर्म घनेरे उनने इसको घेरा है।
तीव्र मोहवश इसने निज से अपना मुखड़ा फेरा है।।
जनम-मरण के दुःख अनंते इसने अबतक प्राप्त किये।
गुरु प्रसाद से तत्त्व प्राप्त कर निज में किया वसेरा है।।१३७।।

जीव अकेला ही प्रबल दुष्टकर्मों के फल जन्म और मरण को प्राप्त करता है। तीव्र मोह के कारण आत्मीय सुख से विमुख होता हुआ कर्मद्वन्द्व से उत्पन्न सुख-दुःख को यह जीव स्वयं बारंबार अकेला ही भोगता है तथा किसी भी प्रकार से सद्गुरु द्वारा एक आत्मतत्त्व प्राप्त करके अकेला ही उसमें स्थित होता है।

इस छन्द में भी यही कहा गया है कि यह आत्मा अनादिकालीन तीव्र मोह के कारण आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले अतीन्द्रिय सुख से विमुख होकर कर्मजन्य सुख-दुःखों को अकेला ही भोग रहा है। यदि इसे सद्गुरु के सत्समागम से आत्मतत्त्व की प्राप्ति हो जावे तो यह जीव अकेला ही उसमें स्थापित हो सकता है।

स्वयं में स्थापित होना निश्चयप्रत्याख्यान है। इस निश्चय- प्रत्याख्यान का कार्य इस जीव को स्वयं ही करना होगा; क्योंकि जब जन्म-मरण में जीव अकेला ही रहता है, संसार परिभ्रमण और मुक्ति प्राप्त करने में भी अकेला ही रहता है तो फिर निश्चयप्रत्याख्यान में किसी का साथ होना कैसे संभव है ?।।१३७।।

अब इस गाथा में यह कहते हैं कि मेरा तो एकमात्र भगवान आत्मा ही है, अन्य कुछ भी मेरा नहीं है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

ज्ञान-दर्शनमयी मेरा एक शाश्वत आतमा।
शेष सब संयोगलक्षण भाव आतम बाह्य हैं।।१०२।।

एको मे शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शनलक्षण: ।
शेषा मे बाह्या भावा: सर्वे संयोगलक्षणा: ।।१०२।।

एकत्वभावनापरिणतस्य सम्यग्ज्ञानिनो लक्षणकथनमिदम् । अखिलसंसृतिनन्दनतरु-मूलालवालांभ:पूरपरिपूर्णप्रणालिकावत्संस्थितकलेवरसंभवहेतुभूत द्रव्यभावकर्माभावादेक:, स एव निखिलक्रियाकांडाडंबरविविधविकल्पकोलाहलनिर्मुक्तसहजशुद्धज्ञानचेतनामतीन्द्रियं भुंजान: सन् शाश्वतो भूत्वा ममोपादेयरूपेण तिष्ठति, यस्त्रिकालनिरुपाधिस्वभावत्वात् निरावरणज्ञानदर्शनलक्षणलक्षित: कारणपरमात्मा; ये शुभाशुभकर्मसंयोगसंभवा: शेषा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहा: स्वस्वरूपाद्बाह्यास्ते सर्वे; इति मम निश्चय: ।

(मालिनी)

अथ मम परमात्मा शाश्वत: कश्चिदेक: ।
सहजपरमचिच्चिन्तामणिर्नित्यशुद्ध: ।।
निरवधिनिजदिव्यज्ञानदृग्भ्यां समृद्ध: ।
किमिह बहुविकल्पैर्मे फलं बाह्यभावै: ।।१३८।।

मेरा तो ज्ञान-दर्शन लक्षणवाला एक शाश्वत आत्मा ही है, शेष सब संयोग लक्षणवाले भाव मुझसे बाह्य हैं, पृथक् हैं।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह एकत्वभावना से परिणत सम्यग्ज्ञानी के लक्षण का निरूपण है। समस्त संसाररूपी नंदनवन के वृक्षों की जड़ के आसपास क्यारियों में पानी भरने के लिए जलप्रवाह से परिपूर्ण नाली के समान वर्तता हुआ जो शरीर, उसकी उत्पत्ति में हेतभूत द्रव्यकर्म व भावकर्म से रहित होने से जो आत्मा एक है, वह त्रिकाल निरुपाधिक स्वभाववाला होने से निरावरण ज्ञान-दर्शनलक्षण से लक्षित कारणपरमात्मा है।

वह कारणपरमात्मा समस्त क्रियाकाण्ड के आडम्बर के विविध विकल्परूप कोलाहल से रहित, सहज शुद्ध ज्ञानचेतना को अतीन्द्रियरूप से भोगता हुआ शाश्वत रहकर मेरे लिए उपादेयरूप रहता है। और जो शुभाशुभ कर्म के संयोग से उत्पन्न होनेवाले शेष सभी बाह्य व अभ्यन्तर परिग्रह हैं, वे सब अपने आत्मा से बाह्य हैं ह्न ऐसा मेरा निश्चय है।''

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि मैं ज्ञानदर्शनस्वभावी एक आत्मा हूँ, शेष जो शरीरादि संयोग हैं; वे सभी मुझसे भिन्न हैं। मेरा उनसे कोई संबंध नहीं है। टीका में अलंकारिक भाषा में बताया गया है कि यह शरीर संसार रूपी बाग को हरा-भरा रखनेवाला है। एक ज्ञानदर्शनलक्षण से पहिचानने में आनेवाला आत्मा ह्न कारण-

जं किंचि मे दुच्चरितं सव्वं तिविहेण वोसरे।
सामाइयं तु तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं।।१०३।।
यत्किंचिन्मे दुश्चरित्रं सर्वं त्रिविधेन विसृजामि।
सामायिकं तु त्रिविधं करोमि सर्वं निराकारम्।।१०३।।

परमात्मा ही मैं हूँ। **अत: इन शरीरादिक संयोगों और रागादिभावरूप संयोगी भावों से भिन्न कारणपरमात्मारूप अपने आत्मा की आराधना में ही रत रहता हूँ।।१०२।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(वीर)

सदा शुद्ध शाश्वत परमातम मेरा तत्त्व अनेरा है।
सहज परम चिद् चिन्तामणि चैतन्य गुणों का बसेरा है।।
अरे कथंचित् एक दिव्य निज दर्शन-ज्ञान भरेला है।
अन्य भाव जो बहु प्रकार के उनमें कोई न मेरा है।।१३८।।

मेरा परमात्मा शाश्वत है, कथंचित् एक है, सहज परम चैतन्य-चिन्तामणि है, सदा शुद्ध है और अनंत निज दिव्य ज्ञान-दर्शन से समृद्ध है। यदि मेरा आत्मा ऐसा है तो फिर मुझे बहुत प्रकार के बाह्यभावों से क्या लाभ है, क्या प्रयोजन है, उनसे कौनसा फल प्राप्त होनेवाला है? तात्पर्य यह है कि अपने आत्मा से भिन्न पदार्थों से कोई लाभ नहीं है।

इस कलश में भी यही कहा गया है कि जब मेरा भगवान आत्मा ही चैतन्यचिन्तामणि है, सभी चिन्ताओं को समाप्त करनेवाला है तो फिर मैं बाह्य संयोगों में से कुछ चाहने की भावना क्यों करूँ ?

मेरा यह भगवान आत्मा न केवल चैतन्य चिन्तामणि है, अपितु शाश्वत है, सदा रहनेवाला है; इन संयोग का वियोग होना तो सुनिश्चित ही है, इनसे मुझे क्या लेना-देना है ? मेरा भगवान आत्मा सदा शुद्ध है, उसमें अशुद्धि का प्रवेश ही नहीं है। अशुद्धि तो संयोगजन्य है, संयोगभावरूप है; उससे भी मेरा कोई संबंध नहीं है।।१३८।।

अब आगामी गाथा में अपने दोषों के निराकरण की बात करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

मैं त्रिविध मन-वच-काय से सब दुश्चरित को छोड़ता।
अर त्रिविध चारित्र से अब मैं स्वयं को जोड़ता।।१०३।।

मेरा जो कुछ भी दुश्चरित्र है; उस सभी को मैं मन-वचन-काय से छोड़ता हूँ और त्रिविध सामायिक अर्थात् चारित्र को निराकार करता हूँ, निर्विकल्प करता हूँ।

आत्मगतदोषनिर्मुक्त्युपायकथनमिदम्। भेदविज्ञानिनोऽपि मम परमतपोधनस्य पूर्व-संचितकर्मोदयबलाच्चारित्रमोहोदये सति यत्किंचिदपि दुश्चरित्रं भवति चेत्तत् सर्वं मनो-वाक्कायसंशुद्ध्या संत्यजामि। सामायिकशब्देन तावच्चारित्रमुक्तं सामायिकछेदोपस्थापन-परिहारविशुद्ध्यभिधानभेदात्त्रिविधम्। अथवा जघन्यरत्नत्रयमुत्कृष्टं करोमि; नवपदार्थपरद्रव्य-श्रद्धानपरिज्ञानाचरणस्वरूपं रत्नत्रयं साकारं, तत् स्वस्वरूपश्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानरूपस्वभाव-रत्नत्रयस्वीकारेण निराकारं शुद्धं करोमि इत्यर्थः।

किं च, भेदोपचारचारित्रम् अभेदोपचारं करोमि, अभेदोपचारम् अभेदानुपचारं करोमि इति त्रिविधं सामायिकमुत्तरोत्तरस्वीकारेण सहजपरमतत्त्वाविचलस्थितिरूपसहज-निश्चयचारित्रं, निराकारतत्त्वनिरतत्त्वान्निराकारचारित्रमिति।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह आत्मगत दोषों से मुक्त होने के उपाय का कथन है। भेदविज्ञानी होने पर भी मुझ तपोधन को पूर्व संचित कर्मों के उदय के बल से चारित्रमोह का उदय होने पर यदि कुछ दुश्चरित्र हुआ हो तो उस सभी को मैं मन-वचन-काय की संशुद्धि से छोड़ता हूँ। यहाँ सामायिक शब्द चारित्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और वह चारित्र तीन प्रकार का होता है ह्न सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापना चारित्र और परिहारविशुद्धि चारित्र।

मैं उस चारित्र को निराकार करता हूँ अथवा मैं जघन्यरत्नत्रय को उत्कृष्ट करता हूँ। नव पदार्थरूप परद्रव्य के श्रद्धान-ज्ञान-आचणरूप रत्नत्रय साकार अर्थात् सविकल्प हैं; उसे निजस्वरूप के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप स्वभावरत्नत्रय के स्वीकार द्वारा निराकार अर्थात् शुद्ध करता हूँ। ह्न ऐसा अर्थ है।

दूसरे प्रकार से कहें तो मैं भेदोचार चारित्र को अभेदोपचार करता हूँ तथा अभेदोपचार चारित्र को अभेदानुपचार करता हूँ। इसप्रकार त्रिविध सामायिक (चारित्र) को उत्तरोत्तर स्वीकृत करने से सहज परमतत्त्व में अविचल स्थितिरूप सहज निश्चयचारित्र होता है। वह निश्चयचारित्र निराकारतत्त्व में लीन होने से निराकारचारित्र है।''

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि मैं शुद्धोपयोगरूप चारित्र में स्थित होता हूँ। इससे चारित्र की कमजोरी के कारण जो अस्थिरतारूप दोष रहा है, वह भी समाप्त हो जावेगा। यह तो सुनिश्चित ही है कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव और मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव श्रद्धान के दोष से तो मुक्त ही थे; क्योंकि वे सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा मुनिराज थे।

चारित्र में भी तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्धि विद्यमान थी; किन्तु **संज्वलन कषाय के उदय के कारण जो थोड़ी-बहुत अस्थिरता रह गई थी, वे उसका भी प्रत्याख्यान**

तथा चोक्तं प्रवचनसारव्याख्यायाम् ।

(वसंततिलका)

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम् ।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ।।५६।।[१]

करके पर्याय में भी पूर्ण शुद्ध होना चाहते थे। इसलिए इसप्रकार के चिन्तन में रत थे कि मैं तो ज्ञान-दर्शनस्वभावी आत्मा हूँ, बाह्यभावों में से कोई भी मेरा नहीं है ।।१०३।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज तथा '**चोक्तं प्रवचनसार व्याख्यायाम्** ह्न तथा प्रवचनसार की व्याख्या तत्त्वप्रदीपिका टीका में भी कहा है' ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

चरण द्रव्य अनुसार हो द्रव्य चरण अनुसार।
शिवपथगामी बनो तुम दोनों के अनुसार।।५६।।

चरण द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चरणानुसार होता है ह्न इसप्रकार वे दोनों परस्पर सापेक्ष हैं; इसलिए या तो द्रव्य का आश्रय लेकर अथवा तो चरण का आश्रय लेकर मुमुक्षु अर्थात् ज्ञानी श्रावक और मुनिराज मोक्षमार्ग में आरोहण करो।

इसप्रकार इस कलश में कहते हैं कि द्रव्यानुयोग के अनुसार सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त करके चरणानुयोगानुसार चारित्र धारण करना चाहिए। **यही द्रव्यानुसार चरण है।**

आत्मज्ञान के पहले जीवन में सदाचार अत्यन्त आवश्यक है। अष्ट मूलगुणों का पालन और सप्त व्यसनों का त्याग हुए बिना आत्मज्ञान होना असंभव नहीं तो दु:साध्य अवश्य है, अत्यन्त दुर्लभ है। इसी को चरणानुयोगानुसार द्रव्य कहते हैं।

प्रश्न : सदाचारी जीवन बिना आत्मज्ञान संभव नहीं ह्न यह कहने में आपको संकोच क्यों हो रहा है ?

उत्तर : इसलिए कि भगवान महावीर के जीव को शेर की पर्याय में ऐसा हो गया था; पर यह राजमार्ग नहीं है। **राजमार्ग तो यही है कि सदाचारी को ही आत्मज्ञान होता है।।५६।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द स्वयं लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

---

१. प्रवचनसार, श्लोक १२

तथा हि ह्न

(अनुष्टुभ्)

चित्तत्त्वभावनासक्तमतयो यतयो यमम् ।
यतंते यातनाशीलयमनाशनकारणम् ।।१३९।।

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ।
आसाए वोसरित्ता णं समाहि पडिवज्जए ।।१०४।।

साम्यं मे सर्वभूतेषु वैरं मह्यं न केनचित् ।
आशाम् उत्सृज्य नूनं समाधिः प्रतिपद्यते ।।१०४।।

इहान्तर्मुखस्य परमतपोधनस्य भावशुद्धिरुक्ता । विमुक्तसकलेन्द्रियव्यापारस्य मम भेद-विज्ञानिष्वज्ञानिषु च समता; मित्रामित्रपरिणतेरभावान्न मे केनचिज्जनेन सह वैरं; सहजवैराग्य-

---

(दोहा)

जिनका चित्त आसक्त है निज आतम के माँहि ।
सावधान संयम विषैं उन्हें मरणभय नाँहि ।।१३९।।

जिनकी बुद्धि चैतन्यतत्त्व की भावना में आसक्त है ह्न ऐसे यति यम में प्रयत्नशील रहते हैं; संयम में सावधान रहते हैं । वह यम (संयम) यातनाशील यम अर्थात् मृत्यु के नाश का कारण है ।

इस छन्द में यही कहा गया है कि जिनकी बुद्धि आत्मानुभव में आसक्त है; ऐसे आत्मानुभवी मुनिराज चारित्र के निर्दोष पालन में सदा सावधान रहते हैं । यही कारण है कि उन्हें मृत्यु का भय नहीं सताता ।।१३९।।

अब इस गाथा में अंतुर्मख सन्तों की भावशुद्धि का कथन करते हैं ।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

सभी से समभाव मेरा ना किसी से वैर है ।
छोड़ आशाभाव सब मैं समाधि धारण करूँ ।।१०४।।

सभी जीवों के प्रति मुझे समताभाव है, मेरा किसी के साथ बैर नहीं है । वस्तुतः मैं आशा को छोड़कर समाधि को प्राप्त करता हूँ ।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस गाथा में अंतर्मुख परम तपोधन की भावशुद्धि का कथन है । समस्त इन्द्रियों के व्यापार से मुक्त मुझे भेदज्ञानियों तथा अज्ञानियों के प्रति समताभाव है, भिन्न-अभिन्नरूप परिणति के अभाव के कारण मुझे किसी भी प्राणी से बैर-विरोध नहीं है, सहज वैराग्यपरिणति

परिणते: न मे काप्याशा विद्यते; परमसमरसीभावसनाथपरमसमाधिं प्रपद्येऽहमिति।

तथा चोक्तं श्री योगीन्द्रदेवै: ह्न

(वसंततिलका)

मुक्त्वालसत्वमधिसत्त्वबलोपपन्न:
स्मृत्वा परां च समतां कुलदेवतां त्वम्।
संज्ञानचक्रमिदमंग गृहाण तूर्ण–
मज्ञान–मन्त्रि–युत–मोहरिपू–पमर्दि।।५७।।[१]

के कारण मुझे कोई भी आशा नहीं है, परम समरसीभाव से संयुक्त परम समाधि का मैं आश्रय करता हूँ।''

इस गाथा में आचार्यदेव द्वारा अत्यन्त सरल व सीधी–सपाट भाषा में यह कहा गया है कि मेरा तो सभी जीवों के प्रति समताभाव है। मेरा किसी से कोई वैर–विरोध नहीं है। मेरी भावना तो यही है कि मैं सभी प्रकार की आशा–आकांक्षा को छोड़कर समाधि को प्राप्त करूँ। यह आचार्यदेव ने उत्तमपुरुष में सभी भावलिंगी सन्तों की ओर से कहा है। यह न केवल उनकी बात है, अपितु सभी सन्तों की यही भावना होती है।

मानसिक विकल्पों को आधि, शारीरिक विकल्पों को व्याधि और परपदार्थों संबंधी विकल्पों को उपाधि कहते हैं। उक्त तीनों प्रकार के विकल्पों से मुक्त होकर निर्विकल्पदशा को प्राप्त करना ही समाधि है। सभी सन्तों की यह समाधिस्थ होने की भावना ही निश्चय-प्रत्याख्यान है।।१०४।।

इसके बाद '**तथा चोक्तं श्री योगीन्द्रदेवै: ह्न** तथा श्री योगीन्द्रदेव ने भी कहा है' ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

हे भाई ! तुम महासबल तज कर प्रमाद अब।
समतारूपी कुलदेवी को याद करो तुम।।
अज्ञ सचिव युत मोह शत्रु का नाशक है जो।
ऐसे सम्यग्ज्ञान चक्र को ग्रहण करो तुम।।५७।।

हे भाई ! स्वाभाविक बल सम्पन्न तुम प्रमाद को छोड़कर उत्कृष्ट समतारूपी कुलदेवी का स्मरण करके अज्ञानमंत्री सहित मोहराजारूप शत्रु का नाश करनेवाले सम्यग्ज्ञानरूपी चक्र को शीघ्र ग्रहण करो।

---

१. योगीन्द्रदेव, अमृताशीति, श्लोक २१

तथा हि ह्न

(वसंततिलका)

मुक्त्यंगनालिमपुनर्भवसौख्यमूलं
दुर्भावनातिमिरसंहतिचन्द्रकीर्तिम् ।
संभावयामि समतामहमुच्चकैस्तां
या संमता भवति संयमिनामजस्रम् ।।१४०।।

इस छन्द में रूपक अलंकार के माध्यम से यह कहा गया है कि **हे आत्मन् ! तुझमें मोह का नाश करने के लिए स्वाभाविक बल है। इसलिए तू प्रमाद छोड़कर उस बल से मोह राजा को जीतने के लिए सम्यग्ज्ञानरूपी चक्ररत्न को प्राप्त कर और उसका प्रयोग कर, इससे ही मोह राजा अपने अज्ञानमंत्री के साथ नाश को प्राप्त होगा।।५७।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज स्वयं दो छन्द लिखते हैं; जिनमें पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

मुक्त्यांगना का भ्रमर अर जो मोक्षसुख का मूल है।
दुर्भावनातमविनाशक दिनकरप्रभा समतूल है।।
संयमीजन सदा संमत रहें समताभाव से।
मैं भाऊँ समताभाव को अत्यन्त भक्तिभाव से।।१४०।।

जो समताभाव; मुक्तिरूपी स्त्री के प्रति भ्रमर के समान है, मोक्ष के सुख का मूल है, दुर्भावनारूपी अंधकार के नाश के लिए चन्द्रमा के प्रकाश के समान है और संयमियों को निरंतर संमत है; टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि मैं उस समताभाव को अत्यंत भक्तिभाव से भाता हूँ।

इस छन्द में संतों को सदा संमत समताभाव का स्वरूप स्पष्ट किया गया है, उसकी महिमा से परिचित कराया गया है, उसे मोक्षसुख का मूल कारण कहा गया है। उसकी उपमा सुन्दर स्त्रियों के ऊपर मंडरानेवाले भौरों से और अन्धकार को नष्ट करनेवाले चन्द्रप्रकाश से दी गई है; क्योंकि इस समता से मुक्तिरूपी स्त्री से समागम होता है और दुर्भावनारूपी अंधकार नष्ट हो जाता है।

वस्तुत: ऐसा समताभाव ही निश्चयप्रत्याख्यान है। अत: टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि मैं इसप्रकार के समताभाव को धारण करता हूँ, उसकी भावना करता हूँ।१४०।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिणी)

जयति समता नित्यं या योगिनामपि दुर्लभा
निजमुखसुखवार्धिप्रस्फारपूर्णशशिप्रभा ।
परमयमिनां प्रव्रज्यास्त्रीमन:प्रियमैत्रिका
मुनिवरगणस्योच्चै: सालंक्रिया जगतामपि ।।१४१।।

णिक्कसायस्स दान्तस्स सूरस्स ववसायिणो ।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे ।।१०५।।

(हरिगीत)

जो योगियों को महादुर्लभ भाव अपरंपार है।
त्रैलोक्यजन अर मुनिवरों का अनोखालंकार है।।
सुखोदधि के ज्वार को जो पूर्णिमा का चन्द्र है।
दीक्षांगना की सखी यह समता सदा जयवंत है।।१४१ ।।

जो योगियों को भी दुर्लभ है, आत्माभिमुख सुख के सागर में ज्वार लाने के पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान है, परम संयमी पुरुषों की दीक्षारूपी स्त्री के मन को लुभाने के लिए सखी के समान है और मुनिवरों तथा तीन लोक का अतिशयकारी आभूषण है; वह समताभाव सदा जयवंत है।

इस छन्द में भी समताभाव के ही गीत गाये हैं। योगियों को दुर्लभ यह समताभाव अतीन्द्रिय आनंद के सागर में ज्वार लाने के लिए पूर्णमासी के चंद्रमा के समान है।

यह तो आप जानते ही हैं कि पूर्णमासी के दिन सागर में ज्वार आता है और अमावस्या के दिन भाटा होता है। तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार पूर्णमासी के चन्द्रमा को देखकर समुद्र उमड़ता है, उसमें पानी की बाढ आती है और अमावस्या के दिन चन्द्रमा के वियोग में सागर शान्त हो जाता है, उदास हो जाता है, पानी किनारे से दूर चला जाता है; उसीप्रकार **आत्मारूपी सागर में समतारूपी पूर्णचन्द्र के उदय होने पर अतीन्द्रिय आनन्दरूपी जल की बाढ आ जाती है।**

यह समता दीक्षारूपी पत्नी की सखी है तथा सन्तों और सभी लोगों का आभूषण है।

अत: आत्मार्थी भाई-बहिनों को समता की शरण में जाना चाहिए; क्योंकि यह समता ही निश्चयप्रत्याख्यान है।।१४१।।

अब इस गाथा में यह बताते हैं कि निश्चयप्रत्याख्यान करनेवाले सन्त कैसे होते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

नि:कषायस्य दान्तस्य शूरस्य व्यवसायिन: ।
संसारभयभीतस्य प्रत्याख्यानं सुखं भवेत् ।।१०५।।

निश्चयप्रत्याख्यानयोग्यजीवस्वरूपाख्यानमेतत् । सकलकषायकलंकपंकविमुक्तस्य निखिलेन्द्रियव्यापारविजयोपार्जितपरमदान्तरूपस्य अखिलपरीषहमहाभटविजयोपार्जित-निजशूरगुणस्य निश्चयपरमतपश्चरणनिरतशुद्धभावस्य संसारदु:खभीतस्य व्यवहारेण चतुरा-हारविवर्जनप्रत्याख्यानम् । किं च पुन: व्यवहारप्रत्याख्यानं कुदृष्टेरपि पुरुषस्य चारित्रमोहोदय-हेतुभूतद्रव्यभावकर्मक्षयोपशमेन क्वचित् कदाचित् संभवति । अत एव निश्चयप्रत्याख्यानं हितम् अत्यासन्नभव्यजीवानाम्; यत: स्वर्णनामधेयधरस्य पाषाणस्योपादेयत्वं न तथांध-पाषाणस्येति । तत: संसारशरीरभोगनिर्वेगता निश्चयप्रत्याख्यानस्य कारणं, पुनर्भाविकाले संभाविनां निखिलमोहरागद्वेषादिविविधविभावानां परिहार: परमार्थप्रत्याख्यानम्, अथवा-नागतकालोद्भवविविधान्तर्जल्पपरित्याग: शुद्धनिश्चयप्रत्याख्यानम् इति ।

(हरिगीत)

जो निष्कषायी दान्त है भयभीत है संसार से।
व्यवसाययुत उस शूर को सुखमयी प्रत्याख्यान है ।।१०५।।

जो निष्कषाय है, दान्त (इन्द्रियों को जीतनेवाला) है, शूरवीर है, व्यवसायी है और संसार से भयभीत है; उसे सुखमय प्रत्याख्यान होता है ।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''जो जीव निश्चयप्रत्याख्यान के योग्य हों; उन जीवों के स्वरूप का यह कथन है ।

जो समस्त कषायरूपी कलंक के कीचड़ से मुक्त हैं; सभी इन्द्रियों के व्यापार पर विजय प्राप्त कर लेने से, जिन्होंने परमदान्तता (जितेंद्रियपना) प्राप्त की है; सभी परीषहरूपी महासुभटों को जीत लेने से, जिन्होंने अपनी शूरवीरता प्राप्त की है; निश्चय परम तपश्चरण में निरत ह्न ऐसा शुद्धभाव जिन्हें वर्तता है और जो संसारदु:ख से भयभीत है; ऐसे सन्तों को यथोचित शुद्धता सहित व्यवहार से चार प्रकार के आहार के त्यागरूप व्यवहारप्रत्याख्यान है ।

दूसरी बात यह है कि शुद्धतारहित व्यवहारप्रत्याख्यान तो मिथ्यादृष्टि पुरुषों को भी चारित्रमोह के उदय के हेतुभूत द्रव्यकर्म और भावकर्म के क्षयोपशम द्वारा क्वचित् कदाचित् संभवित है । इसीलिए निश्चयप्रत्याख्यान ही आसन्नभव्यजीवों के लिए हितरूप है ।

जिसप्रकार सुवर्णपाषाण उपादेय है, अन्धपाषाण नहीं; उसीप्रकार निश्चयप्रत्याख्यान ही उपादेय है, व्यवहारप्रत्याख्यान नहीं । इसलिए यथोचित शुद्धता सहित संसार तथा शरीर संबंधी भोगों की निर्वेगता निश्चयव्याख्यान का कारण है और भविष्यकाल में होनेवाले समस्त मोह-राग-द्वेषादि विविध विभावों का परिहार परमार्थप्रत्याख्यान है अथवा अनागतकाल में उत्पन्न होनेवाले विविध विकल्पों का परित्याग शुद्धनिश्चयप्रत्याख्यान है ।''

(हरिणी)

जयति सततं प्रत्याख्यानं जिनेन्द्रमतोद्भवं
परमयमिनामेतन्निर्व्वाणसौख्यकरं परम् ।
सहजसमतादेवीसत्कर्णभूषणमुच्चकै:
मुनिप शृणु ते दीक्षाकान्तातियौवनकारणम् ।।१४२।।

एवं भेदब्भासं जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्चं ।
पच्चक्खाणं सक्कदि धरिदुं सो संजदो णियमा ।।१०६।।

निश्चयप्रत्याख्यान पूर्वक होनेवाला व्यवहारप्रत्याख्यान तो मिथ्यात्व और तीन कषाय चौकड़ी के अभाव में मुनिराजों के ही होता है। चतुर्थ और पंचम गुणस्थान के श्रावकों को भी भूमिकानुसार यथासंभव प्रत्याख्यान हो सकता है, पर मिथ्यादृष्टियों का प्रत्याख्यान तो कथनमात्र है।।१०५।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

अरे समतासुन्दरी के कर्ण का भूषण कहा।
और दीक्षा सुन्दरी की जवानी का हेतु जो।।
अरे प्रत्याख्यान वह जिनदेव ने जैसा कहा।
निर्वाण सुख दातार वह तो सदा ही जयवंत है।।१४२।।

हे मुनिवर ! ध्यान से सुनो। जिनेन्द्रदेव के मन में उत्पन्न होनेवाला यह प्रत्याख्यान निरन्तर जयवंत है। यह प्रत्याख्यान; उत्कृष्ट संयम को धारण करनेवाले वीतरागी मुनिराजों को मुक्तिसुख को प्राप्त करानेवाला है, सहज समतादेवी के सुन्दर कानों का उत्कृष्ट आभूषण है और तेरी दीक्षारूपी प्रिय स्त्री के अतिशय यौवन का कारण है।

इस छन्द में निश्चयप्रत्याख्यान के महत्त्व को दर्शाया गया है, उसके गीत गाये हैं। कहा गया है कि वह निरंतर जयवंत वर्तता है। यह निश्चयप्रत्याख्यान वीतरागी सन्तों को अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त कराने वाला है, समतादेवी के कानों का उत्कृष्ट आभूषण है और तेरी दीक्षारूपी पत्नी को सदा युवा रखने का कारण है। इसलिए हे मुनिजनो ! तुम इस निश्चयप्रत्याख्यान को अत्यन्त भक्तिभाव से धारण करो।।१४२।।

नियमसार शास्त्र के इस निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार की यह अंतिम गाथा है, इसमें अधिकार का उपसंहार किया गया है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

एवं भेदाभ्यासं य: करोति जीवकर्मणो: नित्यम् ।
प्रत्याख्यानं शक्तो धर्तुं स संयतो नियमात् ।।१०६।।

निश्चयप्रत्याख्यानाध्यायोपसंहारोपन्यासोयम् । य: श्रीमदर्हन्मुखारविन्दविनिर्गत-परमागमार्थविचारक्षम: अशुद्धान्तस्तत्त्वकर्मपुद्गलयोरनादिबन्धनसंबन्धयोर्भेदं भेदाभ्यासबलेन करोति, स परमसंयमी निश्चयव्यवहारप्रत्याख्यानं स्वीकरोतीति ।

(रथोद्धता)

भाविकालभवभावनिवृत्त: सोहमित्यनुदिनं मुनिनाथ: ।
भावयेदखिलसौख्यनिधानं स्वस्वरूपममलं मलमुक्त्यै ।।१४३।।

(हरिगीत)

जो जीव एवं करम के नित करे भेदाभ्यास को ।
वह संयमी धारण करे रे नित्य प्रत्याख्यान को ।।१०६।।

इसप्रकार जो सदा जीव और कर्म के भेद का अभ्यास करता है, वह संयमी नियम से प्रत्याख्यान धारण करने में समर्थ है ।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह निश्चयप्रत्याख्यान अधिकार के उपसंहार का कथन है । श्रीमद् अरहंत भगवान के मुखारबिन्द से निकले हुए परमागम के अर्थ का विचार करने में समर्थ जो परमसंयमी; अनादि बन्धनरूप अशुद्ध अन्त:तत्त्व और कर्म पुद्गल का भेद, भेदाभ्यास के बल से करता है; वह परमसंयमी निश्चयप्रत्याख्यान और व्यवहारप्रत्याख्यान को स्वीकार करता है ।''

उक्त गाथा और टीका में निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार का उपसंहार करते हुए मात्र इतना ही कहा गया है कि जिनेन्द्रकथित आगम के मर्मी मुनिराज तो भगवान आत्मा और पौद्गलिक कर्म के बीच जो भेद है, उसे भलीभाँति जानकर निरन्तर उसी के अभ्यास में रहते हैं; क्योंकि वे निश्चय और व्यवहारप्रत्याख्यान को स्वीकार करनेवाले संत हैं ।।१०६।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पूरे अधिकार के उपसंहार में नौ छन्द लिखते हैं; जिनमें पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

भाविकाल भवभावों से तो मैं निवृत्त हूँ।
इसप्रकार के भावों को तुम नित प्रति भावो ।।
निज स्वरूप जो सुख निधान उसको हे भाई!
यदि छूटना कर्मफलों से प्रतिदिन भावो ।।१४३।।

(स्वागता)

घोरसंसृतिमहार्णवभास्वद्यानपात्रमिदमाह जिनेन्द्रः ।
तत्त्वतः परमतत्त्वमजस्रं भावयाम्यहमतो जितमोहः ।।१४४।।

(मंदाक्रांता)

प्रत्याख्यानं भवति सततं शुद्धचारित्रमूर्तेः
भ्रान्तिध्वंसात्सहजपरमानंदचिन्निष्टबुद्धेः ।
नास्त्यन्येषामपरसमये योगिनामास्पदानां
भूयो भूयो भवति भाविनां संसृतिर्घोररूपा ।।१४५।।

'जो भविष्यकाल के सांसारिक भावों से निवृत्त है, वह मैं हूँ।' इसप्रकार के भावों को, कर्मफल से मुक्त होने के लिए, पूर्ण सुख के निधान निर्मल निजस्वरूप को सभी मुनिराजों को नित्य भाना चाहिए।

इस छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि प्रत्येक मुनिराज को कर्ममल से मुक्त होने के लिए ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा की भावना भानी चाहिए तथा इसप्रकार सोचना चाहिए कि मैं तो वह हूँ, जो भविष्यकाल के सांसारिक भावों से निवृत्त है।

चूँकि यहाँ प्रत्याख्यान की चर्चा चल रही है; इसलिए यहाँ भविष्य काल के सांसारिक भावों से निवृत्त होने की बात कही है।।१४३।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

परमतत्त्व तो अरे भयंकर भव सागर की।
नौका है ह्न यह बात कही है परमेश्वर ने।।
इसीलिए तो मैं भाता हूँ परमतत्त्व को।
अरे निरन्तर अन्तरतम से भक्तिभाव से।।१४४।।

'यह परमतत्त्व भगवान आत्मा भयंकर संसार सागर की दैदीप्यमान नाव है' ह्न ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। इसलिए मैं मोह को जीतकर निरन्तर परमतत्त्व को तत्त्वतः भाता हूँ।

इस कलश में परमतत्त्व की भावना भाने की प्रेरणा दी है; क्योंकि यह परमतत्त्व संसारसागर से पार उतारने के लिए नौका के समान है। जिसप्रकार नाव के सहारे से विशाल समुद्र से भी पार पा सकते हैं; उसीप्रकार परमतत्त्व की भावना से भी संसारसमुद्र का किनारा पाया जा सकता है।।१४४।।

तीसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(शिखरिणी)

महानंदानंदो जगति विदित: शाश्वतमय:
स सिद्धात्मन्युच्चैर्नियतवसतिर्निर्मलगुणे ।
अमी विद्वान्सोपि स्मरनिशितशस्त्रैरभिहता:
कथं कांक्षंत्येनं बत कलिहतास्ते जडधिय: ।।१४६ ।।

(रोला)

भ्रान्ति नाश से जिनकी मति चैतन्यतत्त्व में।
निष्ठित है वे संत निरंतर प्रत्याख्यान में।।
अन्य मतों में जिनकी निष्ठा वे योगीजन।
भ्रमे घोर संसार नहीं वे प्रत्याख्यान में।।१४५।।

भ्रान्ति के नाश से जिसकी बुद्धि सहज परमानन्दमयी चेतनतत्त्व में निष्ठित है; ऐसे शुद्धचारित्रमूर्ति को निरन्तर प्रत्याख्यान है। परसमय में अर्थात् अन्य दर्शन में जिनकी निष्ठा है; उन योगियों को प्रत्याख्यान नहीं होता है; क्योंकि उन्हें तो बारंबार घोर संसार में परिभ्रमण करना है।

इस छंद में भी यही कहा गया है कि जिनकी बुद्धि अपने भगवान आत्मा में निष्ठित है; वे तो निरंतर प्रत्याख्यान में ही हैं; किन्तु जिनकी बुद्धि अन्य मिथ्यामान्यताओं में निष्ठित है; वे अनंतकाल तक संसारसागर में ही गोते लगाते रहेंगे; क्योंकि उनके प्रत्याख्यान नहीं है।।१४५।।

चौथे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

जो शाश्वत आनन्द जगतजन में प्रसिद्ध है।
वह रहता है सदा अनूपम सिद्ध पुरुष में।।
ऐसी थिति में जड़बुद्धि बुधजन क्यों रे रे।
कामबाण से घायल हो उसको[१] ही चाहें ?।।१४६।।

जो जगत प्रसिद्ध शाश्वत महानन्द है; वह निर्मल गुणवाले सिद्धात्मा में अतिशयरूप से रहता है। ऐसी स्थिति होने पर भी अरे रे ! विद्वान लोग भी काम के तीक्ष्ण बाणों से घायल होते हुए भी उसी (कामवासना) की इच्छा क्यों करते हैं ?

इस छंद में यह कहा गया है कि जो जगत में प्रसिद्ध अतीन्द्रिय आनंद है, वह तो

---

१. कामवासना को

(मंदाक्रांता)

प्रत्याख्यानाद्भवति यमिषु प्रस्फुटं शुद्धशुद्धं
सच्चारित्रं दुरघतरुसांद्राटवीवह्निरूपम् ।
तत्त्वं शीघ्रं कुरु तव मतौ भव्यशार्दूल नित्यं
यत्किंभूतं सहजसुखदं शीलमूलं मुनीनाम् ।।१४७।।

(मालिनी)

जयति सहजतत्त्वं तत्त्वनिष्णातबुद्धेः
हृदयसरसिजाताभ्यन्तरे संस्थितं यत् ।
तदपि सहजतेजः प्रास्तमोहान्धकारं
स्वरसविसरभास्वद्बोधविस्फूर्तिमात्रम् ।।१४८।।

निर्मल गुणवाले सिद्धपुरुषों में ही पाया जाता है। ऐसी स्थिति होने पर भी विद्वज्जन कामबाण से घायल होकर भी, उसी कामवासना की वांछा क्यों करते हैं ? यह बड़े आश्चर्य की बात है ।।१४६।।

पाँचवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

अघ वृक्षों की अटवी को वह्नि समान है।
ऐसा सत् चारित्र सदा है प्रत्याखान में।।
इसीलिए हे भव्य स्वयं की बुद्धि को तू।
आत्मतत्त्व में लगा सहज सुख देने वाले।।१४७।।

जो दुष्ट पापरूपी वृक्षों की घनी अटवी को जलाने के लिए अग्निरूप हैं ह्न ऐसा प्रगट शुद्ध-बुद्ध सत्चारित्र संयमियों को प्रत्याख्यान से होता है; इसलिए हे भव्यशार्दूल तू शीघ्र अपनी बुद्धि में आत्मतत्त्व को धारण कर; क्योंकि वह तत्त्व सहजसुख देनेवाला और मुनिवरों के चारित्र का मूल है।

इस छन्द में कहा गया है कि पापरूपी वृक्षों के घने जंगल को जलाने के लिए जो अग्नि के समान है; ऐसा शुद्ध-बुद्ध चारित्र संयमीजनों को प्रत्याख्यान से होता है। इसलिए हे भव्यजीवो ! तुम शीघ्र ही अपनी बुद्धि को आत्मतत्त्व में लगाओ; क्योंकि वह आत्मतत्त्व सहजसुख देनेवाला है और मुनिजनों के चारित्र का मूल है ।।१४७।।

छठवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(पृथ्वी)

अखंडितमनारतं सकलदोषदूरं परं
भवांबुनिधिमग्नजीवततियानपात्रोपमम्।
अथ प्रबलदुर्गवर्गदववह्निकीलालकं
नमामि सततं पुनः सहजमेव तत्त्वं मुदा ।।१४९।।

(रोला)

जो सुस्थित है धीमानों के हृदय कमल में।
अर जिसने मोहान्धकार का नाश किया है।।
सहजतत्त्व निज के प्रकाश से ज्योतित होकर।
अरे प्रकाशन मात्र और जयवंत सदा है।।१४८।।

तत्त्व में निष्णात बुद्धिवाले जीवों के हृदयकमलरूप अभ्यन्तर में जो सहज आत्मतत्त्व स्थित है; वह सहज आत्मतत्त्व जयवंत है। उस सहज तेज ने मोहान्धकार का नाश किया है और वह सहजतेज निज रस के विस्तार से प्रकाशित ज्ञान के प्रकाशन मात्र है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस छन्द में त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा को सहजतत्त्व से अभिहित किया है और उस त्रिकाली ध्रुव आत्मरूप सहजतत्त्व के गीत गाये हैं। कहा है कि उस सहजतेज ने मोहान्धकार का नाश कर दिया है, वह सहजतत्त्व ज्ञान के प्रकाशन के अतिरिक्त कुछ नहीं है और वह सदा जयवंत वर्तता है।

तात्पर्य यह है कि उसका सर्वथा लोप कभी नहीं होता।।१४८।।

सातवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

सकल दोष से दूर अखण्डित शाश्वत है जो।
भवसागर में डूबों को नौका समान है।।
संकटरूपी दावानल को जल समान जो।
भक्तिभाव से नमस्कार उस सहजतत्त्व को।।१४९।।

जो सहजतत्त्व अखण्डित है, शाश्वत है, सभी दोषों से दूर है, उत्कृष्ट है, भवसागर में डूबे हुए जीवों को नाव के समान है तथा प्रबल संकटों के समूहरूपी दावानल को बुझाने के लिए जल समान है; उस सहजतत्त्व को मैं प्रमोद भाव से नमस्कार करता हूँ।

जिस सहजतत्त्व के गीत विगत छन्द में गाये गये हैं; उसी की महिमा इस छन्द में भी बता रहे हैं। कहा जा रहा है कि वह सहजतत्त्वरूप भगवान आत्मा अखण्डित है, शाश्वत है,

(पृथ्वी)

जिनप्रभुमुखारविन्दविदितं स्वरूपस्थितं
मुनीश्वरमनोगृहान्तरसुरत्नदीपप्रभम् ।
नमस्यमिह योगिभिर्विजितदृष्टिमोहादिभिः
नमामि सुखमंदिरं सहजतत्त्वमुच्चैरदः ।।१५०।।

प्रनष्टदुरितोत्करं प्रहतपुण्यकर्मव्रजं
प्रधूतमदनादिकं प्रबलबोधसौधालयम् ।
प्रणामकृततत्त्ववित् प्रकरणप्रणाशात्मकं
प्रवृद्धगुणमंदिरं प्रहृतमोहरात्रिं नुमः ।।१५१।।

निर्दोष है, उत्कृष्ट है, संसारसमुद्र में डूबते लोगों को बचाने के लिए नाव के समान है और संकटरूपी दावानल को शान्त करने के लिए जल समान है; इसलिए मैं उस सहजतत्त्व को प्रमोदभाव से नमस्कार करता हूँ।।१४९।।

आठवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

जिनमुख से विदित और थित है स्वरूप में।
रत्नदीप सा जगमगात है मुनिमन घट में।।
मोहकर्म विजयी मुनिवर से नमन योग्य है।
उस सुखमंदिर सहजतत्त्व को मेरा वंदन।।१५०।।

जो सहजतत्त्व जिनेन्द्र भगवान के मुखकमल से प्रसिद्ध हुआ है, जो अपने स्वरूप में स्थित है, जो मुनिराजों के मनरूपी घट में सुन्दर रत्नदीपक के समान प्रकाशित हो रहा है, जो इस लोक में दर्शनमोह आदि कर्मों पर विजय प्राप्त किये हुए योगियों के द्वारा नमस्कार करने योग्य है तथा जो सुख का मंदिर है; उस सहजतत्त्व को मैं सदा अत्यन्त भक्तिभाव से नमस्कार करता हूँ।

इस छन्द में भी उसी सहजतत्त्व की विशेषतायें बताते हुए उसका वंदन किया गया है। अपने स्वरूप में स्थित और जिनेन्द्रभगवान की वाणी में समागत वह सहजतत्त्व मुनियों के मनरूपी घट में रत्नदीपक के समान जगमगा रहा है। जो अतीन्द्रिय सुख का मंदिर है; उस सहजतत्त्व को नमस्कार हो ह्न ऐसा कहा गया है।।१५०।।

नौवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव-विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ निश्चयप्रत्याख्यानाधिकारः षष्ठः श्रुतस्कन्धः।

(रोला)

पुण्य-पाप का नाश काम को खिरा दिया है।
महल ज्ञान का अरे न काम कुछ शेष रहा है।।
पुष्ट गुणों का धाम मोह रजनी का नाशक।
तत्त्ववेदिजन नमें उसी को हम भी नमते।।१५१।।

जिसने पापपुंज को नष्ट किया है, पुण्यकर्म के पुंज को नष्ट किया है, जिसने कामदेव को धो डाला है, जो प्रबल ज्ञान का महल है, जिसे तत्त्ववेत्ता भी प्रणाम करते हैं, जिसे कोई कार्य करना शेष नहीं है, जो कृतकृत्य है, जो पुष्ट गुणों का धाम है और जिसने मोहरात्रि का नाश किया है; उस सहजतत्त्व को हम नमस्कार करते हैं।

इन सभी छन्दों में सहजतत्त्वरूप भगवान आत्मा की महिमा ही बताई जा रही है। इस छन्द में यह कहा जा रहा है कि इस भगवान आत्मा ने पुण्य और पाप ह्न दोनों ही भावों का नाश किया है। तात्पर्य यह है कि इस **सहजतत्त्वरूप त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में पुण्य-पाप के भाव हैं ही नहीं। इसका स्वभाव ही पुण्य-पाप के भावों के अभावरूप है। इस स्थिति को ही यहाँ नाश कहा है।**

यह भगवान आत्मा ज्ञान का महल है, इसे तत्त्ववेत्ता भी प्रणाम करते हैं। यह कृतकृत्य है; क्योंकि इसे कोई काम करना शेष नहीं है। यह स्वभाव से ही कृतकृत्य है। यह अनंतगुणों का धाम है और इसमें मोहरूपी रात्रि का अभाव कर दिया है, यह निर्मोह है। ऐसे सहजतत्त्व को हम सभी बारंबार नमस्कार करते हैं।।१५१।।

निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार की समाप्ति के अवसर पर टीकाकार जो पंक्ति लिखते हैं; उसका भाव इसप्रकार है ह्न

''इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार नामक छठवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।''

यहाँ नियमसार एवं उसकी तात्पर्यवृत्ति टीका के साथ-साथ डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत आत्मप्रबोधिनी हिन्दी टीका में निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार नामक छठवाँ श्रुतस्कन्ध भी समाप्त होता है।

•••

७

परम आलोचना अधिकार

(गाथा १०७ से गाथा ११२ तक)

आलोचनाधिकार उच्यते ह्न

णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं ।
अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि ।।१०७।।

नोकर्मकर्मरहितं विभावगुणपर्ययैर्व्यतिरिक्तम् ।
आत्मानं यो ध्यावति श्रमणस्वालोचना भवति ।।१०७।।

निश्चयालोचनास्वरूपाख्यानमेतत् । औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि हि नोकर्माणि, ज्ञानदर्शनावरणांतरायमोहनीयवेदनीयायुर्नामगोत्राभिधानानि हि द्रव्यकर्माणि । कर्मोपाधिनिरपेक्षसत्ताग्राहकशुद्धनिश्चयद्रव्यार्थिकनयापेक्षया हि एभिर्नोकर्मभिर्द्रव्यकर्मभिश्च निर्मुक्तम् । मतिज्ञानादयो विभावगुणा नरनारकादिव्यंजनपर्यायाश्चैव विभावपर्याया: । सहभुवो गुणा: क्रमभाविन: पर्यायाश्च । एभि: समस्तै: व्यतिरिक्तं, स्वभावगुणपर्यायै: संयुक्तं, त्रिका–

अब आलोचना अधिकार कहा जाता है । आलोचना अधिकार की पहली और नियमसार की १०७वीं गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो कर्म से नोकर्म से अर विभावगुणपर्याय से ।
भी रहित ध्यावे आतमा आलोचना उस श्रमण के ।।१०७ ।।

जो श्रमण कर्म, नोकर्म और विभावगुणपर्याय से भी रहित आत्मा का ध्यान करता है; उस श्रमण को आलोचना होती है ।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह निश्चय आलोचना के स्वरूप का कथन है । औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर ही नोकर्म हैं और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय, मोहनीय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ह्न ये आठ कर्म ही द्रव्यकर्म हैं । कर्मोपाधि से निरपेक्ष शुद्ध सत्ता के ग्राहक शुद्धनिश्चयद्रव्यार्थिकनय से आत्मा इन द्रव्यकर्मों और नोकर्मों से रहित है ।

मतिज्ञानादिक विभाव गुण हैं और नर–नारकादि व्यंजनपर्यायें विभावपर्यायें हैं; क्योंकि गुण सहभावी होते हैं; और पर्यायें क्रमभावी होती हैं । आत्मा इन सब गुण–पर्यायों से भिन्न है और स्वभावगुण–पर्यायों से संयुक्त है ।

इसप्रकार इन कर्म–नोकर्म एवं विभावगुणपर्यायों से भिन्न एवं स्वभाव गुणपर्यायों से

लनिरावणनिरंजनपरमात्मानं त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिना य: परमश्रमणो नित्यमनुष्ठानसमये वचन रचनाप्रपंचपराङ्मुख: सन् ध्यायति, तस्य भावश्रमणस्य सततं निश्चयालोचना भवतीति।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभि: ह्न

(आर्या)

मोहविलासविजृंभितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।५८।।[१]

उक्तं चोपासकाध्ययने ह्न

(आर्या)

आलोच्य सर्वमेन: कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि नि:शेषम्।।५९।।[२]

संयुक्त; त्रिकाल निरावरण, निरंजन आत्मा को, तीन गुप्तियों से गुप्त परमसमाधि द्वारा जो परमश्रमण अनुष्ठानसमय में वचनरचना के प्रपंच (विस्तार) से पराङ्मुख रहता हुआ नित्य ध्याता है; उस भावश्रमण को निरन्तर निश्चय आलोचना होती है।''

इसप्रकार इस गाथा और इसकी टीका में यही कहा गया है कि औदारिकादि शरीररूप नोकर्म और ज्ञानावरणादिरूप द्रव्यकर्मों से तथा मतिज्ञानादि विभावगुण और नरनारकादि व्यंजनपर्यायों से भिन्न तथा स्वभावगुणपर्यायों से संयुक्त आत्मा को जो मुनिराज परमसमाधि द्वारा ध्याते हैं; उन मुनिराजों को निश्चय आलोचना होती है।।१०७।।

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज 'तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभि: ह्न तथा आचार्य अमृतचन्द्र के द्वारा भी कहा गया है' ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

मोहभाव से वर्तमान में कर्म किये जो।
उन सबका आलोचन करके ही अब मैं तो।।
वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के।
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में।।५८।।

मोह के विलास से फैले हुए इन उदयमान कर्मों की आलोचना करके अब मैं चैतन्यस्वरूप निष्कर्म आत्मा में आत्मा से ही वर्त रहा हूँ।

इस कलश में यही कहा गया है कि मोहकर्म के उदय में होनेवाले भावकर्मों की आलोचना करके अब मैं स्वयं में अर्थात् स्वयं के शुद्ध-बुद्ध निरंजन निराकार आत्मा में ही वर्त रहा हूँ, लीन होता हूँ, लीन हूँ।।५८।।

---

१. समयसार : आत्मख्याति, छन्द २२७ २. आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक १२५

तथा हि ह्न

आलोच्यालोच्य नित्यं सुकृतमसुकृतं घोरसंसारमूलं।
शुद्धात्मानं निरुपधिगुणं चात्मनैवावलम्बै।।
पश्चादुच्चैः प्रकृतिमखिलां द्रव्यकर्मस्वरूपां।
नीत्वा नाशं सहजविलसद्बोधलक्ष्मीं व्रजामि।।१५२।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज '**उक्तं चोपासकाध्ययने ह्न** उपासकाध्ययन में भी कहा है' ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

किये कराये अनुमोदित पापों का अब तो।
आलोचन करता हूँ मैं निष्कपट भाव से।।
अरे पूर्णतः उन्हें छोड़ने का अभिलाषी।
धारण करता यह महान व्रत अरे आमरण।।५९।।

अब मैं कृतकारितानुमोदित अर्थात् किये हुए, कराये हुए और अनुमोदना किये हुए सभी पापों की निष्कपटभाव से आलोचना करके मरणपर्यन्त रहनेवाले परिपूर्ण महाव्रत धारण करता हूँ।

इस छन्द में यही कहा गया है कि **मेरे द्वारा अबतक किये गये, कराये गये और अनुमोदना किये गये सभी प्रकार के पापभावों की निष्कपटभाव से आलोचना करके, मरणपर्यन्त के लिए उनके त्याग का महाव्रत लेता हूँ, संकल्प करता हूँ।।५९।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **तथाहि** लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

पुण्य-पाप के भाव घोर संसार मूल हैं।
बार-बार उन सबका आलोचन करके मैं।।
शुद्ध आतमा का अवलम्बन लेकर विधिवत्।
द्रव्यकर्म को नाश ज्ञानलक्ष्मी को पाऊँ।।१५२।।

घोर संसार के मूल सभी पुण्य-पापरूप सभी शुभाशुभ कर्मों की बारंबार आलोचना करके अब मैं निरुपाधिक गुणवाले शुद्ध आत्मा का स्वयं अवलम्बन करके द्रव्यकर्मरूप समस्त कर्म प्रकृतियों को नष्ट करके सहज विलसती ज्ञानलक्ष्मी को प्राप्त करता हूँ।

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि पुण्य-पापरूप शुभाशुभ भाव संसार के मूल

आलोयणमालुंछण वियडीकरणं च भावसुद्धी य ।
चउविहमिह परिकहियं आलोयणलक्खणं समए ।।१०८।।

आलोचनमालुंछनमविकृतिकरणं च भावशुद्धिच ।
चतुर्विधमिह परिकथितं आलोचनलक्षणं समये ।।१०८।।

आलोचनालक्षणभेदकथनमेतत् । भगवदर्हन्मुखारविन्दविनिर्गतसकलजनताश्रुतिसुभग–सुन्दरानन्दनिष्यन्द्यनक्षरात्मकदिव्यध्वनिपरिज्ञानकुशलचतुर्थज्ञानधरगौतममहर्षिमुखकमल–विनिर्गतचतुरसन्दर्भगर्भीकृतराद्धान्तादिसमस्तशास्त्रार्थसार्थसारसर्वस्वीभूतशुद्धनिश्चयपरमा–लोचनायाश्चत्वारो विकल्पा भवन्ति । ते वक्ष्यमाणसूत्रचतुष्टये निगद्यन्त इति ।

(जड़) हैं और शुद्धात्मा के आश्रयरूप शुद्धभाव मोक्ष का मूल है। इसलिए अब मैं शुद्धभावरूप आत्मा का आश्रय लेकर कर्मों का नाशकर केवलज्ञानरूप लक्ष्मी को प्राप्त करूँगा ।।१५२।।

अब आगामी गाथा में आलोचना के स्वरूप के भेदों की चर्चा करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

आलोचनं आलुंछनं अर भावशुद्धि अविकृतिकरण।
आलोचना के चार लक्षण भेद आगम में कहे ।।१०८।।

आलोचन, आलुंछन, अविकृतिकरण और भावशुद्धि ह्न ऐसे चार प्रकार आलोचना के लक्षण शास्त्रों में कहे गये हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह आलोचना के लक्षण के भेदों का कथन है। अरहंत भगवान के मुखारविन्द से निकली हुई, सभी जनसमूह के सौभाग्य का कारणभूत, सुन्दर आनन्दमयी अनक्षरात्मक दिव्यध्वनि को समझने में कुशल मन:पर्ययज्ञानधारी गौतम महर्षि के मुखकमल से निकली हुई जो चतुर वचन रचना, उसके भीतर विद्यमान समस्त (सिद्धान्तादि) शास्त्रों के अर्थसमूह के सार सर्वस्वरूप शुद्ध निश्चय परम आलोचना के चार भेद हैं; जो आगे कहे जानेवाले चार सूत्रों (गाथाओं) में कहे जायेंगे।''

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि आगम में आलोचना के चार भेद बताये गये हैं; जो इसप्रकार हैं ह्न आलोचन, आलुंछन, अविकृतिकरण और भावशुद्धि। इन चारों के स्वरूप को आगामी चार गाथाओं के माध्यम से आचार्य कुन्दकुन्ददेव स्वयं ही स्पष्ट कर रहे हैं। अत: उनके बारे में यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है ।।१०८।।

(इन्द्रवज्रा)

आलोचनाभेदममुं विदित्वा मुक्त्यंगनासंगमहेतुभूतम् ।
स्वात्मस्थितिं याति हि भव्यजीवः तस्मै नमः स्वात्मनि निष्ठिताय ।।१५३।।

जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं ।
आलोयणमिदि जाणह परमजिणंदस्स उवएसं ।।१०९।।

यः पश्यत्यात्मानं समभावे संस्थाप्य परिणामम् ।
आलोचनमिति जानीहि परमजिनेन्द्रस्योपदेशम् ।।१०९।।

इहालोचनास्वीकारमात्रेण परमसमताभावनोक्ता । यः सहजवैराग्यसुधासिन्धुनाथडिंडीर-पिंडपरिपांडुरमंडनमंडलीप्रवृद्धिहेतुभूतराकानिशीथिनीनाथः सदान्तर्मुखाकारमत्यपूर्वं निरंजन-

---

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

मुक्तिरूपी अंगना के समागम के हेतु जो।
भेद हैं आलोचना के उन्हें जो भवि जानकर।।
निज आतमा में लीन हो नित आत्मनिष्ठित ही रहें।
हो नमन बारंबार उनको जो सदा निजरत रहें।।१५३।।

मुक्तिरूपी अंगना (रमणी) के संगम के हेतुभूत आलोचना के इन चार भेदों को जानकर जो भव्यजीव निज आत्मा में स्थिति को प्राप्त करता है; उस स्वात्मा में लीन भव्यजीव को नमस्कार हो ।

इसप्रकार इस छन्द में तो मात्र उन भावलिंगी मुनिराजों को नमस्कार किया गया है; जो भगवान आत्मा के आश्रय से मुक्ति के कारणरूप आलोचना के इन चार भेदों को जानकर समभावपूर्वक निज आत्मा में स्थापित होते हैं।।१५३।।

अब आलोचना का स्वरूप कहते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

उपदेश यह जिनदेव का परिणाम को समभाव में।
स्थाप कर निज आतमा को देखना आलोचनम्।।१०९।।

जो जीव परिणामों को समभाव में स्थापित कर निज आत्मा को देखता है; वह आलोचन है ह्न ऐसा जिनदेव का उपदेश जानो ।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ आलोचना के स्वीकारमात्र से परमसमताभावना कही गई है । सहज वैराग्यरूपी अमृतसागर के फेनसमूह के सफेद शोभामंडल की वृद्धि के हेतुभूत पूर्णमासी के चन्द्रमा

निजबोधनिलयं कारणपरमात्मानं निरवशेषेणान्तर्मुखस्वस्वभावनिरतसहजावलोकनेन निरन्तरं पश्यति; किं कृत्वा ? पूर्वं निजपरिणामं समतावलंबनं कृत्वा परमसंयमीभूत्वा तिष्ठति; तदेवालोचनास्वरूपमिति हे शिष्य त्वं जानीहि परमजिननाथस्योपदेशात् इत्यालोचनाविकल्पेषु प्रथमविकल्पोऽयमिति ।

(स्रग्धरा)

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचलनिलयं चात्मना पश्यतीत्थं ।
यो मुक्तिश्रीविलासानतनुसुखमयान् स्तोककालेन याति ।
सोऽयं वंद्यः सुरेशैर्यमधरततिभिः खेचरैर्भूचरैर्वा
तं वंदे सर्ववंद्यं सकलगुणनिधिं तद्गुणापेक्षयाहम् ।।१५४।।

समान जो जीव सदा अन्तर्मुखाकार, अति अपूर्व, निरंजन, निजबोध के स्थानभूत कारण–परमात्मा को सम्पूर्णतया अन्तर्मुख करके निजस्वभावनिरत सहज अवलोकन द्वारा अपने परिणामों को समता में रखकर, परमसंयमीरूप से स्थित रहकर देखता है; यही आलोचन का स्वरूप है । ऐसा, हे शिष्य ! तू परम जिननाथ के उपदेश से जान ।

इसप्रकार यह आलोचना के भेदों में पहला भेद हुआ ।''

ध्यान रहे, यह आलोचना के प्रथम भेदरूप आलोचन का स्वरूप स्पष्ट करनेवाली गाथा है। अतः इसमें आलोचना का नहीं, आलोचन का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

इस गाथा में मुख्यरूप से यही कहा गया है कि जब यह आत्मा अन्तरोन्मुख होकर कारणपरमात्मारूप अपने आत्मा का अवलोकन करता है, आत्मा का अनुभव करता है; तब उसका यह अवलोकन ही निश्चय आलोचन है ।।१०९।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज छह छन्द लिखते हैं, जिनमें से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो आतमा को स्वयं में अविचलनिलय ही देखता।
वह आतमा आनन्दमय शिवसंगनी सुख भोगता।।
संयतों से इन्द्र चक्री और विद्याधरों से।
भी वंद्य गुणभंडार आतमराम को वंदन करूँ।।१५४।।

इसप्रकार जो आत्मा आत्मा को आत्मा द्वारा आत्मा में अविचल आवासवाला देखता है; वह आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय मुक्तिलक्ष्मी के विलासों को अल्पकाल में प्राप्त करता है । वह आत्मा देवताओं के इन्द्रों से, विद्याधरों से, भूमिगोचरियों और संयम धारण करनेवालों की पंक्तियों से वंदनीय होता है । सबके द्वारा वंदनीय, सम्पूर्ण गुणों के भंडार उस आत्मा को उसमें विद्यमान गुणों की अपेक्षा से, अभिलाषा से मैं वंदन करता हूँ ।

(मंदाक्रांता)

आत्मा स्पष्टः परमयमिनां चित्तपंकेजमध्ये
ज्ञानज्योतिःप्रहतदुरितध्वान्तपुंजः पुराणः।
सोऽतिक्रान्तो भवति भविनां वाङ्मनोमार्गमस्मि-
न्नारातीये परमपुरुषे को विधिः को निषेधः ।।१५५।।

इस छन्द में अत्यन्त भक्तिभाव से सिद्ध भगवान की स्तुति की गई है। कहा गया है कि जो भगवान आत्मा आत्मा के द्वारा आत्मा को आत्मा में ही रहनेवाला जानता है, देखता है; वह आत्मा अल्पकाल में ही मुक्ति की प्राप्ति करता है, वहाँ प्राप्त होनेवाले अतीन्द्रिय आनन्द को भोगता है। अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोक्ता वह भगवान आत्मा इन्द्रों, नरेन्द्रों, विद्याधरों, भूमिगोचरी राजाओं; यहाँ तक कि संयमी सन्तों के संघों से भी पूजा जाता है। सभी से वंदित उन सिद्ध भगवान को मैं भी सिद्धों में प्राप्त होनेवाले गुणों को प्राप्त करने की अभिलाषा से वंदन करता हूँ।।१५४।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जगतजन के मन-वचन से अगोचर जो आतमा।
वह ज्ञानज्योति पापतम नाशक पुरातन आतमा।।
जो परम संयमिजनों के नित चित्त पंकज में बसे।
उसकी कथा क्या करें क्या न करें हम नहिं जानते।।१५५।।

जो पुराण पुरुष भगवान आत्मा उत्कृष्ट संयमी सन्तों के चित्तकमल में स्पष्ट है और जिसने ज्ञानज्योति द्वारा पापान्धकार के पुंज का नाश किया है; वह आत्मा संसारी जीवों के मन व वचन मार्ग से पार है, अगोचर है। इस अत्यन्त निकट परमपुरुष के संबंध में हम क्या विधि और क्या निषेध करें ?

इस छन्द में पुराण पुरुष भगवान आत्मा की स्तुति की गई है। कहा गया है कि वह त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा सन्तों के चित्त कमल में अत्यन्त स्पष्ट है। **तात्पर्य यह है कि संतगण उसके स्वरूप को भलीभाँति जानते हैं। वह अपने ज्ञानस्वभाव से मोहान्धकार का नाशक है, अज्ञानी जनों के मन और वचन के जाल में नहीं आता, उनके लिए अगोचर है।**

इसप्रकार अत्यन्त निकटवर्ती परमपुरुष निजात्मा के बारे में हम क्या कहें, क्या न कहें; कुछ समझ में नहीं आता; क्योंकि वह विधि-निषेध के विकल्पों से पार है। **तात्पर्य यह है कि वह कैसा है और कैसा नहीं है; यह वाणी से कहे जाने योग्य नहीं है; अपितु अनुभवगम्य है।**

एवमनेन पद्येन व्यवहारालोचनाप्रपंचमुपहसति किल परमजिनयोगीश्वरः ।

(पृथ्वी)

जयत्यनघचिन्मयं सहजतत्त्वमुच्चैरिदं
विमुक्तसकलेन्द्रियप्रकरजातकोलाहलम् ।
नयानयनिकायदूरमपि योगिनां गोचरं
सदा शिवमयं परं परमदूरमज्ञानिनाम् ।।१५६।।

(मंदाक्रांता)

शुद्धात्मानं निजसुखसुधावार्धिमज्जन्तमेनं
बुद्ध्वा भव्यः परमगुरुतः शाश्वतं शं प्रयाति ।
तस्मादुच्चैरहमपि सदा भावयाम्यत्यपूर्वं
भेदाभावे किमपि सहजं सिद्धिभूसौख्यशुद्धम् ।।१५७।।

इस छन्द के बाद टीकाकार मुनिराज एक पंक्ति लिखते हैं, जिसका भाव यह है ह्न

''इसप्रकार इस पद्य के द्वारा परमजिनयोगीश्वर ने एकप्रकार से व्यवहार आलोचना के विस्तार का उपहास किया है, हँसी उड़ाई है, निरर्थकता बताई है।''

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि **आत्मावलोकन (आत्मानुभव) रूप निश्चय आलोचना में सब कुछ समाहित है; क्योंकि मोक्ष का हेतु तो वही है,** व्यवहार आलोचना तो शुभभावरूप होने से बंध का ही कारण है। अतः वह उपेक्षा करने योग्य ही है।।१५५।।

तीसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

इन्द्रियरव से मुक्त अर अज्ञानियों से दूर है।
अर नय-अनय से दूर फिर भी योगियों को गम्य है।।
सदा मंगलमय सदा उत्कृष्ट आतमतत्त्व जो।
वह पापभावों से रहित चेतन सदा जयवंत है।।१५६।।

अज्ञानियों से अत्यन्त दूर, सभी इन्द्रियों के समूह से उत्पन्न कोलाहल से विमुक्त, सदा शिवमय जो उत्कृष्ट आत्मतत्त्व है; वह नय-अनय के समूह से दूर होने पर भी योगियों से गोचर है। पापों से रहित चैतन्यमय वह सहजात्मतत्त्व अत्यन्त जयवंत है।

इस छन्द में चैतन्यमय सहजतत्त्व के जयवंत होने की घोषणा की गई है। कहा गया है कि **अज्ञानियों की पकड़ से अत्यन्त दूर, इन्द्रियों के कोलाहल से मुक्त और नय-अनय के विकल्पजाल में न आने पर भी योगियों के अनुभवज्ञान में सदा विद्यमान यह अनघ चिन्मय सहजतत्त्व सदा जयवंत वर्तता है।।१५६।।**

(वसंततिलका)

निर्मुक्तसंगनिकरं परमात्मतत्त्वं
निर्मोहरूपमनघं परभावमुक्तम् ।
संभावयाम्यहमिदं प्रणमामि नित्यं
निर्वाण–योषिद–तनूद्भवसंमदाय ।।१५८।।

चौथे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

श्रीपरमगुरुओं की कृपा से भव्यजन इस लोक में।
निज सुख सुधासागर निमज्जित आतमा को जानकर ।।
नित प्राप्त करते सहजसुख निर्भेद दृष्टिवंत हो।
उस अपूरब तत्त्व को मैं भा रहा अति प्रीति से ।।१५७।।

निजात्मा के आश्रय से उत्पन्न सुखरूपी अमृत के सागर में डुबकी लगाते हुए इस शुद्धात्मा को जानकर भव्यजीव परमगुरु के सहयोग से शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं; इसलिए भेद के अभाव की दृष्टि से जो सिद्धि से उत्पन्न सुख से शुद्ध है ह्न ऐसे सहज तत्त्व को मैं भी अत्यपूर्व रीति से अत्यन्त भाता हूँ।

इस छन्द में सहजतत्त्व अर्थात् निज शुद्धात्मा की भावना भाई गई है। कहा गया है कि **आनन्द के कन्द, ज्ञान के घनपिण्ड निज शुद्धात्मा के ज्ञान, श्रद्धान एवं अनुष्ठान से अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है; इसलिए मैं उक्त सहजतत्त्व की अनुभूति करने की भावना भाता हूँ,** कामना करता हूँ ।।१५७।।

पाँचवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

सब ग्रन्थ से निर्ग्रन्थ शुध परभावदल से मुक्त है।
निर्मोह है निष्पाप है वह परम आतमतत्त्व है ।।
निर्वाणवनिताजन्यसुख को प्राप्त करने के लिए।
उस तत्त्व को करता नमन नित भावना भी उसी की ।।१५८।।

सभी प्रकार के परिग्रहों से मुक्त, निर्मोहरूप, पापों से रहित और परभावों से मुक्त परमात्मतत्त्व को; मुक्तिरूपी स्त्री से उत्पन्न होनेवाले अतीन्द्रियसुख की प्राप्ति के लिए नित्य नमन करता हूँ, सम्भावना करता हूँ, सम्यक्रूप से भाता हूँ।

इस छन्द में मुक्ति प्राप्त करने की भावना से परमात्मतत्त्व की संभावना की गई है, उसे

(वसंततिलका)

त्यक्त्वा विभावमखिलं निजभावभिन्नं
चिन्मात्रमेकममलं परिभावयामि ।
संसारसागरसमुत्तरणाय नित्यं
निर्मुक्तिमार्गमपि नौम्यविभेदमुक्तम् ।।१५९।।

कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो ।
साहीणो समभावो आलुंछणमिदि समुद्दिट्ठं ।।११०।।

नमन किया गया है। कहा गया है कि **अंतरंग और बहिरंग ह्न सभी २४ परिग्रहों से मुक्त, पापभावों से रहित, परभावों से भिन्न, निर्मोही परमात्मतत्त्व को; शिवरमणी के रमण से प्राप्त होनेवाले अतीन्द्रिय आनन्द की भावना से नमन करता हूँ और उनकी भली प्रकार संभावना करता हूँ।।१५८।।**

छठवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

भिन्न जो निजभाव से उन विभावों को छोड़कर।
मैं करूँ नित चिन्मात्र निर्मल आतमा की भावना।।
कर जोड़कर मैं नमन करता मुक्ति मारग को सदा।
इस दुखमयी भव-उदधि से बस पार पाने के लिए।।१५९।।

निजभाव से भिन्न सभीप्रकार के विभाव भावों को छोड़कर एक निर्मल चिन्मात्र भाव को भाता हूँ। संसार सागर से पार उतरने के लिए जिनागम में भेद से रहित कहे गये मुक्तिमार्ग को भी मैं नित्य नमन करता हूँ।

इस छन्द में निजभावरूप चिन्मात्रभाव की भावनापूर्वक मुक्तिमार्ग को नमन किया गया है। कहा गया है कि **मैं निजभाव से भिन्न सभीप्रकार के विभावभावों से रहित निर्मल चिन्मात्रभाव की भावना भाता हूँ और संसारसागर से पार उतरने के लिए अभेदरूप मुक्तिमार्ग को बारंबार नमन करता हूँ।।१५९।।**

विगत गाथा में परम-आलोचना के प्रथम भेद आलोचन की चर्चा की गई और अब इस गाथा में परम-आलोचना के दूसरे भेद आलुंछन की चर्चा करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

कर्मतरु का मूल छेदक जीव का परिणाम जो।
समभाव है बस इसलिए ही उसे आलुंछन कहा।।११०।।

कर्ममहीरुहमूलच्छेदसमर्थः स्वकीयपरिणामः।
स्वाधीनः समभावः आलुञ्छनमिति समुद्दिष्टम् ।।११०।।

परमभावस्वरूपाख्यानमेतत्। भव्यस्य पारिणामिकभावस्वभावेन परमस्वभावः औदयिकादिचतुर्णां विभावस्वभावानामगोचरः स पंचमभावः। अत एवोदयोदीरणक्षय-क्षयोपशमविविधविकारविवर्जितः। अतः कारणादस्यैकस्य परमत्वम् इतरेषां चतुर्णां विभावानामपरमत्वम्।

निखिलकर्मविषवृक्षमूलनिर्मूलनसमर्थः त्रिकालनिरावरणनिजकारणपरमात्मस्वरूप-श्रद्धानप्रतिपक्षतीव्रमिथ्यात्वकर्मोदयबलेन कुदृष्टेरयं परमभावः सदा निश्चयतो विद्यमानोऽप्य-विद्यमान एव।

नित्यनिगोदक्षेत्रज्ञानामपि शुद्धनिश्चयनयेन स परमभावः अभव्यत्वपारिणामिक इत्यनेनाभिधानेन न संभवति। यथा मेरोरधोभागस्थितसुवर्णराशेरपि सुवर्णत्वं, अभव्यानामपि तथा परमस्वभावत्वं; वस्तुनिष्ठं, न व्यवहारयोग्यम्।

सुदृशामत्यासन्नभव्यजीवानां सफलीभूतोऽयं परमभावः सदा निरंजनत्वात्; यतः सकल-

---

कर्मरूपी वृक्ष के मूल (जड़) को छेदने में समर्थ समभावरूप परिणाम को आलुंछन कहा गया है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह परमभाव के स्वरूप का कथन है। भव्यजीवों का परमपारिणामिकभावरूप स्वभाव होने से जो परमस्वभाव है; वह परमस्वभाव औदयिकादि चार विभावस्वभावों से अगोचर होने से पंचमभाव कहा जाता है। वह पंचमभाव उदय, उदीरणा, क्षय, क्षयोपशम ह्न इन विविध विकारों से रहित है। इसकारण से इस एक पंचमभाव को ही परमपना है, शेष चार विभावभाव अपरमभाव हैं।

समस्त कर्मरूपी विषवृक्ष को मूल से उखाड़ देने में समर्थ वह परमभाव; त्रिकाल निरावरण निज कारणपरमात्मा के स्वरूप की श्रद्धा से प्रतिपक्ष (विरुद्ध) तीव्र मिथ्यात्वकर्म के उदय के कारण कुदृष्टियों को, सदा विद्यमान होने पर भी निश्चयनय से अविद्यमान ही है।

नित्यनिगोद के जीवों को भी, वह परमभाव शुद्धनिश्चयनय से अभव्यत्वपारिणामिक नाम से संभव नहीं है। जिसप्रकार सुमेरु पर्वत के अधोभाग में स्थित सुवर्णराशि को भी स्वर्णपना है; उसीप्रकार अभव्यों को भी परमस्वभावपना है। ध्यान रहे वह परमस्वभाव वस्तुनिष्ठ है, व्यवहारयोग्य नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार सुमेरु की तलहटी में विद्यमान सोना यद्यपि विद्यमान है; तथापि वह कभी उपयोग में नहीं लाया जा सकता; उसीप्रकार यद्यपि अभव्य के भी परमस्वभाव विद्यमान है; तथापि उसके आश्रय से पर्याय में मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती।

सुदृष्टियों को अर्थात् अति आसन्न भव्यजीवों को यह परमस्वभाव सदा निरंजनपने के

कर्मविषमविषद्रुमपृथुमूलनिर्मूलनसमर्थत्वात् निश्चयपरमालोचनाविकल्पसंभवालुंछनाभिधानम् अनेन परमपंचमभावेन अत्यासन्नभव्यजीवस्य सिध्यतीति।

(मंदाक्रांता)

एको भावः स जयति सदा पंचमः शुद्धशुद्धः
कर्मारातिस्फुटितसहजावस्थया संस्थितो यः।
मूलं मुक्तेर्निखिलयमिनामात्मनिष्ठापराणां
एकाकारः स्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः ।।१६०।।

कारण अर्थात् निरंजनरूप से प्रतिभासित होने के कारण सफल हुआ है; इसकारण इस परमपंचमभाव द्वारा अति-आसन्न भव्यजीव को निश्चय परम-आलोचना के भेदरूप उत्पन्न होनेवाला आलुंछन नाम सिद्ध होता है; क्योंकि वह परमभाव समस्त कर्मरूपी विषम विषवृक्ष के विशाल मूल (मोटी जड़) को उखाड़ देने में समर्थ है।''

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में यह बताया गया है कि परमपारिणामिकभाव के आश्रय से उत्पन्न हुआ आत्मावलोकन (आत्मानुभूति) रूप पर्याय ही आलुंछन नामक आलोचना है। यह निश्चय आलुंछनरूप आलोचना का स्वरूप है। परमपारिणामिकभावरूप परमभाव पुण्य-पापरूप समस्त कर्मरूपी विषवृक्ष को जड़मूल से उखाड़ फेकने में समर्थ है।

यद्यपि यह परमभाव मिथ्यादृष्टियों के भी विद्यमान है; तथापि अविद्यमान जैसा ही है; क्योंकि उसके होने का लाभ उन्हें प्राप्त नहीं होता। इस बात को यहाँ सुमेरु पर्वत की तलहटी में विद्यमान स्वर्णराशि के उदाहरण के माध्यम से समझाया गया है। विद्यमान होने पर भी जिसप्रकार उक्त स्वर्ण का उपयोग संभव नहीं है; उसीप्रकार अभव्यों और दूरानुदूरभव्यों के लिए उक्त परमभाव का उपयोग संभव नहीं है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि नित्यनिगोद के जीवों को भी, वह परमभाव शुद्धनिश्चयनय से अभव्यत्वपारिणामिकभाव नाम से संभव नहीं है ह्न टीका में समागत इस कथन का भाव ख्याल में नहीं आया। **उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि यद्यपि परमभाव सभी जीवों के पाया जाता है और वह परमभाव परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है। इसकारण परमशुद्धनिश्चयनय से व्यवहारनय के विषयभूत अभव्यत्वपारिणामिकभाव को परमभाव नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अभव्यत्वरूप पारिणामिकभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि की उत्पत्ति संभव नहीं है।।११०।।**

इसके बाद टीकाकार दो छंद लिखते हैं; जिनमें से पहले छंद का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

हैं आत्मनिष्ठा परायण जो मूल उनकी मुक्ति का।
जो सहजवस्थारूप पुण्य-पाप एकाकार है।।
जो शुद्ध है नित शुद्ध एवं स्वरस से भरपूर है।
जयवंत पंचमभाव वह जो आत्मा का नूर है।।१६०।।

(मंदाक्रांता)

आसंसारादखिल–जनता–तीव्रमोहोदयात्सा
मत्ता नित्यं स्मरवशगता स्वात्मकार्यप्रमुग्धा।
ज्ञानज्योतिर्धवलितककुम्भमंडलं शुद्धभावं
मोहाभावात्स्फुटितसहजावस्थमेषा प्रयाति।।१६१।।

जो कर्म से दूरी के कारण प्रगट सहजावस्थारूप विद्यमान है, आत्मनिष्ठ सभी मुनिराजों की मुक्ति का मूल है, एकाकार है, निजरस के विस्तार से भरपूर होने के कारण पवित्र है, सनातन पुराण पुरुष है; वह शुद्ध–शुद्ध एक पंचमभाव सदा जयवंत है।

इस छन्द में सदा जयवन्त पंचमभाव का माहात्म्य बताया गया है। कहा गया है कि यह परमपारिणामिकभावरूप पंचमभाव आत्मनिष्ठ मुनिराजों की मुक्ति का मूल है, परमपवित्र है, एकाकार है, अनादि–अनन्त सनातन सत्य है। ऐसा यह एक शुद्ध–शुद्ध पंचमपरमभाव सदा जयवंत है।

ध्यान रहे यहाँ परमपंचमभाव की शुद्धता पर विशेष वजन डालने के लिए शुद्ध पद का प्रयोग दो बार किया गया है। तात्पर्य यह है कि यह परमभाव स्वभाव से तो शुद्ध है ही, पर्याय की शुद्धता का भी एकमात्र आश्रयभूत कारण है।।१६०।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

इस जगतजन की ज्ञानज्योति अरे काल अनादि से।
रे मोहवश मदमत्त एवं मूढ है निजकार्य में।।
निर्मोह तो वह ज्ञानज्योति प्राप्त कर शुधभाव को।
उज्ज्वल करे सब ओर से तब सहजवस्था प्राप्त हो।।१६१।।

अनादि संसार से समस्त जनसमूह की तीव्र मोह के उदय के कारण जो ज्ञानज्योति निरंतर मत्त है, काम के वश है और निजकार्य में विशेषरूप से मुग्ध है, मूढ है; वही ज्ञानज्योति मोह के अभाव से उस शुद्धभाव को प्राप्त करती है कि जिस शुद्धभाव ने सभी दिशाओं को उज्ज्वल किया है और सहजावस्था प्राप्त की है।

उक्त छन्द में ज्ञानज्योति की महिमा बताई गई है। कहा गया है कि **मोह के सद्भाव में अनादिकाल से समस्त संसारीजीवों की जो ज्ञानज्योति मत्त हो रही थी, काम के वश हो रही थी; वही ज्योति मोह के अभाव में शुद्धभाव को प्रगट करती हुई सभी दिशाओं को उज्ज्वल करती है और सहजावस्था को प्राप्त करती है।** ज्ञानज्योति का सम्यग्ज्ञान के रूप स्फुरायमान होना ही आलुंछन है, आलुंछन नाम की आलोचना है, निश्चय आलोचना है।।१६१।।

कम्मादो अप्पाणं भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं।
मज्झत्थभावणाए वियडीकरणं ति विण्णेयं।।१११।।

कर्मण: आत्मानं भिन्नं भावयति विमलगुणनिलयम्।
मध्यस्थभावनायामविकृतिकरणमिति विज्ञेयम्।।१११।।

इह हि शुद्धोपयोगिनो जीवस्य परिणतिविशेष: प्रोक्त:। य: पापाटवीपावको द्रव्यभाव-नोकर्मभ्य: सकाशाद् भिन्नमात्मानं सहजगुण (निलयं मध्यस्थभावनायां भावयति तस्या-विकृतिकरण) अभिधानपरमालोचनाया: स्वरूपमस्त्येवेति।

विगत दो गाथाओं में परमालोचना के आरंभिक दो भेद आलोचन एवं आलुंछन की क्रमश: चर्चा की। अब इस गाथा में तीसरे भेद अविकृतिकरण की चर्चा करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

निर्मलगुणों का निलय आतम कर्म से भिन जीव को।
भाता सदा जो आतमा अविकृतिकरण वह जानना।।१११।।

जो मध्यस्थभावना में कर्म से भिन्न, विमलगुणों के आवासरूप अपने आत्मा को भाता है; उस जीव को अविकृतिकरण जानना चाहिए।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ शुद्धोपयोगी जीव की परिणति विशेष का कथन है।

पापरूपी अटवी को जलाने के लिए अग्नि के समान जो जीव; द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से भिन्न; सहजगुणों के आवास निज आत्मा को माध्यस्थभाव से भाता है; उस जीव को अविकृतिकरण नामक परम-आलोचना का स्वरूप वर्तता ही है।''

परम-आलोचना के अविकृतिकरण नामक भेद की चर्चा करनेवाली इस गाथा और उसकी टीका में यह कहा गया है कि **पापरूपी भयानक जंगल को जलाने में समर्थ यह आत्मा; जब द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से भिन्न एवं सहज गुणों के आवास इस भगवान आत्मा को मध्यस्थ भाव से भाता है, उसकी आराधना करता है; तब वह आराधक आत्मा अविकृतिकरणस्वरूप ही है** ह्न ऐसा जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि उक्त आत्मा अविकृतिकरण नामक आलोचना करनेवाला है, परमालोचक है।।१११।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज नौ छन्द लिखते हैं; जिसमें पहले और दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

आत्मा भिन्नो भवति सततं द्रव्यनोकर्मराशे–
रन्तःशुद्धः शमदमगुणाम्भोजिनीराजहंसः ।
मोहाभावादपरमखिलं नैव गृह्णाति सोऽयं
नित्यानंदाद्यनुपमगुणश्चिच्चमत्कारमूर्तिः ।।१६२।।

अक्षय्यान्तर्गुणमणिगणः शुद्धभावामृताम्भो–
राशौ नित्यं विशदविशदे क्षालितांहः कलंकः ।
शुद्धात्मा यः प्रहतकरणग्रामकोलाहलात्मा
ज्ञानज्योतिःप्रतिहततमोवृत्तिरुच्चैश्चकास्ति ।।१६३।।

(हरिगीत)

अरे अन्तःशुद्ध शम-दमगुणकमलनी हंस जो।
आनन्द गुण भरपूर कर्मों से सदा है भिन्न जो।।
चैतन्यमूर्ति अनूप नित छोड़े न ज्ञानस्वभाव को।
वह आत्मा न ग्रहे किंचित् किसी भी परभाव को।।१६२।।

अरे निर्मलभाव अमृत उदधि में डुबकी लगा।
धोये हैं पापकलंक एवं शान्त कोलाहल किया।।
इन्द्रियों से जन्य अक्षय अलख गुणमय आतमा।
रे स्वयं अन्तर्ज्योति से तम नाश जगमग हो रहा।।१६३।।

द्रव्यकर्म और नोकर्म के समूह से सदा भिन्न, अन्तःशुद्ध, शम–दम आदि गुणरूपी कमलनियों का राजहंस, नित्यानंदादि अनुपम गुणोंवाला और चैतन्यचमत्कार की मूर्ति ह्न ऐसा यह आत्मा मोह के अभाव के कारण सभी प्रकार के सभी परभावों को ग्रहण ही नहीं करता।

जिसने अत्यन्त निर्मल शुद्धभावरूपी अमृत के समुद्र में पापकलंकों को धो डाला है और इन्द्रियसमूह के कोलाहल को नष्ट कर दिया है तथा जो अक्षय अन्तरंग गुण मणियों का समूह है; वह शुद्ध आत्मा ज्ञानज्योति द्वारा अंधकारदशा का नाश करके अत्यन्त प्रकाशमान हो रहा है।

उक्त दोनों छन्दों में भगवान आत्मा के ही गीत गाये गये हैं। पहले छन्द में आत्मा को शम–दम आदि गुणरूपी कमलनियों का राजहंस कहा गया है। जिसप्रकार मानसरोवर जैसे सरोवरों में खिलनेवाली कमलनियों के साथ वहाँ रहनेवाला राजहंस क्रीड़ायें करता रहता है;

(वसंततिलका)

संसारघोरसहजादिभिरेव रौद्रै–
दु:खादिभि: प्रतिदिनं परितप्यमाने ।
लोके शमामृतमयीमिह तां हिमानीं
यायादयं मुनिपति: समताप्रसादात् ।।१६४।।

उसीप्रकार **यह भगवान आत्मा स्वयं में ही जो शम-दम आदि गुणरूपी कमलनी हैं; उनके साथ क्रीड़ा करता है। यहाँ आत्मा के द्रव्यस्वभाव को सरोवर, उसमें रहनेवाले गुणों को कमलनी और वर्तमान निर्मल पर्याय को राजहंस के स्थान पर रखा गया है।** तात्पर्य यह है कि निर्मल पर्याय के धनी ज्ञानीजन अपने आत्मा में विद्यमान गुणों के साथ ही केलि किया करते हैं। उन्हें बाहर निकलने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

यहाँ मैं आपका ध्यान एक बात की ओर विशेष खींचना चाहता हूँ कि यहाँ **'शमदमगुणाम्भोजनी'** पद है, जिसका अर्थ **शम-दम गुणरूपी कमलनी ही हो सकता है, कमल नहीं। हंस का कमल के साथ क्रीड़ा करने के स्थान पर कमलनी के साथ क्रीड़ा की बात ही अधिक उपयुक्त लगती है।** पहले छन्द में बाहर निकलने की आवश्यकता नहीं पड़ती; क्योंकि अतीन्द्रिय आनन्द की सभी सामग्री अन्दर विद्यमान है ह्न यह कहा है और दूसरे छन्द में स्वयं स्वयं में ही प्रकाशित होता रहता है ह्न यह कहा है। तात्पर्य यह है कि उसे प्रकाशित होने के लिए भी पर की आवश्यकता नहीं है।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा स्वयं में ही परिपूर्ण है, उसे अन्य की कोई आवश्यकता नहीं।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जब आपने कमलनी अर्थ किया ही है तो फिर इस स्पष्टीकरण की क्या आवश्यकता है ?

अरे भाई ! अबतक **शमदमगुणाम्भोजनी** का अर्थ शम-दमगुणरूपी कमल किया जाता रहा है। अम्भोज का अर्थ होता है कमल। जिसकी उत्पत्ति अंभ माने जल में हो, वह अम्भोज। अम्भोज का स्त्री लिंग **अम्भोजनी** हुआ। इसप्रकार अम्भोजनी का अर्थ कमलनी होता है।।१६२-१६३।।

तीसरे और चौथे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

अरे सहज ही घोर दु:ख संसार घोर में।
प्रतिदिन तपते जीव अनंते घोर दु:खों से।।
किन्तु मुनिजन तो नित समता के प्रसाद से।
अरे शमामृत हिम की शीतलता पाते हैं।।१६४।।

(वसंततिलका)

मुक्तः कदापि न हि याति विभावकायं
तद्धेतुभूत–सुकृतासुकृत–प्रणाशात् ।
तस्मादहं सुकृतदुष्कृतकर्मजालं
मुक्त्वा मुमुक्षुपथमेकमिह व्रजामि ।।१६५।।

(अनुष्टुभ्)

प्रपद्येऽहं सदाशुद्धमात्मानं बोधविग्रहम् ।
भवमूर्तिमिमां त्यक्त्वा पुद्गलस्कन्धबन्धुराम् ।।१६६।।

(रोला)

रे विभावतन मुक्त जीव तो कभी न पाते।
क्योंकि उन्होंने सुकृत-दुष्कृत नाश किये हैं।।
इसीलिए तो सुकृत-दुष्कृत कर्मजाल तज।
अरे जा रहा हूँ मुमुक्षुओं के मारग में।।१६५।।

घोर संसार में सहज ही होनेवाले भयंकर दु:खों से प्रतिदिन परितप्त होनेवाले इस लोक में मुनिराज समताभाव के प्रसाद से समतारूपी अमृतमयी बर्फ के ढेर जैसी ठंडक अर्थात् शान्ति प्राप्त करते हैं।

मुक्तजीव विभावरूप काय (शरीर) को कभी प्राप्त नहीं होते; क्योंकि उन्होंने शरीर संयोग के हेतुभूत सुकृत (पुण्य) और दुष्कृत (पाप) का नाश कर दिया है। इसलिए अब मैं सुकृत और दुष्कृत कर्मजाल को छोड़कर एक मुमुक्षुमार्ग में जाता हूँ।

उक्त दोनों छन्दों में मात्र यही कहा गया है कि यद्यपि इस अपार घोर संसार में अनन्त जीव आकुलतारूपी भट्टी में निरंतर जल रहे हैं, अनन्त दु:ख भोग रहे हैं; तथापि **मुनिजन तो समताभाव के प्रसाद से समतारूपी अमृत के बर्फीले गिरि पर विराजमान हैं और अनंत शीतलता का अनुभव कर रहे हैं, सुख-शान्ति में लीन हैं।**

सभी प्रकार के सुकृत और दुष्कृतों से मुक्त सिद्ध जीव कभी भी विभावभावरूप काया में प्रवेश नहीं करते, इसलिए **मैं भी अब सुकृत (पुण्य) और दुष्कृत (पाप) के कर्मजाल को छोड़कर मुमुक्षु मार्ग में जाता हूँ।** जिस निष्कर्म वीतरागी मार्ग पर मुमुक्षु लोग चलते हैं; मैं भी उसी मार्ग को अंगीकार करता हूँ।।१६४-१६५।।

पाँचवें और छठवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

अनादिममसंसाररोगस्यागदमुत्तमम् ।
शुभाशुभविनिर्मुक्तशुद्धचैतन्यभावना ।।१६७।।

(मालिनी)

अथ विविधविकल्पं पंचसंसारमूलं
शुभमशुभसुकर्म प्रस्फुटं तद्विदित्वा ।
भवमरणविमुक्तं पंचमुक्तिप्रदं यं
तमहमभिनमामि प्रत्यहं भावयामि ।।१६८।।

(दोहा)

अस्थिर पुद्गलखंध तन तज भवमूरत जान।
सदा शुद्ध जो ज्ञानतन पाया आतम राम।।१६६।।
शुध चेतन की भावना रहित शुभाशुभभाव।
औषधि है भव रोग की वीतरागमय भाव।।१६७।।

पौद्गलिक स्कंधों से निर्मित यह अस्थिर शरीर भव की मूर्ति है, मूर्तिमान संसार है। इसे छोड़कर मैं ज्ञानशरीरी सदा शुद्ध भगवान आत्मा का आश्रय ग्रहण करता हूँ।

शुभाशुभभावों से रहित शुद्धचैतन्य की भावना मेरे अनादि संसार रोग की उत्कृष्ट औषधि है।

उक्त छन्दों में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में मात्र यही कहा गया है कि संसार की साक्षात् मूर्ति यह शरीर पौद्गलिक स्कन्धों से बना हुआ है, इसलिए अस्थिर है; इसे छोड़कर मैं ज्ञानशरीरी सदा शुद्ध भगवान आत्मा की शरण में जाता हूँ; क्योंकि मेरे इस अनादि संसार रोग की एकमात्र अचूक औषधि शुभाशुभभावों से रहित एक शुद्ध चैतन्य भावना ही है।।१६६-१६७।।

सातवें, आठवें और नौवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

अरे पंचपरिवर्तनवाले भव के कारण।
विविध विकल्पोंवाले शुभ अर अशुभ कर्म हैं।।
अरे जानकर ऐसा जनम-मरण से विरहित।
मुक्ति प्रदाता शुद्धातम को नमन करूँ मैं।।१६८।।

विविध विकल्पों वाला शुभाशुभ कर्म; द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव ह्न इन पाँच परिवर्तनोंवाले संसार का मूल कारण है ह्न ऐसा जानकर जन्म-मरण से रहित और पाँच

(मालिनी)

अथ सुललितवाचां सत्यवाचामपीत्थं
न विषयमिदमात्मज्योतिराद्यन्तशून्यम् ।
तदपि गुरुवचोभिः प्राप्य यः शुद्धदृष्टिः
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ।।१६९।।

जयति सहजतेजःप्रास्तरागान्धकारो
मनसि मुनिवराणां गोचरः शुद्धशुद्धः ।
विषयसुखरतानां दुर्लभः सर्वदायं
परमसुखसमुद्रः शुद्धबोधोऽस्तनिद्रः ।।१७०।।

प्रकार की मुक्ति देनेवाले शुद्धात्मा को मैं नमन करता हूँ और प्रतिदिन उसे भाता हूँ, उसकी भावना करता हूँ।

(रोला)

यद्यपि आदि-अन्त से विरहित आतमज्योति।
सत्य और सुमधुर वाणी का विषय नहीं है।।
फिर भी गुरुवचनों से आतमज्योति प्राप्त कर।
सम्यग्दृष्टि जीव मुक्तिवधु वल्लभ होते।।१६९।।

अरे रागतम सहजतेज से नाश किया है।
मुनिमनगोचर शुद्ध शुद्ध उनके मन बसता।।
विषयी जीवों को दुर्लभ जो सुख समुद्र है।
शुद्ध ज्ञानमय शुद्धातम जयवंत वर्तता।।१७०।।

इसप्रकार आदि-अन्त से रहित यह आत्मज्योति; सुमधुर और सत्य वाणी का भी विषय नहीं है; तथापि गुरु के वचनों द्वारा उस आत्मज्योति को प्राप्त करके जो शुद्धदृष्टिवाला होता है, वह परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होता है।

जिसने सहज तेज से रागरूपी अंधकार का नाश किया है, जो शुद्ध-शुद्ध है, जो मुनिवरों को गोचर है, उनके मन में वास करता है, जो विषय- सुख में लीन जीवों को सर्वदा दुर्लभ है, जो परमसुख का समुद्र है, जो शुद्धज्ञान है तथा जिसने निद्रा का नाश किया है; वह शुद्धात्मा जयवंत है।

उक्त तीनों छन्दों में शुद्धात्मा और उसकी आराधना करनेवालों के गीत गाये हैं। **प्रथम छन्द में कहा गया है** कि संसार के मूल कारण शुभाशुभभाव हैं। इसलिए मैं जन्म-मरण का

मदमाणमायलोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धि त्ति ।
परिकहियं भव्वाणं लोयालोयप्पदरिसीहिं ।।११२।।

मदमानमायालोभविवर्जितभावस्तु भावशुद्धिरिति ।
परिकथितो भव्यानां लोकालोकप्रदर्शिभिः ।।११२।।

भावशुद्ध्यभिधानपरमालोचनास्वरूपप्रतिपादनद्वारेण शुद्धनिश्चयालोचनाधिकारोपसंहारोपन्यासोऽयम् । तीव्रचारित्रमोहोदयबलेन पुंवेदाभिधाननोकषायविलासो मदः । अत्र मदशब्देन मदनः कामपरिणामः इत्यर्थः । चतुरसंदर्भगर्भीकृतवैदर्भकवित्वेन आदेयनामकर्मोदये सति सकलजनपूज्यतया, मातृपितृसम्बन्धकुलजातिविशुद्ध्या वा, शतसहस्रकोटि-

---

अभाव करने के लिए शुद्धात्मा की आराधना करता हूँ, उसकी भावना भाता हूँ, उसका ध्यान करता हूँ। **दूसरे छन्द में कहा गया है** कि यद्यपि यह भगवान आत्मा वाणी की पकड़ में नहीं आता; तथापि गुरूपदेश से आत्मज्योति को प्राप्त करनेवाला मुक्तिरमा का वरण करता है। **इसीप्रकार तीसरे छन्द में रागान्धकार का नाशक, मुनिजनों के मन का वासी, परमसुख के सागर आत्मा के जयवंत होने की भावना भाई है।।१६८-१७०।।**

विगत गाथाओं में परम-आलोचना के आलोचन, आलुंछन और अविकृतिकरण ह्न इन भेदों की चर्चा की गई है; अब इस गाथा में चौथा भेद भावशुद्धि की चर्चा करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

मदमानमायालोभ विरहित भाव को जिनमार्ग में।
भावशुद्धि कहा लोक-अलोकदर्शी देव ने।।११२।।

मद, मान, माया और लोभ रहित भाव भावशुद्धि है ह्न ऐसा भव्यों से लोकालोक को देखनेवालों ने कहा है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह भावशुद्धि नामक परम-आलोचना के स्वरूप द्वारा शुद्ध-निश्चय आलोचना अधिकार के उपसंहार का कथन है।

तीव्र चारित्रमोह के उदय के कारण पुरुषवेद नामक नोकषाय का विलास मद है। यहाँ मद का अर्थ मदन अर्थात् कामविलास है।

वैदर्भी रीति में किये गये चतुरवचनरचनावाले कवित्व के कारण, आदेय नामक नामकर्म का उदय होने पर समस्त जनों द्वारा पूज्यत्वपने से; माता-पिता संबंधी कुल-जाति की विशुद्धि

भटाभिधानप्रधानब्रह्मचर्यव्रतोपार्जितनिरुपमबलेन च, दानादिशुभकर्मोपार्जितसंपत्वृद्धि-विलासेन अथवा बुद्धितपोवैकुर्वणौषधरसबलाक्षीणर्द्धिभिः सप्तभिर्वा, कमनीयकामिनी-लोचनानन्देन वपुर्लावण्यरसविसरेण वा आत्माहंकारो मानः। गुप्तपापतो माया। युक्तस्थले धनव्ययाभावो लोभः, निश्चयेन निखिलपरिग्रहपरित्यागलक्षणनिरंजननिजपरमात्मतत्त्व-परिग्रहात् अन्यत् परमाणुमात्रद्रव्यस्वीकारो लोभः।

एभिश्चतुर्भिर्वा भावैः परिमुक्तः शुद्धभाव एव भावशुद्धिरिति भव्यप्राणिनां लोकालोक-प्रदर्शिभिः परमवीतरागसुखामृतपानपरितृप्तैर्भगवद्भिरर्हद्भिरभिहित इति।

(मालिनी)

अथ जिनपतिमार्गालोचनाभेदजालं
परिहृतपरभावो भव्यलोकः समन्तात्।
तदखिलमवलोक्य स्वस्वरूपं च बुद्ध्वा
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः।।१७१।।

से; ब्रह्मचर्य व्रत द्वारा उपार्जित शतसहस्त्रकोटिभट[१] सुभट समान निरुपम बल से; दानादि शुभकर्म द्वारा उपार्जित सम्पत्ति की वृद्धि के विलास से; बुद्धि, बल, विक्रिया, औषधि, रस, बल और अक्षीण ह्न इन सात ऋद्धियों से अथवा सुन्दर कामनियों के लोचन को आनन्द प्राप्त करानेवाले शरीर लावण्य रस के विस्तार से होनेवाला आत्म-अहंकार मान है।

गुप्त पाप से माया होती है। योग्य स्थान पर धन व्यय नहीं करना लोभ है। निश्चय से समस्त परिग्रह का परित्याग जिसका लक्षण है ह्न ऐसे निरंजन निज परमात्मतत्त्व के परिग्रह से अन्य परमाणुमात्र द्रव्य का स्वीकार लोभ है।

इन चारों भावों से रहित शुद्धभाव ही भावशुद्धि है ह्न ऐसा भव्यजीवों को; लोकालोकदर्शी परमवीतराग सुखरूपी अमृत के पीने से तृप्त अरहंत भगवानों ने कहा है।''

इस गाथा और इसकी टीका में भावशुद्धि नामक परम-आलोचना का स्वरूप स्पष्ट करते हुए मात्र यही कहा गया है कि **मद, मान, माया और लोभ रहित परिणाम ही भावशुद्धि है। टीका में मद, मान, माया और लोभ का स्वरूप उक्त प्रकरण के संदर्भ में स्पष्ट किया गया है। यहाँ काम-वासना को मद कहा गया है। मान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए छह बिन्दु रखे गये हैं। पूज्यत्व, कुल-जाति संबंधी विशुद्धि, सुभटपना, सम्पत्ति, ऋद्धियाँ और शारीरिक सुन्दरता के कारण होनेवाले अभिमान को मान कहा है।** इसीप्रकार व्यवहारनय से योग्यस्थान में धन व्यय के अभाव को और निश्चयनय से **निज शुद्धात्मा को छोड़कर अन्य परमाणुमात्र परद्रव्य के स्वीकार को लोभ कहा गया है।।११२।।**

---

१. शत सहस्त्र माने एक लाख और कोटि माने करोड़ ह्न इसप्रकार एक लाख करोड़ योद्धाओं के बराबर बल धारण करनेवाले को शतसहस्त्रकोटिभट कहते हैं।

(वसंततिलका)

आलोचना सततशुद्धनयात्मिका या
निर्मुक्तिमार्गफलदायमिनामजस्रम् ।
शुद्धात्मतत्त्व–नियता–चरणानुरूपा
स्यात्संयतस्य मम सा किल कामधेनुः ।।१७२।।

इस परम–आलोचना अधिकार की अन्तिम गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज नौ छन्द लिखते हैं, जिनमें पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जिनवर कथित आलोचना के भेद सब पहिचान कर।
भव्य के श्रद्धेय ज्ञायकभाव को भी जानकर।।
जो भव्य छोड़े सर्वतः परभाव को पर जानकर।
हो वही वल्लभ परमश्री का परमपद को प्राप्त कर।।१७१।।

जो भव्यलोक जिनेन्द्र भगवान के मार्ग में कहे गये आलोचना के समस्त भेदजाल को देखकर तथा निजस्वरूप को जानकर सर्व ओर से परभावों को छोड़ता हूँ; वह परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होता है।

इस छन्द में सम्यक् आलोचना का फल मुक्ति की प्राप्ति होना बताया गया है। कहा गया है कि जो भव्यजीव जैनमार्ग में बताये गये आलोचना का स्वरूप भलीभाँति जानता है और तदनुसार परभावों को छोड़ता है; वह मुक्ति प्राप्त करता है।।१७१।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

संयमधारी सन्तों को फल मुक्तिमार्ग का।
जो देती है और स्वयं के आत्मतत्त्व में।।
नियत आचरण के अनुरूप आचरणवाली।
वह आलोचना मेरे मन को कामधेनु हो।।१७२।।

जो आलोचना संयमी सन्तों को निरन्तर मोक्षमार्ग का फल देनेवाली है, शुद्ध आत्मतत्त्व में नियत आचरण के अनुरूप है, निरन्तर शुद्धनयात्मक है; वह आलोचना मुझ संयमी को वस्तुतः कामधेनुरूप हो।

इस छन्द में टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव यह भावना व्यक्त करते हैं कि जो आलोचना आत्मतत्त्व के अनुरूप आचरणवाली है, मोक्षमार्ग का फल देनेवाली है; वह शुद्धनयात्मक आलोचना मुझ संयमी को कामधेनु जैसी फल देनेवाली हो।

(शालिनी)

शुद्धं तत्त्वं बुद्धलोकत्रयं यद्
बुद्ध्वा बुद्ध्वा निर्विकल्पं मुमुक्षुः ।
तत्सिद्ध्यर्थं शुद्धशीलं चरित्वा
सिद्धिं यायात् सिद्धिसीमन्तिनीशः ।।१७३।।

(स्रग्धरा)

सानन्दं तत्त्वमज्जज्जिनमुनिहृदयाम्भोजकिंजल्कमध्ये
निर्व्याबाधं विशुद्धं स्मरशरगहनानीकदावाग्निरूपम् ।
शुद्धज्ञान–प्रदीप–प्रहत–यमिमनोगेह–घोरान्धकारं
तद्वन्दे साधुवन्द्यं जननजलनिधौ लंघने यानपात्रम् ।।१७४।।

ध्यान रहे जिसप्रकार लोक में चिन्तामणिरत्न को चिन्ताओं को हरनेवाला, कल्पवृक्ष को इच्छानुसार फल देनेवाला माना जाता है; उसीप्रकार **कामधेनु गाय को सभी कामनायें पूरी करनेवाला माना गया है।।१७२।।**

तीसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

तीन लोक के ज्ञायक निर्विकल्प तत्त्व को।
जो मुमुक्षुजन जान उसी की सिद्धि के लिए।।
शुद्ध शील आचरे रमे निज आतम में नित।
सिद्धि प्राप्त कर मुक्तिवधु के स्वामी होते।।१७३।।

मुमुक्षु जीव तीन लोक को जाननेवाले शुद्ध निर्विकल्पतत्त्व को भलीभाँति बारंबार जानकर, उसकी सिद्धि के लिए शुद्ध शील का आचरण करके सिद्धिरूपी स्त्री का स्वामी होता है, सिद्धि को प्राप्त करता है।

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा का ज्ञान, श्रद्धान और उसी में लीनतारूप चारित्र ही मुक्ति का मार्ग है, मोक्ष प्राप्त करने का सच्चा उपाय है।।१७३।।

चौथे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

आत्मतत्त्व में मग्न मुनिजनों के मन में जो।
वह विशुद्ध निर्बाध ज्ञानदीपक निज आतम।।
मुनिमनतम का नाशक नौका भवसागर की।
साधुजनों से वंद्य तत्त्व को वंदन करता।।१७४।।

(हरिणी)

अभिनवमिदं पापं याया: समग्रधियोऽपि ये
विदधति परं ब्रूम: किं ते तपस्विन एव हि।
हृदि विलसितं शुद्धं ज्ञानं च पिंडमनुत्तमं
पदमिदमहो ज्ञात्वा भूयोऽपि यान्ति सरागताम् ।।१७५।।

जो आत्मतत्त्व आत्मतत्त्व में मग्न मुनिराजों के हृदयकमल की केशर में आनन्द सहित विराजमान है, बाधा रहित है, विशुद्ध है, कामबाणों की गहन सेना को जला देने में दावाग्नि के समान है और जिसने शुद्ध ज्ञानरूप दीपक द्वारा मुनियों के मनरूपी घर के घोर अंधकार का नाश किया है; जो साधुओं द्वारा वंदनीय और जन्म-मरणरूपी भवसागर को पार करने में नाव के समान है; उस शुद्ध आत्मतत्त्व को मैं वंदन करता हूँ।

इसप्रकार आत्मतत्त्व की महिमा के प्रतिपादक इस छन्द में मुनिजनों के हृदयकमल में विराजमान उस आत्मतत्त्व को विशुद्ध और बाधारहित बताया गया है। कहा गया है कि वह आत्मतत्त्व कामबाणों की गहन सेना को जला देने में दावाग्नि के समान है। मुनियों के मन के अंधकार को नाश करनेवाला वह तत्त्व साधुजनों से भी वंदनीय है, अभिनन्दनीय है, संसार समुद्र से पार होने के लिए नाव के समान है। टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि मैं भी उस शुद्ध आत्मतत्त्व की वंदना करता हूँ।।१७४।।

पाँचवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

बुद्धिमान होने पर भी क्या कोई तपस्वी।
ऐसा कह सकता कि करो तुम नये पाप को।।
अरे खेद आश्चर्य शुद्ध आतम को जाने।
फिर भी ऐसा कहे समझ के बाहर है यह।।१७५।।

हम पूछते हैं कि क्या वे वास्तव में तपस्वी हैं; जो समग्ररूप से बुद्धिमान होने पर भी दूसरों से यह कहते हैं कि तुम इस नये पाप को करो। आश्चर्य है, खेद है कि वे हृदय में विलसित शुद्धज्ञानरूप और सर्वोत्तम पिण्डरूप इस पद को जानते हुए भी सरागता को प्राप्त होते हैं।

टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इस बात पर आश्चर्य ही व्यक्त कर रहे हैं, खेद प्रगट कर रहे हैं। हो सकता है कि उनके समय में कुछ ऐसे लोग रहे हों; जो इसप्रकार की अनर्गल बातें करते हों।

(हरिणी)

जयति सहजं तत्त्वं तत्त्वेषु नित्यमनाकुलं
सततसुलभं भास्वत्सम्यग्दृशां समतालयम् ।
परमकलया सार्धं वृद्धं प्रवृद्धगुणैर्निजैः
स्फुटितसहजावस्थं लीनं महिम्नि निजेऽनिशम् ।।१७६।।

सहजपरमं तत्त्वं तत्त्वेषु सप्तसु निर्मलं
सकलविमलज्ञानावासं निरावरणं शिवम् ।
विशदविशदं नित्यं बाह्यप्रपंचपराङ्मुखं
किमपि मनसां वाचां दूरं मुनेरपि तन्नुमः ।।१७७।।

कभी-कभी और कहीं-कहीं ऐसा कहते लोग तो आज भी मिल जाते हैं कि **यदि तुम पाप के समान पुण्य को त्यागने योग्य कहोगे तो फिर हम या तो पुण्य कार्य करना भी छोड़ देंगे या फिर जिसप्रकार पुण्य का उपदेश करते हैं, उसीप्रकार पाप का उपदेश करने लगेंगे।**

उनसे कहते हैं कि **उपदेश तो सदा ही ऊपर चढ़ने का ही दिया जाता है,** नीचे गिरने का नहीं। अत: **पुण्य को छोड़ने के उपदेश से पाप करने का उपदेश देने का भाव ग्रहण करना तो ठीक नहीं है।** हो सकता है कि इसीप्रकार की कोई प्रवृत्ति उस समय रही हो, जिसके कारण टीकाकार मुनिराज को इसप्रकार का छंद लिखने का भाव आया हो। जो भी हो, पर शुद्धज्ञानघन सर्वोत्तम आत्मतत्त्व के जानकार तो इसप्रकार की सरागता को प्राप्त नहीं हो सकते ।।१७५।।

छठवें और सातवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

सब तत्त्वों में सहज तत्त्व निज आतम ही है।
सदा अनाकुल सतत् सुलभ निज आतम ही है।।
परमकला सम्पन्न प्रगट घर समता का जो।
निज महिमारत आत्मतत्त्व जयवंत सदा है।।१७६।।

सात तत्त्व में प्रमुख सहज सम्पूर्ण विमल है।
निरावरण शिव विशद नित्य अत्यंत अमल है।।
उसे नमन जो अति दूर मुनि-मन-वचनों से।
परपंचों से विलग आत्म आनन्द मगन है।।१७७।।

तत्त्वों में वह सहज आत्मतत्त्व सदा जयवन्त है; जो सदा अनाकुल है, निरन्तर सुलभ है, प्रकाशमान है, सम्यग्दृष्टियों को समता का घर है, परमकला सहित विकसित, निजगुणों से

(द्रुतविलंबित)

जयति शांतरसामृतवारिधिप्रतिदिनोदयचारुहिमद्युतिः ।
अतुलबोधदिवाकरदीधितिप्रहतमोहतमस्समितिर्जिनः ।।१७८।।
विजितजन्मजरामृतिसंचयः प्रहतदारुणरागकदम्बकः ।
अघमहातिमिरवज्रभानुमान्जयति यः परमात्मपदस्थितः ।।१७९।।

प्रफुल्लित है और जिसकी सहज अवस्था स्फुटित है, प्रगट है और जो निरन्तर निज महिमा में लीन है।

सात तत्त्वों में वह सहज परमतत्त्व निर्मल है, सम्पूर्णतः विमल ज्ञान का घर है, निरावरण है, शिव है, विशद-विशद है अर्थात् अत्यन्त स्पष्ट है, नित्य है, बाह्य प्रपंचों से पराङ्मुख है और मुनिजनों को भी मन व वाणी से अति दूर है; उसे हम नमन करते हैं।

इसप्रकार इन दो छंदों में भगवान आत्मा को सतत जयवंत बताते हुए नमस्कार किया गया है। कहा गया है कि **अपना यह भगवान आत्मा सदा अनाकुल है, निरंतर सुलभ है, प्रकाशमान है, समता का घर है, परमकला सहित विकसित है, प्रगट है और निज महिमारत है। यह परमतत्त्व अत्यन्त निर्मल है, निरावरण है, शिव है, विशद है, नित्य है, बाह्य प्रपंचों से पराङ्मुख है और मुनिजनों की वाणी और मन से भी अति दूर है।** ऐसे जयवंत परमतत्त्व को हम नमन करते हैं।।१७६-१७७।।

आठवें और नौवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

अरे शान्तरसरूपी अमृत के सागर को।
नित्य उल्लसित करने को तुम पूर्णचन्द हो।।
मोहतिमिर के नाशक दिनकर भी तो तुम हो।
हे जिन निज में लीन सदा जयवंत जगत में।।१७८।।
वे जिनेन्द्र जयवन्त परमपद में स्थित जो।
जिनने जरा जनम-मरण को जीत लिया है।।
अरे पापतम के नाशक ने राग-द्वेष का।
निर्मूलन कर पूर्ण मूल से हनन किया है।।१७९।।

जो शान्तरसरूपी अमृत के सागर को उछालने के लिए प्रतिदिन उदित होनेवाले सुन्दर चन्द्रमा के समान हैं और जिन्होंने अतुलनीय ज्ञानरूपी सूर्य की किरणों से मोहान्धकार को नाश किया है; वे जिनेन्द्र भगवान जयवंत हैं।

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव-विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ परमालोचनाधिकारः सप्तमः श्रुतस्कन्धः ।

जिसने जन्म-जरा-मृत्यु के समूह को जीत लिया है, दारुण राग के समूह का हनन कर दिया है, जो पापरूपी महान्धकार के समूह को नाश करने के लिए सूर्य के समान हैं और परमात्मपद में स्थित हैं; वे जिनेन्द्र जयवंत हैं।

उक्त दोनों छन्दों में से प्रथम छन्द में जिनेन्द्र भगवान की उपमा चन्द्रमा और सूर्य से दी है। कहा गया है कि हे भगवन्! आप शान्त रसरूपी अमृत के सागर को उल्लसित करने के लिए चन्द्रमा के समान हो और मोहान्धकार के नाश के लिए ज्ञानरूपी सूर्य हो। दूसरे छंद में कहा गया है कि जन्म, जरा और मृत्यु को जीतनेवाले, भयंकर रागद्वेष के नाशक, पापरूपी अंधकार के नाशक सूर्य और परमपद में स्थित जिनेन्द्रदेव जयवंत हैं।।१७८-१७९।।

परमालोचनाधिकार की समाप्ति के अवसर पर टीकाकार जो पंक्ति लिखते हैं; उसका भाव इसप्रकार है ह्न

''इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में परमालोचनाधिकार नामक सातवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।''

यहाँ नियमसार एवं उसकी तात्पर्यवृत्ति टीका के साथ-साथ डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत आत्मप्रबोधिनी हिन्दी टीका में परमालोचनाधिकार नामक सातवाँ श्रुतस्कन्ध भी समाप्त होता है।

●●●

एक ही भूमिका के ज्ञानियों के संयोगों और संयोगीभावों में महान अंतर हो सकता है। कहाँ क्षायिक सम्यग्दृष्टि सौधर्म इन्द्र और कहाँ सर्वार्थसिद्धि के क्षायिक सम्यग्दृष्टि अहमिन्द्र। सौधर्म इन्द्र तो जन्मकल्याणक में आकर नाभिराय के दरबार में ताण्डव नृत्य करता है और सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र दीक्षाकल्याणक, ज्ञानकल्याणक और मोक्षकल्याणक में भी नहीं आते, दिव्यध्वनि सुनने तक नहीं आते।

संयोग और संयोगीभावों में महान् अन्तर होने पर भी दोनों की भूमिका एक ही हैं, एक सी ही है। अत: संयोगीभावों के आधार पर राग या वैराग्य का निर्णय करना उचित नहीं है, ज्ञानी-अज्ञानी का निर्णय भी संयोग और संयोगीभावों के आधार पर नहीं किया जा सकता।

ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-३९

८

शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त अधिकार

(गाथा ११३ से गाथा १२७ तक)

अथाखिलद्रव्यभावनोकर्मसंन्यासहेतुभूतशुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकारः कथ्यते ।

वदसमिदिसीलसंजमपरिणामो करणणिग्गहो भावो ।
सो हवदि पायछित्तं अणवरयं चेव कायव्वो ।।११३।।

व्रतसमितिशीलसंयमपरिणामः करणनिग्रहो भावः ।
स भवति प्रायश्चित्तम् अनवरतं चैव कर्त्तव्यः ।।११३।।

निश्चयप्रायश्चित्तस्वरूपाख्यानमेतत् । पंचमहाव्रतपंचसमितिशीलसकलेन्द्रिय वाङ्मनः-कायसंयमपरिणामः पंचेन्द्रियनिरोधश्च स खलु परिणतिविशेषः, प्रायः प्राचुर्येण निर्विकारं

विगत सात अधिकारों में क्रमशः जीव, अजीव, शुद्धभाव, व्यवहारचारित्र, परमार्थ-प्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान और परम-आलोचना की चर्चा हुई। अब इस आठवें अधिकार में शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त की चर्चा करते हैं।

इस अधिकार की पहली और नियमसार की ११३वीं गाथा की उत्थानिका लिखते हुए तात्पर्यवृत्ति टीका में लिखते हैं ह्न

''अब समस्त द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा नोकर्म के संन्यास के हेतुभूत शुद्धनिश्चय-प्रायश्चित्त अधिकार कहा जाता है।''

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो शील संयम व्रत समिति अर करण निग्रहभाव हैं।
सतत् करने योग्य वे सब भाव ही प्रायश्चित्त हैं।।११३।।

व्रत, समिति, शील और संयमरूप परिणाम तथा इन्द्रियनिग्रहरूप भाव प्रायश्चित्त है और वह प्रायश्चित्त निरंतर कर्तव्य है, करने योग्य कार्य है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह निश्चयप्रायश्चित्त के स्वरूप का कथन है। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, शील और सभी इन्द्रियों के तथा मन-वचन-काय के संयमरूप परिणाम एवं पंचेन्द्रिय के निरोधरूप परिणति विशेष प्रायश्चित्त है। प्रायः प्रचुररूप से निर्विकार चित्त ही प्रायश्चित्त है।

चित्तं प्रायश्चित्तम्। अनवरतं चान्तर्मुखाकारपरमसमाधियुक्तेन परमजिनयोगीश्चरेण पापाटवीपावकेन पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहेण सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखा-मणिना परमागममकरंदनिष्यन्दिमुखपद्मप्रभेण कर्तव्य इति।

(मंदाक्रांता)

प्रायश्चित्तं भवति सततं स्वात्मचिंता मुनीनां
मुक्तिं यान्तिस्वसुखरतयस्तेन निर्धूतपापाः।
अन्या चिंता यदि च यमिनां ते विमूढाः स्मरार्त्ताः
पापाः पापं विदधति मुहुः किं पुनश्चित्रमेतत्।।१८०।।

अन्तर्मुखाकार परमसमाधि से युक्त, परमजिनयोगीश्वर, पापरूपी अटवी को जलाने के लिए अग्नि के समान, पाँच इन्द्रियों के विस्तार से रहित, देहमात्र परिग्रह के धारी, सहजवैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणि समान और परमागमरूपी मकरंद (पुष्प रस) झरते हुए मुखवाले पद्मप्रभ को यह निरन्तर करने योग्य है, कर्त्तव्य है।''

उक्त गाथा और उसकी टीका में पंच महाव्रत, पाँच समिति, शील और इन्द्रियों के तथा मन-वचन-काय के संयमरूप परिणामों तथा पंचेन्द्रियों के निरोधरूप परिणति को प्रायश्चित्त कहा है। **यहाँ महाव्रतादि में शुभभावरूप महाव्रतादि को न लेकर वीतरागभावरूप महाव्रतादि को लेना चाहिए; क्योंकि निश्चयप्रायश्चित्त वीतरागभावरूप ही होता है।**

टीका के उत्तरार्द्ध में टीकाकार मुनिराज ने निश्चयप्रायश्चित्तधारी मुनिराज की जो प्रशंसा की है, वह परमवीतरागी मुनिराजों के सम्यक् स्वरूप का ही निरूपण है। उसके साथ स्वयं के नाम को जोड़ देने से ऐसा लगता है कि मुनिराज स्वयं की प्रशंसा कर रहे हैं; परन्तु **वे अपने बहाने परम वीतरागी भावलिंगी सच्चे मुनिराजों के स्वरूप का ही वर्णन कर रहे हैं। उनके उक्त कथन को आत्मश्लाघा के रूप में न देखकर आत्मविश्वास के रूप में ही देखा जाना चाहिए।**

'मेरे मुख से परमागम का मकरंद झरता है' ह्न यह कथन न केवल उनके अध्यात्मप्रेम को प्रदर्शित करता है; अपितु उनके अध्यात्म के प्रति समर्पण भाव को भी सिद्ध करता है।।११३।।

इसके उपरांत टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

मुनिजनों के चित्त में जो स्वात्मा का निरन्तर।
हो रहा है चिन्तवन बस यही प्रायश्चित्त है।।
वे सन्त पावें मुक्ति पर जो अन्य-चिन्तामूढ हों।
कामार्त्त वे मुनिराज बाँधें पाप क्या आश्चर्य है ? ।।१८०।।

कोहादिसगब्भावक्खयपहुदिभावणाए णिग्गहणं।
पायच्छित्तं भणिदं णियगुणचिंता य णिच्छयदो।।११४।।

क्रोधादिस्वकीयभावक्षयप्रभृतिभावनायां निर्ग्रहणम्।
प्रायश्चित्तं भणितं निजगुणचिंता च निश्चयतः।।११४।।

मुनिराजों के चित्त में निरंतर होनेवाला स्वात्मा का चिन्तवन ही प्रायश्चित्त है। निजसुख में रतिवाले वे मुनिराज उक्त प्रायश्चित्त के द्वारा पापों को धोकर मुक्ति प्राप्त करते हैं।

यदि मुनिराजों को अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्य चिन्ता हो, अन्य पदार्थों का ही चिन्तवन हो; तो वे विमूढ, कामार्त्त एवं पापी मुनिराज पुनः पाप को उत्पन्न करते हैं ह्न इसमें क्या आश्चर्य है ?

इस छन्द में अत्यन्त सरल भाषा में यह बात ही कही गई है कि **सन्तों के चित्त में निरन्तर होनेवाला आत्मचिंतन ही प्रायश्चित्त है और वे मुनिराज उक्त प्रायश्चित्त के बल पर पुण्य-पापरूप विकारी भावों को धोकर मुक्ति प्राप्त करते हैं।**

इससे विपरीत बात यह है कि मुनिपद धारण करके भी यदि कोई मुनिराज आत्मचिन्तन छोड़कर अन्य चिन्ताओं में ही उलझे रहे तो वे तत्त्व के संबंध में मूढ ही हैं, लौकिक वाच्छाओं से दुखी हैं; इसप्रकार एक तरह से पुण्य-पापरूप विकारों में लिप्त होने से पाप का ही बंध करते हैं; अतः संसार में ही भटकेंगे, उन्हें मुक्ति की प्राप्ति होना संभव नहीं है। यदि ऐसा होता है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

यहाँ चित्त में एक बात आती है कि भले ही कुछ भी क्यों न हो, पर मुनिराजों के लिए विमूढ, कामार्त्त और पापी कहना कुछ ठीक नहीं लगता; पर क्या करें, मूल छन्द में ही उक्त शब्दों का प्रयोग किया गया है। अतः अनुवाद करनेवाले इसमें क्या कर सकते हैं ?

हमारा कहना तो यही है कि मूल बात तो यही है कि जो लोग आत्मचिन्तन छोड़कर पर की चिन्ता में मग्न रहते हैं, वे मुक्तिमार्ग से च्युत हैं; उन्हें मुक्ति की प्राप्ति संभव नहीं है।।१८०।।

विगत गाथा में निश्चय प्रायश्चित्त की चर्चा करके अब इस गाथा में उसी बात को आगे बढ़ाते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

प्रायश्चित्त क्रोधादि के क्षय आदि की सद्भावना।
अर निजगुणों का चिन्तवन यह नियतनय का है कथन।।११४।।

क्रोध आदि स्वकीय विकारी भावों के क्षयादिक की भावना में रहना और निजगुणों का चिन्तवन करते रहना ही निश्चय से प्रायश्चित्त कहा गया है।

इह हि सकलकर्मनिर्मूलनसमर्थनिश्चयप्रायश्चित्तमुक्तम्। क्रोधादिनिखिलमोहरागद्वेष-विभावस्वभावक्षयकारणनिजकारणपरमात्मस्वभावनायां सत्यां निसर्गवृत्त्या प्रायश्चित्त-मभिहितम् अथवा परमात्मगुणात्मकशुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपसहजज्ञानादिसहजगुणचिंता प्रायश्चित्तं भवतीति।

(शालिनी)

प्रायश्चित्तमुक्तमुच्चैर्मुनीनां कामक्रोधाद्यन्यभावक्षये च।
किं च स्वस्य ज्ञानंसभावना वा सन्तो जानन्त्येदात्मप्रवादे।।१८१।।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ सम्पूर्ण कर्मों को जड़ से उखाड़ देने में समर्थ निश्चयप्रायश्चित्त का स्वरूप कहा गया है। क्रोधादिक समस्त मोह-राग-द्वेषरूप विभावभावों के क्षय के कारणभूत निजकारणपरमात्मा के स्वभाव की भावना होने पर सहजपरिणति के होने के कारण प्रायश्चित्त कहा गया है अथवा परमात्मा के गुणात्मक शुद्ध अन्त:तत्त्वरूप स्वरूप के सहज ज्ञानादिक सहज गुण का चिन्तवन होना प्रायश्चित्त है।''

इस गाथा और उसकी टीका में यह कहा गया है कि **निज गुणों का चिन्तवन और क्रोधादि विकारी भावों के क्षय, क्षयोपशम और उपशम करने की भावना रखना अथवा क्रोधादि भावों के क्षय, क्षयोपशम उपशमरूप से परिणमित होना ही निश्चय प्रायश्चित्त है।।११४।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

कामक्रोध आदिक जितने भी अन्य भाव हैं।
उनके क्षय की अथवा अपने ज्ञानभाव की।।
प्रबल भावना ही को प्रायश्चित्त कहा है।
आत्मप्रवाद पूर्व के ज्ञायक संतगणों ने।।१८१।।

सन्तों ने आत्मप्रवाद नामक पूर्व के आधार से ऐसा जाना है और कहा भी है कि मुनिराजों को कामक्रोधादि अन्य भावों के क्षय की अथवा अपने ज्ञान की उग्र संभावना, सम्यक्भावना ही प्रायश्चित्त है।

उक्त छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि आत्मप्रवाद नामक पूर्व में समागत प्रायश्चित्त की चर्चा में यह कहा गया है कि काम, क्रोध आदि विकारीभावों के क्षय, क्षयोपशम और उपशम करने की उग्र भावना के साथ-साथ **ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा का सम्यक् ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान ही निश्चय प्रायश्चित्त है।।१८१।।**

कोहं खमया माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च ।
संतोसेण य लोहं जयदि खु ए चहुविहकसाए ।।११५।।

क्रोधं क्षमया मानं स्वमार्दवेन आर्जवेन मायां च ।
संतोषेण च लोभं जयति खलु चतुर्विधकषायान् ।।११५।।

चतुष्कषायविजयोपायस्वरूपाख्यानमेतत् । जघन्यमध्यमोत्तमभेदात्क्षमास्तिस्रो भवन्ति । अकारणादप्रियवादिनो मिथ्यादृष्टेरकारणेन मां त्रासयितुमुद्योगो विद्यते, अयमपगतो मत्पुण्येनेति प्रथमा क्षमा । अकारणेन संत्रासकरस्य ताडनवधादिपरिणामोऽस्ति, अयं चापगतो मत्सुकृतेनेति द्वितीया क्षमा । वधे सत्यमूर्तस्य परमब्रह्मरूपिणो ममापकारहानिरिति परम–समरसीभावस्थितिरुत्तमा क्षमा । आभि: क्षमाभि: क्रोधकषायं जित्वा, मानकषायं मार्दवेन च, मायाकषायं चार्जवेण, परमतत्त्वलाभसन्तोषेण लोभकषायं चेति ।

विगत गाथा में कहा गया है कि कामक्रोधादि भावों के क्षय करने संबंधी ज्ञान भावना ही प्रायश्चित्त है और अब इस गाथा में यह कहा जा रहा है कि वे क्रोधादि कैसे जीते जाते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

वे कषायों को जीतते उत्तमक्षमा से क्रोध को।
मान माया लोभ जीते मृदु सरल संतोष से।।११५।।

क्रोध को क्षमा से, मान को स्वयं के मार्दव से, माया को आर्जव से और लोभ को संतोष से ह्न चार प्रकार की कषायों को योगीजन इसप्रकार जीतते हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह चार कषायों को जीतने के उपाय के स्वरूप का व्याख्यान है। जघन्य, मध्यम और उत्तम के भेद से क्षमा तीन प्रकार की होती है। अकारण अप्रिय बोलनेवाले मिथ्यादृष्टियों के द्वारा अकारण ही मुझे तकलीफ पहुँचाने का जो प्रयास हुआ है; वह मेरे पुण्योदय से दूर हुआ है ह्न ऐसा सोचकर क्षमा करना प्रथम (जघन्य) क्षमा है।

अकारण त्रास देनेवाले को मुझे ताड़न करने या मेरा वध (हत्या) करने का जो भाव वर्तता है, वह मेरे सुकृत (पुण्य) से दूर हुआ है ह्न ऐसा सोचकर क्षमा करना द्वितीय (मध्यम) क्षमा है। मेरा वध होने से अमूर्त परमब्रह्मरूप मुझे कुछ भी हानि नहीं होती ह्न ऐसा समझकर परमसमरसीभाव में स्थित रहना उत्तम क्षमा है।

इन तीन प्रकारों द्वारा क्रोध को जीतकर, मार्दवभाव द्वारा मान कषाय को, आर्जवभाव से माया कषाय को और परमतत्त्व की प्राप्तिरूप संतोष से लोभ कषाय को योगीजन जीतते हैं।''

तथा चोक्तं श्री गुणभद्रस्वामिभिः ह्न

(वसंततिलका)

चित्तस्थमप्यनवबुद्ध्य हरेण जाड्यात्
क्रुद्ध्वा बहिः किमपि दग्धमनंगबुद्ध्या ।
घोरामवाप स हि तेन कृतामवस्थां
क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्यहानिः ।।६०।।[१]

उक्त गाथा की टीका में टीकाकार मुनिराज क्षमा को तीन रूपों में प्रस्तुत करते हैं ह्न जघन्य, मध्यम और उत्तम। यद्यपि उक्त तीनों प्रकार की क्षमा सम्यग्दृष्टि ज्ञानियों में ही पाई जाती है; तथापि उनमें जो अन्तर स्पष्ट किया गया है; उस पर जब ध्यान देते हैं तो यह बात स्पष्ट होती है कि यह अन्तर मात्र इस बात का है कि किन परिस्थितियों में किस प्रकार के चिन्तन से उक्त क्षमाभाव प्रगट हुआ है।

जब कोई अज्ञानी किसी ज्ञानी को अकारण त्रास देने लगता है तो ज्ञानी सोचता है कि यह त्रास तो मेरे पुण्योदय से दूर हुआ है या होगा। इसप्रकार के चिन्तन के आधार पर जो क्षमा भाव प्रगट होता है; वह **जघन्य उत्तमक्षमा** है। इसीप्रकार जब वह त्रास अकारण ही ताड़न-मारन की सीमा तक पहुँच जाता है, तब भी जब ज्ञानी उसीप्रकार के चिन्तन से शान्त रहता है, क्षमाभाव धारण किये रहता है तो वह **क्षमा मध्यम क्षमा** है।

किन्तु जब उसीप्रकार की परिस्थितियों में वह यह सोचता है कि जान से मार देने पर भी परमब्रह्मस्वरूप अमूर्त आत्मा की अर्थात् मेरी कोई हानि नहीं होती। जो ज्ञानी इसप्रकार के चिन्तन के आधार पर समताभाव बनाये रखता है, समरसी भाव में स्थित रहता है; तब उस ज्ञानी के उत्तम क्षमा होती है।।११५।।

इसके बाद **'तथा चोक्तं श्री गुणभद्रस्वामिभिः ह्न** तथा श्री गुणभद्र स्वामी द्वारा भी कहा गया है' ह्न ऐसा लिखकर चारों कषायों के परिणाम संबंधी आत्मानुशासन ग्रंथ के चार छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिनमें क्रोध से उत्पन्न होनेवाली हानि को प्रदर्शित करनेवाले पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

अरे हृदय में कामभाव के होने पर भी।
क्रोधित होकर किसी पुरुष को काम समझकर।।
जला दिया हो महादेव ने फिर भी विह्वल।
क्रोधभाव से नहीं हुई है किसकी हानि?।।६०।।

---

१. गुणभद्रस्वामी : आत्मानुशासन, छन्द २१६

(वसंततिलका)

चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं
यत्प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुच्येत्।
क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय
मानो मनागपि हतिं महती करोति।।६१।।[१]

कामवासना अपने चित्त में विद्यमान होने पर भी अपनी जड़बुद्धि के कारण उसे न पहिचान कर शंकर ने क्रुद्ध होकर बाह्य में किसी व्यक्ति को कामदेव समझ कर जला दिया और हृदय में स्थित कामवासना से विह्वल हो उठे। इसीलिए कहा है कि क्रोध के उदय से किसे कार्यहानि नहीं होती ? तात्पर्य यह है कि क्रोधियों के काम तो बिगड़ते ही हैं।

उक्त छन्द में क्रोध कषाय से होनेवाली हानि की चर्चा करके क्रोध न करने की प्रेरणा दी गई है। अपनी बात को बल प्रदान करने के लिए महादेव द्वारा कामदेव को जलाने संबंधी लोकप्रसिद्ध घटना का उदाहरण दिया गया है।

लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि कामदेव की कुचेष्टा से क्रोधित होकर शंकर महादेव ने अपने माथे पर तीसरा नेत्र खोलकर उससे निकली हुई भयंकर ज्वाला से कामदेव को भस्म कर दिया था। ऐसा होने पर भी उसके बाद महादेव को कामभाव से विह्वल होते देखा गया। अत: यहाँ यह कहा जा रहा है कि **जब स्वयं कामभाव से पीड़ित रहे तो फिर काम को जलाने से क्या लाभ हुआ ? क्रोधित होने का क्या परिणाम हुआ ?**

अरे भाई क्रोध से तो सभी की हानि ही होती है, लाभ नहीं।।६०।।

मान कषाय से होनेवाले दोषों का निरूपक दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(वीर)

अरे हस्तगत चक्ररत्न को बाहुबली ने त्याग दिया।
यदि न होता मान उन्हें तो मुक्तिरमा तत्क्षण वरते।।
किन्तु मान के कारण ही वे एक बरस तक खड़े रहे।
इससे होता सिद्ध तनिक सा मान अपरिमित दुख देता।।६१।।

अपने दाहिने हाथ में समागत चक्र को छोड़कर जब बाहुबली ने दीक्षा ली थी, यदि मान कषाय नहीं होती तो वे उसी समय मुक्ति प्राप्त कर लेते; किन्तु वे मान कषाय के कारण चिरकाल तक क्लेश को प्राप्त हुए। इससे सिद्ध होता है कि थोड़ा भी मान बहुत हानि करता है।

---

१. गुणभद्रस्वामी : आत्मानुशासन, छन्द २१७

(अनुष्टुभ्)

भेयं मायामहागर्तान्मिथ्याघनतमोमयात् ।
यस्मिन् लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहयः ।।६२।।[१]

(हरिणी)

वनचरभयाद्धावन दैवाल्लताकुलवालधिः
किल जडतया लोलो वालव्रजेऽविचलं स्थितः ।
बत स चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियोजितः
परिणततृषां प्रायेणैवंविधा हि विपत्तयः ।।६३।।[२]

उक्त छन्द में बाहुबली मुनिराज के उदाहरण के माध्यम से यह सिद्ध किया गया है कि **थोड़ा-सा भी मान चिरकाल तक दुःख भोगने को बाध्य कर देता है ।।६१।।**

माया कषाय से होनेवाले दोषों का निरूपक तीसरे छंद का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(वीर)

अरे देखना सहज नहीं क्रोधादि भयंकर सांपों को ।
क्योंकि वे सब छिपे हुए हैं मायारूपी गर्तों में ।।
मिथ्यातम है घोर भयंकर डरते रहना ही समुचित ।
यह सब माया की महिमा है बचके रहना ही समुचित ।।६२।।

जिस मायारूपी गड्ढे में छिपे क्रोधादि भयंकर सांपों को देखना सहज नहीं है; मिथ्यात्वरूपी घोर अंधकारवाले उस मायारूपी महान गड्ढे से डरते रहना योग्य है ।

इस छन्द में माया कषाय को मिथ्यात्वरूपी घोर अंधकारवाला गड्ढा (गर्त) बताया गया है और साथ में यह भी कहा गया है कि उस मायारूपी गड्ढे में क्रोधादि कषायरूपी भयंकर विषैले सांप छुपे रहते हैं। वह माया क्रोधादिक कषायोंरूपी सांपों का घर है; अतः माया कषाय से सावधान रहना अत्यन्त आवश्यक है ।।६२।।

लोभ कषाय के दोषों का निरूपक चौथे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(वीर)

वनचर भय से भाग रही पर उलझी पूँछ लताओं में ।
दैवयोग से चमर गाय वह मुग्ध पूँछ के बालों में ।।
खड़ी रही वह वहीं मार डाला वनचर ने उसे वहीं ।
इसप्रकार की विकट विपत्ति मिलती सभी लोभियों को ।।६३।।

---

१. गुणभद्रस्वामी : आत्मानुशासन, छन्द २२१ २. वही, छन्द २२३

तथा हि ह्न

(आर्या)

क्षमया क्रोधकषायं मानकषायं च मार्दवेनैव।
मायामार्जवलाभाल्लोभकषायं च शौचतो जयतु ।।१८२।।

वन में रहनेवाले शिकारी भील आदि मनुष्य और शेर आदि मांसाहारी पशुओं के भय से भागती हुई गाय की पूंछ दुर्भाग्य से कांटोंवाली लता में उलझ जाने पर जड़ता के कारण बालों के गुच्छे के प्रति लोभ के वश वह गाय वहीं खड़ी रह गई और अरे रे उस गाय को वनचर द्वारा मार डाला गया। तात्पर्य यह है कि बालों के गुच्छे के लोभ में गाय ने प्राण गंवा दिये। जो लोग लोभ, लालच और तृष्णा के वश हैं, उनकी ऐसी ही दुर्दशा होती है, उन पर ऐसी ही विपत्तियाँ आती रहती हैं।

वन में रहनेवाली नील गायों में कुछ गायों की पूँछ चँवरों जैसी होती है, उनकी पूँछ में सुन्दरतम बालों के गुच्छे होते हैं। बालों के उन गुच्छों से चँवर बनाये जाते हैं। इसीकारण उन गायों को चमरी गाय कहा जाता है।

मांसाहारी जंगली जानवर और भील आदि शिकारी उनके पीछे पड़े रहते हैं। वे बेचारी उनके भय से आकुल-व्याकुल होकर यहाँ-वहाँ भागती रहती हैं। ऐसी ही एक गाय, जिसके पीछे वनचर शिकारी लगे हुए थे; जान बचाकर भाग रही थी। उसकी पूँछ के बाल किसी झाड़ी में उलझ गये। **यदि वह चाहती तो उन बालों की परवाह किये बिना भाग सकती थी; किन्तु अपने सुन्दरतम बालों के मोह में वह वहीं खड़ी रही और शिकारियों की शिकार हो गई।**

वनवासी सन्तों को ऐसी घटनायें देखने को प्राय: प्रतिदिन मिलती रहती हैं। अत: आचार्यदेव ने उक्त घटना के माध्यम से लोभ कषाय की दुखमयता को स्पष्ट किया है। उनका कहना यह है कि यह बात किसी एक गाय की नहीं है। **सभी लोभियों की प्राय: ऐसी ही दुर्दशा होती है। अत: लोभ कषाय जितनी जल्दी छोड़ दी जावे, उतना ही अच्छा है।**

इसप्रकार यहाँ टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने **आचार्य गुणभद्र के आत्मानुशासन में समागत चार कषायों की निरर्थकता बतानेवाले छन्दों में से चार कषाय संबंधी चार छन्द प्रस्तुत कर दिये हैं; जो अत्यन्त उपयोगी और प्रसंगानुरूप हैं।।६३।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **तथाहि** लिखकर एक छन्द स्वयं भी लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(सोरठा)

क्षमाभाव से क्रोध, मान मार्दव भाव से।
जीतो माया-लोभ आर्जव एवं शौच से।।१८२।।

उक्किट्ठो जो बोहो णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं।
जो धरइ मुणी णिच्चं पायच्छित्तं हवे तस्स।।११६।।

उत्कृष्टो यो बोधो ज्ञानं तस्यैवात्मनश्चित्तम्।
यो धरति मुनिर्नित्यं प्रायश्चित्तं भवेत्तस्य।।११६।।

अत्र शुद्धज्ञानस्वीकारवत: प्रायश्चित्तमित्युक्तम्। उत्कृष्टो यो विशिष्टधर्म: स हि परमबोध: इत्यर्थ:। बोधो ज्ञानं चित्तमित्यनर्थान्तरम्। अत एव तस्यैव परमधर्मिणो जीवस्य प्राय: प्रकर्षेण चित्तं। य: परमसंयमी नित्यं तादृशं चित्तं धत्ते, तस्य खलु निश्चयप्रायश्चित्तं भवतीति।

क्रोध कषाय को क्षमा से, मान कषाय को मार्दव से, माया कषाय को आर्जव से और लोभ कषाय को शौच से जीतो।

इस छन्द में चारों कषायों के जीतने की बात कही है। कहा है कि **क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव से और लोभ को शौचधर्म से जीतना चाहिए।।१८२।।**

विगत गाथा में चारों कषायों को जीतने का उपाय बताकर अब इस गाथा में कहते हैं कि शुद्धज्ञान को स्वीकार करनेवाले को प्रायश्चित्त होता है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

उत्कृष्ट निज अवबोध अथवा ज्ञान अथवा चित्त जो।
वह चित्त जो धारण करे वह संत ही प्रायश्चित्त है।।११६।।

जो मुनिराज अनंतधर्मवाले उस त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा का उत्कृष्टबोध, ज्ञान अथवा चित्त को नित्य धारण करते हैं; उन मुनिराज को प्रायश्चित्त होता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ शुद्धज्ञान को स्वीकार करनेवाले को प्रायश्चित्त है ह्न ऐसा कहा है।

जो विशेष धर्म उत्कृष्ट है, वस्तुत: वही परमबोध है ह्न ऐसा अर्थ है। बोध, ज्ञान और चित्त अलग-अलग पदार्थ नहीं हैं, एक ही हैं। ऐसा होने से ही उस परमधर्मी जीव को प्रायश्चित्त है अर्थात् उत्कृष्टरूप से चित्त है, ज्ञान है। जो परमसंयमी इसप्रकार के चित्त को धारण करता है, उसे वस्तुत: निश्चयप्रायश्चित्त होता है।''

उक्त गाथा में यह कहा गया है कि उत्कृष्ट ज्ञान का नाम ही चित्त है; क्योंकि ज्ञान, बोध और चित्त एकार्थवाची ही हैं। प्राय: शब्द उत्कृष्टता का सूचक है; इसप्रकार उत्कृष्ट ज्ञान ही प्रायश्चित्त है। यही कारण है कि उत्कृष्टज्ञान को धारण करनेवाले परमसंयमी सन्तों के ही निश्चय-प्रायश्चित्त होता है।।११६।।

(शालिनी)

यः शुद्धात्मज्ञानसंभावनात्मा प्रायश्चित्तमत्र चास्त्येव तस्य ।
निर्धूतांहः संहतिं तं मुनीन्द्रं वन्दे नित्यं तद्गुणप्राप्तयेऽहम् ।।१८३।।

किं बहुणा भणिएण दु वरतवचरणं महेसिणं सव्वं ।
पायच्छित्तं जाणह अणेयकम्माण खयहेऊ ।।११७।।

किं बहुना भणितेन तु वरतपश्चरणं महर्षीणां सर्वम् ।
प्रायश्चित्तं जानीह्यनेककर्मणां क्षयहेतुः ।।११७।।

इसके बाद टीकाकार एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

शुद्धात्मा के ज्ञान की संभावना जिस संत में।
आत्मरत उस सन्त को तो नित्य प्रायश्चित्त है।।
धो दिये सब पाप अर निज में रमे जो संत नित।
मैं नमूँ उनको उन गुणों को प्राप्त करने के लिए।।१८३।।

इस लोक में जो मुनिराज शुद्धात्मज्ञान की सम्यक् भावना रखते हैं; उन मुनिराज को प्रायश्चित्त है ही। जिन्होंने पापसमूह को धो डाला है, उन मुनिराज को उनमें उपलब्ध गुणों की प्राप्ति हेतु मैं नमस्कार करता हूँ।

इस कलश में दो बातें कही गई हैं। प्रथम तो यह कि जो वीतरागी संत शुद्धात्मज्ञान की सम्यक् भावना रखते हैं; उनके प्रायश्चित्त सदा ही है और दूसरी बात यह कि उन जैसे गुण मुझे भी प्राप्त हो जावें ह्न इस भावना से सम्पूर्ण पाप भावों से रहित भावलिंगी सन्तों को मैं नमस्कार करता हूँ।।१८३।।

विगत गाथा में 'आत्मज्ञान एवं आत्मध्यान ही प्रायश्चित्त है' ह्न यह कहने के उपरान्त अब इस गाथा में यह कहते हैं कि मुनियों का तपश्चरण ही प्रायश्चित्त है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

कर्मक्षय का हेतु जो है ऋषिगणों का तपचरण।
वह पूर्ण प्रायश्चित्त है इससे अधिक हम क्या कहें।।११७।।

अधिक कहने से क्या लाभ है ? इतना कहना ही पर्याप्त है कि अनेक कर्मों के क्षय का हेतु जो महर्षियों का तपश्चरण है, उस सभी को प्रायश्चित्त जानो।

इह हि परमतपश्चरणनिरतपरमजिनयोगीश्वराणां निश्चयप्रायश्चित्तम्। एवं समस्ताचरणानां परमाचरणमित्युक्तम्। बहुभिरसत्प्रलापैरलमलम्। पुनः सर्वं निश्चयव्यवहारात्मकपरमतपश्चरणात्मकं परमजिनयोगिनामासंसारप्रतिबद्धद्रव्यभावकर्मणां निरवशेषेण विनाशकारणं शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्तमिति हे शिष्य त्वं जानीहि।

(द्रुतविलम्बित)

अनशनादितपश्चरणात्मकं सहजशुद्धचिदात्मविदामिदम्।
सहजबोधकलापरिगोचरं सहजतत्त्वमघक्षयकारणम्।।१८४।।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ परमतपश्चरण में लीन परमजिनयोगीश्वरों को निश्चयप्रायश्चित्त है। इसप्रकार निश्चयप्रायश्चित्त ही समस्त आचरणों में परम आचरण है ह्न ऐसा कहा है।

बहुत असत् प्रलापों से बस होओ, बस होओ। निश्चय-व्यवहार स्वरूप परम-तपश्चरणात्मक, परमजिनयोगियों को अनादि संसार से बंधे हुए द्रव्य-भावकर्मों के सम्पूर्ण विनाश का कारण, एकमात्र शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त है ह्न इसप्रकार हे शिष्य तू जान।''

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि अधिक विस्तार में जाने से क्या लाभ है और एक ही बात बार-बार दुहराने से भी क्या उपलब्ध होनेवाला है? समझने की बात तो एकमात्र यही है कि मुनि-अवस्था में होनेवाली तीन कषाय के अभावरूप वीतरागपरिणति और शुद्धोपयोगरूप धर्म ही निश्चयप्रायश्चित्त है।।११७।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पाँच छन्द लिखते हैं। उनमें से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

अनशनादि तप चरणमय और ज्ञान से गम्य।
अघक्षयकारण तत्त्वनिज सहजशुद्धचैतन्य।।१८४।।

अनशनादि तपश्चरणात्मक सहज शुद्ध चैतन्यस्वरूप को जानने वालों को सहज ज्ञानकला के गोचर सहजतत्त्वरूप भगवान आत्मा पुण्य-पाप के क्षय का कारण है।

ध्यान रहे यहाँ अघ शब्द का प्रयोग पुण्य और पाप ह्न दोनों के अर्थ में किया गया है; क्योंकि शुद्धात्मा के ध्यानरूप निश्चयप्रायश्चित्त पुण्य और पाप ह्न दोनों का नाश करनेवाला है। जिसप्रकार **क** का अर्थ पृथ्वी, **ख** का अर्थ आकाश होता है; उसीप्रकार **घ** का अर्थ भगवान आत्मा होता है। **घ** अर्थात् भगवान आत्मा की विराधना का जो भी कारण बने, वह सभी अघ हैं। चूंकि पुण्य और पाप दोनों ही आत्मा के विराधक भाव हैं; अतः वे दोनों ही अघ हैं। **यद्यपि सामान्य लोक में अघ शब्द का अर्थ पाप किया जाता है; तथापि अध्यात्मलोक में अघ का अर्थ और पुण्य और पाप दोनों ही होता है।।१८४।।**

(शालिनी)

प्रायश्चित्तं ह्युत्तमानामिदं स्यात् स्वद्रव्येऽस्मिन् चिन्तनं धर्मशुक्लम् ।
कर्मव्रातध्वान्तसद्बोधतेजोलीनं स्वस्मिन्निर्विकारे महिम्नि ।।१८५।।

(मंदाक्रांता)

आत्मज्ञानाद्भवति यमिनामात्मलब्धिः क्रमेण
ज्ञानज्योति–र्निहतकरण–ग्रामघोरान्धकारा ।
कर्मारण्योद्भवदव–शिखाजालकाना–मजस्रं
प्रध्वंसेऽस्मिन् शमजलमयीमाशु धारां वमन्ती ।।१८६।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

अरे प्रायश्चित्त उत्तम पुरुषों को जो होता।
धर्मध्यानमय शुक्लध्यानमय चिन्तन है वह ।।
कर्मान्धकार का नाशक यह सद्बोध तेज है।
निर्विकार अपनी महिमा में लीन सदा है।।१८५।।

उत्तम पुरुषों को होनेवाला यह प्रायश्चित्त वस्तुतः स्वद्रव्य का धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप चिन्तन है, कर्मसमूह के अंधकार को नष्ट करने के लिए सम्यग्ज्ञानरूपी तेज है और अपनी निर्विकार महिमा में लीनतारूप है।

उक्त छन्द में स्वद्रव्य के चिन्तनात्मक धर्मध्यान और शुक्लध्यान को प्रायश्चित्त कहा है; जबकि महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में चिन्तन के निरोध को ध्यान कहा है। यद्यपि धर्मध्यान के सभी भेद चिन्तनात्मक ही हैं, तथापि शुक्लध्यान तो मा चिंतह[1] ह्न चिन्तवन मत करो के रूप में प्रतिष्ठित है। एक बात और भी है कि यहाँ प्रायश्चित्त को चिन्तनरूप कहकर भी निज महिमा में लीनतारूप भी कहा है। यह प्रायश्चित्त की महिमा वाचक छन्द है; अतः निश्चय–व्यवहार प्रायश्चित्त की संधि बिठाकर यथायोग्य समझ लेना चाहिए।।१८५।।

तीसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

आत्म की उपलब्धि होती आतमा के ज्ञान से।
मुनिजनों के करणरूपी घोरतम को नाशकर ।।
कर्मवन उद्भव भवानल नाश करने के लिए।
वह ज्ञानज्योति सतत् शमजलधार को है छोड़ती ।।१८६।।

---

१. द्रव्यसंग्रह, गाथा ५६

(उपजाति)

अध्यात्मशास्त्रामृतवारिराशेर्मयोद्धृता संयमरत्नमाला।
बभूव या तत्त्वविदां सुकण्ठे सालंकृतिर्मुक्तिवधूधवानाम् ।।१८७।।

संयमी जनों को आत्मज्ञान से क्रमश: आत्मोपलब्धि होती है। उस आत्मोपलब्धि ने ज्ञानज्योति द्वारा इन्द्रियसमूह के घोर अंधकार का नाश किया है और वह आत्मोपलब्धि कर्मवन से उत्पन्न भवरूपी दावानल की शिखाओं के समूह का नाश करने के लिए उस पर निरंतर समतारूपी जल की धारा को तेजी से छोड़ती है, बरसाती है।

उक्त छन्द का सार यह है कि निश्चयप्रायश्चित्त आत्मोपलब्धिरूप है और आत्मोपलब्धि त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और अनुभवरूप है।

यह आत्मोपलब्धि अर्थात् निश्चयप्रायश्चित्त पंचेन्द्रिय भोगों संबंधी घोर अंधकार का नाशक है और कर्मरूपी भयंकर जंगल में लगे हुए संसाररूपी दावानल की शिखाओं को शान्त करनेवाला है तथा उक्त दावानल अर्थात् भयंकर आग को बुझाने के लिए मूसलाधार बरसात है; क्योंकि जंगल में लगी आग को मूसलाधार बरसात के अलावा कौन बुझा सकता है ? तात्पर्य यह है कि निश्चयप्रायश्चित्तरूप **आत्मोपलब्धि ही विषय-कषाय की आग को बुझा सकती है,** अन्य कोई नहीं ।।१८६ ।।

चौथे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(भुजंगप्रयात)

जिनशास्त्ररूपी अमृत उदधि से।
बाहर हुई संयम रत्नमाला।।
मुक्तिवधू वल्लभ तत्त्वज्ञानी।
के कण्ठ की वह शोभा बनी है।।१८७।।

अध्यात्मशास्त्ररूपी अमृतसागर में से मेरे द्वारा जो संयमरूपी रत्नमाला निकाली गई है, वह रत्नमाला मुक्तिवधू के वल्लभ तत्त्वज्ञानियों के सुन्दर कण्ठ का आभूषण बनी है।

इस छन्द में आचार्यदेव कह रहे हैं कि **अध्यात्मशास्त्रों के गंभीर अध्ययन से, उसमें प्रतिपादित भगवान आत्मा के स्वरूप को जानकर जो लोग उसमें ही अपनापन स्थापित करते हैं; वे तत्त्वज्ञानी जीव निश्चयरूप से परमसंयम को धारण कर मुक्ति को प्राप्त कर अनंतकाल तक अनंत अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग करते हैं।।१८७।।**

पाँचवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(उपेन्द्रवज्रा)

नामामि नित्यं परमात्मतत्त्वं मुनीन्द्रचित्ताम्बुजगर्भवासम् ।
विमुक्तिकांतारतसौख्यमूलं विनष्टसंसारद्रुममूलमेतत् ।।१८८।।

णंताणंतभवेण समज्जियसुहअसुहकम्मसंदोहो ।
तवचरणेण विणस्सदि पायच्छित्तं तवं तम्हा ।।११८।।

अनन्तानन्तभवेन समर्जितशुभाशुभकर्मसंदोहः ।
तपश्चरणेन विनश्यति प्रायश्चित्तं तपस्तस्मात् ।।११८।।

(भुजंगप्रयात)

भवरूप पादप जड़ का विनाशक।
मुनीराज के चित कमल में रहे नित ।।
अर मुक्तिकांतारतिजन्य सुख का।
है मूल आतम उसको नमन हो ।।१८८।।

मुनिराजों के चित्तकमल के भीतर जिसका आवास है, जो मुक्तिरूपी कान्ता की रति के सुख का मूल है और जिसने संसाररूपी वृक्ष के मूल (जड़) का नाश किया है; ऐसे इस परमात्मतत्त्व को मैं नित्य नमन करता हूँ।

उक्त छन्द में; जिसका आवास मुनिराजों के चित्तकमल है; उस निजात्मारूप परमात्मतत्त्व को नमस्कार किया गया है; क्योंकि सभी मुनिराज निरन्तर उसका ही ध्यान करते हैं। उनके ध्यान का एकमात्र ध्येय वह भगवान आत्मा ही है।

वह परमात्मतत्त्व मुक्तिकान्ता की रति के सुख का मूल है। तात्पर्य यह है कि उसमें अपनापन स्थापित करने से, उसके ज्ञान-श्रद्धानपूर्वक उसका ध्यान करने से मुक्ति में प्राप्त होनेवाले अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है। उक्त परमात्मतत्त्व के श्रद्धान, ज्ञान और ध्यान से संसाररूपी वृक्ष की तो जड़ ही उखड़ जाती है; अत: एकमात्र वही श्रद्धेय है, परमज्ञान का ज्ञेय और ध्यान का ध्येय भी वही है ।।१८८।।

विगत गाथा में तपश्चरण को प्रायश्चित्त कहा था। उसी बात को इस गाथा में भी कह रहे हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

अनंत भव में उपार्जित सब करमराशि शुभ-अशुभ।
भसम हो तपचरण से अतएव तप प्रायश्चित्त है ।।११८।।

विगत अनन्तानन्त भवों में उपार्जित शुभाशुभ कर्मराशि तपश्चरण से नष्ट होती है; इसलिए तप ही प्रायश्चित्त है।

अत्र प्रसिद्धशुद्धकारणपरमात्मतत्त्वे सदान्तर्मुखतया प्रतपनं यत्तत्तपः प्रायश्चित्तं भवतीत्युक्तम्। आसंसारत एव समुपार्जितशुभाशुभकर्मसंदोहो द्रव्यभावात्मकः पंचसंसारसंवर्धनसमर्थः परमतपश्चरणेन भावशुद्धिलक्षणेन विलयं याति, ततः स्वात्मानुष्ठाननिष्ठं परमतपश्चरणमेव शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्तमित्यभिहितम्।

(मंदाक्रांता)

प्रायश्चित्तं न पुनरपरं कर्म कर्मक्षयार्थं
प्राहुः सन्तस्तप इति चिदानंदपीयूषपूर्णम्।
आसंसारा–दुपचित–महत्कर्मकान्तारवह्नि–
ज्वालाजालं शमसुखमयं प्राभृतं मोक्षलक्ष्म्याः ।।१८९।।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ यह कहा गया है कि प्रसिद्ध शुद्धकारणपरमात्मतत्त्व में सदा अन्तर्मुख रहकर जो प्रतपन होता है, वह तप है और वह तप ही प्रायश्चित्त है।

भावशुद्धि लक्षणवाले परमतपश्चरण से पंचपरावर्तनरूप पाँच प्रकार के संसार का संवर्धन करने में समर्थ अनादि संसार से ही उपार्जित द्रव्यभावात्मक शुभाशुभ कर्मों का समूह विलय को प्राप्त होता है; इसलिए स्वात्मानुष्ठाननिष्ठ (निज आत्मा के आचरण में लीन) परमतपश्चरण ही शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त है ह्न ऐसा कहा गया है।''

यहाँ मात्र यही कहा गया है कि तप से शुभाशुभ कर्मों का नाश होता है और शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है; इसलिए परमतप ही निश्चयप्रायश्चित्त है।।११८।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(भुजंगप्रयात)

रे रे अनादि संसार से जो
समृद्ध कर्मों का वन भयंकर।
उसे भस्म करने में है सबल जो
अर मोक्षलक्ष्मी की भेंट है जो।।
शमसुखमयी चैतन्य अमृत
आनन्दधारा से जो लबालब।
ऐसा जो तप है उसे संतगण सब
प्रायश्चित कहते हैं निरन्तर।।१८९।।

जो तप अनादि संसार से समृद्ध कर्मों की महा अटवी को जला देने के लिए अग्नि की ज्वाला के समूह समान है, समतारूपी सुख से सम्पन्न है और मोक्षलक्ष्मी के लिए भेंटस्वरूप

अप्पसरूवालंबणभावेण दु सव्वभावपरिहारं।
सक्कदि कादुं जीवो तम्हा झाणं हवे सव्वं।।११९।।

आत्मस्वरूपालम्बनभावेन तु सर्वभावपरिहारम्।
शक्नोति कर्तुं जीवस्तस्माद् ध्यानं भवेत् सर्वम्।।११९।।

अत्र सकलभावानामभावं कर्तुं स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानमेव समर्थमित्युक्तम्।

अखिलपरद्रव्यपरित्यागलक्षणलक्षिताक्षुण्णनित्यनिरावरणसहजपरमपारिणामिकभाव-भावनया भावान्तराणां चतुर्णामौदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकानां परिहारं कर्तुमत्या-सन्नभव्यजीवः समर्थो यस्मात्, तत एव पापाटवीपावक इत्युक्तम्। अतः पंचमहाव्रतपंच-समितित्रिगुप्तिप्रत्याख्यानप्रायश्चित्तालोचनादिकं सर्वं ध्यानमेवेति।

है; उस चिदानन्दरूपी अमृत से भरे हुए तप को संत कर्मक्षय करनेवाला प्रायश्चित्त कहते हैं; अन्य किसी कार्य को प्रायश्चित्त नहीं कहते।

इस छन्द में भी गाथा की बात दुहराते हुए यही कहा गया है कि चिदानन्दरूपी अमृत से भरा हुआ तप ही निश्चयप्रायश्चित्त है; क्योंकि वह कर्मों का नाशक है, समतासुख और मोक्षरूपी लक्ष्मी को देनेवाला है।।१८९।।

विगत गाथाओं में तप को प्रायश्चित्त स्थापित करने के उपरान्त अब इस गाथा में ध्यानरूप तप को ही प्रायश्चित्त कह रहे हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

निज आतमा के ध्यान से सब भाव के परिहार की।
इस जीव में सामर्थ्य है निजध्यान ही सर्वस्व है।।११९।।

निजात्मस्वरूप के अवलम्बन से यह आत्मा सभी अन्य भावों का परिहार कर सकता है; इसलिए ध्यान ही सर्वस्व (सबकुछ) है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ स्वात्मा के आश्रयरूप निश्चयधर्मध्यान ही सभी भावों का अभाव करने में समर्थ है ह्न ऐसा कहा है। समस्त परद्रव्यों के परित्यागरूप लक्षण से लक्षित, अखण्ड, नित्य, निरावरण, सहज, परमपारिणामिकभाव की भावना से; औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ह्न इन चार भावान्तरों का परिहार करने में समर्थ अति-आसन्न भव्यजीव को पापरूपी अटवी को जलानेवाली अग्नि कहा है। ऐसा होने से यह सहज सिद्ध है कि पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, प्रायश्चित्त, आलोचना आदि सब ध्यान ही हैं।''

(मंदाक्रांता)

य: शुद्धात्मन्यविचलमना: शुद्धमात्मानमेकं
नित्यज्योति:प्रतिहततम:पुंजमाद्यन्तशून्यम् ।
ध्यात्वाजस्रं परमकलया सार्धमानन्दमूर्तिं
जीवन्मुक्तो भवति तरसा सोऽयमाचारराशि: ।।१९०।।

परमपारिणामिकभावरूप निज भगवान आत्मा के सम्यक् ज्ञान और उसमें ही अपनेपन के श्रद्धानपूर्वक होनेवाले धर्मध्यानरूप शुद्धभाव ही निश्चयप्रायश्चित्त हैं।

ध्यान रहे कि इस गाथा की टीका में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि **एकमात्र परम-पारिणामिकभाव को छोड़कर शेष सभी भाव परभाव हैं। औदयिकभाव तो परभाव हैं ही, किन्तु धर्मरूप औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकभाव भी परभाव हैं; क्योंकि उनके आश्रय से, उनमें अपनापन स्थापित करने से, उनका ध्यान करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं होती; अत: उनके आश्रय से मोक्ष की भी प्राप्ति नहीं होती। यद्यपि वे प्राप्त करने की अपेक्षा से तो उपादेय हैं, पर ध्यान के ध्येय नहीं हैं।**

इस सब कथन का सार यह है कि उक्त परमभावरूप निजकारणपरमात्मा के ध्यान में सभी धर्म समा जाते हैं; अत: उक्त ध्यान ही निश्चयप्रायश्चित्त है।।११९।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

परमकला युत शुद्ध एक आनन्दमूर्ति है।
तमनाशक जो नित्यज्योति आद्यन्त शून्य है।।
उस आतम को जो भविजन अविचल मनवाला।
ध्यावे तो वह शीघ्र मोक्ष पदवी को पाता।।१९०।।

आदि-अंत रहित और परमकला सहित, नित्यज्योति द्वारा अंधकार के समूह का नाशक, एक, शुद्ध और आनन्दमूर्ति आत्मा को जो जीव शुद्ध आत्मा में अविचल मनवाला होकर निरंतर ध्याता है; वह चारित्रवान जीव शीघ्र जीवन्मुक्त होता है।

इस छन्द में मात्र इतना ही कहा है कि जो भव्यजीव शुद्ध आत्मा में अटूट श्रद्धा रखनेवाला है; वह भव्यजीव जब आदि-अंतरहित, आनन्द मूर्ति एक आत्मा का ध्यान करता है तो निश्चितरूप से अति शीघ्र मुक्तिपद प्राप्त करता है।।१९०।।

विगत गाथा में यह कहा था कि ध्यान ही प्रायश्चित्त है और अब इस गाथा में यह कह रहे हैं कि आत्मा का ध्यान करनेवाले के नियम से नियम (चारित्र) होता है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

सुहअसुहवयणरयणं रायादीभाववारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु णियमं हवे णियमा ।।१२०।।

शुभाशुभवचनरचनानां रागादिभाववारणं कृत्वा ।
आत्मानं यो ध्यायति तस्य तु नियमो भवेन्नियमात् ।।१२०।।

शुद्धनिश्चयनियमस्वरूपाख्यानमेतत् । यः परमतत्त्वज्ञानी महातपोधनो दैनं संचित-सूक्ष्मकर्मनिर्मूलनसमर्थनिश्चयप्रायश्चित्तपरायणो नियमितमनोवाक्कायत्वाद्भववल्ली-मूलकंदात्मकशुभाशुभस्वरूपप्रशस्ताप्रशस्तसमस्तवचनरचनानां निवारणं करोति, न केवल-मासां तिरस्कारं करोति किन्तु निखिलमोहरागद्वेषादिपरभावानां निवारणं च करोति, पुनर-नवरतमखंडाद्वैतसुन्दरानन्दनिष्यन्द्यनुपमनिरंजननिजकारणपरमात्मतत्त्वं नित्यं शुद्धोपयोगबलेन संभावयति, तस्य नियमेन शुद्धनिश्चयनियमो भवतीत्यभिप्रायो भगवतां सूत्रकृतामिति ।

(हरिगीत)

शुभ-अशुभ रचना वचन वा रागादिभाव निवारि के।
जो करें आतम ध्यान नर उनके नियम से नियम है ।।१२०।।

शुभाशुभवचनरचना और रागादिभावों का निवारण करके जो भव्यजीव आत्मा को ध्याता है, उसे नियम से नियम होता है ।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह शुद्धनिश्चयनय के स्वरूप का कथन है। जो परमतत्त्वज्ञानी महातपोधन सदा संचित सूक्ष्म कर्मों को मूल से उखाड़ देने में समर्थ निश्चयप्रायश्चित्त में परायण रहता हुआ मन-वचन-काय को संयमित किया होने से संसाररूपी बेल के मूलकंदात्मक शुभाशुभस्वरूप समस्त प्रशस्त-अप्रशस्त वचन रचनाओं का निवारण करता है; केवल उस वचनरचना का ही तिरस्कार नहीं करता; किन्तु समस्त मोह-राग-द्वेषादि भावों का निवारण करता है और अनवरतरूप से अखण्ड, अद्वैत, झरते हुए सुन्दर आनन्दवाले, अनुपम, निरंजन निजकारण-परमात्मतत्त्व की सदा शुद्धोपयोग के बल से संभावना करता है, सम्यक् भावना करता है; उस महातपोधन को नियम से शुद्धनिश्चयनियम है ह्न ऐसा भगवान सूत्रकार का अभिप्राय है।''

ग्रन्थ के आरम्भ में ही नियम के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए **तीसरी गाथा में कहा गया था कि नियम से करने योग्य जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं, वे ही नियम हैं।**

यहाँ इस गाथा में कहा जा रहा है कि शुभाशुभवचनरचना का और रागादिभावों का निवारण करके अपने भगवान आत्मा का ध्यान करना ही नियम है।

उक्त दोनों बातों में कोई विशेष अन्तर नहीं है; क्योंकि निज भगवान आत्मा की

(हरिणी)

वचनरचनां त्यक्त्वा भव्यः शुभाशुभलक्षणां
सहजपरमात्मानं नित्यं सुभावयति स्फुटम् ।
परमयमिनस्तस्य ज्ञानात्मनो नियमादयं
भवति नियमः शुद्धो मुक्त्यंगनासुखकारणम् ।।१९१।।

(मालिनी)

अनवरतमखंडाद्वैतचिन्निर्विकारे
निखिलनयविलासो न स्फुरत्येव किंचित् ।
अपगत इह यस्मिन् भेदवादस्समस्तः
तमहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि ।।१९२।।

आराधना का नाम ही सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है और आत्मा का ध्यान भी तो वीतरागभाव रूप है, चारित्ररूप है, चारित्रगुण की पर्याय है, स्वात्मा में ज्ञान की स्थिरतारूप है।

यहाँ प्रायश्चित्ताधिकार होने से ध्यान को ही निश्चयप्रायश्चित्त बताया जा रहा है और नियम की चर्चा भी उक्त संदर्भ में ही है। अतः जिसप्रकार आत्मध्यान निश्चयप्रायश्चित्त है; उसीप्रकार निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप नियम भी निश्चयप्रायश्चित्त है ।।१२०।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज चार छन्द लिखते हैं; जिनमें पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो भव्य भावें सहज सम्यक् भाव से परमात्मा।
ज्ञानात्मक उस परम संयमवंत को आनन्दमय ।।
शिवसुन्दरी के सुक्ख का कारण परमपरमातमा।
के लक्ष्य से सद्भावमय शुधनियम होता नियम से ।।१९१।।

जो भव्यजीव शुभाशुभवचनरचना को छोड़कर सदा स्फुटरूप से सहज परमात्मा को सम्यक् प्रकार से भाता है; उस ज्ञानात्मक परमसंयमी को मुक्ति सुन्दरी के सुख का कारणरूप यह शुद्धनियम नियम से होता है।

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि जो भव्यजीव वचन विकल्पों से विरक्त हो निज भगवान आत्मा की आराधना करता है; उस परमसंयमी संत को मुक्ति प्राप्त करानेवाला शुद्धनियम अर्थात् निश्चयप्रायश्चित्त या ध्यान नियम से होता है।।१९१।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

इदं ध्यानमिदं ध्येयमयं ध्याता फलं च तत् ।
एभिर्विकल्पजालैर्यन्निर्मुक्तं तन्नमाम्यहम् ।।१९३।।
भेदवादाः कदाचित्स्युर्यस्मिन् योगपरायणे ।
तस्य मुक्तिर्भवेन्नो वा को जानात्यार्हते मते ।।१९४।।

(हरिगीत)

जो अनवरत अद्वैत चेतन निर्विकारी है सदा।
उस आत्म को नय की तरंगें स्फुरित होती नहीं ।।
विकल्पों से पार एक अभेद जो शुद्धातमा।
हो नमन, वंदन, स्तवन अर भावना हो भव्यतम ।।१९२।।

जो अनवरतरूप से अर्थात् निरन्तर अखण्ड, अद्वैत चैतन्य के कारण निर्विकार है; उस भगवान आत्मा को नयों का विलास किंचित् मात्र भी स्फुरित नहीं होता; जिसमें समस्त भेदवाद अर्थात् नय संबंधी विकल्प दूर हुए हैं; उस परमपदार्थ को मैं नमन करता हूँ, मैं उसका स्तवन करता हूँ और मैं उसे भलीप्रकार से भाता हूँ।

उक्त छन्द में यह कहा गया है कि अखण्ड, अद्वैत और निर्विकारी चेतनतत्त्वरूप भगवान आत्मा में नयों का विलास रंचमात्र भी नहीं है; क्योंकि वह तो नय विकल्पों से पार है। ऐसे भगवान आत्मा को मैं नमन करता हूँ, उसका स्तवन करता हूँ और उसकी भावना भाता हूँ।

तात्पर्य यह है कि नमन करने योग्य, स्तवन करने योग्य एवं भावना भाने योग्य एकमात्र निज भगवान आत्मा ही है; क्योंकि उसके आश्रय से ही बंध का अभाव होता है; अन्य किसी को नमन करने से, उसकी वंदना करने से, उसकी भावना भाने से बंध का अभाव नहीं होता, अपितु बंध ही होता है।।१९२।।

तीसरे व चौथे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

यह ध्यान है यह ध्येय है और यह ध्याता अरे।
यह ध्यान का फल इसतरह के विकल्पों के जाल से ।।
जो मुक्त है श्रद्धेय है अर ध्येय एवं ध्यान है।
उस परम आतमतत्त्व को मम नमन बारंबार है ।।१९३।।
त्रिविध योगों में परायण योगियों को कदाचित्।
हो भेद की उलझन अरे बहु विकल्पों का जाल हो ।।
उन योगियों की मुक्ति होगी या नहीं कैसे कहें।
कौन जाने क्या कहे ह्न यह समझ में आता नहीं ।।१९४।।

कायाईपरदव्वे थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं।
तस्य हवे तणुसग्गं जो झायइ णिव्वियप्पेण ।।१२१।।

कायादिपरद्रव्ये स्थिरभावं परिहृत्यात्मानम्।
तस्य भवेत्तनूत्सर्गो यो ध्यायति निर्विकल्पेन ।।१२१।।

निश्चयकायोत्सर्गस्वरूपाख्यानमेतत्। सादिसनिधनमूर्तविजातीयविभावव्यंजन-पर्यायात्मकः स्वस्याकारः कायः। आदिशब्देन क्षेत्रवास्तुकनकरमणीप्रभृतयः। एतेषु सर्वेषु

यह ध्यान है, यह ध्येय है, यह ध्याता है और यह ध्यान का फल है ह्न ऐसे विकल्पजालों से जो मुक्त है, उस परमात्मतत्त्व को मैं नमन करता हूँ।

जिस योगपरायण योगी को कदाचित् भेदवाद उत्पन्न होता है; उसकी आर्हतमत में मुक्ति होगी या नहीं होगी ह्न यह कौन जानता है ?

उक्त छन्दों में यह कहा गया है कि ध्यान, ध्याता और ध्येय और ध्यान का फल ह्न इन विकल्पों से आत्मध्यान नहीं होता, निश्चयप्रायश्चित्त भी नहीं होता; क्योंकि निश्चयप्रायश्चित्त या निश्चयधर्मध्यान तो निर्विकल्पदशा का नाम है। इसलिए अब उक्त विकल्पजाल से मुक्त परमात्मतत्त्व को मैं नमस्कार करता हूँ, उसे ही ध्यान का ध्येय जानता हूँ, मानता हूँ।

दूसरे छन्द में भेदविकल्पों में उलझे सन्तों को मुक्ति होगी या नहीं ह्न यह कहकर यह नहीं कहा कि हम नहीं जानते क्या होगा ? अपितु यही कहा है कि यह तो स्पष्ट ही है कि भेदवाद में उलझे लोगों को मुक्ति होनेवाली नहीं; क्योंकि मुक्ति का मार्ग तो निर्विकल्पदशारूप आत्मध्यान ही है।।१९३-१९४।।

यद्यपि सम्पूर्ण अधिकार में निश्चयप्रायश्चित्त का स्वरूप ही स्पष्ट किया गया है; तथापि इस अधिकार की इस अन्तिम गाथा में उपसंहार के रूप में एक बार फिर निश्चयप्रायश्चित्त का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो जीव स्थिरभाव तज कर तनादि परद्रव्य में।
करे आतमध्यान कायोत्सर्ग होता है उसे।।१२१।।

शरीरादि परद्रव्य में स्थिरभाव को छोड़कर जो आत्मा को निर्विकल्परूप से ध्याता है; उसे कायोत्सर्ग होता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह निश्चयकायोत्सर्ग के स्वरूप का कथन है। सादि-सान्त, मूर्त, विजातीय विभावव्यंजनपर्यायात्मक अपना आकार ही काय (शरीर) है। आदि शब्द से क्षेत्र, घर, सोना, स्त्री आदि लेना चाहिए।

स्थिरभावं सनातनभावं परिहृत्य नित्यरमणीयनिरंजननिजकारणपरमात्मानं व्यवहारक्रिया-कांडाडम्बरविविधविकल्पकोलाहलविनिर्मुक्तसहजपरमयोगबलेन नित्यं ध्यायति य: सहज-तपश्चरणक्षीरवारांराशिनिशीथिनीहृदयाधीश्वर:, तस्य खलु सहजवैराग्यप्रासादशिखर-शिखामणेर्निश्चयकायोत्सर्गो भवतीति।

(मंदाक्रांता)

कायोत्सर्गो भवति सततं निश्चयात्संयतानां
कायोद्भूतप्रबलतरतत्कर्ममुक्ते: सकाशात्।
वाचां जल्पप्रकरविरतेर्मानसानां निवृत्ते:
स्वात्मध्यानादपि च नियतं स्वात्मनिष्ठापराणाम्।।१९५।।

शरीर, स्त्री, पुत्र, खेत, मकान और सोना, चाँदी आदि सभी परद्रव्यों में स्थिरभाव छोड़कर; व्यावहारिक क्रियाकाण्ड संबंधी आडम्बर और विविध विकल्परूप कोलाहल से रहित होकर; सहज परमयोग के बल से; सहजतपश्चरणरूपी क्षीरसागर का चन्द्रमारूप जो जीव; नित्य रमणीय, निरंजन निजकारणपरमात्मा को नित्य ध्याता है; वह सहजवैराग्यरूपी महल के शिखर का शिरोमणिरूप जीव वस्तुत: निश्चयकायोत्सर्ग है।''

यद्यपि इस शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त अधिकार में आदि से अर्थात् गाथा ११३ से लेकर गाथा ११८ तक निश्चयप्रायश्चित्त की ही चर्चा चलती रही है; तथापि **अन्तिम तीन गाथाओं में क्रमश: ध्यान, शुद्धनिश्चयनियम और निश्चयकायोत्सर्ग की चर्चा हुई है।**

इससे प्रतीत होता है कि शुद्धनिश्चयनय से ध्यान, निश्चयनियम और निश्चयकायोत्सर्ग एक प्रकार से शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त के ही रूपान्तर हैं।

इस गाथा और उसकी टीका में निश्चयकायोत्सर्ग का स्वरूप समझाते हुए कहा गया है कि शरीर, स्त्री-पुत्रादि, मकानादि एवं स्वर्णादि परपदार्थों में स्थिरभाव (कायादि स्थिर हैं ह्न इसप्रकार की मान्यता) छोड़कर, व्यवहारिक क्रियाकाण्ड एवं विकल्पों के कोलाहल से रहित होकर, परमयोग के बल से, जो जीव निजकारणपरमात्मा को ध्याता है; वह जीव ही निश्चयकायोत्सर्ग है।।१२१।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव पाँच छन्द लिखते हैं; उनमें से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

रे सभी कारज कायकृत मन के विकल्प अनल्प जो।
अर जल्पवाणी के सभी को छोड़ने के हेतु से।।
निज आत्मा के ध्यान से जो स्वात्मनिष्ठापरायण।
हे भव्यजन उन संयमी के सतत् कायोत्सर्ग है।।१९५।।

(मालिनी)

जयति सहजतेज:पुंजनिर्मग्नभास्वत्–
सहजपरमतत्त्वं मुक्तमोहान्धकारम् ।
सहजपरमदृष्ट्या निष्ठितन्मोघजातं (?)
भवभवपरितापै: कल्पनाभिश्च मुक्तम् ।।१९६।।

भवभवसुखमल्पं कल्पनामात्ररम्यं
तदखिलमपि नित्यं संत्यजाम्यात्मशक्त्या ।
सहजपरमसौख्यं चिच्चमत्कारमात्रं
स्फुटितनिजविलासं सर्वदा चेतयेहम् ।।१९७।।

जो स्वात्मनिष्ठापरायण हैं; उन संयमियों को काया से उत्पन्न होनेवाले अति प्रबल कार्यों के त्याग के कारण, वाणी के जल्पसमूह की विरति के कारण और मानसिक विकल्पों की निवृत्ति के कारण तथा निज आत्मा का ध्यान के कारण निश्चय से सतत् कायोत्सर्ग है ।

उक्त छन्द में अत्यन्त सरल शब्दों में यह बात कही गई है कि अपने आत्मा में सलंग्न संयमीजनों के न तो कायासंबंधी अति प्रबल कार्य होते हैं; न वचनसंबंधी अनर्गल प्रलाप होता है और न मन में विकल्पों का अंबार होता है। इसप्रकार मन–वचन–काय संबंधी विकृति के अभाव के कारण और आत्मा के सतत् ध्यान के कारण निश्चयनयाश्रित वीतरागी सन्तों के निरंतर निश्चयकायोत्सर्ग होता है।।१९५।।

दूसरे व तीसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

मोहतम से मुक्त आतमतेज से अभिषिक्त है।
दृष्टि से परिपूर्ण सुखमय सहज आतमतत्त्व है।।
संसार में परिताप की परिकल्पना से मुक्त है।
अरे ज्योतिर्मान निज परमातमा जयवंत है।।१९६।।

संसारसुख अति अल्प केवल कल्पना में रम्य है।
मैं छोड़ता हूँ उसे सम्यक् रीति आतमशक्ति से।।
मैं चेतता हूँ सर्वदा चैतन्य के सद्ज्ञान में।
स्फुरित हूँ मैं परमसुखमय आतमा के ध्यान में।।१९७।।

सहजतेजपुंज में निमग्न, मोहान्धकार से मुक्त, सहज प्रकाशमान परमतत्त्व सदा जयवंत

(पृथ्वी)

निजात्मगुणसंपदं मम हृदि स्फुरन्तीमिमां
समाधिविषयामहो क्षणमहं न जाने पुरा।
जगत्त्रितय-वैभव-प्रलयहेतु-दु:कर्मणां
प्रभुत्वगुणशक्तित: खलु हतोस्मि हा संसृतौ ।।१९८।।

है। वह परमतत्त्व सहज परमदृष्टि से परिपूर्ण है और वृथा उत्पन्न भव-भव के परिताप से तथा कल्पनाओं से मुक्त है।

कल्पनामात्र रमणीय तुच्छ सांसारिक सुख को मैं आत्मशक्ति से भलीप्रकार छोड़ता हूँ तथा स्फुरायमान स्वयं के विलास से सहज परमसुखवंत चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मतत्त्व का मैं सर्वदा अनुभव करता हूँ।

उक्त छन्दों में आत्मा के शाश्वत स्वरूप का उद्घाटन करते हुए विषय-कषायों से विरक्त हो आत्माराधना करने का संकल्प व्यक्त किया गया है। कहा गया है कि यह भगवान आत्मा सहजतेज का पुंज, मोहान्धकार से मुक्त, सहजप्रकाशनमात्र परिपूर्ण परमतत्त्व है। यह परमात्मतत्त्व मैं स्वयं ही हूँ। अत: अब मैं कल्पनामात्र रमणीक संसारसुखों को तिलांजलि देकर परमसुखमय आत्मा की आराधना में संलग्न होता हूँ।।१९६-१९७।।

चौथे व पाँचवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

समाधि की है विषय जो मेरे हृदय में स्फुरित।
स्वातम गुणों की संपदा को एक क्षण जाना नहीं।।
त्रैलोक्य वैभव विनाशक दुष्कर्म की गुणशक्ति के।
निमित्त से रे हाय मैं संसार में मारा गया।।१९८।।

(दोहा)

सांसारिक विषवृक्षफल दुख के कारण जान।
आत्मा से उत्पन्न सुख भोगूँ मैं भगवान।।१९९।।

मेरे हृदय में स्फुरायमान, समाधि की विषयभूत अपने आत्मा के गुणों की संपदा को मैंने पहले एक क्षण को भी नहीं जाना। तीन लोक के वैभव को नाश करने में निमित्तरूप दुष्ट कर्मों की प्रभुत्वगुणशक्ति से मैं संसार में मारा गया हूँ, हैरान हो गया हूँ।

संसार में उत्पन्न होनेवाले विषवृक्ष के समस्त फल को दु:ख का कारण जानकर मैं चैतन्यात्मक आत्मा में उत्पन्न विशुद्ध सुख का अनुभव करता हूँ।

उक्त छन्दों में अधिकार का समापन करते हुए अपने आत्मा को नहीं जानने से आज

(आर्या)

भवसंभवविषभूरुहफलमखिलं दुःखकारणं बुद्ध्वा ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि संजातविशुद्धसौख्यमनुभुंजे ।।१९९।।

इति सुकविजनपयोगजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव-विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकारः अष्टमः श्रुतस्कन्धः ।

तक हुई अपनी दुर्दशा का चित्रण किया गया है। साथ में इस स्थिति से उबरने के लिए आत्मा से उत्पन्न विशुद्ध सुख का अनुभव करने की बात भी कही गई है।

उक्त दो छन्दों में से पहले छन्द में इस बात पर खेद व्यक्त किया गया है कि जो मुझे अनन्त सुखसमाधि को प्राप्त कराने में समर्थ है, समाधिरूप ध्यान का ध्येय है; ऐसे भगवान आत्मा और उसकी संपदा को मैंने आजतक एक क्षण को भी नहीं जाना।

यही कारण है कि तीन लोक के वैभव का नाश करने में हेतुभूत दुष्ट कर्मों की प्रभुत्व-गुणशक्ति से मैं संसार में मारा गया हूँ, मारा-मारा भटक रहा हूँ, अनंत दुःख उठा रहा हूँ।

दूसरे और इस अधिकार के अन्तिम छन्द में संसार में उत्पन्न होनेवाले पंचेन्द्रिय के विषय और कषायरूप विषवृक्ष के फलों को दुःखरूप और दुःख का कारण जानकर सन्तों द्वारा ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा में उत्पन्न विशुद्ध अतीन्द्रिय आनन्द के भोगने की, अनुभव करने की बात कही गई है।

इसप्रकर निश्चयप्रायश्चित्त का स्वरूप स्पष्ट करनेवाला यह शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार समाप्त होता है।।१९८-१९९।।

शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार की समाप्ति के अवसर पर टीकाकार जो पंक्ति लिखते हैं; उसका भाव इसप्रकार है ह्न

''इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार नामक आठवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।''

यहाँ नियमसार एवं उसकी तात्पर्यवृत्ति टीका के साथ-साथ डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत आत्मप्रबोधिनी हिन्दी टीका में शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार नामक आठवाँ श्रुतस्कन्ध भी समाप्त होता है।

•••

९

परमसमाधि अधिकार

(गाथा १२२ से गाथा १३३ तक)

अथ अखिलमोहरागद्वेषादिपरभावविध्वंसहेतुभूतपरमसमाध्यधिकार उच्यते।

वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स।।१२२।।

वचनोच्चारणक्रियां परित्यक्त्वा वीतरागभावेन।
यो ध्यायत्यात्मानं परमसमाधिर्भवेत्तस्स।।१२२।।

परमसमाधिस्वरूपाख्यानमेतत्। क्वचिदशुभवंचनार्थं वचनप्रपंचांचितपरमवीतराग-सर्वज्ञस्तवनादिकं कर्तव्यं परमजिनयोगी श्वरेणापि। परमार्थतः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तवाग्विषय-

---

विगत आठ अधिकारों में क्रमशः जीव, अजीव, शुद्धभाव, व्यवहारचारित्र, परमार्थ-प्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान, परम आलोचना और शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त की चर्चा हुई। अब इस नौवें अधिकार में परमसमाधि की चर्चा आरंभ करते हैं।

इस परमसमाधि अधिकार को आरंभ करते हुए टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव लिखते हैं ह्न **''अब समस्त मोह-राग-द्वेषादि परभावों के विध्वंस का हेतुभूत परमसमाधि अधिकार कहा जाता है।''**

अब नियमसार की गाथा १२२वीं एवं परमसमाधि अधिकार की पहली गाथा में परमसमाधि के धारक का स्वरूप समझाते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

वचन उच्चारण क्रिया तज वीतरागी भाव से।
ध्यावे निजातम जो समाधि परम होती है उसे।।१२२।।

वचनों के उच्चारण की क्रिया छोड़कर वीतरागभाव से जो आत्मा को ध्याता है; उसे परमसमाधि होती है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह परमसमाधि के स्वरूप का कथन है। यद्यपि अशुभ से बचने के लिए कभी-कभी दिव्यध्वनि से मंडित परमवीतरागी तीर्थंकर सर्वज्ञ देव का स्तवनादि परम जिनयोगीश्वरों को भी करने योग्य कहा गया है; तथापि परमार्थ से प्रशस्त-अप्रशस्त सभी वचन संबंधी

व्यापारो न कर्तव्य: । अत एव वचनरचनां परित्यज्य सकलकर्मकलंकपंकविनिर्मुक्तप्रध्वस्त-भावकर्मात्मकपरमवीतरागभावेन त्रिकालनिरावरणनित्यशुद्धकारणपरमात्मानं स्वात्माश्रय-निश्चयधर्मध्यानेन टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वरूपनिरतपरमशुक्लध्यानेन च य: परमवीतराग-तपश्चरणनिरत: निरुपरागसंयत: ध्यायति, तस्य खलु द्रव्यभावकर्मवरूथिनीलुंटाकस्य परम-समाधिर्भवतीति ।

(वंशस्थ)

समाधिना केनचिदुत्तमात्मनां
हृदि स्फुरन्तीं समतानुयायिनीम् ।
यावन्न विद्म: सहजात्मसंपदं
न मादृशां या विषया विदामहि ।।२००।।

व्यापार (क्रिया) करने योग्य नहीं है। इसलिए समस्त वचनरचना को छोड़कर समस्त कर्मरूपी कलंकरूप कीचड़ से मुक्त भाव से एवं भावकर्म से रहित भाव से अर्थात् परम वीतरागभाव से तथा त्रिकाल निरावरण नित्य शुद्ध कारणपरमात्मा को; अपनी आत्मा के आश्रय से उत्पन्न निश्चय धर्मध्यान से एवं टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव में लीन परम शुक्लध्यान से जो परम वीतराग तपश्चरण में लीन निर्विकार संयमी ध्याता है; उस द्रव्यकर्म और भावकर्म की सेना को लूटनेवाले संयमी को वस्तुत: परमसमाधि होती है।''

उक्त गाथा और उसकी टीका में मूलत: यही कहा गया है कि परम समाधि की प्राप्ति उन शुद्धोपयोगी वीतरागी सन्तों को ही होती है; जो मन, वचन और काय संबंधी सभी रागात्मक विकल्पों से पार होकर पूर्ण वीतरागभाव से निर्विकल्प शुद्धोपयोग में समा जाते हैं।

यद्यपि यह परम सत्य है कि सभी प्रकार के शुभाशुभभाव करने योग्य नहीं हैं; तथापि छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले सन्तों के अशुभभाव से बचने के लिए कभी-कभी वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा की भक्ति और उनकी वाणी के श्रवण, अध्ययन, मनन-चिन्तन आदि के भाव भी आते रहते हैं; पर वे उपादेय नहीं हैं, विधेय नहीं हैं। **अत: परमसमाधि के उपासक सन्तों को उनमें अधिक उलझना, निरन्तर उलझे रहना उचित नहीं है।।१२२।।**

इस गाथा की टीका समाप्त करते हुए टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

समाधि बल से मुमुक्षु उत्तमजनों के हृदय में।
स्फुरित समताभावमय निज आतमा की संपदा।।
जबतक न अनुभव करें हम तबतक हमारे योग्य जो।
निज अनुभवन का कार्य है वह हम नहीं हैं कर रहे।।२००।।

संजमणियमतवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण।
जो झायइ अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स।।१२३।।

संयमनियमतपसा तु धर्मध्यानेन शुक्लध्यानेन।
यो ध्यायत्यात्मानं परमसमाधिर्भवेत्तस्य।।१२३।।

इह हि समाधिलक्षणमुक्तम्। संयमः सकलेन्द्रियव्यापारपरित्यागः। नियमेन स्वात्माराधनातत्परता। आत्मानमात्मन्यात्मना संधत्त इत्यध्यात्मं तपनम्। सकलबाह्यक्रियाकांडाडम्बरपरित्यागलक्षणान्तःक्रियाधिकरणमात्मानं निरवधित्रिकालनिरुपाधिस्वरूपं यो जानाति, तत्परिणतिविशेषः स्वात्माश्रय निश्चयधर्मध्यानम्। ध्यानध्येयध्यातृतत्फलादिविविध-

---

किसी ऐसी अकथनीय परमसमाधि द्वारा श्रेष्ठ आत्माओं के हृदय में स्फुरायमान समता की अनुगामिनी सहज आत्मसम्पदा का जबतक हम (मुनिराज) अनुभव नहीं करते; तबतक हम जैसे मुनिराजों का जो विषय है, उसका हम अनुभव नहीं करते।

तात्पर्य यह है कि मुनिराजों का मूलधर्म तो यही है कि वे अपने आत्मा के ज्ञान-ध्यान में रहें; क्योंकि उसके बिना वे उस महत्त्वपूर्ण काम से वंचित रह जावेंगे; जिसके लिए उन्होंने यह मुनिधर्म धारण किया है।।२००।।

परमसमाधि का स्वरूप बतानेवाली १२३वीं गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

संयम नियम तप धरम एवं शुक्ल सम्यक् ध्यान से।
ध्यावे निजातम जो समाधि परम होती है उसे।।१२३।।

संयम, नियम, तप, धर्मध्यान और शुक्लध्यान से जो आत्मा को ध्याता है; उसे परमसमाधि होती है।

इस १२३वीं गाथा की दूसरी पंक्ति तो १२२वीं गाथा के समान ही है; जिसमें कहा गया है कि जो आत्मा को ध्याता है, उसे परमसमाधि होती है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''इस गाथा में समाधि का लक्षण कहा गया है। सभी इन्द्रियों के व्यापार का परित्याग संयम है और निज आत्मा की आराधना में तत्परता नियम है। आत्मा को आत्मा में स्वयं से धारण किए रहना ही अध्यात्म है, तप है।

सम्पूर्ण बाह्य क्रियाकाण्ड के आडम्बर के परित्याग लक्षणवाली अन्तःक्रिया के आधारभूत आत्मा को निरवधि त्रिकाल निरुपाधिस्वरूप जाननेवाले जीव की परिणति विशेष स्वात्माश्रित निश्चय धर्मध्यान है और ध्यान, ध्येय, ध्याता और ध्यान का फल आदि

विकल्पनिर्मुक्तान्मुखाकारनिखिलकरण ग्रामागोचरनिरंजननिजपरमतत्त्वाविचलस्थितिरूपं निश्चयशुक्लध्यानम्। एभिः सामग्रीविशेषैः सार्धमखंडाद्वैतपरमचिन्मयमात्मानं यः परमसंयमी नित्यं ध्यायति, तस्य खलु परमसमाधिर्भवतीति।

(अनुष्टुभ्)

निर्विकल्पे समाधौ यो नित्यं तिष्ठति चिन्मये।
द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमात्मानं तं नमाम्यहम्।।२०१।।

किं काहदि वणवासो कायकिलेसो विचित्तउववासो।
अज्झयणमोणपहुदी समदारहियस्स समणस्स।।१२४।।

के विकल्पों से रहित, अन्तर्मुखाकार, समस्त इन्द्रियों से अगोचर, निरंजन निज परमात्मतत्त्व में अविचल स्थिति निश्चय शुक्लध्यान है। इसप्रकार विशेष सामग्री से सहित, अखंड, अद्वैत, परमचैतन्यमय आत्मा को, जो परमसंयमी नित्य ध्याता है; उसे वस्तुतः परमसमाधि है।''

इस गाथा और इसकी टीका में यही कहा गया है कि इन्द्रियों के व्यापार के परित्यागरूप संयम, आत्मा की आराधना में तत्परतारूप नियम, स्वयं को स्वयं में धारणरूप तप, स्वात्माश्रित निश्चय धर्मध्यान और निरंजन निज परमात्मतत्त्व में अविचल स्थितिरूप शुक्लध्यानरूप विशेष सामग्री सहित, अखण्ड, अद्वैत, परमचैतन्य आत्मा का ध्यान ही परमसमाधि है।।१२३।।

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(हरिगीत)

निर्विकल्पक समाधि में नित रहें जो आतमा।
उस निर्विकल्पक आतमा को नमन करता हूँ सदा।।२०१।।

जो सदा चैतन्यमय निर्विकल्प समाधि में रहता है; उस द्वैताद्वैत के विकल्पों से मुक्त आत्मा को मैं नमन करता हूँ।

उक्त छन्द में समाधिरत आत्मा को अत्यन्त भक्तिभाव से नमस्कार किया गया है।।२०१।।

विगत दो गाथाओं में परमसमाधि का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस १२४वीं गाथा में यह बता रहे हैं कि समता रहित श्रमण के अन्य सभी बाह्याचार निरर्थक हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

वनवास कायक्लेशमय उपवास अध्ययन मौन से।
अरे समताभाव बिन क्या लाभ श्रमणाभास को।।१२४।।

किं करिष्यति वनवासः कायक्लेशो विचित्रोपवासः ।
अध्ययनमौनप्रभृतयः समतारहितस्य श्रमणस्य ।।१२४।।

अत्र समतामन्तरेण द्रव्यलिंगधारिणः श्रमणाभासिनः किमपि परलोककारणं नास्तीत्युक्तम् । सकलकर्मकलंकपंकविनिर्मुक्तमहानंदहेतुभूतपरमसमताभावेन विना कान्तारवासावासेन प्रावृषि वृक्षमूले स्थित्या च ग्रीष्मेऽतितीव्रकरकरसंतप्तपर्वताग्रग्रावनिषण्णतया वा हेमन्ते च रात्रिमध्ये ह्याशांबरदशाफलेन च, त्वगस्थिभूतसर्वांगक्लेशदायिना महोपवासेन वा, सदाध्ययनपटुतया च, वाग्विषयव्यापारनिवृत्तिलक्षणेन संततमौनव्रतेन वा किमप्युपादेयं फलमस्ति केवलद्रव्यलिंगधारिणः श्रमणाभासस्येति ।

तथा चोक्तम् अमृताशीतौ ह्न

(मालिनी)

गिरिगहनगुहाद्यारण्यशून्यप्रदेश-
स्थितिकरणनिरोधध्यानतीर्थोपसेवा ।
प्रपठनजपहोमैर्ब्रह्मणो नास्ति सिद्धिः
मृगय तदपरं त्वं भोः प्रकारं गुरुभ्यः ।।६४।।[१]

वनवास, कायक्लेशरूप अनेकप्रकार के उपवास, अध्ययन, मौन आदि क्रियायें समता रहित श्रमण को क्या करेंगे अर्थात् कुछ नहीं कर सकते ।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''इस गाथा में यह कहा गया है कि समताभाव के बिना द्रव्यलिंगधारी श्रमणाभास को रंचमात्र भी परलोक (मोक्ष) का साधन नहीं है। केवल द्रव्यलिंगधारी श्रमणाभास को; सभी प्रकार के सभी कर्मकलंकरूप कीचड़ से रहित, महा आनन्द के हेतुभूत परम समता भाव बिना वनवास में बसकर वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे बैठने से, ग्रीष्म ऋतु में प्रचण्ड सूर्य की किरणों से संतप्त पर्वत के शिखर की शिला पर बैठने से और हेमन्त ऋतु में अर्द्ध रात्रि में नग्न दिगम्बर दशा में रहने से, हड्डी और चमड़ी मात्र रह गये शरीर को क्लेशदायक महा उपवास से, निरन्तर अध्ययन करते रहने से अथवा वचन व्यापार की निवृत्तिरूप मौन से क्या रंच मात्र भी कुछ होनेवाला है ? नहीं, कुछ भी होनेवाला नहीं है।''

इस गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि आत्मज्ञानपूर्वक हुए वीतरागी समताभाव के बिना वनवास, उपवास, पठन-पाठन, अध्ययन-मनन और मौन आदि बाह्य क्रियाएँ कुछ भी नहीं कर सकतीं ।।१२४।।

---

१. योगीन्द्रदेव : अमृताशीति, श्लोक ५९

तथा हि ह्न

(द्रुतविलंबित)

अनशनादितपश्चरणैः फलं समतया रहितस्य यतेर्न हि ।
तत इदं निजतत्त्वमनाकुलं भज मुनै समताकुलमंदिरम् ।।२०२।।

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ।।१२५।।

इसके बाद '**अमृताशीति में भी कहा है**' ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

विपिन शून्य प्रदेश में गहरी गुफा के वास से।
इन्द्रियों के रोध अथवा तीर्थ के आवास से।।
पठन-पाठन होम से जपजाप अथवा ध्यान से।
है नहीं सिद्धि खोजलो पथ अन्य गुरु के योग से।।६४।।

पर्वत की गहन गुफा आदि में अथवा वन के शून्य प्रदेश में रहने से, इन्द्रियों के निरोध से, ध्यान से, तीर्थों में रहने से, पठन से, जप और होम से ब्रह्म (आत्मा) की सिद्धि नहीं है। इसलिए हे भाई! गुरुओं के सहयोग से भिन्न मार्ग की खोज कर।

इसीप्रकार का भाव श्रीमद् राजचन्द्र ने भी व्यक्त किया है; जो इसप्रकार है ह्न

यम नियम संयम आप कियो पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो,
बनवास लियो मुखमौन रह्यो दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो।
मन पौन निरोध स्वबोध कियो हठ जोग प्रयोग सुतार भयो,
जप भेद जपे तप त्यौंहि तपे उरसें हि उदासि लही सबसे।।
सब शास्त्रन के नय धारि हिये मत मण्डन खण्डन भेद लिये,
वह साधन बार अनन्त कियो, तदपी कछु हाथ हजू न पर्यो।
अब क्यौं न विचारत है मन में कछु और रहा उन साधन से ?

इसमें कहा गया है कि तूने अपनी समझ से सुख-शान्ति प्राप्त करने के अनेक उपाय किये, पर सफलता हाथ नहीं लगी। ऐसी स्थिति में भी तू यह विचार क्यों नहीं करता कि कुछ ऐसा बाकी रह गया है, जो कार्यसिद्धि का असली कारण है।।६४।।

इसके बाद एक छन्द स्वयं टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

विरत: सर्वसावद्ये त्रिगुप्त: पिहितेन्द्रिय: ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ।।१२५।।

इह हि सकलसावद्यव्यापाररहितस्य त्रिगुप्तिगुप्तस्य सकलेन्द्रियव्यापारविमुखस्य तस्य च मुने: सामायिकं व्रतं स्थायीत्युक्तम् ।

(हरिगीत)

अनशनादि तपस्या समता रहित मुनिजनों की।
निष्फल कही है इसलिए गंभीरता से सोचकर।।
और समताभाव का मंदिर निजातमराम जो।
उस ही निराकुलतत्त्व को भज लो निराकुलभाव से।।२०२।।

समताभाव रहित अनशनादि तपश्चरणों से कुछ भी फल नहीं है। इसलिए हे मुनि ! समताभाव का कुलमंदिर अर्थात् वंश परम्परागत उत्तम घर यह अनाकुल निजतत्त्व है; उसे भज, उसका भजन कर, उसकी आराधना कर।

इसप्रकार हम देखते हैं कि १२४वीं गाथा की टीका और टीका में उद्धृत तथा टीकाकार द्वारा लिखे गये छन्दों में एक ही बात जोर देकर कही जा रही है कि आत्मानुभव के बिना बाह्य क्रियाकाण्ड से कुछ भी होनेवाला नहीं है। अत: इससे विरक्त होकर जो आजतक नहीं कर पाया, सद्गुरु के सहयोग से वह करने का प्रयास कर, सच्चे मार्ग की खोज कर। बाह्य क्रियाकाण्ड में उलझे रहने से कोई लाभ नहीं है।।२०२।।

परमसमाधि का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस अधिकार की आगामी सभी गाथाओं में अर्थात् ९ गाथाओं में समाधिरूप सामायिक किन लोगों को होती ह्न यह समझाते हैं। इन सभी गाथाओं की दूसरी पंक्ति लगभग एक समान ही है।

उक्त नौ गाथाओं में सबसे पहली अर्थात् १२५वीं गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो विरत हैं सावद्य से अर तीन गुप्ति सहित हैं।
उन जितेन्द्रिय संत को जिन कहें सामायिक सदा।।१२५।।

जो सर्व सावद्य से विरत है, तीन गुप्तिवाला है और जिसने इन्द्रियों को बंद किया है, निरुद्ध किया है, कैद किया है; उसे सामायिक स्थायी है, सदा है ह्न ऐसा केवली के शासन में कहा है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''इस गाथा में सकल सावद्य से रहित, त्रिगुप्ति द्वारा गुप्त तथा सभी इन्द्रियों के व्यापार से विमुख मुनिराजों को सामायिक व्रत स्थायी है ह्न ऐसा कहा है।

अथात्रैकेन्द्रियादिप्राणिनिकुरंबक्लेशहेतुभूतसमस्तसावद्यव्यासंगविनिर्मुक्तः, प्रशस्ता-प्रशस्तसमस्तकायवाङ्मनसां व्यापाराभावात् त्रिगुप्तः, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राभिधान-पंचेन्द्रियाणां मुखैस्तत्तद्योग्यविषयग्रहणाभावात् पिहितेन्द्रियः, तस्य खलु महामुमुक्षोः परमवीतरागसंयमिनः सामायिकं व्रतं शश्वत् स्थायि भवतीति।

(मंदाक्रांता)

इत्थं मुक्त्वा भवभयकरं सर्वसावद्यराशिं
नीत्वा नाशं विकृतिमनिशं कायवाङ्मानसानाम्।
अन्तःशुद्ध्या परमकलया साकमात्मानमेकं
बुद्ध्वा जन्तुः स्थिरशममयं शुद्धशीलं प्रयाति।।२०३।।

इस लोक में जो एकेन्द्रियादि प्राणियों को क्लेश के हेतुभूत समस्त सावद्य की आसक्ति से मुक्त हैं; मन-वचन-काय के प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त व्यापार के अभाव के कारण तीन गुप्तिवाले हैं और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण नामक पाँच इन्द्रियों द्वारा उस-उस इन्द्रिय के योग्य विषय ग्रहण का अभाव होने से इन्द्रियों के निरोधक हैं; उन महा मुमुक्षु परम वीतरागी संयमियों को वस्तुतः सामायिक व्रत शाश्वत है, स्थायी है।''

मुद्दे की बात यह है कि मिथ्यात्व और कषायों के अभाव में जिस भूमिका में जितनी शुद्धि प्रगट हुई है; वह एक प्रकार से सामायिक ही है। अतः भूमिकानुसार शुभाशुभभाव के सद्भाव में भी मिथ्यात्व और **भूमिकानुसार कषाय के अभाव में शुद्धपरिणतिरूप सामायिक विद्यमान रहती है। तात्पर्य यह है कि शुद्धोपयोग के काल में तो सामायिक है ही; ज्ञानी के अन्य काल में भी शुद्धपरिणतिरूप सामायिक है।** इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि वे **भावलिंगी मुनिराज सदा सामायिक में ही हैं कि जो समस्त सावद्य से मुक्त हैं,** त्रिगुप्त हैं और पंचेन्द्रिय विषयों के निरोधक हैं।।१२५।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

संसारभय के हेतु जो सावद्य उनको छोड़कर।
मनवचनतन की विकृति से पूर्णतः मुख मोड़कर।।
अरे अन्तर्शुद्धि से सद्ज्ञानमय शुद्धातमा।
को जानकर समभावमयचारित्र को धारण करें।।२०३।।

इसप्रकार सदा सामायिक में रहनेवाले मुनिराज, भवभय करनेवाले समस्त सावद्य को छोड़कर, मन-वचन-काय की विकृति को नष्ट कर, अंतरंग शुद्धि से ज्ञानकला सहित एक आत्मा को जानकर स्थिर समतामय शुद्ध शील को प्राप्त करते हैं।

जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ।।१२६।।

यः समः सर्वभूतेषु स्थावरेषु त्रसेषु वा।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ।।१२६।।

परममाध्यस्थ्यभावाद्यारूढस्थितस्य परममुमुक्षोः स्वरूपमत्रोक्तम्। यः सहजवैराग्यप्रासाद-शिखरशिखामणिः विकारकारणनिखिलमोहरागद्वेषाभावाद् भेदकल्पनापोढपरमसमरसी-भावसनाथत्वात्त्रसस्थावरजीवनिकायेषु समः, तस्य च परमजिनयोगीश्वरस्य सामायिकाभि-धानव्रतं सनातनमिति वीतरागसर्वज्ञमार्गे सिद्धमिति।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि **मिथ्यात्व और कषाय के अभाव में भावलिंगी मुनिराज भूमिकानुसार सदा ही सामायिक में रहते हैं, समाधि में रहते हैं।।२०३।।**

अब इस गाथा में माध्यस्थभाव में आरूढ़ मुमुक्षु का स्वरूप कहते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

त्रस और थावर के प्रति अर सर्वजीवों के प्रति।
समभाव धारक संत को जिन कहें सामायिक सदा ।।१२६।।

जो स्थावर अथवा त्रस ह्न सभी जीवों के प्रति समभाव धारण करते हैं, उन्हें सामायिक स्थायी है ह्न ऐसा केवली शासन में कहा है।

इस गाथा की टीका टीकाकार मुनिराज अत्यन्त संक्षेप में करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

''यहाँ, परममाध्यस्थभाव में आरूढ़ होकर स्थित परम मुमुक्षुओं का स्वरूप कहा है।

जो मुनिराज सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणि हैं; वे मुनिराज, विकार के कारणभूत समस्त मोह-राग-द्वेष के अभाव से भेदकल्पना से मुक्त और परमसमरसीभाव से सहित होने से समस्त त्रस-स्थावर जीव निकायों के प्रति समताभाववाले हैं।

उन परमजिन योगीश्वरों को; सामायिक नाम का व्रत सनातन है, सदा है, स्थायी है ह्न ऐसा वीतराग-सर्वज्ञ के मार्ग में सिद्ध ही है।''

वैसे तो हम ध्यान अवस्था को ही सामायिक कहते हैं; किन्तु **यहाँ सभी प्रकार के समभाव को सामायिक कहा जा रहा है। यही कारण है कि त्रस-स्थावर जीवों के प्रति सदा समताभाववाले सन्तों को स्थायी सामायिक होती है ह्न** यह कहा गया है।।१२६।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज आठ छन्द लिखते हैं; जिनमें तीन श्लोक, दो मालिनी, दो शिखरिणी एवं एक पृथ्वी है।

(मालिनी)

त्रसहतिपरिमुक्तं स्थावराणां वधैर्वा
परमजिनमुनीनां चित्तमुच्चैरजस्रम्।
अपि चरमगतं यन्निर्मलं कर्ममुक्त्यै
तदहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि ।।२०४।।

(अनुष्टुभ्)

केचिदद्वैतमार्गस्थाः केचिद् द्वैतपथे स्थिताः।
द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमार्गे वर्तामहे वयम् ।।२०५।।
कांक्षंत्यद्वैतमन्येपि द्वैतं कांक्षन्ति चापरे।
द्वैताद्वैत-विनिर्मुक्तमात्मान-मभिनौम्यहम् ।।२०६।।

उक्त आठ छन्दों में से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जिन मुनिवरों का चित्त नित त्रस-थावरों के त्रास से।
मुक्त हो सम्पूर्णतः अन्तिम दशा को प्राप्त हो।।
उन मुनिवरों को नमन करता भावना भाता सदा।
स्तवन करता हूँ निरन्तर मुक्ति पाने के लिए।।२०४।।

जिन परम जिन मुनियों का चित्त त्रस जीवों के घात और स्थावर जीवों के वध से अत्यन्त मुक्त है, निर्मल है तथा अन्तिम अवस्था को प्राप्त है। कर्मों से मुक्त होने के लिए मैं उन मुनिराजों को नमन करता हूँ, उनकी स्तुति करता हूँ और उन्हें सम्यक्रूप से भाता हूँ, वैसा बनने की भावना करता हूँ।

उक्त छन्द में त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त चित्तवाले मुनिराजों को अत्यन्त भक्तिभावपूर्वक नमस्कार किया गया है, उनकी स्तुति करने की भावना व्यक्त की गई है और उसीप्रकार के परिणमन होने की संभावना भी व्यक्त की गई है।।२०४।।

इसके बाद तीन श्लोक (अनुष्टुभ्) हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार हैं ह्न

(दोहा)

कोई वर्ते द्वैत में अर कोई अद्वैत।
द्वैताद्वैत विमुक्तमग हम वर्तें समवेत।।२०५।।

कई लोग अद्वैत मार्ग में स्थित हैं और कई लोग द्वैत मार्ग में स्थित हैं; परन्तु हम तो द्वैत और अद्वैत मार्ग से विमुक्त मार्ग में वर्तते हैं।

(अनुष्टुभ्)

अहमात्मा सुखाकांक्षी स्वात्मानमजमच्युतम् ।
आत्मनैवात्मनि स्थित्वा भावयामि मुहुर्मुहः ।।२०७।।

(शिखरिणी)

विकल्पोपन्यासैरलमलममीभिर्भवकरैः
अखण्डानन्दात्मा निखिलनयराशेरविषयः ।
अयं द्वैताद्वैतो न भवति ततः कश्चिदचिरात्
तमेकं वन्देऽहं भवभयविनाशाय सततम् ।।२०८।।

(दोहा)

कोई चाहे द्वैत को अर कोई अद्वैत।
द्वैताद्वैत विमुक्त जिय मैं वंदूँ समवेत।।२०६।।

(सोरठा)

थिर रह सुख के हेतु अज अविनाशी आत्म में।
भाऊँ बारंबार निज को निज से निरन्तर।।२०७।।

कई लोग अद्वैत की चाह करते हैं और कई लोग द्वैत को चाहते हैं, किन्तु मैं तो द्वैत और अद्वैत मार्ग से विमुक्त मार्ग को नमन करता हूँ।

सुख की आकांक्षा रखनेवाला आत्मा अर्थात् मैं अजन्मे और अविनाशी अर्थात् जन्म-मरण से रहित अनादि-अनंत निज आत्मा को आत्मा द्वारा, आत्मा में स्थित रखकर बारम्बार भाता हूँ।

उक्त तीनों छन्दों में द्वैत और अद्वैत के विकल्पजाल से मुक्त भगवान आत्मा को प्राप्त करने की भावना भायी गयी है।।२०५-२०७।।

इसके बाद आनेवाले दो शिखरिणी छन्दों का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

संसार के जो हेतु हैं इन विकल्पों के जाल से।
क्या लाभ है हम जा रहे नयविकल्पों के पार अब।।
नयविकल्पातीत सुखमय अगम आतमराम को।
वन्दन करूँ कर जोड़ भवभय नाश करने के लिए।।२०८।।

संसार को बढ़ानेवाले इन विकल्प कथनों से बस होओ, बस होओ। समस्त नयसमूह का अविषय यह अखण्डानन्दस्वरूप आत्मा द्वैत या अद्वैतरूप नहीं है; द्वैत और अद्वैत

(शिखरिणी)

सुखं दुःखं योनौ सुकृतदुरितव्रातजनितं
शुभाभावो भूयोऽशुभपरिणतिर्वा न च न च ।
यदेकस्याप्युच्चैर्भवपरिचयो बाढमिह नो
य एवं संन्यस्तो भवगुणगणैः स्तौमि तमहम् ।।२०९।।

(मालिनी)

इदमिहमघसेनावैजयन्तीं हरेत्तां
स्फुटितसहजतेजःपुंजदूरीकृतांहः ।
प्रबलतरतमस्तोमं सदा शुद्धशुद्धं
जयति जगति नित्यं चिच्चमत्कारमात्रम् ।।२१०।।

संबंधी विकल्पों से पार है। इस एक निज आत्मा को मैं भवभय का नाश करने के लिए बारम्बार वंदन करता हूँ।

(हरिगीत)

अच्छे बुरे निजकार्य से सुख-दुःख हों संसार में।
पर आतमा में हैं नहीं ये शुभाशुभ परिणाम सब।।
क्योंकि आतमराम तो इनसे सदा व्यतिरिक्त है।
स्तुति करूँ मैं उसी भव से भिन्न आतमराम की।।२०९।।

संसार में चार गति और ८४ लाख योनियों में होनेवाले सुख-दुख, पुण्य-पाप से होते हैं। यदि निश्चयनय से विचार करें तो शुभ और अशुभपरिणति आत्मा में है ही नहीं; क्योंकि इस लोक में एकरूप आत्मा को भव (संसार) का परिचय ही नहीं है।

इसलिए मैं शुभ-अशुभ, राग-द्वेष आदि भव गुणों अर्थात् विभावभावों से रहित निज शुद्ध आत्मा का स्तवन करता हूँ।

इन छन्दों में भी वही द्वैत-अद्वैत के भेदभावों से रहित आत्मा के आराधना की बात कही गई है।।२०८-२०९।।

इसके बाद आनेवाले दो छन्दों का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

प्रगट अपने तेज से अति प्रबल तिमिर समूह को।
दूर कर क्षणमात्र में ही पापसेना की ध्वजा।।
हरण कर ली जिस महाशय प्रबल आतमराम ने।
जयवंत है वह जगत में चित्चमत्कारी आतमा।।२१०।।

(पृथ्वी)

जयत्यनघमात्मतत्त्वमिदमस्तसंसारकं
महामुनिगणाधिनाथहृदयारविन्दस्थितम् ।
विमुक्तभवकारणं स्फुटितशुद्धमेकान्ततः
सदा निजमहिम्नि लीनमपि सद्दृशां गोचरम् ।।२११।।

जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ।।१२७।।

(हरिगीत)

गणधरों के मनकमल थित प्रगट शुध एकान्ततः ।
भवकारणों से मुक्त चित् सामान्य में है रत सदा ।।
सद्दृष्टियों को सदागोचर आत्ममहिमालीन जो ।
जयवंत है भव अन्तकारक अनघ आतमराम वह ।।२११।।

प्रगट हुए सहज तेजपुंज द्वारा, अति प्रबलमोहतिमिर समूह को दूर करनेवाला तथा पुण्य-पापरूपी अघसेना की ध्वजा का हरण करने वाला सदा शुद्ध, चित्चमत्कारमात्र आत्मतत्त्व जगत में नित्य जयवंत है ।

जिसने संसार का अस्त किया है, जो महामुनिराजों के नायक गणधरदेव के हृदय कमल में स्थित है, जिसने भव के कारण को छोड़ दिया है, जो पूर्णतः शुद्ध प्रगट हुआ है तथा जो सदा निजमहिमा में लीन होने पर भी सम्यग्दृष्टियों को गोचर है; वह पुण्य-पाप से रहित आत्मतत्त्व जयवंत है ।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि लोक में तो अघ पाप को कहते हैं, पर आप यहाँ अघ का अर्थ पुण्य-पाप के भाव कर रहे हैं। इसका क्या कारण है ?

यद्यपि लोक में अघ शब्द का अर्थ मात्र पाप किया जाता है; तथापि जिसप्रकार क का अर्थ पृथ्वी, ख का अर्थ आकाश होता है; उसीप्रकार घ का अर्थ भी आत्मा होता है। अतः आत्मा के आश्रय से उत्पन्न वीतरागभाव के अभावरूप शुभाशुभरागरूप पुण्य-पाप के भाव अघ कहे जाते हैं। इसप्रकार पुण्य-पाप ह्न दोनों अघ हैं।

इसप्रकार इन आठ छन्दों में अत्यन्त भावविभोर होकर सहज-वैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणि टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव निजकारणपरमात्मा के आश्रय की भावना व्यक्त कर रहे हैं।।२१०-२११।।

इस आगामी गाथा में भी यही बता रहे हैं कि एकमात्र आत्मा ही उपादेय है।

यस्य सन्निहितः आत्मा संयमे नियमे तपसि।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने।।१२७।।

अत्राप्यात्मैवोपादेय इत्युक्तः। यस्य खलु बाह्यप्रपंचपराङ्गमुखस्य निर्जिताखिलेन्द्रिय-व्यापारस्य भाविजिनस्य पापक्रियानिवृत्तिरूपे बाह्यसंयमे कायवाङ्मनोगुप्तिरूपसकलेन्द्रिय-व्यापारवर्जितेऽभ्यन्तरात्मनि परिमितकालाचरणमात्रे नियमे परमब्रह्मचिन्मयनियतनिश्चयान्त-र्गताचारे स्वरूपेऽविचलस्थितिरूपे व्यवहारप्रपंचितपंचाचारे पंचमगतिहेतुभूते किंचनभाव-प्रपंचपरिहीणे सकलदुराचारनिवृत्तिकारणे परमतपश्चणे च परमगुरुप्रसादासादितनिरंजननिज-कारणपरमात्मा सदा सन्निहित इति केवलिनां शासने तस्य परद्रव्यपराङ्मुखस्य परमवीतराग-सम्यग्दृष्टेर्वीतरागचारित्रभाजः सामायिकव्रतं स्थायि भवतीति।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

आतमा है पास जिनके नियम-संयम-तप विषैं।
उन आत्मदर्शी संत को जिन कहें सामायिक सदा।।१२७।।

जिसे संयम में, नियम में, तप में आत्मा ही समीप है; उसे सामायिक स्थायी है ह्न ऐसा केवली के शासन में कहा है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ इस गाथा में भी आत्मा ही उपादेय है ह्न ऐसा कहा गया है।

बाह्य प्रपंच से पराङ्गमुख और समस्त इन्द्रियव्यापार को जीतनेवाले जिस भावी जिन को पापक्रिया की निवृत्तिरूप बाह्य संयम में; काय, वचन और मनोगुप्तिरूप समस्त इन्द्रियव्यापार रहित अभ्यन्तर संयम में; मात्र सीमित काल के नियम में; निजस्वरूप में अविचल स्थितिरूप चिन्मय परमब्रह्मस्वरूप में निश्चल आचार में; व्यवहार से विस्तार से निरूपित पंचाचार में; पंचमगति के हेतुभूत, सम्पूर्ण परिग्रह से रहित, समस्त दुराचार की निवृत्ति के कारणभूत परमतपश्चरण में परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त निजकारणपरमात्मा सदा समीप है; उन परद्रव्य से पराङ्गमुख परम वीतराग सम्यग्दृष्टि एवं वीतराग चारित्रवन्त को सामायिक व्रत स्थायी है ह्न ऐसा केवलियों के शासन में कहा है।''

इस गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि भावलिंगी मुनिराजों को होनेवाले अन्तर्बाह्य यम, नियम, संयम, तप आदि सभी भावों में एकमात्र आत्मा की आराधना ही मुख्य रहती है। **आत्मा की आराधना से ये सभी सनाथ हैं, उसके बिना इनका कोई अर्थ नहीं है।।१२७।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

आत्मा नित्यं तपसि नियमे संयमे सच्चरित्रे
तिष्टत्युच्चैः परमयमिनः शुद्धदृष्टेर्मनश्चेत् ।
तस्मिन् बाढं भवभयहरे भावितीर्थाधिनाथे
साक्षादेषा सहजसमता प्रास्तरागाभिरामे ।।२१२।।

जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं ण जणेइ दु ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ।।१२८।।

यस्य रागस्तु द्वेषस्तु विकृतिं न जनयति तु।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ।।१२८।।

(हरिगीत)

शुद्ध सम्यग्दृष्टिजन जाने कि संयमवंत के।
तप-नियम-संयम-चरित में यदि आतमा ही मुख्य है।।
तो सहज समताभाव निश्चित जानिये हे भव्यजन।
भावितीर्थंकर श्रमण को भवभयों से मुक्त जो।।२१२।।

यदि शुद्धदृष्टिवाले सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा समझते हैं कि परममुनियों के तप में, नियम में, संयम में और सच्चारित्र में सदा एक आत्मा ही ऊर्ध्व रहता है; तो यह सिद्ध होता है कि राग के नाश के कारण उस संसार के भय का हरण करनेवाले भविष्य के तीर्थंकर भगवन्त को सहज समता साक्षात् ही है, निश्चित ही है।

टीका और टीका में समागत उक्त छन्द में यह ध्वनित होता है कि टीकाकार को ऐसा विश्वास है कि वे भविष्य में तीर्थंकर होनेवाले हैं; इसकारण ही वे भावि तीर्थनाथ को याद करते हैं; क्योंकि उक्त स्थिति तो सभी तीर्थकरों की होती है; तब फिर वे भावी तीर्थाधिनाथ को दो-दो बार क्यों याद करते हैं।।२१२।।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

राग एवं द्वेष जिसका चित्त विकृत न करें।
उन वीतरागी संत को जिन कहें सामायिक सदा।।१२८।।

जिसे राग या द्वेष विकृति उत्पन्न नहीं करते; उसे सामायिक स्थायी है ह्न ऐसा केवली के शासन में कहा है।

इह हि रागद्वेषाभावादपरिस्पंदरूपत्वं भवतीत्युक्तम्। यस्य परमवीतरागसंयमिनः पापाटवीपाकस्य रागो वा द्वेषो वा विकृतिं नावतरति, तस्य महानन्दाभिलाषिणः जीवस्य पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहस्य सामायिकनामव्रतं शाश्वतं भवतीति केवलिनां शासने प्रसिद्धं भवतीति।

(मंदाक्रांता)

रागद्वेषौ विकृतिमिह तौ नैव कर्त्तुं समर्थौ
ज्ञानज्योतिः-प्रहतदुरितानीक-घोरान्धकारे।
आरातीये सहजपरमानन्दपीयूषपूरे
तस्मिन्नित्ये समरसमये को विधिः को निषेधः ।।२१३।।

टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ यह कह रहे हैं कि राग-द्वेष के अभाव से अपरिस्पंदरूपता, समता, अकंपता, अक्षुब्धता होती है। पापरूपी अटवी (भयंकर जंगल) को जलाने में अग्नि समान जिस परम वीतरागी संयमी को राग-द्वेष विकृति उत्पन्न नहीं करते; उस पाँच इन्द्रियों के विस्तार से रहित, देहमात्र परिग्रहधारी आनन्द के अभिलाषी जीव को सामायिक नाम का व्रत शाश्वत है ह्न ऐसा केवलियों के शासन में प्रसिद्ध है।''

इस गाथा और उसकी टीका में मात्र यही कहा गया है कि जिन वीतरागी सन्तों को राग-द्वेष भाव, विकृति उत्पन्न नहीं करते; उन्हें सदा सामायिक ही है।।१२८।।

इस गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

किया पापतम नाश ज्ञानज्योति से जिसने।
परमसुखामृतपूर आतमा निकट जहाँ है।।
राग-द्वेष न समर्थ उसे विकृत करने में।
उस समरसमय आतम में है विधि-निषेध क्या।।२१३।।

जिसने ज्ञानज्योति द्वारा पापसमूहरूप घोर अंधकार का नाश किया है, सहज परमानंद का पूर जहाँ निकट है; वहाँ राग-द्वेष विकृति करने में समर्थ नहीं हैं। उस शाश्वत समरसभावरूप आत्मतत्त्व में विधि क्या और निषेध क्या ? तात्पर्य यह है कि उसे राग-द्वेष नहीं होते हैं।

'यह ऐसा है या हमें ऐसा करना चाहिए' ह्न इसप्रकार के विकल्प विधि संबंधी विकल्प हैं और 'यह ऐसा नहीं है या हमें ऐसा नहीं करना चाहिए' ह्न इसप्रकार के विकल्प निषेध संबंधी विकल्प हैं।

जो दु अट्टं च रुद्दं च झाणं वज्जेदि णिच्चसो।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे।।१२९।।

यस्त्वार्त्तं च रौद्रं च ध्यानं वर्जयति नित्यशः।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने।।१२९।।

आर्तरौद्रध्यानपरित्यागात् सनातनसामायिकव्रतस्वरूपाख्यानमेतत्। यस्तु नित्यनिरंजन-निजकारणसमयसारस्वरूपनियतशुद्धनिश्चयपरमवीतरागसुखामृतपानपरायणो जीवः तिर्यग्योनिप्रेतावासनारकादिगतिप्रायोग्यतानिमित्तम् आर्त्तरौद्रध्यानद्वयं नित्यशः संत्यजति, तस्य खलु केवलदर्शनसिद्धं शाश्वतं सामायिकव्रतं भवतीति।

यह आत्मा स्वभाव से तो विकल्पातीत है ही और पर्याय में भी विकल्पातीतदशा को भी प्राप्त हो गया हो तो फिर उसमें विधि-निषेध संबंधी विकल्पों को अवकाश ही कहाँ रहता है ?।।२१३।।

अब इस गाथा में यह कहते हैं कि जो आर्त्त और रौद्रध्यान से रहित है; उसे सामायिक सदा ही है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

आर्त एवं रौद्र से जो सन्त नित वर्जित रहें।
उन आत्मध्यानी संत को जिन कहें सामायिक सदा।।१२९।।

जो आर्त्त और रौद्रध्यान को सदा छोड़ता है; उसे सामायिक व्रत स्थायी है ह्न ऐसा केवली शासन में कहा गया है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह आर्त्त और रौद्रध्यान के परित्याग द्वारा सनातन सामायिक व्रत के स्वरूप का कथन है। नित्य निरंजन निजकारणपरमात्मा के स्वरूप में नियत, शुद्धनिश्चय परमवीतराग सुखामृत के पान में परायण जो जीव तिर्यंच योनि, प्रेतवास व नरकादि गति की योग्यता के हेतुभूत आर्त्त व रौद्र ह्न इन दो ध्यानों को नित्य छोड़ता है; उसे वस्तुतः केवलदर्शन सिद्ध शाश्वत सामायिक व्रत है।''

इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, वेदना और निदान के निमित्त से जो खेदरूप परिणाम होते हैं, वे आर्त्तध्यान हैं और निर्दयता/क्रूरता में होने वाले आनन्दरूप परिणाम रौद्रध्यान हैं। आर्त्तध्यान को शास्त्रों में तिर्यंच गति का कारण बताया गया है और रौद्रध्यान को नरकगति का कारण कहा गया है।[१] यहाँ इनके फल में प्रेतयोनि को भी जोड़ दिया है।

१. आचार्य पूज्यपाद : सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ६, सूत्र १५ व १६ की टीका

(आर्या)

इति जिनशासनसिद्धं सामायिकव्रतमणुव्रतं भवति।
यस्त्यजति मुनिर्नित्यं ध्यानद्वयमार्तरौद्राख्यम्।।२१४।।

जो दु पुण्णं च पावं च भावं वज्जेदि णिच्चसो।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे।।१३०।।

जिनके ये आर्त्त और रौद्रध्यान नहीं होंगे, उनके धर्मध्यान और शुक्लध्यान होंगे। धर्म और शुक्लध्यान को मोक्ष का कारण कहा गया है।[१] इससे यह सहज ही सिद्ध है कि जिनके आर्त्त और रौद्रध्यान नहीं होंगे; उनके मोक्षप्राप्ति की हेतुभूत सामायिक सदा होगी ही।।१२९।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(सोरठा)

जो मुनि छोड़े नित्य आर्त्त-रौद्र ये ध्यान दो।
सामायिकव्रत नित्य उनको जिनशासन कथित।।२१४।।

इसप्रकार जो मुनिराज आर्त्त और रौद्र नाम के दो ध्यानों को छोड़ते हैं; उन्हें जिनशासन में कहे गये अणुव्रतरूप सामायिक व्रत होता है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि मुनिराजों की सामायिक (आत्मध्यान) को यहाँ अणुव्रत क्यों कहा जा रहा है ?

श्रावकों के बारह व्रतों में एक सामायिक नामक शिक्षाव्रत है और श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं में तीसरी प्रतिमा का नाम भी सामायिक है। उनकी चर्चा यहाँ नहीं हैं।

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक के जो ग्यारह प्रतिमायें होती हैं; उनमें दूसरी प्रतिमा में बारह व्रत होते हैं। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ह्न इसप्रकार कुल बारह व्रत होते हैं।

सामायिक नाम का व्रत अणुव्रतों में नहीं है, शिक्षा व्रतों में है। इसलिए यहाँ प्रयुक्त अणुव्रत का संबंध श्रावक के अणुव्रतों से होना संभव ही नहीं है।

जैसा कि आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने कहा कि यहाँ उल्लिखित सामायिक व्रत को अणुव्रत यथाख्यातचारित्र की अपेक्षा कहा है। अत: स्वामीजी का यह कथन आगमसम्मत और युक्तिसंगत ही है।।२१४।।

---

१. आचार्य पूज्यपाद : सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ९, सूत्र २९

यस्तु पुण्यं च पापं च भावं वर्जयति नित्यशः।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने।।१३०।।

शुभाशुभपरिणामसमुपजनितसुकृतदुरितकर्मसंन्यासविधानाख्यानमेतत्। बाह्याभ्यंतर-परित्यागलक्षणलक्षितानां परमजिनयोगीश्वराणां चरणनलिनक्षालनसंवाहनादिवैयावृत्त्य-करणजनितशुभपरिणतिविशेषसमुपार्जितं पुण्यकर्म, हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहपरिणामसंजात-मशुभकर्म, यः सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणिः संसृतिपुरंध्रिकाविलासविभ्रमजन्मभूमि-स्थानं तत्कर्मद्वयमिति त्यजति, तस्य नित्यं केवलिमतसिद्धं सामायिकव्रतं भवतीति।

अब इस गाथा में यह कहते हैं कि पुण्य-पापरूप विकारीभावों को छोड़नेवाले को सदा सामायिक है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो पुण्य एवं पाप भावों के निषेधक हैं सदा।
उन वीतरागी संत को जिन कहें सामायिक सदा।।१३०।।

जो पुण्य और पापरूप भावों को सदा छोड़ता है, उसे सामायिक स्थायी है ह्न ऐसा केवली के शासन में कहा है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह शुभाशुभ परिणामों से उत्पन्न होनेवाले सुकृत-दुष्कृतरूप (पुण्य-पापरूप ह्न भले-बुरे कार्यरूप) कार्यों से संन्यास की विधि का कथन है। बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह के त्यागरूप लक्षण से लक्षित (पहिचाने जानेवाले) परमजिनयोगीश्वरों के चरणकमलों का प्रक्षालन, पैरों का दबाना आदि वैयावृत्ति करने से उत्पन्न होनेवाली शुभपरिणति से उपार्जित पुण्यकर्म (शुभकर्म) को तथा हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसंबंधी परिणामों से उत्पन्न होनेवाले अशुभकर्म (पापकर्म) को; सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणि मुनिराज छोड़ते हैं; क्योंकि ये दोनों शुभाशुभ पुण्य-पापकर्म संसाररूपी स्त्री के विलास के विभ्रम की जन्मभूमि के स्थान हैं। शुभाशुभकर्म को, पुण्य-पाप के भावों को छोड़नेवाले परम वीतरागी सन्तों के केवलीमत सम्मत, सामायिक व्रत नित्य है।''

गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति आदि के शुभभावों से उत्पन्न पुण्य और हिंसादि पापभावों से उत्पन्न होनेवाले पाप ह्न इन दोनों भावों से विरक्त-रहित सन्तों के नित्य सामायिक ही है ह्न ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।।१३०।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव तीन छन्द लिखते हैं; जिनमें से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रान्ता)

त्यक्त्वा सर्वं सुकृतदुरितं संसृतेर्मूलभूतं
नित्यानंदं व्रजति सहजं शुद्धचैतन्यरूपम्।
तस्मिन् सद्दृग् विहरति सदा शुद्धजीवास्तिकाये
पश्चादुच्चैः त्रिभुवनजनैरर्चितः सन् जिनः स्यात् ।।२१५।।

(शिखरिणी)

स्वतःसिद्धं ज्ञानं दुरघसुकृतारण्यदहनं
महामोहध्वान्तप्रबलतरतेजोमयमिदम्।
विनिर्मुक्तेर्मूलं निरुपधिमहानंदसुखदं
यजाम्येतन्नित्यं भवपरिभवध्वंसनिपुणम् ।।२१६।।

(हरिगीत)

संसार के जो मूल ऐसे पुण्य एवं पाप को।
छोड़ नित्यानन्दमय चैतन्य सहजस्वभाव को।।
प्राप्त कर जो रमण करते आत्मा में निरंतर।
अरे त्रिभुवनपूज्य वे जिनदेवपद को प्राप्त हों।।२१५।।

सम्यग्दृष्टि जीव संसार के मूलभूत पुण्य-पापभावों को छोड़कर नित्यानन्दमय, सहज, शुद्धचैतन्यरूप जीवास्तिकाय को प्राप्त करता है; उसी में सदा विहार करता है और फिर तीनों लोक के जीवों से पूजित होता हो ह्न ऐसा जिनदेव बनता है।

उक्त छन्द में यह बताया गया है कि भवदुःखों के मूल कारण पुण्य-पापभावों का त्याग कर शुद्धजीवास्तिकाय अर्थात् ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा में जमने-रमनेवाले जीव अनंतसुखस्वरूप सिद्धदशा को प्राप्त करते हैं।।२१५।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

पुनपापरूपी गहनवन दाहक भयंकर अग्नि जो।
अर मोहतम नाशक प्रबल अति तेज मुक्तीमूल जो।।
निरुपाधि सुख आनन्ददा भवध्वंस करने में निपुण।
स्वयंभू जो ज्ञान उसको नित्य करता मैं नमन।।२१६।।

यह स्वतःसिद्ध ज्ञान पाप-पुण्यरूपी वन को जलानेवाली अग्नि है, महामोहान्धकार को नाश करनेवाले अतिप्रबलतेज से सहित है, मुक्ति का मूल है और वास्तविक आनन्द को देनेवाला है। संसार का नाश करने में निपुण इस ज्ञान को मैं नित्य पूजता हूँ।

(शिखरिणी)

अयं जीवो जीवत्यघकुलवशात् संसृतिवधू–
धवत्वं संप्राप्य स्मरजनितसौख्याकुलमतिः ।
क्वचिद् भव्यत्वेन व्रजति तरसा निर्वृतिसुखं
तदेकं संत्यक्त्वा पुनरपि स सिद्धो न चलति ।।२१७।।

जो दु हस्सं रई सोगं अरतिं वज्जेदि णिच्चसो ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ।।१३१।।

इस छंद में **स्वत:सिद्ध ज्ञान को मोहांधकार का नाश करनेवाला मुक्तिमार्ग का मूल, सच्चा सुख प्राप्त करानेवाला कहा गया है।** संसारदुख से बचने के लिए उस ज्ञान की आराधना करने की बात कही गयी है।।२१६।।

तीसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

आकुलित होकर जी रहा जिय अघों के समुदाय से।
भववधू का पति बनकर काम सुख अभिलाष से।।
भव्यत्व द्वारा मुक्ति सुख वह प्राप्त करता है कभी।
अनूपम सिद्धत्वसुख से फिर चलित होता नहीं।।२१७।।

यह जीव शुभाशुभकर्मों के वश संसाररूप स्त्री का पति बनकर कामजनित सुख के लिए आकुलित होकर जी रहा है। यह जीव कभी भव्यत्व शक्ति के द्वारा निवृत्ति (मुक्ति) सुख को प्राप्त करता है; उसके बाद उक्त सिद्धदशा में प्राप्त होनेवाले सुख से कभी वंचित नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि सिद्धदशा के सुख में रंचमात्र भी आकुलता नहीं है; अत: उसमें यह जीव सदा तृप्त रहता है, अतृप्त होकर आकुलित नहीं होता।

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि यद्यपि यह जीव अनादिकाल से सांसारिक सुख प्राप्त करने के लिए आकुलित हो रहा है; तथापि **कभी भव्यत्वशक्ति के विकास से काललब्धि आने पर सच्चे सुख को प्राप्त करता है तो फिर अनंतकाल तक अत्यन्त तृप्त रहता हुआ स्वयं में समाधिस्थ रहता है।।२१७।।**

अब आगामी दो गाथाओं में नोकषायों को छोड़नेवाले जीव सदा सामायिक में रहते हैं ह्न यह बताते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

जो दुगंछा भयं वेदं सव्वं वज्जेदि णिच्चसो।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे।।१३२।।

यस्तु हास्यं रतिं शोकं अरतिं वर्जयति नित्यशः।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने।।१३१।।
यः जुगुप्सां भयं वेदं सर्वं वर्जयति नित्यशः।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने।।१३२।।

नवनोकषायविजयेन समासादितसामायिकचारित्रस्वरूपाख्यानमेतत्। मोहनीयकर्मसमुप-जनितस्त्रीपुंनपुंसकवेदहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साभिधाननवनोकषायकलितकलंकपंका-त्मकसमस्तविकारजालकं परमसमाधिबलेन यस्तु निश्चयरत्नत्रयात्मकपरमतपोधनः संत्यजति, तस्य खलु केवलिभट्टारकशासनसिद्धपरमसामायिकाभिधानव्रतं शाश्वतरूपमनेन सूत्रद्वयेन कथितं भवतीति।

(हरिगीत)

जो रहित हैं नित रति-अरति उपहास अर शोकादि से।
उन वीतरागी संत को जिन कहें सामायिक सदा।।१३१।।
जो जुगुप्सा भय वेद विरहित नित्य निज में रत रहें।
उन वीतरागी सन्त को जिन कहें सामायिक सदा।।१३२।।

जो मुनिराज हास्य, रति, अरति, शोक को नित्य छोड़ता है; उसे सामायिक सदा वर्तती है। ह्न ऐसा केवली के शासन में कहा है।

जो जुगुप्सा, भय और स्त्रीवेद, पुरुषवेद व नपुंसकवेदों को नित्य छोड़ता है; उसे सामायिक सदा होती है। ह्न ऐसा केवली के शासन में कहा है।

इन गाथाओं का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह नौ नोकषायों को जीत लेने से प्राप्त होनेवाले सामायिकचारित्र का कथन है।

मोहनीयकर्म से उत्पन्न होनेवाले स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसंकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा नामक नौ नोकषायों से होनेवाले कलंकरूपी कीचड़ को अर्थात् समस्त विकारसमूह को परमसमाधि के बल से जो निश्चयरत्नत्रयधारी मुनिराज छोड़ते हैं; उन्हें केवली भगवान के शासन से सिद्ध हुआ परमसामयिक नामक व्रत शाश्वतरूप है ह्न ऐसा इन दो गाथाओं में कहा गया है।''

उक्त दो गाथाओं में हास्यादि नौ नोकषायों के अभाव से होनेवाली शुद्धपरिणति को सामायिक व्रत अर्थात् परमसमाधि कहा गया है।।१३१-१३२।।

(शिखरिणी)

त्यजाम्येतत्सर्वं ननु नवकषायात्मकमहं
मुदा संसारस्त्रीजनितसुखदुःखावलिकरम् ।
महामोहान्धानां सततसुलभं दुर्लभतरं
समाधौ निष्ठानामनवरतमानन्दमनसाम् ।।२१८।।

जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणं झाएदि णिच्चसो ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ।।१३३।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

मोहान्ध जीवों को सुलभ पर आत्मनिष्ठ समाधिरत।
जो जीव हैं उन सभी को है महादुर्लभ भाव जो।।
वह भवस्त्री उत्पन्न सुख-दुखश्रेणिकारक रूप है।
मैं छोड़ता उस भाव को जो नोकषायस्वरूप है।।२१८।।

महामोहान्ध जीवों को सदा सुलभ तथा निरन्तर आनन्द में मग्न रहनेवाले समाधिनिष्ठ जीवों को अतिदुर्लभ, संसाररूपी स्त्री से उत्पन्न सुख-दुखों की पंक्ति को करनेवाला यह नोकषायरूप समस्त विकार मैं अत्यन्त प्रमोद से छोड़ता हूँ।

इस कलश में सबकुछ मिलाकर एक ही बात कही गई है कि नौ नोकषायजन्य सांसारिक सुख-दुःख, मोहान्ध अज्ञानीजनों को सदा सुलभ ही हैं; किन्तु समाधिनिष्ठ ज्ञानी धर्मात्मा संतगणों को अति दुर्लभ हैं, असंभव है; क्योंकि वे मोहातीत हो गये हैं, सच्ची सामायिक और समाधि उन्हें ही है।

टीकाकार मुनिराज संकल्प करते हैं कि मैं इन सांसारिक सुख-दुःख के उत्पादक नोकषायरूप समस्त विकारीभावों का अत्यन्त प्रमोद भाव से त्याग करता हूँ।।२१८।।

यह आगामी गाथा परमसमाधि अधिकार के समापन की गाथा है। इसमें धर्मध्यान और शुक्लध्यान करनेवालों को सामायिक स्थायी है ह्न यह कहा गया है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो धर्म एवं शुक्लध्यानी नित्य ध्यावें आतमा।
उन वीतरागी सन्त को जिन कहें सामायिक सदा।।१३३।।

यस्तु धर्मं च शुक्लं च ध्यानं ध्यायति नित्यशः।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने।।१३३।।

परमसमाध्यधिकारोपसंहारोपन्यासोऽयम्। यस्तु सकलविमलकेवलज्ञानदर्शन-लोलुपः परमजिनयोगीश्वरः स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानेन निखिलविकल्पजालनिर्मुक्त-निश्चयशुक्लध्यानेन च अनवरतमखण्डाद्वैतसहजचिद्विलासलक्षणमक्षयानन्दाम्भोधि-मज्जंतं सकलबाह्यक्रियापराङ्मुखं शश्वदंतःक्रियाधिकरणं स्वात्मनिष्ठनिर्विकल्पपरमसमाधि-संपत्तिकारणाभ्यां ताभ्यां धर्मशुक्लध्यानाभ्यां सदाशिवात्मकमात्मानं ध्यायति हि तस्य खलु जिनेश्वरशासननिष्पन्नं नित्यं शुद्धं त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिलक्षणं शाश्वतं सामायिक-व्रतं भवतीति।

(मंदाक्रान्ता)

शुक्लध्याने परिणतमतिः शुद्धरत्नत्रयात्मा
धर्मध्यानेप्यनघपरमानन्दतत्त्वाश्रितेऽस्मिन्।
प्राप्नोत्युच्चैरपगतमहद्दुःखजालं विशालं
भेदाभावात् किमपि भविनां वाङ्मनोमार्गदूरम्।।२१९।।

जो धर्मध्यान और शुक्लध्यान को नित्य ध्याता है; उसे सामायिक स्थायी है ह्न ऐसा केवली के शासन में कहा है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह परमसमाधि अधिकार के उपसंहार का कथन है।

जो पूर्णतः निर्मल केवलज्ञान और केवलदर्शन का लोलुपी परमजिन योगीश्वर; अपने आत्मा के आश्रय से होनेवाले निश्चय धर्मध्यान द्वारा तथा सम्पूर्ण विकल्पजाल से मुक्त निश्चय शुक्लध्यान द्वारा; अखण्ड, अद्वैत, चिद्विलास लक्षण, अक्षय आनन्द सागर भगवान आत्मा में मग्न होनेवाले, सम्पूर्ण बाह्यक्रियाकाण्ड से पराङ्मुख; शाश्वतरूप स्वात्मनिष्ठ निर्विकल्प परम समाधिरूप सम्पत्ति के कारणभूत, सदा-शिवस्वरूप आत्मा को निरन्तर ध्याता है; उसे वास्तव में जिनेश्वर शासन से निष्पन्न हुआ, नित्य शुद्ध, त्रिगुप्ति द्वारा गुप्त परमसमाधिरूप शाश्वत सामायिक व्रत है।''

इसप्रकार हम देखते हैं कि सच्ची सामायिक और सच्ची समाधि तो धर्मध्यान और शुक्लध्यान में लगे सन्तों को ही होती है।।१३३।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इस प्रकार है ह्न

(हरिगीत)

इस अनघ आनन्दमय निजतत्त्व के अभ्यास से।
है बुद्धि निर्मल हुई जिनकी धर्म शुक्लध्यान से॥
मन वचन मग से दूर हैं जो वे सुखी शुद्धातमा।
उन रतनत्रय के साधकों को प्राप्त हो निज आतमा॥२१९॥

मन-वचन मार्ग से दूर, अभेद, दु:खसमूह से रहित विशाल आत्म तत्त्व को वे मुनिराज प्राप्त करते हैं कि जो पुण्य-पाप से रहित, अनघ, परमानन्दमय आत्मतत्त्व के आश्रय से धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप शुद्धरत्नत्रयरूप में परिणमित हुए हैं।

धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप परिणमित आत्मा ही परमसमाधि में स्थित है; उन्हें सदा सामायिक ही है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस परमसमाधि अधिकार की बारह गाथाओं में से आरंभ की दो गाथाओं में तो यह कहा है कि जो वचनोच्चारण क्रिया को छोड़कर संयम, नियम, तप तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यानपूर्वक वीतरागभाव से आत्मा का ध्यान करता है, उसे परमसमाधि होती है।

उसके बाद एक गाथा में यह कहा कि समताभाव रहित श्रमण के वनवास, कायक्लेश, उपवास, अध्ययन, मौन आदि सभी क्रियाएँ निरर्थक हैं।

इसके बाद ९ गाथाओं में यह कहा है कि सर्व सावद्य से विरत, त्रिगुप्तिधारक, इन्द्रियजयी, त्रस-स्थावर जीवों के प्रति समभाव धारक, संयम, नियम और तप में आत्मा के समीप रहनेवाले, राग-द्वेष से अविकृत चित्तवाले, आर्त्त और रौद्रध्यान से बचनेवाले, पुण्य और पाप भाव के निषेधक, नौ नोकषायों से विरत और धर्म व शुक्लध्यान के ध्याता मुनिराजों का सदा ही सामायिक है, एकप्रकार से वे सदा परम समाधि में ही लीन हैं।

सम्पूर्ण अधिकार का सार इस चन्द पंक्तियों में ही समाहित हो जाता है। यदि एक वाक्य में कहना है तो कह सकते हैं कि निश्चयरत्नत्रय से परिणत तीन कषाय के अभावरूप शुद्ध परिणतिवाले सम्यग्दृष्टि भावलिंगी संत और शुद्धोपयोगी संत ह्न ये सभी सदा सामायिक में ही है, सदा समाधिस्थ ही हैं।

विशेष ध्यान देने की बात यह है कि शुद्धोपयोगदशा में तो सभी सन्त समाधिस्थ हैं ही, **तीन कषाय के अभाव से उत्पन्न शुद्धपरिणति वाले संत शुभोपयोग के काल में भी समाधिस्थ ही हैं, सदा सामायिक में ही हैं। यहाँ यह अत्यन्त स्पष्टरूप से कहा गया है।**

एक बात और भी समझने लायक है कि ऐसा नहीं है कि आँखें बन्द कर बैठ गये और

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव-विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ परमसमाध्यधिकारो नवमः श्रुतस्कन्धः।

सामायिक या समाधि हो गई। सदा सामायिक या समाधिवाले व्यक्ति को सर्व सावद्य से विरत, त्रिगुप्ति का धारक, इन्द्रियजयी, त्रस-स्थावर जीवों के प्रति समभाव का धारक, संयम, नियम और तप में आत्मा के समीप रहनेवाला, राग-द्वेष से अविकृत चित्तवाला, आर्त्त-रौद्रध्यान से विरत, पुण्य-पाप का निषेधक, नोकषायों से विरत और धर्मध्यान-शुक्लध्यान का ध्याता भी होना चाहिए।

उक्त योग्यताओं के बिना वह सदा सामायिकवाला या समाधिस्थ नहीं हो सकता।।२१९।।

परमसमाध्यधिकार की समाप्ति के अवसर पर टीकाकार जो पंक्ति लिखते हैं; उसका भाव इसप्रकार है ह्न

''इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में परमसमाध्यधिकार नामक नौवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।''

यहाँ नियमसार एवं उसकी तात्पर्यवृत्ति टीका के साथ-साथ डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत आत्मप्रबोधिनी हिन्दी टीका में परमसमाध्यधिकार नामक नौवाँ श्रुतस्कन्ध भी समाप्त होता है।

•••

भाई! ये बननेवाले भगवान की बात नहीं, यह तो बने-बनाये भगवान की बात है। स्वभाव की अपेक्षा तुझे भगवान बनना नहीं है, अपितु स्वभाव से तो तू बना-बनाया भगवान ही है ह्न ऐसा जानना-मानना और अपने में ही जम जाना, रम जाना पर्याय में भगवान बनने का उपाय है। तू एक बार सच्चे दिल से अन्तर की गहराई से इस बात को स्वीकार तो कर; अन्तर की स्वीकृति आते ही तेरी दृष्टि परपदार्थों से हटकर सहज ही स्वभाव-सन्मुख होगी, ज्ञान भी अन्तरोन्मुख होगा और तू अन्तर में ही समा जायेगा, लीन हो जायेगा, समाधिस्थ हो जायेगा। ऐसा होने पर तेरे अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का ऐसा दरिया उमड़ेगा कि तू निहाल हो जावेगा, कृतकृत्य हो जावेगा। एकबार ऐसा स्वीकार करके तो देख।

ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-८३

१०

परमभक्ति अधिकार

(गाथा १३४ से गाथा १४० तक)

अथ संप्रति हि भक्त्यधिकार उच्यते।

सम्मत्तणाणचरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं।।१३४।।

सम्यक्त्वज्ञानचरणेषु यो भक्तिं करोति श्रावकः श्रमणः।
तस्य तु निर्वृत्तिभक्तिर्भवतीति जिनैः प्रज्ञप्तम्।।१३४।।

रत्नत्रयस्वरूपाख्यानमेतत्। चतुर्गतिसंसारपरिभ्रमणकारणतीव्रमिथ्यात्वकर्मप्रकृतिप्रतिपक्षनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानावबोधाचरणात्मकेषु शुद्धरत्नत्रयपरिणामेषु भजनं भक्तिराराधनेत्यर्थः। एकादशपदेषु श्रावकेषु जघन्याः षट्, मध्यमास्त्रयः, उत्तमौ द्वौ च; एते सर्वे

विगत नौ अधिकारों में क्रमशः जीव, अजीव, शुद्धभाव, व्यवहारचारित्र, परमार्थ-प्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान, परम आलोचना, शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त और परमसमाधि की चर्चा हुई। अब इस दसवें अधिकार में परमभक्ति की चर्चा आरंभ करते हैं।

इस परमभक्ति अधिकार को प्रारंभ करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव लिखते हैं ह्न **''अब भक्ति अधिकार कहा जाता है।''**

अब नियमसार की गाथा १३४ एवं परमभक्ति अधिकार की पहली गाथा में रत्नत्रय का स्वरूप समझाते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

भक्ति करें जो श्रमण श्रावक ज्ञान-दर्शन-चरण की।
निरवृत्ति भक्ति उन्हें हो इस भाँति सब जिनवर कहें ।।१३४।।

जो श्रावक या श्रमण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भक्ति करता है, उसे निवृत्ति भक्ति है ह्न ऐसा जिनेन्द्रदेवों ने कहा है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह रत्नत्रय के स्वरूप का कथन है। चार गतिरूप संसार में परिभ्रमण का कारणभूत तीव्र मिथ्यात्व कर्म की प्रकृति के प्रतिपक्षी निज परमात्म तत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरणस्वरूप शुद्धरत्नत्रयरूप परिणामों का भजन ही भक्ति है; आराधना है ह्न ऐसा इसका अर्थ है। श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं में आरंभ की छह प्रतिमायें जघन्य श्रावक की हैं,

शुद्धरत्नत्रयभक्तिं कुर्वन्ति। अथ भवभयभीरवः परमनैष्कर्म्यवृत्तयः परमतपोधनाश्च रत्नत्रय-भुक्तिं कुर्वन्ति। तेषां परमश्रावकाणां परमतपोधनानां च जिनोत्तमैः प्रज्ञप्ता निर्वृत्तिभक्तिरपुन-र्भवपुरंध्रिकासेवा भवतीति।

(मंदाक्रान्ता)

सम्यक्त्वेऽस्मिन् भवभयहरे शुद्धबोधे चरित्रे
भक्तिं कुर्यादनिशमतुलां यो भवच्छेददक्षाम्।
काम-क्रोधाद्यखिल-दुरघव्रात-निर्मुक्तचेताः
भक्तो भक्तो भवति सततं श्रावकः संयमी वा।।२२०।।

मध्य की तीन प्रतिमा में मध्यम श्रावक की हैं और अन्त की दो प्रतिमायें उत्तम श्रावक की हैं।[१] ह्न ये सभी श्रावक शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करते हैं। तथा संसारभय से भयभीत, परम नैष्कर्मवृत्तिवाले परम तपोधन भी शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करते हैं। उन परम श्रावकों तथा परम मुनिराजों को, जिनदेवों के द्वारा कही गई और दुबारा संसार में न भटकने देनेवाली यह निर्वृत्ति भक्ति (निर्वाण भक्ति) रूपी स्त्री की सेवा है।''

इस गाथा और उसकी टीका में शुद्ध रत्नत्रयरूप निर्वृत्ति भक्ति अर्थात् निर्वाण भक्ति का स्वरूप समझाया गया है। टीका के आरंभिक वाक्य में टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि यह रत्नत्रय के स्वरूप का व्याख्यान है; पर अगली पंक्तियों में ही यह स्पष्ट कर देते हैं कि शुद्ध रत्नत्रयरूप परिणामों का भजन-आराधना ही भक्ति है।

शुद्ध रत्नत्रय के धारी होने से यह निर्वृत्ति भक्ति मुख्यरूप से मुनिराजों के ही होती है; तथापि **आंशिक निर्वृत्ति भक्ति आंशिक संयम को धारण करनेवाले प्रतिमाधारी श्रावकों के भी होती है।**

यह निर्वृत्ति भक्ति नामक निश्चयभक्ति शुद्ध निर्मल परिणतिरूप है; यही कारण है कि यह सदा विद्यमान रहती है। पर यह निश्चयभक्ति न तो पूर्णतः शुद्धोपयोगरूप ही है और न वचनव्यवहाररूप ही है तथा यह निश्चयभक्ति नमस्कारादि कायिक क्रिया और विकल्पात्मक मानसिक भावरूप भी नहीं है; क्योंकि उक्त शुद्धोपयोग तथा मानसिक विकल्पात्मक स्तुति बोलनेरूप तथा नृत्यादि चेष्टारूप मन-वचन-काय संबंधी व्यवहार भक्ति कभी-कभी ही होती है।।१३४।।

---

१. श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं के नाम क्रमशः इसप्रकार हैं ह्न (१) दर्शन प्रतिमा, (२) व्रत प्रतिमा, (३) सामायिक प्रतिमा, (४) प्रोषधोपवास प्रतिमा, (५) सचित्त त्याग प्रतिमा, (६) रात्रिभोजनत्याग प्रतिमा या दिवामैथुनत्याग प्रतिमा, (७) ब्रह्मचर्य प्रतिमा, (८) आरंभत्याग प्रतिमा, (९) परिग्रहत्याग प्रतिमा, (१०) अनुमतित्याग प्रतिमा और (११) उदिष्टाहारत्याग प्रतिमा।

मोक्खंगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि ।
जो कुणदि परमभत्तिं ववहारणयेण परिकहियं ।।१३५।।

मोक्षगतपुरुषाणां गुणभेदं ज्ञात्वा तेषामपि ।
य: करोति परमभक्तिं व्यवहारनयेन परिकथितम् ।।१३५।।

व्यवहारनयप्रधानसिद्धभक्तिस्वरूपाख्यानमेतत् । ये पुराणपुरुषा: समस्तकर्मक्षयोपायहेतु–

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसी भाव का पोषक एक छन्द लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

संसारभयहर ज्ञानदर्शनचरण की जो संयमी।
श्रावक करें भव अन्तकारक अतुल भक्ती निरन्तर।।
वे काम क्रोधादिक अखिल अघ मुक्त मानस भक्तगण।
ही लोक में जिनभक्त सहृदय और सच्चे भक्त हैं।।२२०।।

जो श्रावक या संयमी जीव संसार भय को हरण करनेवाले इस सम्यग्दर्शन की, शुद्धज्ञान और शुद्धचारित्र की; संसार का छेद कर देनेवाली अतुल भक्ति निरन्तर करता है; काम–क्रोधादि सम्पूर्ण दुष्ट पापसमूह से मुक्त चित्तवाला वह श्रावक अथवा संयमी जीव निरन्तर भक्त है, भक्त ही है।

उक्त कलश में मात्र यही कहा गया है कि **शुद्ध रत्नत्रयधारी श्रावक या संयमी ह्न दोनों ही सदा निश्चय भक्ति से संपन्न हैं। भले ही वे आपको बाह्य में भक्ति करते दिखाई न दें; तथापि वे अपनी शुद्ध रत्नत्रय परिणति से निरन्तर भक्त ही हैं।।२२०।।**

१३४वीं गाथा में निश्चयभक्ति का स्वरूप कहा। अब इस १३५वीं गाथा में व्यवहारभक्ति का स्वरूप समझाते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

मुक्तिगत नरश्रेष्ठ की भक्ति करें गुणभेद से।
वह परमभक्ति कही है जिनसूत्र में व्यवहार से।।१३५।।

जो जीव मोक्षगत पुरुषों का गुणभेद जानकर, उनकी भी परमभक्ति करता है; उस जीव को व्यवहारनय से परमभक्ति कही है।

उक्त गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह व्यवहारनयप्रधान सिद्धभक्ति के स्वरूप का कथन है। जो पुराणपुरुष सम्पूर्ण कर्मों के क्षय के उपायभूत कारणपरमात्मा की अभेद–अनुपचार रत्नत्रय परिणति से

भूतं कारणपरमात्मानमभेदानुपचाररत्नत्रयपरिणत्या सम्यगाराध्य सिद्धा जातास्तेषां केवल-ज्ञानादिशुद्धगुणभेदं ज्ञात्वा निर्वाणपरंपराहेतुभूतां परमभक्तिमासन्नभव्य: करोति, तस्य मुमुक्षो-र्व्यवहारनयेन निर्वृत्तिभक्तिर्भवतीति ।

(अनुष्टुभ्)

उद्धूतकर्मसंदोहान् सिद्धान् सिद्धिवधूधवान् ।
संप्राप्ताष्टगुणैश्वर्यान् नित्यं वन्दे शिवालयान् ।।२२१।।

(आर्या)

व्यवहारनयस्येत्थं निर्वृत्तिभक्तिर्जिनोत्तमै: प्रोक्ता ।
निश्चयनिर्वृतिभक्ती रत्नत्रयभक्तिरित्युक्ता ।।२२२।।

नि:शेषदोषदूरं केवलबोधादिशुद्धगुणनिलयं ।
शुद्धोपयोगफलमिति सिद्धत्वं प्राहुराचार्या: ।।२२३।।

भलीप्रकार आराधना करके सिद्ध हुए हैं; उनके केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों के भेद को जानकर निर्वाण की परम्परा की हेतुभूत परमभक्ति जो आसन्नभव्य जीव करता है; उस मुमुक्षु को व्यवहारनय से निर्वाण भक्ति है ।''

उक्त गाथा व उसकी टीका में व्यवहारभक्ति का स्वरूप समझाते हुए मात्र यही कहा है कि निश्चयभक्ति के निर्विकल्प स्वरूप को भलीभांति समझनेवाले ज्ञानी श्रावक या छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज जब **शुभोपयोग के काल में सिद्ध भगवान की भक्ति-स्तुति उनके केवलज्ञानादि गुणों के आधार पर करते हैं तो उक्त विकल्पात्मक भक्ति-स्तुति को व्यवहारभक्ति कहते हैं।** सिद्ध भगवान के गुणों को भलीभांति जानकर उनके गुणानुवाद करने को व्यवहारभक्ति कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सिद्ध भगवान का स्वरूप भलीभांति जानकर मन में उनके गुणों का चिन्तन करना, वचन से उनका गुणगान करना और काया से नमस्कारादि करना व्यवहारभक्ति है ।।१३५।।

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव छह छन्द लिखते हैं; जिनमें आरंभ के तीन छन्दों का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

सिद्धवधूधव सिद्धगण नाशक कर्मसमूह ।
मुक्तिनिलयवासी गुणी वंदन करूँ सदीव ।।२२१।।
सिद्धभक्ति व्यवहार है जिनमत के अनुसार ।
नियतभक्ति है रतनत्रय भविजन तारणहार ।।२२२।।

(शार्दूलविक्रीडित)

ये लोकाग्रनिवासिनो भवभवक्लेशार्णवान्तं गता
ये निर्वाणवधूटिकास्तनभराश्लेषोत्थसौख्याकराः ।
ये शुद्धात्मविभावनोद्भवमहाकैवल्यसंपद्गुणाः
तान् सिद्धानभिनौम्यहं प्रतिदिनं पापाटवीपावकान् ।।२२४।।

(दोहा)

सब दोषों से दूर जो शुद्धगुणों का धाम।
आत्मध्यानफल सिद्धपद सूरि कहें सुखधाम ।।२२३।।

जिन्होंने सभी कर्मों के समूह को गिरा दिया है अर्थात् नाश कर दिया है, जो मुक्तिरूपी स्त्री के पति हैं, जिन्होंने अष्ट गुणरूप ऐश्वर्य को प्राप्त किया है तथा जो कल्याण के धाम हैं; उन सिद्ध भगवन्तों को मैं नित्य वंदन करता हूँ।

इसप्रकार जिनवरों ने सिद्ध भगवन्तों की भक्ति को व्यवहारनय से निर्वृत्ति भक्ति या निर्वाण भक्ति कहा है और निश्चय निर्वाण भक्ति को रत्नत्रय भक्ति भी कहा है।

आचार्य भगवन्तों ने सिद्धपने को समस्त दोषों से रहित, केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों का धाम और शुद्धोपयोग का फल कहा है।

उक्त छन्दों में से प्रथम छन्द में **अष्टकर्मों से रहित, अष्टगुणों से मंडित, शिवरमणी के पति और कल्याण के धाम सिद्ध भगवान को भक्ति पूर्वक नमस्कार किया गया है।**

दूसरे छन्द में निश्चय-व्यवहार भक्ति का स्वरूप समझाते हुए **निश्चय रत्नत्रय को निश्चय निर्वाण भक्ति और सिद्ध भगवान के गुणगान को व्यवहार निर्वाण भक्ति कहा गया है।**

तीसरे छन्द में **सिद्धपद को शुद्धोपयोग का फल बताया गया है।।२२१-२२३।।**

इसके बाद सिद्ध भगवन्त की स्तुति करनेवाले दो छन्द प्रस्तुत किए हैं; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

शिववधूसुखखान केवलसंपदा सम्पन्न जो।
पापाटवी पावक गुणों की खान हैं जो सिद्धगण।।
भवक्लेश सागर पार अर लोकाग्रवासी सभी को।
वंदन करूँ मैं नित्य पाऊँ परमपावन आचरण।।२२४।।

जो लोकाग्र में वास करते हैं, भव-भव के क्लेशरूपी सागर को पार को प्राप्त हुए हैं, मुक्तिरूपी स्त्री के पुष्ट स्तनों के आलिंगन से उत्पन्न सुख की खान हैं तथा शुद्धात्मा की

(शार्दूलविक्रीडित)

त्रैलोक्याग्रनिकेतनान् गुणगुरून् ज्ञेयाब्धिपारंगतान्
मुक्तिश्रीवनितामुखाम्बुजरवीन् स्वाधीनसौख्यार्णवान्।
सिद्धान् सिद्धगुणाष्टकान् भवहरान् नष्टाष्टकर्मोत्करान्
नित्यान् तान् शरणं व्रजामि सततं पापाटवीपावकान् ।।२२५।।

(वसंततिलका)

ये मर्त्यदैवनिकुरम्बपरोक्षभक्ति–
योग्याः सदा शिवमयाः प्रवराः प्रसिद्धाः ।
सिद्धाः सुसिद्धिरमणीरमणीयवक्त्र–
पंकेरुहोरुमकरंदमधुव्रताः स्युः ।।२२६।।

भावना से उत्पन्न केवलज्ञान की सम्पत्ति के महान गुण वाले हैं; पापरूपी भयंकर वन को जलाने में अग्नि के समान उन सिद्ध भगवन्तों को प्रतिदिन नमन करता हूँ।

(हरिगीत)

ज्ञेयोदधि के पार को जो प्राप्त हैं वे सुख उदधि।
शिववधूमुखकमलरवि स्वाधीनसुख के जलनिधि।।
आठ कर्मों के विनाशक आठगुणमय गुणगुरु।
लोकाग्रवासी सिद्धगण की शरण में मैं नित रहूँ।।२२५।।

तीन लोक के अग्रभाग में निवास करनेवाले, गुणों में भारी, ज्ञेयरूपी महासागर के पार को प्राप्त, मुक्तिलक्ष्मीरूपी स्त्री के मुखकमल के सूर्य, स्वाधीन सुख के सागर, अष्ट गुणों को सिद्ध करनेवाले, भव तथा आठ कर्मों का नाश करनेवाले, पापरूपी अटवी को जलाने में अग्नि के समान, नित्य अविकारी सिद्ध भगवन्तों की मैं निरन्तर शरण लेता हूँ।

उक्त दोनों छन्दों में से प्रथम छन्द में सिद्ध भगवान को नमस्कार किया गया है और दूसरे छन्द में उन्हीं सिद्ध भगवान की शरण में जाने की भावना व्यक्त की गई है। दोनों ही छन्दों में सिद्ध भगवान को लोकाग्रवासी और पापरूपी भयंकर अटवी को जलानेवाली अग्नि बताया गया है। इसप्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही छन्दों में विविध विशेषणों के माध्यम से लगभग एक समान ही भाव प्रगट किये गये हैं।

वस्तुतः बात यह है कि निश्चय निर्वाण भक्ति से सिद्धदशा प्राप्त होती है और व्यवहार निर्वाण भक्ति में सिद्ध भगवान की मन से प्रशंसा, वचन से स्तुति और उनको काया से नमस्कारादि किये जाते हैं।।२२४–२२५।।

इसके बाद आनेवाले छन्द में भी सिद्ध भगवान की ही स्तुति की गई है।

मोक्खपहे अप्पाणं ठविऊण य कुणदि णिव्वुदी भत्ती।
तेण दु जीवो पावइ असहायगुणं णियप्पाणं।।१३६।।

मोक्षपथे आत्मानं संस्थाप्य च करोति निर्वृत्तेर्भक्तिम्।
तेन तु जीवः प्राप्नोत्यसहायगुणं निजात्मानम्।।१३६।।

निजपरमात्मभक्तिस्वरूपाख्यानमेतत्। भेदकल्पनानिरपेक्षनिरुपचाररत्नत्रयात्मके

छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

सुसिद्धिरूपी रम्यरमणी के मधुर रमणीय मुख।
कमल के मकरंद के अलि वे सभी जो सिद्धगण।।
नरसुरगणों की भक्ति के जो योग्य शिवमय श्रेष्ठ हैं।
मैं उन सभी को परमभक्ति भाव से करता नमन।।२२६।।

जो मनुष्यों तथा देवों की परोक्ष शक्ति के योग्य है, सदा शिवमय है, श्रेष्ठ है और प्रसिद्ध है; वे सिद्ध भगवान सुसिद्धिरूपी रमणी के रमणीय मुख कमल के महा मकरन्द के भ्रमर हैं। तात्पर्य यह है कि सिद्ध भगवान अनुपम मुक्ति सुख का निरन्तर अनुभव करते हैं।

उक्त छन्द में यह कहा गया है कि अरहंत भगवान की भक्ति तो मनुष्य व देवगणों द्वारा समवशरण में उपस्थित होकर प्रत्यक्ष की जा सकती है, पर सिद्ध भगवान की भक्ति तो परोक्षरूप से ही करना होती है; क्योंकि लोकाग्रवासी और अशरीरी होने से उनका दर्शन इस मध्यलोक में प्रत्यक्ष संभव नहीं है।

सदा कल्याणस्वरूप सिद्ध भगवान सर्वश्रेष्ठ तो हैं ही, सर्वजन प्रसिद्ध भी हैं तथा मुक्ति में प्राप्त होनेवाले अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का निरन्तर अनुभव करते रहते हैं।।२२६।।

अब इस १३६वीं गाथा में निज परमात्मा की भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो थाप निज को मुक्तिपथ भक्ति निवृत्ति की करें।
वे जीव निज असहाय गुण सम्पन्न आतम को वरें।।१३६।।

मोक्षमार्ग में अपने आत्मा को भलीभाँति स्थापित करके निर्वाण भक्ति करनेवाला जीव उस निर्वाण भक्ति से असहाय गुणवाले अपने आत्मा को प्राप्त करता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह निज परमात्मा की भक्ति के स्वरूप का कथन है। निरंजन निज परमात्मा के

निरुपरागमोक्षमार्गे निरंजननिजपरमात्मानंदपीयूषपानाभिमुखो जीवः स्वात्मानं संस्थाप्यापि च करोति निवृत्तेर्मुक्त्यंगनायाः चरणनलिने परमां भक्तिं, तेन कारणेन स भव्यो भक्तिगुणेन निरावरणसहजज्ञानगुणत्वादसहायगुणात्मकं निजात्मानं प्राप्नोति।

(स्रग्धरा)

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचलितमहाशुद्धरत्नत्रयेऽस्मिन्
नित्ये निर्मुक्तिहेतौ निरुपमसहजज्ञानदृक्शीलरूपे।
संस्थाप्यानंदभास्वन्निरतिशयगृहं चिच्चमत्कारभक्त्या
प्राप्नोत्युच्चैरयं यं विगलितविपदं सिद्धिसीमन्तिनीशः ।।२२७।।

आनन्दरूपी अमृत को पीने के लिए अभिमुख यह जीव; भेदकल्पना निरपेक्ष निरुपचार रत्नत्रयात्मक निर्विकारी मोक्षमार्ग में, अपने आत्मा को, भले प्रकार स्थापित करके; निर्वृत्ति के अर्थात् मुक्तिरूपी स्त्री के चरण कमलों की परम भक्ति करता है; उस कारण से वह भव्य जीव भक्ति गुण द्वारा, निरावरण सहज ज्ञान गुणवाला होने से, असहाय गुणात्मक निज आत्मा को प्राप्त करता है।''

इस गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि **मोक्षमार्ग में आत्मा को स्थापित करना अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को धारण करना ही निश्चय भक्ति है, निर्वृत्ति भक्ति है, निर्वाण भक्ति है।** इसी निश्चय निर्वाण भक्ति से निज भगवान आत्मा की प्राप्ति होती है।।१३६।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसी भाव का पोषक एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

शिवहेतु निरुपम सहज दर्शन ज्ञान सम्यक् शीलमय।
अविचल त्रिकाली आत्मा में आत्मा को थाप कर।।
चिच्चमत्कारी भक्ति द्वारा आपदाओं से रहित।
घर में बसें आनन्द से शिव रमापति चिरकाल तक।।२२७।।

मुक्ति के हेतुभूत निरुपम सहज ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप इस अविचलित महा शुद्ध रत्नत्रयरूप आत्मा में आत्मा को वस्तुतः भली भांति स्थापित करके यह आत्मा चैतन्य चमत्कार की भक्ति द्वारा, जिसमें से समस्त आपदायें दूर हो गई हैं तथा जो आनंद से शोभायमान है ह्न ऐसे सर्वश्रेष्ठ घर को प्राप्त करता है अर्थात् सिद्धरूपी स्त्री का स्वामी होता है।

इस छन्द में मात्र यही कहा गया है कि त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा में स्वयं के

रायादीपरिहारे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य किह हवे जोगो ।।१३७।।

रागादिपरिहारे आत्मानं यस्तु युनक्ति साधुः।
स योगभक्तियुक्तः इतरस्य च कथं भवेद्योगः ।।१३७।।

निश्चययोगभक्तिस्वरूपाख्यानमेतत्। निरवशेषेणान्तर्मुखाकारपरमसमाधिना निखिल-मोहरागद्वेषादिपरभावानां परिहारे सति यस्तु साधुरासन्नभव्यजीवः निजेनाखंडाद्वैतपरमानन्द-स्वरूपेण निजकारणपरमात्मानं युनक्ति, स परमतपोधन एव शुद्धनिश्चयोपयोगभक्तियुक्तः। इतरस्य बाह्यप्रपंचसुखस्य कथं योगभक्तिर्भवति।

आत्मा को स्थापित करनेवाले आत्मा को इस परमभक्ति द्वारा निजघर की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि वह **आत्मा मुक्तिरूपी वधू का स्वामी होता है, मोक्ष अवस्था को प्राप्त कर अनन्तकाल तक अनन्त शाश्वत सुख का उपभोग करता है।।२२७।।**

अब इस गाथा में निश्चय योगभक्ति का स्वरूप कहते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो साधु आतम लगावे रागादि के परिहार में।
वह योग भक्ति युक्त हैं यह अन्य को होवे नहीं।।१३७।।

जो साधु रागादि के परिहार में आत्मा को लगाता है अथवा आत्मा में आत्मा को लगाकर रागादि का परिहार करता है; वह साधु योगभक्ति युक्त है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा योगभक्तिवाला कैसे हो सकता है ?

तात्पर्य यह है कि उस वीतरागी मार्ग में लगे हुए साधु से अन्य कोई रागी व्यक्ति योगभक्तिवाला नहीं हो सकता है।

उक्त गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह निश्चय योगभक्ति के स्वरूप का व्याख्यान है। पूर्णतः अन्तर्मुख परमसमाधि द्वारा, सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेषादि परभावों का परिहार होने पर; जो साधु अर्थात् आसन्न भव्यजीव, निज अखण्ड अद्वैत परमानन्दस्वरूप के साथ, निज कारणपरमात्मा को युक्त करता है, जोड़ता है; वह परम तपोधन ही शुद्ध निश्चय योगभक्ति से युक्त है। बाह्य प्रपंच में स्वयं को सुखी मानकर उसी में संलग्न अन्य पुरुष को योगभक्ति कैसे हो सकती है ?''

इस गाथा और उसकी टीका में यह अत्यन्त स्पष्टरूप से कहा गया है कि **जो साधु त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा में अपनेपन के साथ होनेवाले श्रद्धान, ज्ञान और आत्मलीनता**

तथा चोक्तम् ह्न

(अनुष्टुभ्)

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः ।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते ।।६५।।[१]

तथा हि ह्न

आत्मानमात्मनात्मायं युनक्त्येव निरन्तरम् ।
स योगभक्तियुक्तः स्यान्निश्चयेन मुनीश्वरः ।।२२८।।

से रागादि भावों के परिहार में संलग्न है; वही एकमात्र योगभक्तिवाला है। उससे भिन्न अन्य कोई व्यक्ति योगभक्तिवाला नहीं हो सकता ।।१३७।।

इसके बाद '**तथा चोक्तम्** ह्न तथा इसीप्रकार कहा गया है' ह्न लिखकर टीकाकार मुनिराज एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

निज आतम के यत्न से मनगति का संयोग।
निज आतम में होय जो वही कहावे योग ।।६५।।

आत्मप्रयत्न सापेक्ष मन की विशिष्ट गति–परिणति का ब्रह्म (अपने आत्मा) में लगाना ही योग है। तात्पर्य यह है कि पर के सहयोग के बिना मात्र स्वयं के प्रयत्न से मन का निज भगवान आत्मा में जुड़ना ही योग है ।।६५।।

इसप्रकार अन्य ग्रन्थ के उद्धरण से अपनी बात पुष्ट करके टीकाकार मुनिराज '**तथाहि ह्न** अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं' ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द स्वयं प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

निज आतम में आतमा को जोड़े जो योगि।
योग भक्ति वाला वही मुनिवर निश्चय योगि ।।२२८।।

जो मुनिराज अपने आत्मा को आत्मा में निरंतर जोड़ते हैं, युक्त करते हैं; वे मुनिराज निश्चय से योगभक्ति युक्त हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि **यह मुक्तिप्रदाता योगभक्ति अपनी-अपनी भूमिकानुसार गृहस्थों और मुनिराजों ह्न दोनों को ही होती है।।२२८।।**

---

१. ग्रन्थ का नाम एवं श्लोक संख्या अनुपलब्ध है।

सव्ववियप्पाभावे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू ।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य किह हवे जोगो ।।१३८।।

सर्वविकल्पाभावे आत्मानं यस्तु युनक्ति साधुः ।
स योगभक्तियुक्तः इतरस्य च कथंभवेद्योगः ।।१३८।।

अत्रापि पूर्वसूत्रवन्निश्चययोगभक्तिस्वरूपमुक्तम् । अत्यपूर्वनिरुपरागरत्नत्रयात्मकनिज–चिद्विलासलक्षणनिर्विकल्पपरमसमाधिना निखिलमोहरागद्वेषादिविविधविकल्पाभावे परम–समरसीभावेन निःशेषतोऽर्न्मुखनिजकारणसमयसारस्वरूपमत्यासन्नभव्यजीवः सदा युनक्त्यैव, तस्य खलु निश्चययोगभक्तिर्नान्येषाम् इति ।

विगत गाथा के समान इस गाथा में भी निश्चय योगभक्ति का स्वरूप कहते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो साधु आतम लगावे सब विकल्पों के नाश में।
वह योगभक्ति युक्त हैं यह अन्य को होवे नहीं।।१३८।।

जो साधु अर्थात् आसन्नभव्यजीव सभी विकल्पों के अभाव में अपने आत्मा को अपने आत्मा में ही लगाता है अथवा अपने आत्मा में आत्मा को जोड़कर सभी विकल्पों का अभाव करता है; वह आसन्नभव्य जीव योगभक्तिवाला है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ भी विगत गाथा के समान निश्चय योगभक्ति का स्वरूप कहा है। अति–अपूर्व शुद्ध रत्नत्रयात्मक निज चिद्विलासलक्षण निर्विकल्प परमसमाधि द्वारा, सम्पूर्ण मोह–राग–द्वेषादि अनेक विकल्पों का अभाव होने पर, परम समरसीभाव के साथ, सम्पूर्णतः अंतर्मुख निज कारण समयसारस्वरूप को जो अति–आसन्नभव्यजीव सदा जोड़ता ही है; उसे ही वस्तुतः निश्चय योगभक्ति है; अन्यों को नहीं।''

१३७ व १३८वीं गाथा में **साहू** पद का प्रयोग है; उसका अर्थ टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव आसन्नभव्यजीव करते हैं।

दूसरी बात यह है कि ये दोनों गाथाएँ लगभग एक समान ही हैं। अन्तर मात्र इतना ही है कि १३७वीं गाथा में समागत **रागादी परिहारे** पद के स्थान पर १३८वीं गाथा में **सव्ववियप्पाभावे** पद दे दिया गया है। **तात्पर्य यह है कि १३७वीं गाथा में आत्मा के आश्रय से रागादि का परिहार करनेवाले को योगभक्तिवाला कहा है और १३८वीं गाथा में सभी प्रकार के विकल्पों के अभाववाले को योगभक्तिवाला कहा है।।१३८।।**

(अनुष्टुभ्)

भेदाभावे सतीयं स्याद्योगभक्तिरनुत्तमा।
तयात्मलब्धिरूपा सा मुक्तिर्भवति योगिनाम् ।।२२९।।

विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु।
जो जुजंदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो ।।१३९।।

विपरीताभिनिवेशं परित्यक्त्वा जैनकथिततत्त्वेषु।
यो युनक्ति आत्मानं निजभावः स भवेद्योगः ।।१३९।।

इह हि निखिलगुणधरगणधरदेवप्रभृतिजिनमुनिनाथकथिततत्त्वेषु विपरीताभिनिवेश–

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

आत्मलब्धि रूपा मुकति योगभक्ति से होय।
योगभक्ति सर्वोत्तमा भेदाभावे होय।।२२९।।

यह अनुत्तम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ योगभक्ति भेद के अभाव होने पर ही होती है। इस योगभक्ति द्वारा मुनिराजों को आत्मलब्धिरूप मुक्ति की प्राप्ति होती है।

भेद का अर्थ विकल्प भी होता है। यही कारण है कि गाथा में जहाँ सर्वविकल्पों के अभाव की बात कही है; वही इस कलश में भेद के अभाव की बात की है।

तात्पर्य यह है कि सभी प्रकार के भेद-प्रभेद संबंधी विकल्पों के अभाव में होनेवाली निर्विकल्प भक्ति ही निश्चययोग भक्ति है। यह निश्चय योगभक्ति मुक्ति का कारण है; क्योंकि यह निश्चय रत्नत्रयस्वरूप है, शुद्धोपयोग और शुद्धपरिणतिरूप है।।२२९।।

अब आगामी गाथा में परमयोग का स्वरूप स्पष्ट करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(हरिगीत)

जिनवर कथित तत्त्वार्थ में निज आतमा को जोड़ना।
ही योग है यह जान लो विपरीत आग्रह छोड़कर।।१३९।।

विपरीताभिनिवेश को छोड़कर जो पुरुष जैनकथित तत्त्वों में अपने आत्मा को लगाता है; उसका वह निजभाव योग है।

उक्त गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ समस्त गुणों को धारण करनेवाले गणधरदेव आदि मुनिवरों द्वारा कथित तत्त्वों में विपरीत मान्यता रहित आत्मा का परिणाम ही निश्चय परमयोग कहा गया है।

विवर्जितात्मभाव एव निश्चयपरमयोग इत्युक्त: । अपरसमयतीर्थनाथाभिहिते विपरीते पदार्थे ह्यभिनिवेशो दुराग्रह एव विपरीताभिनिवेश: । अमुं परित्यज्य जैनकथिततत्त्वानि निश्चय-व्यवहारनयाभ्यां बोद्धव्यानि । सकलजिनस्य भगवतस्तीर्थाधिनाथस्य पादपद्मोपजीविनो जैना:, परमार्थतो गणधरदेवादय इत्यर्थ: । तैरभि हितानि निखिलजीवादितत्त्वानि तेषु य: परमजिनयोगीश्वर: स्वात्मानं युनक्ति, तस्य च निजभाव एव परमयोग इति ।

(वसंततिलका)

तत्त्वेषु जैनमुनिनाथमुखारविंद-
व्यक्तेषु भव्यजनताभवघातकेषु ।
त्यक्त्वा दुराग्रहममुं जिनयोगिनाथ:
साक्षाद्युनक्ति निजभावमयं स योग: ।।२३०।।

अन्यमतमान्य तीर्थंकरों द्वारा कहे गये विपरीत पदार्थ में दुराग्रह ही विपरीत अभिनिवेश है । उसे छोड़कर जैनों द्वारा कहे गये तत्त्व ही निश्चय-व्यवहार से जानने योग्य हैं ।

तीर्थंकर अरहंतों के चरणकमल के सेवक जैन हैं । उनमें मुख्य गणधर देव हैं । उन गणधरदेवादि के द्वारा कहे गये सभी जीवादि तत्त्वों में जो जिन योगीश्वर अपने आत्मा को लगाता है; उसका वह निजभाव ही परमयोग है ।''

इस गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जो विपरीताभिनिवेश अर्थात् उल्टी मान्यता से रहित, जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों में निज भगवान आत्मा को लगाता है; उसके उस भाव को योग कहते हैं । तात्पर्य यह है कि **जिनवरकथित तत्त्वों में प्रमुख तत्त्व जो अपना आत्मा; उसमें अपने श्रद्धा, ज्ञान और आचरण का समर्पण ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है । यह दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही वस्तुत: योग है ।** अन्य देहादि की क्रियाओं के परमार्थ योग का कोई सम्बन्ध नहीं है ।।१३९।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसी भाव का पोषक एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

छोड़ दुराग्रह जैन मुनि मुख से निकले तत्त्व ।
में जोड़े निजभाव तो वही भाव है योग ।।२३०।।

उक्त विपरीताभिनिवेशरूप दुराग्रह को छोड़कर जैन मुनीश्वरों के मुखारविन्द से निकले भव्यजनों के भवों का घात (अभाव) करनेवाले तत्त्वों में जो जैन मुनीश्वर निजभाव को साक्षात् लगाते हैं; उनका वह निजभाव योग है ।

उसहादिजिणवरिंदा एवं काऊण जोगवरभत्तिं।
णिव्वुदिसुहमावण्णा तम्हा धरु जोगवरभत्तिं ।।१४०।।

वृषभादिजिनवरेन्द्रा एवं कृत्वा योगवरभक्तिम्।
निर्वृतिसुखमापन्नास्तस्माद्धारय योगवरभक्तिम् ।।१४०।।

भक्त्यधिकारोपसंहारोपन्यासोयम्। अस्मिन् भारते वर्षे पुरा किल श्रीनाभेयादिश्रीवर्द्धमानचरमा: चतुर्विंशतितीर्थंकरपरमदेवा: सर्वज्ञवीतरागा: त्रिभुवनवर्तिकीर्तयो महादेवाधिदेवा: परमेश्वरा: सर्वे एवमुक्तप्रकारस्वात्मसंबन्धिनीं शुद्धनिश्चययोगवरभक्तिं कृत्वा परमनिर्वाण–

इस छन्द में भी गाथा और टीका में समागत भाव को ही दुहराया गया है। कहा गया है कि **उल्टी मान्यतारूप दुराग्रह को छोड़कर जिनवर कथित, गणधरदेव द्वारा निरूपित, आचार्यों द्वारा लिपिबद्ध, उपाध्यायों द्वारा पढ़ाया गया, मुनिराजों द्वारा जीवन में उतारा गया तथा ज्ञानी श्रावकों द्वारा समझा-समझाया गया एवं भव्यजीवों के आगामी भवों का अभाव करनेवाला यह तत्त्वज्ञान ही परम शरण है। इसमें लगा उपयोग ही योग है।**

अत: हम सभी को जिनवाणी का गहराई से अध्ययन कर, उसके मर्म को ज्ञानीजनों से समझ कर, अपने उपयोग को निज भगवान आत्मा के ज्ञान-ध्यान में लगाना चाहिए। सुख व शान्ति प्राप्त करने का एकमात्र यही उपाय है।।२३०।।

परमभक्ति अधिकार की इस अन्तिम गाथा में यह बताया जा रहा है कि ऋषभादि सभी जिनेश्वर इस योगभक्ति के प्रभाव से मुक्तिसुख को प्राप्त हुए हैं। अत: हमें भी इसी मार्ग में लगना चाहिए। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

वृषभादि जिनवरदेव ने पाया परम निर्वाण सुख।
इस योगभक्ति से अतः इस भक्ति को धारण करो ।।१४०।।

ऋषभादि जिनेश्वर इस उत्तम योगभक्ति करके निर्वृत्ति सुख को प्राप्त हुए हैं। इसलिए तुम भी इस उत्तम योगभक्ति को धारण करो।

टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह भक्ति अधिकार के उपसंहार का कथन है। इस भारतवर्ष में पहले राजा नाभिराज के पुत्र तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर तक के चौबीसों तीर्थंकर परमदेव सर्वज्ञ-वीतरागी हुए हैं। जिनकी कीर्ति सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैली हुई है ह्न ऐसे ये महादेवाधिदेव परमेश्वर ह्न सभी तीर्थंकर यथोक्त प्रकार से निज आत्मा के साथ संबंध रखनेवाली शुद्ध निश्चय योग की उत्कृष्ट भक्ति करके मुक्त हुए हैं और वहाँ मुक्ति में परम

धूटिकापीवरस्तनभरगाढोपगूढ निर्भरानन्दपरमसुधारसपूरपरिततृप्तसर्वात्मप्रदेशा जाता:, ततो यूयं महाजना: स्फुटितभव्यत्वगुणास्तां स्वात्मार्थपरमवीतरागसुखप्रदां योगभक्तिं कुरुतेति।

(शार्दूलविक्रीडित)

नाभेयादिजिनेश्वरान् गुणगुरून् त्रैलोक्यपुण्योत्करान्
श्रीदेवेन्द्रकिरीटकोटिविलसन्माणिक्यमालार्चितान्।
पौलोमीप्रभृति–प्रसिद्धदिविजाधीशांगना–संहते:
शक्रेणोद्भवभोगहासविमलान् श्रीकीर्तिनाथान् स्तुवे।।२३१।।

निर्वाणरूपी वधू के अति पुष्ट स्तन के गाढ़ आलिंगन से सर्व आत्मप्रदेश में अत्यन्त आनन्द रूपी परमामृत के पूर से परिपुष्ट हुए हैं। इसलिए हे प्रगट भव्यत्व गुणवाले महाजनो ! तुम निज आत्मा को परम वीतरागी सुख देनेवाली इस योगभक्ति को निर्मल भाव से करो।''

परमभक्ति अधिकार के उपसंहार की इस गाथा और उसकी टीका में भरतक्षेत्र की वर्तमान चौबीसी का उदाहरण देते हुए यह कहा है कि जिसप्रकार ऋषभादि से महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों ने निश्चयरत्नत्रय रूप इस परम योगभक्ति से अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त किया है; उसीप्रकार हम सब भी इस योगभक्ति को धारण कर अनन्त अतीन्द्रिय सुख प्राप्त करने का अभूतपूर्व पुरुषार्थ करें।।१४०।।

उपसंहार की इस गाथा के उपरान्त टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव सात छन्द लिखते हैं; जिनमें से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(वीरछन्द)

शुद्धपरिणति गुणगुरुओं की अद्भुत अनुपम अति निर्मल।
तीन लोक में फैल रही है जिनकी अनुपम कीर्ति धवल।।
इन्द्रमुकुटमणियों से पूजित जिनके पावन चरणाम्बुज।
उन ऋषभादि परम गुरुओं को वंदन बारंबार सहज।।२३१।।

गुणों में बड़े, तीन लोक की पुण्य राशि, देवेन्द्रों के मुकुटों की किनारी में जड़ित प्रकाशमान मणियों की पंक्ति से पूजित, शचि आदि इन्द्राणियों के साथ इन्द्र द्वारा किये जानेवाले नृत्य, गान तथा आनन्द से शोभित तथा शोभा और कीर्ति के स्वामी राजा नाभिराय के पुत्र आदिनाथ आदि चौबीस तीर्थंकरों जिनवरों की मैं स्तुति करता हूँ।

चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति वाचक इस छन्द में उन्हें गुणों में सर्वश्रेष्ठ बताया गया है, सर्वाधिक पुण्यशाली कहा गया है। इन्द्र लोग जब उनके चरणों में नमस्कार करते हैं, तब उनके मुकुटों में लगी मणियाँ भी उनके चरणों के स्पर्श का लाभ ले लेती हैं। इन्द्रों की इस भक्ति मुद्रा का वर्णन अनेक भक्ति रचनाओं में विविध प्रकार से हुआ है।।२३१।।

(आर्या)

वृषभादिवीरपश्चिमजिनपतयोप्येवमुक्तमार्गेण ।
कृत्वा तु योगभक्तिं निर्वाणवधूटिकासुखं यान्ति ।।२३२।।
अपुनर्भवसुखसिद्ध्यै कुर्वेऽहं शुद्धयोगवरभक्तिम् ।
संसारघोरभीत्या सर्वे कुर्वन्तु जन्तवो नित्यम् ।।२३३।।

(शार्दूलविक्रीडित)

रागद्वेषपरंपरापरिणतं चेतो विहायाधुना
शुद्धध्यानसमाहितेन मनसानंदात्मतत्त्वस्थित: ।
धर्मं निर्मलशर्मकारिणमहं लब्ध्वा गुरो: सन्निधौ
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीने परब्रह्मणि ।।२३४।।

(अनुष्टुभ्)

निर्वृतेन्द्रियलौल्यानां तत्त्वलोलुपचेतसाम् ।
सुन्दरानन्दनिष्यन्दं जायते तत्त्वमुत्तमम् ।।२३५।।

दूसरे व तीसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(वीरछन्द)

ऋषभदेव से महावीर तक इसी मार्ग से मुक्त हुए।
इसी विधि से योगभक्ति कर शिवरमणी सुख प्राप्त किये ।।२३२।।

(दोहा)

मैं भी शिवसुख के लिए योगभक्ति अपनाऊँ।
भव भय से हे भव्यजन इसको ही अपनाओ ।।२३३।।

तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से लेकर महावीर भगवान तक के सभी तीर्थंकर जिनेश्वर भी इसी मार्ग से योगभक्ति करके मुक्तिरूपी वधू के सुख को प्राप्त हुए हैं।

मुक्ति सुख की प्राप्ति हेतु मैं भी शुद्धयोग की उत्तम भक्ति करता हूँ। संसार दु:ख के भयंकर भय से सभी जीव उक्त उत्तम भक्ति करो।

इन छन्दों में मात्र यही कहा गया है कि ऋषभादि तीर्थंकरों ने इसी मार्ग से मुक्तिसुख को प्राप्त किया है; मैं भी इसी मार्ग पर जाता हूँ और आप सब भी इसी योगभक्ति के मार्ग पर चलो ।।२३२-२३३।।

इसके बाद के चौथे छन्द में टीकाकार मुनिराज परमब्रह्म में लीन होने की भावना व्यक्त करते हैं। छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

अत्यपूर्वनिजात्मोत्थभावनाजातशर्मणे ।
यतन्ते यतयो ये ते जीवन्मुक्ता हि नापरे ।।२३६।।

(वीरछन्द)

गुरुदेव की सत्संगति से सुखकर निर्मल धर्म अजोड़।
पाकर मैं निर्मोह हुआ हूँ राग-द्वेष परिणति को छोड़।।
शुद्धध्यान द्वारा मैं निज को ज्ञानानन्द तत्त्व में जोड़।
परमब्रह्म निज परमातम में लीन हो रहा हूँ बेजोड़।।२३४।।

गुरुदेव के सान्निध्य में निर्मल सुखकारी धर्म को प्राप्त करके ज्ञान द्वारा मोह की समस्त महिमा नष्ट की है जिसने ह्न ऐसा मैं अब राग-द्वेष की परम्परारूप से परिणत चित्त को छोड़कर शुद्धध्यान द्वारा एकाग्र शान्त किये हुए चित्त से आनन्दस्वरूप तत्त्व में स्थिर रहता हुआ परमब्रह्म में लीन होता हूँ।

इस छन्द में टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव परमब्रह्म में लीन होने की भावना व्यक्त कर रहे हैं। वे अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि मुझे यह सर्वोत्कृष्ट परम धर्म पूज्य गुरुदेव के सत्समागम से प्राप्त हुआ, उनके सान्निध्य में रहने से प्राप्त हुआ है। जिनागम का मर्म उनसे समझ कर जो ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ है और जिसे मैंने अपने अनुभव से प्रमाणित किया है; उस ज्ञान के प्रताप से मेरा दर्शनमोह तो नष्ट हो ही गया है, चारित्रमोह की महिमा भी जाती रही; अत: अब मैं राग-द्वेष के पूर्णत: अभाव के लिए शुद्धध्यान द्वारा ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मतत्त्व में स्थिर होता हूँ, परमब्रह्म में लीन होता हूँ।

तात्पर्य यह है कि तुम भी **यदि मोह का नाश करना चाहते हो, आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले अतीन्द्रियानन्द को प्राप्त करना चाहते हो तो परमब्रह्म में लीन होने का प्रयास करो।** सच्चा सुख प्राप्त करने का एकमात्र यही उपाय है।।२३४।।

इसके बाद आनेवाले पाँचवें व छठवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

इन्द्रिय लोलुप जो नहीं तत्त्वलोलुपी चित्त।
उनको परमानन्दमय प्रगटे उत्तम तत्त्व।।२३५।।
अति अपूर्व आतमजनित सुख का करें प्रयत्न।
वे यति जीवन्मुक्त हैं अन्य न पावे सत्य।।२३६।।

इन्द्रिय लोलुपता से निवृत्त तत्त्व लोलुपी जीवों को सुन्दर आनन्द झरता हुआ उत्तम तत्त्व प्रगट होता है।

(वसंततिलका)

अद्वन्द्वनिष्ठमनघं परमात्मतत्त्वं
संभावयामि तदहं पुनरेकमेकम्।
किं तैश्च मे फलमिहान्यपदार्थसार्थैः
मुक्तिस्पृहस्य भवशर्मणि निःस्पृहस्य ।।२३७।।

अति अपूर्व निज आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले सुख के लिए जो यति यत्न करते हैं; वे वस्तुतः जीवन्मुक्त होते हैं, अन्य नहीं।

इन छन्दों में यह बात अत्यन्त स्पष्टरूप से कह दी गई है कि तत्त्व-लोलुपी जीवों को पंचेन्द्रिय विषयों की लोलुपता नहीं होती, पुण्य-पाप के स्वाद की लोलुपता नहीं होती। यही कारण है कि पंचेन्द्रिय विषयों की लोलुपता से दूर तत्त्वलोलुपी जीवों को अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है। इसलिए जो जीव अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति करना चाहते हैं; वे जीव पुण्य-पाप कर्म और उनके फल में प्राप्त होनेवाले विषयभोग तथा शुभाशुभभावरूप लोलुपता से दूर रह **दृष्टि के विषयभूत ध्यान के एकमात्र ध्येय परमशुद्धनिश्चयनय के प्रतिपाद्य त्रिकाली ध्रुव निज आत्मतत्त्व के लोलुपी बनें, रुचिवन्त बनें, उसी में जमें-रमें;** क्योंकि अतीन्द्रिय आनन्द उसके आश्रय से ही प्रगट होता है।।२३५-२३६।।

इसके बाद समागत सातवाँ छन्द इस अधिकार का अन्तिम छन्द है; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

अद्वन्द्व में है निष्ट एवं अनघ जो दिव्यातमा।
मैं एक उसकी भावना संभावना करता सदा।।
मैं मुक्ति का चाहक तथा हूँ निष्पृही भवसुखों से।
है क्या प्रयोजन अब मुझे इन परपदार्थ समूह से।।२३७।।

जो परमात्मतत्त्व पुण्य-पापरूप अघ से रहित अनघ है और राग-द्वेषरूप द्वन्द में स्थित नहीं है; उस केवल एक की मैं बारंबार संभावना करता हूँ, भावना करता हूँ। संसार सुख से पूर्णतः निस्पृह और मोक्ष की स्पृहावाले मुझ मुमुक्षु के लिए इस लोक में अन्य पदार्थों के समूहों से क्या फल है, क्या लेना-देना है; वे तो मेरे लिए निष्फल ही हैं।

उपसंहार की इस अन्तिम गाथा में उस भगवान आत्मा की शरण में जाने की बात कही गई है; जो पुण्य-पाप के भावरूप अघ से रहित अनघ है और सभीप्रकार के द्वन्दों से रहित अद्वन्दनिष्ठ है।

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव–विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ परमभक्त्यधिकारो दशमः श्रुतस्कन्धः ।

टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि मैं भी उसी अनघ अद्वन्दनिष्ठ आत्मा की संभावना कर रहा हूँ, उसी की शरण में जा रहा हूँ और आप सभी भव्यात्माओं से अनुरोध करता हूँ कि आप सब भी उसी की शरण में जावें; क्योंकि **जो लोग संसार सुखों से निस्पृही हैं और सच्चे अर्थों में मुमुक्षु हैं; उन्हें मुक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ से क्या प्रयोजन है ?**

इसप्रकार हम देखते हैं कि परमभक्ति अधिकार में यही कहा गया है कि निज भगवान आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और लीनतारूप निश्चयरत्नत्रय ही परमभक्ति है, निश्चयभक्ति है, निवृत्तिभक्ति है।

यद्यपि व्यवहारनय से मुक्तिगत सिद्धभगवन्तों की गुणभेदरूप भक्ति को भी परमभक्ति कहा गया है; तथापि मुक्ति की प्राप्ति तो अपने आत्मा को निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में स्थापित करनेवाले को ही प्राप्त होती है।।२३७।।

परमभक्ति अधिकार की समाप्ति के अवसर पर टीकाकार जो पंक्ति लिखते हैं; उसका भाव इसप्रकार है ह्न

''इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में परमभक्ति अधिकार नामक दसवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।''

यहाँ नियमसार एवं उसकी तात्पर्यवृत्ति टीका के साथ–साथ डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत आत्मप्रबोधिनी हिन्दी टीका में परमभक्ति अधिकार नामक दसवाँ श्रुतस्कन्ध भी समाप्त होता है।

●●●

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये सब क्या हैं ? आखिर एक आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं न ? एक निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही उत्पन्न हुई अवस्थाएँ हैं न ? तो फिर हम इनकी शरण में क्यों जावें, हम तो उस भगवान आत्मा की ही शरण में जाते हैं, जिसकी ये अवस्थाएँ हैं, जिसके आश्रय से ये अवस्थायें उत्पन्न हुई हैं। सर्वाधिक महान, सर्वाधिक उपयोगी, ध्याय का ध्येय, श्रद्धान का श्रद्धेय एवं परमशुद्धनिश्चयनयरूप ज्ञान का ज्ञेय तो निज भगवान आत्मा ही है, उसकी शरण में जाने से ही मुक्ति के मार्ग का आरंभ होता है, मुक्तिमार्ग में गमन होता है और मुक्तिमहल में पहुँचना संभव होता है।

ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ–१९५

(११)

निश्चयपरमावश्यक अधिकार

(गाथा १४१ से गाथा १५९ तक)

अथ सांप्रतं व्यवहारषडावश्यकप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयाधिकार उच्यते ।

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।
कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गो त्ति पिज्जुत्तो ।।१४१।।

यो न भवत्यन्यवशः तस्य तु कर्म भणन्त्यावश्यकम् ।
कर्मविनाशेनयोगो निर्वृत्तिमार्ग इति प्ररूपितः ।।१४१।।

अत्रानवरतस्ववशस्य निश्चयावश्यककर्म भवतीत्युक्तम् । यः खलु यथाविधि परमजिन-मार्गाचरणकुशलः सर्वदैवान्तर्मुखत्वादनन्यवशो भवति किन्तु साक्षात्स्ववश इत्यर्थः ।

विगत दस अधिकारों में क्रमशः जीव, अजीव, शुद्धभाव, व्यवहारचारित्र, परमार्थ-प्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान, परम आलोचना, शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त, परमसमाधि, परमभक्ति की चर्चा हुई। अब इस ग्यारहवें अधिकार में निश्चय परम आवश्यक की चर्चा आरंभ करते हैं।

इस अधिकार की पहली गाथा और नियमसार शास्त्र की १४१वीं गाथा की उत्थानिका लिखते हुए टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव लिखते हैं ह्न **''अब व्यवहार छह आवश्यकों के प्रतिपक्षी शुद्धनिश्चय (शुद्ध निश्चय आवश्यक) का अधिकार कहा जाता है।''**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो अन्य के वश नहीं कहते कर्म आवश्यक उसे।
कर्मनाशक योग को निर्वाण मार्ग कहा गया।।१४१।।

जो जीव अन्य के वश नहीं होता, उसे आवश्यक कर्म कहते हैं। तात्पर्य यह है कि अन्य वश नहीं होना ही आवश्यक कर्म है। कर्म का विनाश करनेवाला योगरूप परम आवश्यक कर्म ही निर्वाण का मार्ग है ह्न ऐसा कहा गया है।

टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ स्ववश को निश्चय आवश्यक कर्म निरन्तर होता है ह्न ऐसा कहा गया है। विधि के अनुसार परमजिनमार्ग के आचरण में कुशल जो जीव निरन्तर अन्तर्मुखता के कारण

तस्य किल व्यावहारिकक्रियाप्रपंचपराङ्मुखस्य स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानप्रधान-परमावश्यककर्मास्तीत्यनवरतं परमतपश्चरणनिरतपरमजिनयोगीश्वरा वदन्ति।

किं च यस्त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिलक्षणपरमयोगः सकलकर्मविनाशहेतुः स एव साक्षान्मोक्षकारणत्वान्निर्वृत्तिमार्ग इति निरुक्तिर्व्युत्पत्तिरिति।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः ह्न

(मंदाक्रांता)

आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं
नित्यानन्दप्रसरसरसे ज्ञानतत्त्वे निलीय।
प्राप्स्यत्युच्चैरविचलतया निःप्रकम्पप्रकाशां
स्फूर्जज्ज्योतिः सहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम्।।६६।।[१]

अनन्यवश है, अन्य के वश नहीं है, साक्षात् स्ववश है; व्यवहारिक क्रिया के प्रपंच से पराङ्मुख उस जीव को अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले निश्चय धर्मध्यानरूप परम आवश्यक कर्म होता है। परम तपश्चरण में निरंतर लीन रहनेवाले परमजिनयोगीश्वर ऐसा कहते हैं।

दूसरी बात यह है कि सम्पूर्ण कर्मों के नाश का हेतु, त्रिगुप्तिगुप्त परमसमाधि लक्षणवाला जो परमयोग है; वह ही साक्षात् मोक्ष का कारण होने से निवृत्ति मार्ग है, मुक्ति का कारण है। ऐसी निरुक्ति अर्थात् व्युत्पत्ति है।''

उक्त गाथा और उसकी टीका का भाव इतना ही है कि अवश का भाव आवश्यक है और पर के वश नहीं होना ही अवश है।

तात्पर्य यह है कि स्ववश अर्थात् स्वाधीन वृत्ति और प्रवृत्ति ही निश्चय परम आवश्यक है। मुनिराजों के होनेवाले स्तुति, वंदना आदि व्यवहार परम आवश्यक वास्तविक आवश्यक नहीं; क्योंकि वे पुण्यबंध के कारण हैं।

मुक्ति का कारण तो एकमात्र त्रिगुप्ति गुप्त परम समाधि लक्षणवाला परमयोग ही है और वही निश्चय परम आवश्यक है।।१४१।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'श्रीमद् अमृतचंद्राचार्य के द्वारा भी कहा गया है ह्न** ऐसा लिखकर एक छन्द उद्धृत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(मनहरण)

विलीन मोह-राग-द्वेष मेघ चहुं ओर के,
चेतना के गुणगण कहाँ तक बखानिये।

---

१. प्रवचनसार, कलश ५

तथाहि ह्न

(मंदाक्रांता)

आत्मन्युच्चैर्भवति नियतं सच्चिदानन्दमूर्त्तौ
धर्मः साक्षात् स्ववशजनितावश्यकर्मात्मकोऽयम् ।
सोऽयं कर्मक्षयकरपटुर्निर्वृतेरेकमार्गः
तेनैवाहं किमपि तरसा यामि शं निर्विकल्पम् ।।२३८।।

अविचल जोत निष्कंप रत्नदीप सम,
विलसत सहजानन्द मय जानिये।।
नित्य आनंद के प्रशमरस में मगन,
शुद्ध उपयोग का महत्त्व पहिचानिये।
नित्य ज्ञानतत्त्व में विलीन यह आतमा,
स्वयं धर्मरूप परिणत पहिचानिये।।६६।।

इसप्रकार शुद्धोपयोग को प्राप्त करके यह आत्मा स्वयं धर्मरूप परिणमित होता हुआ नित्यानंद के प्रसार से सरस आत्मतत्त्व में लीन होकर, अत्यन्त अविचलता के कारण दैदीप्यमान ज्योतिर्मय और सहजरूप से विलसित स्वभाव से प्रकाशित रत्नदीपक की भाँति निष्कंप प्रकाशमय शोभा को प्राप्त करता है।

घी या तेल से जलनेवाले दीपक की लों वायु के संचरण से कांपती रहती है और यदि वायु थोड़ी–बहुत भी तेज चले तो बुझ जाती है; परन्तु रत्नदीपक में न तो घी या तेल की जरूरत है और न वह वायु के प्रचंड वेग से काँपता ही है। जब वह कांपता भी नहीं तो फिर बुझने का प्रश्न नहीं उठता।

यही कारण है कि यहाँ ज्ञानानन्दज्योति की उपमा रत्नदीपक से दी गई है। क्षायोपशमिक ज्ञान और आनन्द; तेल के दीपक के समान अस्थिर रहते हैं, अनित्य होते हैं और क्षणभंगुर होते हैं; किन्तु क्षायिकज्ञान और क्षायिक आनन्द; रत्नदीपक के समान अकंप चिरस्थाई होते हैं।

शुद्धोपयोग के प्रसाद से होनेवाले अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख अकंप चिरस्थाई होने से परम उपादेय हैं।

इसप्रकार इस कलश में निष्कम्प रत्नदीपक के उदाहरण के माध्यम से यही कहा गया है कि अपने त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला शुद्धोपयोग ही निश्चय परम आवश्यक है।।६६।।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं त्ति बोद्धव्वा।
जुत्ति त्ति उवाअं त्ति य णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती।।१४२।।

न वशो अवशस्य कर्म वाऽवश्यकमिति बोद्धव्यम्।
युक्तिरिति उपाय इति च निरवयवो भवति निरुक्तिः।।१४२।।

(रोला)

जो सत् चित् आनन्दमयी निज शुद्धातम में।
रत होने से अरे स्ववशताजन्य कर्म हो।।
वह आवश्यक परम करम ही मुक्तिमार्ग है।
उससे ही मैं निर्विकल्प सुख को पाता हूँ।।२३८।।

स्ववशजनित अर्थात् अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न आवश्यक कर्मरूप यह साक्षात् धर्म, सच्चिदानन्द की मूर्ति आत्मा में निश्चित ही अतिशयरूप से होता है। कर्मों के क्षय करने में कुशल यह धर्म, निवृत्तिरूप एक मार्ग है, मुक्ति का एकमात्र मार्ग है। उससे ही मैं शीघ्र ही अद्भुत निर्विकल्प सुख को प्राप्त होता हूँ।

इसप्रकार इस कलश में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि सच्चिदानन्दमयी निज शुद्धात्मा के ज्ञान-दर्शनपूर्वक होनेवाली आत्मलीनता ही निश्चय परम आवश्यक कर्म है, साक्षात् धर्म है; उससे ही अनन्त सुख की प्राप्ति होती है।

निज शुद्धात्मा के आश्रय से अर्थात् निज आत्मा में अपनापन स्थापित करने से, उसे ही निजरूप जानने से और उसी में एकाग्र हो जाने से, जम जाने से, रम जाने से उत्पन्न होनेवाले निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय ही मुक्ति का एकमात्र साक्षात् मार्ग है, साक्षात् मुक्ति का मार्ग है। इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। अतः **सभी आत्मार्थियों का एकमात्र कर्त्तव्य शुद्धात्मा की उपलब्धि ही है, उसे प्राप्त करने का प्रयास करना ही है।।२३८।।**

निश्चय परमावश्यकाधिकार की पहली गाथा में निश्चय परम आवश्यक कर्म की सामान्य चर्चा करने के उपरान्त अब इस दूसरी गाथा में उसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ बताते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो किसी के वश नहीं वह अवश उसके कर्म को।
कहे आवश्यक वही है युक्ति मुक्ति उपाय की।।१४२।।

जो अन्य के वश नहीं है, वह अवश है और अवश का कर्म आवश्यक है ह्न ऐसा

अवशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य परमावश्यककर्मावश्यं भवतीत्यत्रोक्तम्। यो हि योगी स्वात्मपरिग्रहादन्येषां पदार्थानां वशं न गतः, अत एव अवश इत्युक्तः, अवशस्य तस्य परजिन-योगीश्वरस्य निश्चयधर्मध्यानात्मकपरमावश्यककर्मावश्यं भवतीति बोद्धव्यम्। निरवयव-स्योपायो युक्तिः। अवयवः कायः, अस्याभावात् अवयवाभावः। अवशः परद्रव्याणां निरवयवो भवतीति निरुक्तिः व्युत्पत्तिश्चेति।

(मंदाक्रांता)

योगी कश्चित्स्वहितनिरतः शुद्धजीवास्तिकायाद्
अन्येषां यो न वश इति या संस्थितिः सा निरुक्तिः।
तस्मादस्य प्रहतदुरितध्वान्तपुंजस्य नित्यं
स्फूर्जज्ज्योतिःस्फुटितसहजावस्थयाऽमूर्तता स्यात्।।२३९।।

जानना चाहिए। यह अशरीरी होने की युक्ति है, उपाय है; इससे जीव अशरीरी होता है ह्न ऐसी निरुक्ति है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ अवश अर्थात् स्ववश-स्वाधीन परमजिन योगीश्वर को परम आवश्यक कर्म अवश्य होता है ह्न ऐसा कहा है। अपने आत्मा को चारों ओर से ग्रहण करनेवाले जिस आत्मा को स्वात्मपरिग्रह के अतिरिक्त अन्य किसी परपदार्थ के वश नहीं होने से अवश कहा जाता है; उस अवश परमजिनयोगीश्वर को निश्चय धर्मध्यान रूप परमावश्यक कर्म अवश्य होता है ह्न ऐसा जानना। वह परम आवश्यक कर्म निरवयवपने (मुक्त होने) का उपाय है, युक्ति है। अवयव अर्थात् काय (शरीर)। काय का अभाव ही अवयव का अभाव है, निरवयवपना है। तात्पर्य यह है कि परद्रव्यों के अवश जीव निरवयव है, अकाय है ह्न इसप्रकार निरुक्ति है, व्युत्पत्ति है।''

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में यह कहा गया है कि **किसी अन्य के वश नहीं होना ही अवश है और अवश का भाव आवश्यक है, परम आवश्यक है, निश्चय परम आवश्यक है। यह निश्चय परम आवश्यक ही साक्षात् मुक्ति का मार्ग है, अशरीरी होने का उपाय है।**

अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मा में अपनापन स्थापित करना, उसे ही निजरूप जानना-मानना और उसमें लीन हो जाना ही स्ववशता है। इस स्ववशता को ही यहाँ परम आवश्यक कर्म कहा गया है। इसके विरुद्ध परपदार्थों और उनके आश्रय से उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेषरूप परिणामों में अपनापन ही परवशता है। यह परवशता आत्मा का कर्त्तव्य नहीं है, आत्मा के लिए आवश्यक कर्म नहीं है; क्योंकि वह अवस्था बंधरूप है, बंध की कारण है।।१४२।।

वट्टदि जो सो समणो अण्णवसो होदि असुहभावेण।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवस्सयलक्खणं ण हवे।।१४३।।

वर्तते य: स श्रमणोऽन्यवशो भवत्यशुभभावेन।
तस्मात्तस्य तु कर्मावश्यकलक्षणं न भवेत्।।१४३।।

इसके उपरांत टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

निज आतम से भिन्न किसी के वश में न हो।
स्वहित निरत योगी नित ही स्वाधीन रहे जो।।
दुरिततिमिरनाशक अमूर्त्त ही वह योगी है।
यही निरुक्तिक अर्थ सार्थक कहा गया है।।२३९।।

स्वहित में लीन रहता हुआ कोई योगी शुद्धजीवास्तिकाय के अतिरिक्त अन्य पदार्थों के वश नहीं होता। उसका इसप्रकार सुस्थित रहना ही निरुक्ति है, व्युत्पत्ति से किया गया अर्थ है। ऐसा होने से अर्थात् पर के वश न होकर स्व में लीन रहने से दुष्कर्मरूपी अंधकार का नाश करनेवाले उस योगी को सदा प्रकाशमान ज्योति द्वारा सहज अवस्था प्रगट होने से अमूर्त्तपना होता है।

उक्त छन्द का सार यह है कि **आत्मकल्याण में पूर्णत: समर्पित योगी अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी समर्पित नहीं होता। तात्पर्य यह है कि वह सदा स्ववश ही रहता है, अन्य के वश नहीं होता। दुष्कर्म का नाश करनेवाला ऐसा योगी सदा प्रकाशमान ज्ञानज्योति द्वारा अमूर्तिक ही रहता है, मूर्तिक शरीर से एकत्व-ममत्व से रहित वह आत्मस्थ ही रहता है; फलस्वरूप अमूर्तिक ही है।**

तात्पर्य यह है कि आत्मा की आराधना करनेवाला सच्चा योगी अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी एकत्व-ममत्व धारण नहीं करता, किसी अन्य का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं बनता। उसकी यही वृत्ति और प्रवृत्ति उसे स्ववश बनाती है।।२३९।।

इस निश्चय परम आवश्यक अधिकार की आरंभ की दो गाथाओं में अन्य के वश से रहित स्ववश की चर्चा की; अब इस तीसरी गाथा में अन्यवश की बात करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

अशुभभाव सहित श्रमण है अन्यवश बस इसलिये।
उसे आवश्यक नहीं यह कथन है जिनदेव का।।१४३।।

इह हि भेदोपचाररत्नत्रयपरिणतेर्जीवस्यावशत्वं न समस्तीत्युक्तम्। अप्रशस्तरागाद्यशुभ-भावेन य: श्रमणाभासो द्रव्यलिंगी वर्तते स्वस्वरूपादन्येषां परद्रव्याणां वशो भूत्वा, ततस्तस्य जघन्यरत्नत्रयपरिणतेर्जीवस्य स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानलक्षणपरमावश्यककर्म न भवेदिति। अशनार्थं द्रव्यलिंगं गृहीत्वा स्वात्मकार्यविमुख: सन् परमतपश्चरणादिकमप्युदास्य जिनेन्द्रमंदिरं वा तत्क्षेत्रवास्तुधनधान्यादिकं वा सर्वमस्मदीयमिति मनश्चकारेति।

(मालिनी)

अभिनवमिदमुच्चैर्मोहनीयं मुनीनां
त्रिभुवनभुवनान्तर्ध्वांतपुंजायमानम्।
तृणगृहमपि मुक्त्वा तीव्रवैराग्यभावाद्
वसतिमनुपमां तामस्मदीयां स्मरन्ति ।।२४०।।

जो श्रमण अशुभभाव सहित वर्तता है, वह श्रमण अन्यवश है; इसलिए उसके आवश्यक कर्म नहीं है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ भेदोपचार रत्नत्रय परिणतिवाले जीव को अवशपना नहीं है ह्न ऐसा कहा है। जो श्रमणाभास द्रव्यलिंगी अप्रशस्तरागादिरूप अशुभभावों में वर्तता है, वह निजस्वरूप से भिन्न परद्रव्यों के वशीभूत होता है। इसलिए उस जघन्य रत्नत्रय परिणतिवाले जीव को स्वात्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले निश्चय धर्मध्यानरूप परमावश्यक कर्म नहीं है।

वह श्रमणाभास तो भोजन के लिए द्रव्यलिंग धारण करके स्वात्म कार्य से विमुख रहता हुआ परमतपश्चरणादि के प्रति उदासीन जिनेन्द्र भगवान के मंदिर अथवा जिनमंदिर के स्थान, मकान, धन, धान्यादि को अपना मानता है, उनमें अहंबुद्धि करता है, एकत्व-ममत्व करता है।''

विशेष ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव अत्यन्त स्पष्ट और कठोर शब्दों में कह रहे हैं कि जघन्य रत्नत्रय परिणतिवाले जीव को निश्चय धर्मध्यानरूप परमावश्यक कर्म नहीं है। उसने भोजन के लिए द्रव्यलिंग (नग्न दिगम्बर दशा) धारण किया है।[१] वह जिनमंदिर और उसकी जमीन, मकान, धन-धान्य को अपना मानता है, उस पर अधिकार जमाता है।

इससे प्रतीत होता है कि **आज से हजार वर्ष पहले उनके समय में भी इसप्रकार की दुष्प्रवृत्तियाँ चल पड़ी थीं और उनका निषेध भी बड़ी कड़ाई के साथ किया जा रहा था।।१४३।।**

---

१. अशनार्थं द्रव्यलिंग गृहीत्वा स्वात्मकार्यविमुख: सन्..

(शार्दूलविक्रीडित)

कोपि क्वापि मुनिर्बभूव सुकृती काले कलावप्यलं
मिथ्यात्वादिकलंकपंकरहितः सद्धर्मरक्षामणिः ।
सोऽयं संप्रति भूतले दिवि पुनर्देवैश्च संपूज्यते
मुक्तानेकपरिग्रहव्यतिकरः पापाटवीपावकः ।।२४१।।

इसके बाद मुनिराज पाँच छन्द लिखते हैं, उनमें से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(ताटंक)

त्रिभुवन घर में तिमिर पुंज सम मुनिजन का यह घन नव मोह।
यह अनुपम घर मेरा है - यह याद करें निज तृण घर छोड़ ।।२४०।।

मानो जैसे तीन लोकरूपी मकान में घना अंधकार प्रगाढ़रूप से भरा हो, वैसा ही द्रव्यलिंगी मुनियों का यह अभिनव तीव्र मोह है; जिसके वश वैराग्यभाव से घास के घर को छोड़कर भी वे वसतिका (मठादि) में एकत्व-ममत्व करते हैं।

इस छन्द में आश्चर्य व्यक्त किया गया है कि **जिसने वैराग्यभाव से समस्त परिग्रह का त्याग कर नग्न दिगम्बर दशा स्वीकार की; वह उत्कृष्ट पद प्रतिष्ठित होने पर भी वे मठ-मन्दिरादि में एकत्व-ममत्व करते हैं। यह सब कलयुग का ही माहात्म्य है ।।२४०।।**

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(ताटंक)

ग्रन्थ रहित निर्ग्रंथ पाप बन दहें पुजें इस भूतल में।
सत्यधर्म के रक्षामणि मुनि विरहित मिथ्यामल कलि में।।२४१।।

कहीं कोई भाग्यशाली जीव मिथ्यात्व आदि कीचड़ से रहित सद्धर्मरूपी रक्षामणि के समान समर्थ मुनिपद धारण करता है, जिसने सभी प्रकार के परिग्रहों को छोड़ा है और जो पापरूपी वन को जलानेवाली अग्नि के समान है; ऐसे वे मुनिराज इस कलयुग में भी सम्पूर्ण भूतल में और देवलोक के देवों से भी पूजे जाते हैं।

इस कलश में यही कहा गया है कि यद्यपि आत्मानुभवी स्ववश मुनिराजों के दर्शन सुलभ नहीं हैं; तथापि ऐसा भी नहीं है कि उनके दर्शन असंभव हों। उनका अस्तित्व आज भी संभव है और पंचमकाल के अन्त तक रहेगा।

दुर्भाग्य से यदि आपको आज सच्चे मुनिराजों के दर्शन उपलब्ध नहीं हैं तो इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि इस काल में सच्चे मुनिराजों का अस्तित्व ही संभव नहीं है; क्योंकि शास्त्रों के अनुसार उनका अस्तित्व पंचमकाल के अन्त तक रहेगा ।।२४१।।

(शिखरिणी)

तपस्या लोकेस्मिन्निखिलसुधियां प्राणदयिता
नमस्या सा योग्या शतमखशतस्यापि सततम्।
परिप्राप्यैतां यः स्मरतिमिरसंसारजनितं
सुखं रेमे कश्चिद्धत कलिहतोऽसौ जडमतिः ।।२४२।।

(आर्या)

अन्यवशः संसारी मुनिवेषधरोपि दुःखभाङनित्यम् ।
स्ववशो जीवन्मुक्तः किंचिन्न्यूनो जिनेश्वरादेषः ।।२४३।।

तीसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(ताटंक)

मतिमानों को अतिप्रिय एवं शत इन्द्रों से अर्चित तप।
उसको भी पाकर जो मन्मथ वश है कलि से घायल वह ।।२४२।।

सौ इन्द्रों से भी सतत् वंदनीय तपश्चर्या लोक में सभी बुद्धिमानों को प्राणों से भी प्यारी होती है। ऐसी तपश्चर्या प्राप्त करके भी जो जीव कामान्धकार सहित सांसारिक सुखों में रमता है; वह स्थूलबुद्धि कलिकाल से मारा हुआ है।

विगत छन्द के समान इस छन्द में भी यही कहा गया है कि **जो तप शत इन्द्रों से वंदनीय है; उसे प्राप्त कर भी जो विषयों में रमता है, वह कलयुग का मारा हुआ है, अभागा है।**

तात्पर्य यह है कि तप एक महाभाग्य से प्राप्त होनेवाला आत्मा का सर्वोत्कृष्ट धर्म है; उसे शास्त्रों में निर्जरा का कारण कहा गया है। **ऐसे परमतप को प्राप्त करके भी जो विषयों में रमते हैं, उनके अभाग्य की महिमा तो हम से हो नहीं सकती ।।२४२।।**

चौथे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(ताटंक)

मुनि होकर भी अरे अन्यवश संसारी है, दुखमय है।
और स्ववशजन सुखी मुक्त रे बस जिनवर से कुछ कम है।।२४३।।

जो जीव अन्यवश है, वह भले ही मुनिवेश धारी हो, तथापि संसारी है, संसार में भटकनेवाला है; सदा ही दुखी है, दुःख भोगनेवाला है और जो जीव स्ववश है, वह जीवन्मुक्त है; जिनेन्द्र भगवान से थोड़ा ही कम है, एक प्रकार से जिनेन्द्र समान ही है।

इस छन्द में निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए एकदम साफ शब्दों में कह दिया गया है कि **जो जीव अन्यवश हैं; वे भले मुनिवेशधारी हों तो भी संसारी हैं, संसार समुद्र में गोता लगाने वाले हैं और जो जीव स्ववश हैं; वे जीवन्मुक्त हैं।** वे जिनेन्द्र भगवान के समान ही हैं;

(आर्या)

अत एव भाति नित्यं स्ववशो जिननाथमार्गमुनिवर्गे।
अन्यवशो भात्येवं भृत्यप्रकरेषु राजवल्लभवत्।।२४४।।

जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे।।१४४।।

यश्चरति संयतः खलु शुभभावे स भवेदन्यवशः।
तस्मात्तस्य तु कर्मावश्यकलक्षणं न भवेत्।।१४४।।

अत्राप्यन्यवशस्याशुद्धान्तरात्मजीवस्य लक्षणमभिहितम्। यः खलु जिनेन्द्रवदनारविन्द–

बस जिनेन्द्र भगवान से कुछ ही कम हैं। तात्पर्य यह है कि वे अल्पकाल में ही भगवान बननेवाले हैं।।२४३।।

पाँचवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(ताटंक)

अतःएव श्री जिनवर पथ में स्ववश मुनि शोभा पाते।
और अन्यवश मुनिजन तो बस चमचों सम शोभा पाते।।२४४।।

इसीलिए स्ववश मुनि ही मुनिवर्ग में शोभा पाता है; अन्यवश मुनि तो उस चापलूस नौकर के समान है कि जो भले ही अपनी चापलूसी के कारण थोड़ी–बहुत इज्जत पा जाता हो, पर शोभा नहीं देता।

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि स्ववश मुनिराज ही शोभास्पद हैं, अन्यवश नहीं।।२४४।।

विगत गाथाओं में स्ववश और अन्यवश मुनिराज की चर्चा चल रही है। इस गाथा में भी उसी बात को आगे बढ़ाते हुए कुछ गंभीर प्रमेय उपस्थित करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

वे संयमी भी अन्यवश हैं जो रहें शुभभाव में।
उन्हें आवश्यक नहीं यह कथन है जिनेदव का।।१४४।।

जो संयमी जीव शुभभाव में प्रवर्तता है; वह वस्तुतः अन्यवश है; इसलिए उसे आवश्यकरूप कर्म नहीं है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस गाथा में भी अन्यवश अशुद्ध अन्तरात्मा जीव का लक्षण कहा गया है। जो

विनिर्गतपरमाचारशास्त्रक्रमेण सदा संयतः सन् शुभोपयोगे चरति, व्यावहारिकधर्मध्यान-परिणतः अत एव चरणकरणप्रधानः, स्वाध्यायकालमवलोकयन् स्वाध्यायक्रियां करोति, दैनं दैनं भुक्त्वा चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानं च करोति, तिसृषु संध्यासु भगवदर्हत्परमेश्वरस्तुति-शतसहस्रमुखरमुखारविन्दो भवति, त्रिकालेषु च नियमपरायणः इत्यहोरात्रेऽप्येकादश-क्रियातत्परः, पाक्षिकमासिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकप्रतिक्रमणाकर्णनसमुपजनितपरितोष-रोमांचकंचुकितधर्मशरीरः, अनशनावमौदर्यरसपरित्यागवृत्तिपरिसंख्यानविविक्तशयनासन-कायक्लेशाभिधानेषु षट्सु बाह्यतपस्सु च संततोत्साहपरायणः, स्वाध्यायध्यानशुभाचरण-प्रच्युतप्रत्यवस्थापनात्मकप्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्युसर्गनामधेयेषु चाभ्यंतरतपोनुष्ठानेषु च कुशलवृद्धिः, किन्तु स निरपेक्षतपोधनः साक्षान्मोक्षकारणं स्वात्माश्रयावश्यककर्म निश्चयतः परमात्मतत्त्वविश्रान्तिरूपं निश्चयधर्मध्यानं शुक्लध्यानं च न जानीते, अतः परद्रव्यगतत्वाद-न्यवश इत्युक्तः।

अस्य हि तपश्चरणनिरतचित्तस्यान्यवशस्य नाकलोकादिक्लेशपरंपरया शुभोपयोग-फलात्मभिः प्रशस्तरागांगारैः पच्यमानः सन्नासन्नभव्यतागुणोदये सति परमगुरुप्रसादा-

---

श्रमण जिनेन्द्र भगवान के मुखारविन्द से निकले हुए परम आचार शास्त्र के अनुसार सदा संयत रहता हुआ शुभोपयोग में रहता है, प्रवर्तता है; व्यावहारिक धर्मध्यान में रहता है; इसलिए चरण करण प्रधान है, आचरण आचरने में प्रधान है; स्वाध्याय काल का अवलोकन करता हुआ स्वाध्याय करता है; प्रतिदिन भोजन करके चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान (त्याग) करता है; तीन संख्याओं के समय अर्थात् प्रातः, दोपहर और सायंकाल भगवान अरहंत परमेश्वर की लाखों स्तुतियाँ मुख से बोलता है; तीन काल नियम परायण रहता है; इसप्रकार दिन-रात ग्यारह क्रियाओं में तत्पर रहता है; पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक तथा सांवत्सरिक (वार्षिक) प्रतिक्रमण सुनने से उत्पन्न संतोष से जिसका धर्मशरीर रोमांचित होता है; अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश नाम के छह बाह्य तपों में जो सदा उल्लसित रहता है; स्वाध्याय, ध्यान, शुभ आचरण से च्युत होने पर पुनः उनमें स्थापनरूप प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य और व्युत्सर्ग नामक आभ्यन्तर तपों के अनुष्ठान में जो कुशलबुद्धिवाला है; परन्तु वह निरपेक्ष तपोधन मोक्ष के साक्षात् कारणरूप स्वात्माश्रित आवश्यक कर्म को निश्चय से परमात्मतत्त्व में विश्रान्तिरूप निश्चय धर्मध्यान को, शुक्लध्यान को नहीं जानता; इसलिए परद्रव्य में परिणत होने से उसे अन्यवश कहा गया है।

जिसका चित्त तपश्चरण में लीन है, ऐसा वह अन्यवश श्रमण देवलोकादि के क्लेश की परम्परा प्राप्त होने से शुभोपयोग के फलस्वरूप प्रशस्तरागरूप अंगारों से सिकता हुआ,

सादितपरमतत्त्वश्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानात्मकशुद्धनिश्चयरत्नत्रयपरिणत्या निर्वाणमुपयातीति।

आसन्नभव्यतारूपी गुण का उदय होने पर परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त परमतत्त्व के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानस्वरूप शुद्ध निश्चय परिणति द्वारा निर्वाण को प्राप्त होता है।

तात्पर्य यह है कि शुद्ध निश्चय परिणति प्राप्त होने पर ही निर्वाण को प्राप्त करता है।''

यद्यपि इस गाथा में मात्र इतना ही कहा गया है कि जो जीव संयत होने पर भी शुभभाव में प्रवर्त्तता है, वह अन्यवश है; इसलिए उसे आवश्यकरूप कर्म नहीं है; तथापि तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव गाथा का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए आरंभ में ही लिख देते हैं कि इस गाथा में अशुद्ध अन्तरात्मा का कथन है।

'संयत' पद का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि वह जिनागम सम्मत आचरण का पालन करता है, जिनागम का अध्ययन करता है, प्रत्याख्यान करता है, अर्हन्त भगवान की स्तुति करता है, प्रतिक्रमण करता है; अनशनादि छह बाह्य तप और प्रायश्चित्तादि छह अंतरंग तपों में उत्साहित रहता है।

इसप्रकार वह न केवल जिनागम का अध्येता है, अपितु उसे जीवन में अपनाता भी है, आचरण में भी लाता है। ऐसा संयत होने पर भी अन्यवश ही है, स्ववश नहीं, निश्चय परमावश्यक का धारी नहीं है; क्योंकि परमतत्त्व में विश्रान्तिरूप निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप परिणमित नहीं होता। इसलिए वह अन्यवश ही है, स्ववश नहीं।

उसके भविष्य के बारे में उनका कहना यह है कि वह अन्यवश श्रमण शुभोपयोग के फलस्वरूप प्रशस्तरागरूप अंगारों से सिकता हुआ क्लेश पाता है।

अन्त में ऐसा भी लिखते हैं कि वह आसन्नभव्य सद्गुरु के प्रसाद से प्राप्त परमतत्त्व के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान स्वरूप शुद्धनिश्चय परिणति के द्वारा निर्वाण को प्राप्त करता है।

उक्त सम्पूर्ण स्थिति पर गंभीरता से विचार करने पर विचारणीय बात यह है कि टीकाकार मुनिराज सबसे तो यह कह देते हैं कि **यह अशुद्ध अंतरात्मा का कथन है** और बीच में यह भी कहते हैं कि **वह परमतत्त्व में विश्रान्तिरूप निश्चयधर्मध्यान और शुक्लध्यान को नहीं जानता।**

इसीप्रकार उसकी स्थिति का चित्रण करते हुए कहते हैं कि वह अन्यवश श्रमण शुभोपयोग के फलस्वरूप **प्रशस्तरागरूप अंगारों में सिकता हुआ क्लेश पाता है।** अन्ततः यह कह देते हैं कि वह आसन्नभव्य सद्गुरु के प्रसाद से प्राप्त **परमतत्त्व के श्रद्धान-ज्ञान और अनुष्ठानरूप शुद्धनिश्चय परिणति के द्वारा निर्वाण को प्राप्त करता है।**

उक्त स्थिति में प्रश्न यह उठता है कि वह ज्ञानी है या अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि है या

(हरिणी)

त्यजतु सुरलोकादिक्लेशे रतिं मुनिपुंगवो
भजतु परमानन्दं निर्वाणकारणकारणम् ।
सकलविमलज्ञानावासं निरावरणात्मकं
सहजपरमात्मानं दूरं नयानयसंहतेः ।।२४५।।

सम्यग्दृष्टि ? क्योंकि अन्तरात्मा तो सम्यग्दृष्टि ही होते हैं; पर अन्तरात्मा के साथ यहाँ अशुद्ध विशेषण लगा हुआ है और यह भी कहा है कि वह निश्चयधर्मध्यान एवं शुक्लध्यान को नहीं जानता। उक्त स्थिति में वह अज्ञानी जैसा लगने लगता है।

यह तो साफ ही है कि वह स्ववश नहीं है, परवश है। परवश के निश्चय परमावश्यक नहीं होते ह्न यह भी स्पष्ट है।

उक्त सम्पूर्ण स्थिति पर गंभीर मंथन करने पर यही स्पष्ट होता है कि यहाँ भी उसीप्रकार का प्रस्तुतीकरण है, जैसाकि समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय में स्वसमय और परसमय के संदर्भ में किया गया है। यहाँ प्ररूपित परवश श्रमण श्रद्धा के दोषवाला अज्ञानी नहीं है, अपितु शुभोपयोगरत ज्ञानी जीव ही है।

स्वसमय और परसमय के संदर्भ में विशेष जानकारी के लिए समयसार अनुशीलन भाग १, पृ. २५ से ३५ तक एवं प्रवचनसार अनुशीलन भाग २, पृ. ११ से २२ तक अध्ययन करना चाहिए।।१४४।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(ताटंक)

अतः मुनिवरो देवलोक के क्लेशों से रति को छोड़ो।
सुख-ज्ञान पूर नय-अनय दूर निज आतम में निज को जोड़ो।।२४५।।

हे मुनिपुंगव ! देवलोक के क्लेश के प्रति रति छोड़ो और मुक्ति के कारण का कारण जो सहज परमात्मा है, उसको भजो। वह सहज परमात्मा परमानन्दमय है, सर्वथा निर्मल ज्ञान का आवास है, निरावरण है तथा नय और अनय के समूह से दूर है।

ध्यान रहे यहाँ त्रिकाली ध्रुव सहज परमात्मा को मुक्ति के कारण का कारण कहा गया है; क्योंकि मुक्ति का कारण शुद्धोपयोग है और उस शुद्धोपयोग का कारण कारणपरमात्मा है।

उक्त कलश में स्वर्ग सुखों के प्रति आकर्षण को छोड़ने और अपने त्रिकाली ध्रुव सहज आत्मा को भजने का उपदेश दिया गया है।।२४५।।

दव्वगुणपज्जयाणं चित्तं जो कुणइ सो वि अण्णवसो।
मोहंधयारववगयसमणा कहयंति एरिसयं ।।१४५।।

द्रव्यगुणपर्यायाणां चित्तं यः करोति सोप्यन्यवशः।
मोहान्धकारव्यपगतश्रमणाः कथयन्तीदृशम् ।।१४५।।

अत्राप्यन्यवशस्य स्वरूपमुक्तम्। यः कश्चिद् द्रव्यलिंगधारी भगवदर्हन्मुखारविन्द-विनिर्गतमूलोत्तरपदार्थसार्थप्रतिपादनसमर्थः क्वचित् षण्णां द्रव्याणां मध्ये चित्तं धत्ते, क्व-चित्तेषां मूर्तामूर्तचेतनाचेतनगुणानां मध्ये मनश्चकार, पुनस्तेषामर्थव्यंजनपर्यायाणां मध्ये बुद्धिं करोति, अपि तु त्रिकालनिरावरणनित्यानंदलक्षणनिजकारणसमयसारस्वरूपनिरत-सहजज्ञानादिशुद्धगुणपर्यायाणामाधारभूतनिजात्मतत्त्वे चित्तं कदाचिदपि न योजयति, अत एव स तपोधनोऽप्यन्यवश इत्युक्तः। प्रध्वस्तदर्शनचारित्रमोहनीयकर्मध्वांतसंघाताः परमात्मतत्त्वभावेनोत्पन्नवीतरागसुखामृतपानोन्मुखाः श्रमणा हि महाश्रमणाः परमश्रुत-केवलिनः, ते खलु कथयन्तीदृशम् अन्यवशस्य स्वरूपमिति।

विगत गाथा में अन्यवश का स्वरूप स्पष्ट किया था। इस गाथा में भी उसी के स्वरूप को और विशेष स्पष्ट करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

विकल्पों में मन लगावें द्रव्य-गुण-पर्याय के।
अरे वे भी अन्यवश निर्मोहजिन ऐसा कहें।।१४५।।

जो द्रव्य, गुण, पर्यायों में या तत्संबंधी विकल्पों में मन लगाता है, वह भी अन्यवश है। मोहांधकार रहित श्रमण ऐसा कहते हैं।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ भी अन्यवश का स्वरूप कहा है। अरहंत भगवान के मुखारबिन्द से निकले हुए मूल और उत्तर पदार्थों का अर्थ सहित प्रतिपादन करने में समर्थ कोई द्रव्यलिंगधारी मुनि कभी छह द्रव्यों के चिन्तवन में चित्त लगाता है; कभी उनके मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन गुणों के चिन्तवन में मन लगाता है; कभी उनकी अर्थ पर्यायों के व व्यंजनपर्यायों के चिन्तवन में बुद्धि को लगाता है; परन्तु त्रिकाल निरावरण नित्यानन्द लक्षणवाले निज कारण समयसार स्वरूप में निरत सहज ज्ञानादि शुद्ध गुण पर्यायों के आधारभूत निज आत्मतत्त्व में चित्त को कभी भी नहीं लगाता; उस तपोधन को भी इसकारण से ही, विकल्पों के वश होने के कारण से ही अन्यवश कहा गया है। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मरूपी अंधकार समूह का नाश करनेवाले और परमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न वीतराग सुखामृत के पान में तत्पर श्रमण ही वस्तुतः महाश्रमण है, परमश्रुतकेवली हैं। उन्होंने अन्यवश का स्वरूप ह्न ऐसा कहा है।''

तथा चोक्तम् ह्न

(अनुष्टुभ्)

आत्मकार्यं परित्यज्य दृष्टादृष्टविरुद्धया ।
यतीनां ब्रह्मनिष्ठानां किं तया परिचिन्तया ।।६७।।[१]

तथा हि ह्न

(अनुष्टुभ्)

यावच्चिन्तास्ति जन्तूनां तावद्भवति संसृतिः ।
यथेंधनसनाथस्य स्वाहानाथस्य वर्धनम् ।।२४६।।

उक्त गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि **जिनेन्द्र भगवान की वाणी में प्रतिपादित द्रव्य-गुण-पर्याय के चिन्तन-मनन में जुटे रहनेवाले मुनिराज भी यदि समयसारस्वरूप निज आत्मा में अपने चित्त को नहीं लगाते, उसमें जमते-रमते नहीं हैं तो वे इसकारण ही परवश हैं; उनके निश्चय परम आवश्यक नहीं है ।।१४५ ।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथा चोक्तं ह्न तथा कहा भी है' ह्न** ऐसा लिखकर एक छन्द उद्धृत करते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

ब्रह्मनिष्ठ मुनिवरों को दृष्टादृष्ट विरुद्ध ।
आत्मकार्य को छोड़ क्या परचिन्ता से सिद्ध ।।६७।।

आत्मकार्य को छोड़कर दृष्ट (प्रत्यक्ष) और अदृष्ट (परोक्ष) से विरुद्ध चिन्ता से, चिन्तवन से ब्रह्मनिष्ठ मुनियों को क्या प्रयोजन है ?

इस कलश में यह कहा गया है कि अपने आत्मा के ज्ञान-ध्यान को छोड़कर जो कार्य प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों से सिद्ध नहीं होते ह्न ऐसे व्यर्थ के कार्यों में उलझने से किस कार्य की सिद्धि होती है। विशेष आत्मज्ञानी मुनिराजों को तो इनमें से किसी स्थिति में उलझना ठीक नहीं है ।।६७।।

(दोहा)

जबतक ईंधन युक्त है अग्नि बढ़े भरपूर।
जबतक चिन्ता जीव को तबतक भव का पूर।।२४६।।

जिसप्रकार जबतक ईंधन हो, तबतक अग्नि वृद्धि को प्राप्त होती है; उसीप्रकार जबतक जीवों को चिन्ता है, तबतक संसार है ।

---

१. ग्रंथ का नाम एवं आचार्य का नाम अनुपलब्ध है ।

परिचत्ता परभावं अप्पाणं झादि णिम्मलसहावं।
अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।।१४६।।

परित्यक्त्वा परभवं आत्मानं ध्यायति निर्मलस्वभावम्।
आत्मवशः स भवति खलु तस्य तु कर्म भणन्त्यावश्यम्।।१४६।।

अत्र हि साक्षात् स्ववशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य स्वरूपमुक्तम्। यस्तु निरुपरागनिरंजन-स्वभावत्वादौदयिकादिपरभावानां समुदयं परित्यज्य कायकरणवाचामगोचरं सदा निरावरण-त्वान्निर्मलस्वभावं निखिलदुरघवीरवैरिवाहिनीपताकालुण्टाकं निजकारणपरमात्मानं ध्यायति स एवात्मवश इत्युक्तः।

तस्याभेदानुपचाररत्नत्रययात्मकस्य निखिलबाह्यक्रियाकांडाडंबरविविधविकल्पमहा-कोलाहलप्रतिपक्षमहानंदानंदप्रदनिश्चयधर्मशुक्लध्यानात्मकपरमावश्यककर्म भवतीति।

जिसप्रकार जबतक ईंधन है, तबतक अग्नि भड़कती ही है; उसीप्रकार जबतक सांसारिक कार्यों की चिन्ता में यह जीव उलझा रहेगा; तबतक संसार परिभ्रमण होगा ही। अतः **जिन्हें संसार परिभ्रमण से मुक्त होना हो, वे सन्तगण सांसारिक चिन्ताओं से पूर्णतः मुक्त रहें।।२४६।।**

अब इस गाथा में साक्षात् स्ववश मुनिराज कैसे होते हैं ह्न यह बताते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

परभाव को परित्याग ध्यावे नित्य निर्मल आतमा।
वह आत्मवश है इसलिए ही उसे आवश्यक कहे।।१४६।।

परभावों का त्याग करके जो निर्ग्रन्थ मुनिराज अपने निर्मलस्वभाव वाले आत्मा को ध्याता है, वह वस्तुतः आत्मवश है। उसे आवश्यक कर्म होते हैं ह्न ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ साक्षात् स्ववश परमजिनयोगीश्वर का स्वरूप कहा है। निरुपराग निरंजन स्वभाव वाले होने के कारण जो परमजिनयोगीश्वर श्रमण औदयिकादि परभाव को त्याग कर, इन्द्रिय, काया और वाणी के अगोचर सदा निरावरण होने से निर्मलस्वभाववाले और पापरूपी वीर शत्रुओं की सेना के ध्वजा को लूटनेवाले निजकारण परमात्मा को ध्याता है, उस श्रमण को आत्मवश श्रमण कहा गया है।

उस अभेद-अनुपचार रत्नत्रय को धारण करनेवाले परमजिनयोगीश्वर श्रमण को समस्त बाह्य क्रियाकाण्ड आडम्बर में विविध विकल्पों के महाकोलाहल से प्रतिपक्ष महा आनन्दा-नन्दप्रद निश्चय धर्मध्यान और निश्चय शुक्लध्यान स्वरूप परमावश्यक कार्य होता है।''

(पृथ्वी)

जयत्ययमुदारधीः स्ववशयोगिवृन्दारकः
प्रनष्टभवकारणः प्रहतपूर्वकर्मावलिः ।
स्फुटोत्कटविवेकतः स्फुटितशुद्धबोधात्मिकां
सदाशिवमयां मुदा व्रजति सर्वथा निर्वृतिम् ।।२४७।।

(अनुष्टुभ्)

प्रध्वस्तपंचबाणस्य पंचाचारांचिताकृतेः ।
अवंचकगुरोर्वाक्यं कारणं मुक्तिसंपदः ।।२४८।।

गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि वे परमजिन योगीश्वर मुनिराज औदयिकादि परभावों को त्यागकर एकमात्र परमपारिणामिकभावरूप निज कारण परमात्मा को ध्याते हैं; वे ही वास्तव में आत्मवश श्रमण हैं, स्ववश हैं, निश्चय परम आवश्यक वाले महाश्रमण हैं ।।१४६।।

इसके बाद टीकाकार आठ छंद लिखते हैं, जिनमें से पहले छंद का पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(ताटंक)

शुद्धबोधमय मुक्ति सुन्दरी को प्रमोद से प्राप्त करें।
भवकारण का नाश और सब कर्मावलि का हनन करें ।।
वर विवेक से सदा शिवमयी परवशता से मुक्त हुए।
वे उदारधी संत शिरोमणि स्ववश सदा जयवन्त रहें ।।२४७।।

भव के कारण को नष्ट किया है जिसने और पूर्व कर्मावली का हनन करनेवाला सन्त स्पष्ट, उत्कृष्ट विवेक द्वारा प्रगट शुद्धबोधस्वरूप, सदा शिवमय, सम्पूर्ण मुक्ति को प्रमोद से प्राप्त करता है; ऐसा वह स्ववश मुनिश्रेष्ठ जयवंत है ।

जो बात गाथा और टीका में कही है; उसी बात को इस कलश में दुहराते हुए कहते हैं कि **पूर्व कर्मावली को नष्ट करनेवाले और संसार के कारण को भी जड़मूल से उखाड़नेवाले, उदारबुद्धि मुनिराज ही मुक्ति को प्राप्त करते हैं।** वे श्रेष्ठतम मुनिराज ही निश्चय परम आवश्यक कर्म के धारक हैं ।।२४७।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

काम विनाशक अवंचक पंचाचारी योग्य।
मुक्तिमार्ग के हेतु हैं गुरु के वचन मनोज्ञ ।।२४८।।

(अनुष्टुभ्)

इत्थं बुद्ध्वा जिनेन्द्रस्य मार्गं निर्वाणकारणम् ।
निर्वाणंसंपदं याति यस्तं वंदे पुनः पुनः ।।२४९।।

(द्रुतविलंबित)

स्ववशयोगिनिकायविशेषक प्रहतचारुवधूकनकस्पृह ।
त्वमसि नश्शरणं भवकानने स्मरकिरातशरक्षतचेतसाम् ।।२५०।।

पंच बाणों के धारक कामदेव के नाशक ज्ञान; दर्शन, चारित्र, तप और वीर्यरूप पाँच आचारों से सुशोभित आकृतिवाले अवंचक गुरु के वाक्य ही मुक्ति संपदा के कारण हैं।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि **सर्वज्ञ भगवान की वाणी के अनुसार कहे गये अवंचक गुरुओं के वचन ही मुक्तिमार्ग में सहयोगी होते हैं।।२४८।।**

तीसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

जिनप्रतिपादित मुक्तिमग इसप्रकार से जान।
मुक्ति संपदा जो लहे उसको सतत् प्रणाम।।२४९।।

मुक्ति का कारण जो जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित मार्ग है; उसे इसप्रकार जानकर जो निर्वाण प्राप्त करता है; मैं उसे बारम्बार वंदन करता हूँ।

इस छन्द में जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित मुक्तिमार्ग को जानकर, अपनाकर, अपने जीवन में उतार कर मुक्ति प्राप्त करनेवाले सन्तों की अतिभक्तिपूर्वक वन्दना की गई है ।।२४९।।

चौथे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

कनक कामिनी की वांछा का नाश किया हो।
सर्वश्रेष्ठ है सभी योगियों में जो योगी।।
काम भील के काम तीर से घायल हम सब।
हे योगी ! तुम भववन में हो शरण हमारे।।२५०।।

कंचन-कामिनी की कामना को नाश करनेवाले योगी ही योगियों के समूह में सर्वश्रेष्ठ योगी हैं। हे सर्वश्रेष्ठ योगी कामदेवरूपी भील के तीर से घायल चित्तवाले हम लोगों के लिए आप भवरूप भयंकर वन में एकमात्र शरण हैं।

इस छन्द में भी कंचन-कामिनी की वांछा से रहित मुनिराजों के प्रति श्रद्धा व्यक्त की गई है और कहा गया है कि वे कामविजयी मुनिराज कामवासना से त्रस्त हम लोगों के लिए एकमात्र शरण हैं ।।२५०।।

(द्रुतविलंबित)

अनशनादितपश्चरणैः फलं तनुविशोषणमेव न चापरम् ।
तव पदांबुरुहद्वयचिंतया स्ववश जन्म सदा सफलं मम ।।२५१।।

(मालिनी)

जयति सहजतेजोराशिनिर्मग्नलोकः
स्वरसविसरपूरक्षालितांहः समंतात् ।
सहजसमरसेनापूर्णपुण्यः पुराणः
स्ववशमनसि नित्यं संस्थितः शुद्धसिद्धः ।।२५२।।

पाँचवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

अनशनादि तप का फल केवल तन का शोषण।
अन्य न कोई कार्य सिद्ध होता है उससे।।
हे स्ववश योगि ! तेरे चरणों के नित चिंतन से।
शान्ति पा रहा सफल हो रहा मेरा जीवन।।२५१।।

अनशनादि तपश्चरणों का फल मात्र शरीर का शोषण है, दूसरा कुछ भी नहीं। हे स्ववश योगी ! तेरे युगल चरण कमल के चिन्तन से मेरा जन्म सदा सफल है।

इस छन्द में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें अनशनादि तपों का फल मात्र शरीर का शोषण बताया गया है। साथ में यह भी कहा गया है कि स्ववश योगी ही महान है; उनके चरणों की उपासना में ही मानव जीवन सफल है।।२५१।।

छठवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

समता रस से पूर्ण भरा होने से पावन।
निजरस के विस्तार पूर से सब अघ धोये।।
स्ववश हृदय में संस्थित जो पुराण पावन है।
शुद्धसिद्ध वह तेजराशि जयवंत जीव है।।२५२।।

जिसने निजरस के विस्ताररूपी बाढ (पूर) के द्वारा पापों को सर्व ओर से धो डाला है; जो सहज समतारस से भरा होने से परम पवित्र है; जो पुरातन है; जो स्ववश मन में संस्थित है अर्थात् हृदय के भावों को स्ववश करके विराजमान है; तथा जो सिद्धों के समान शुद्ध है ह्न ऐसा सहज तेजराशि में निमग्न जीव सदा जयवंत है।

(अनुष्टुभ्)

सर्वज्ञवीतरागस्य स्ववशस्यास्य योगिनः।
न कामपि भिदां क्वापि तां विद्मो हा जडा वयम् ।।२५३।।
एक एव सदा धन्यो जन्मन्यस्मिन्महामुनिः।
स्ववशः सर्वकर्मभ्यो बहिस्तिष्ठत्यनन्यधीः ।।२५४।।

आवासं जह इच्छसि अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं।
तेण दु सामण्णगुणं संपुण्णं होदि जीवस्स ।।१४७।।

इसप्रकार इस छन्द में उन जीवों या सन्तों की महिमा बताई गई है; जो समतारस से भरे हुए होने से पवित्र हैं, जिन्होंने निजरस की लीनता द्वारा मिथ्यात्वादि पापों को धो डाला है, जो पुरातन है, जो अपने में समाये हुए हैं और सिद्धों के समान शुद्धस्वभावी हैं ।।२५२।।

सातवें व आठवें छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

वीतराग सर्वज्ञ अर आत्मवशी गुरुदेव।
इनमें कुछ अन्तर नहीं हम जड़ माने भेद ।।२५३।।
स्ववश महामुनि अनन्यधी और न कोई अन्य।
सरव करम से बाह्य जो एकमात्र वे धन्य ।।२५४।।

सर्वज्ञ-वीतरागी भगवान और इन स्ववश योगियों में कुछ भी अन्तर नहीं है; तथापि जड़ जैसे हम अरे रे इनमें भेद देखते हैं ह्न इस बात का हमें खेद है।

इस जन्म (लोक) में एकमात्र स्ववश महामुनि ही धन्य है; जो निजात्मा में ही अनन्यबुद्धि रखते हैं; अन्य किसी में अनन्यबुद्धि नहीं रखते। इसीलिए वे सभी कर्मों से बाहर रहते हैं।

इसप्रकार इन छन्दों में से प्रथम छन्द में यही कहा गया है कि यद्यपि निश्चय परम आवश्यकों को धारण करनेवाले मुनिराजों और वीतरागी सर्वज्ञ भगवान में कुछ भी अन्तर नहीं है; तथापि हम उनमें अंतर देखते हैं। हमारा यह प्रयास जड़बुद्धियों जैसा है; क्योंकि अपने में अपनापन रखने वाले, निश्चय परम आवश्यक धारण करनेवाले महामुनि ही धन्य हैं, महान हैं। दूसरे छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि एकमात्र स्ववश मुनि ही धन्य हैं; क्योंकि वे एकमात्र अपने आत्मा में अनन्यबुद्धि रखते हैं, अपनापन रखते हैं; अन्य किसी में नहीं ।।२५३-२५४।।

विगत गाथाओं में स्ववश सन्तों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है और अब इस गाथा में स्ववश सन्त होने के उपाय पर विचार करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

आवश्यकं यदीच्छसि आत्मस्वभावेषु करोषि स्थिरभावम् ।
तेन तु सामायिकगुणं सम्पूर्णं भवति जीवस्य ।।१४७।।

शुद्धनिश्चयावश्यकप्राप्त्युपायस्वरूपाख्यानमेतत् । इह हि बाह्यषडावश्यकप्रपंच-कल्लोलिनीकलकलध्वनिश्रवणपराङ्मुख हे शिष्य शुद्धनिश्चयधर्मशुक्लध्यानात्मकस्वात्माश्रयावश्यकं संसारव्रततिमूललवित्रं यदीच्छसि, समस्तविकल्पजालविनिर्मुक्तनिरंजन-निजपरमात्मभावेषु सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजसुखप्रमुखेषु सततनिश्चल स्थिरभावं करोषि, तेन हेतुना निश्चयसामायिकगुणे जाते मुमुक्षोर्जीवस्य बाह्यषडावश्यकक्रियाभिः किं जातम्, अप्यनुपादेयं फलमित्यर्थः । अतः परमावश्यकेन निष्क्रियेण अपनुर्भवपुरन्ध्रिका-संभोगहासप्रवीणेन जीवस्य सामायिकचारित्रं सम्पूर्णं भवतीति ।

(हरिगीत)

आवश्यकों की चाह हो थिर रहो आत्मस्वभाव में ।
इस जीव के हो पूर्ण सामायिक इसी परिणाम से ।।१४७।।

हे सन्त ! यदि तुम अवश्य करने योग्य आवश्यक प्राप्त करना चाहते हो तो आत्म-स्वभाव में स्थिरतारूप भाव धारण करो; क्योंकि जो आत्मस्वभाव में स्थिर भाव करता है, उससे उसे सामायिक गुण पूर्ण होता है ।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह शुद्धनिश्चय आवश्यक की प्राप्ति के उपाय के स्वरूप का कथन है । बाह्य षट् आवश्यक के प्रपंच (विस्तार) रूपी नदी की कल-कल ध्वनि के कोलाहल के श्रवण से पराङ्मुख अर्थात् व्यवहार-आवश्यकों से विरक्त हे शिष्य ! यदि तू संसाररूपी लता (बेल) की जड़ को छेदने के लिए कुठार के समान शुद्ध निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप स्वात्माश्रित निश्चय आवश्यक चाहता है तो तू सकल विकल्पजाल से मुक्त निरंजन निज परमात्मा के सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और सहजसुख आदि भावों में स्थिरभाव कर; क्योंकि इससे ही निश्चय सामायिक गुण उत्पन्न होता है । उसके होने पर मुमुक्षु जीव को बाह्य आवश्यक क्रियाओं से क्या लाभ है ? उनसे तो अनुपादेय (हेय) फल ही उत्पन्न होता है ह्न ऐसा अर्थ है; क्योंकि इस जीव को अपुनर्भवरूपी, मुक्तिरूपी स्त्री के संभोग और हास्य प्राप्त करने में समर्थ निश्चय परमावश्यक से ही सामायिक चारित्र सम्पूर्ण होता है, पूर्णता से प्राप्त होता है ।''

इस गाथा और उसकी टीका में ऐसे पात्र मुनिराजों को शिष्य के रूप में लिया गया है कि जो यथायोग्य व्यवहार आवश्यक होने पर भी उनसे पराङ्मुख हैं और निश्चय परम आवश्यक के अभिलाषी हैं । उनसे कहा जा रहा है कि आप विकल्पजाल से मुक्त होकर **एकमात्र निज**

तथा चोक्तं श्रीयोगीन्द्रदेवैः ह्न

(मालिनी)

यदि चलति कथंचिन्मानसं स्वस्वरूपाद्
भ्रमति बहिरतस्ते सर्वदोषप्रसंगः ।
तदनवरत–मंत–र्मग्न–संविग्न–चित्तो
भव भवसि भवान्तस्थायिधामाधिपस्त्वम् ।।६८।।[१]

तथा हि ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

यद्येवं चरणं निजात्मनियतं संसारदुःखापहं
मुक्तिश्रीललनासमुद्भवसुखस्योच्चैरिदं कारणम् ।
बुद्ध्वेत्थं समयस्य सारमनघं जानाति यः सर्वदा
सोयं त्यक्तबहिःक्रियो मुनिपतिः पापाटवीपावकः ।।२५५।।

आत्मा का ही चिन्तन-मनन, ज्ञान-ध्यान करो; क्योंकि एकमात्र इससे ही परमावश्यकरूप सामायिक गुण पूर्ण होता है ।।१४७।।

इसके बाद '**तथा चोक्तं श्रीयोगीन्द्रदेवै ह्न** तथा श्री योगीन्द्रद्रेव ने भी कहा है' ह्न ऐसा लिखकर टीकाकार मुनिराज एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(सोरठा)

प्रगटें दोष अनंत, यदि मन भटके आत्म से ।
यदि चाहो भव अंत, मगन रहो निज में सदा ।।६८।।

हे योगी ! यदि तेरा मन किसी कारण से निजस्वरूप से विचलित हो, भटके तो तुझे सर्वदोष का प्रसंग आता है । तात्पर्य यह है कि आत्म स्वरूप से भटकने से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं । इसलिए तू सदा अन्तर्मग्न और विरक्त चित्तवाला रह; जिससे तू मोक्षरूपी स्थायी धाम का अधिपति बनेगा, तुझे मुक्ति की प्राप्ति होगी ।

इसके बाद एक छंद टीकाकार मुनिराज स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(रोला)

अतिशय कारण मुक्ति सुन्दरी के सम सुख का ।
निज आतम में नियत चरण भवदुख का नाशक ।।
जो मुनिवर यह जान अनघ निज समयसार को ।
जाने वे मुनिनाथ पाप अटवी को पावक ।।२५५।।

---

१. अमृताशीति, श्लोक ६४

आवासएण हीणो पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो ।
पुव्वुत्तकमेण पुणो तम्हा आवासयं कुज्जा ।।१४८।।

आवश्यकेन हीनः प्रभ्रष्टो भवति चरणतः श्रमणः ।
पूर्वोक्तक्रमेण पुनः तस्मादावश्यकं कुर्यात् ।।१४८।।

अत्र शुद्धोपयोगाभिमुखस्य शिक्षणमुक्तम् । अत्र व्यवहारनयेनापि समतास्तुतिवंदना–प्रत्याख्यानादिषडावश्यकपरिहीणः श्रमणश्चारित्रपरिभ्रष्ट इति यावत्, शुद्धनिश्चयेन परमा–ध्यात्मभाषयोक्तनिर्विकल्पसमाधिस्वरूपपरमावश्यकक्रियापरिहीणश्रमणो निश्चयचारित्रभ्रष्ट

यदि इस जीव को संसार के दुखों को नाश करनेवाला और अपने आत्मा में नियत चारित्र हो तो; वह चारित्र मुक्तिलक्ष्मीरूपी सुन्दरी के समागम से उत्पन्न होनेवाले सुख का उच्चस्तरीय कारण होता है । ऐसा जानकर जो मुनिराज अनघ (निर्दोष) समयसार (शुद्धात्मा) को जानते हैं; उसमें ही जमते–रमते हैं; बाह्य क्रियाकाण्ड से मुक्त वे मुनिराज पापरूपी भयंकर जंगल को जलाने के लिए दावाग्नि के समान हैं ।

इसप्रकार इस छन्द में यह कहा गया है कि **आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला चारित्र ही मुक्ति का कारण है ।** बाह्य क्रियाकाण्ड से विरक्त और इसमें अनुरक्त मुनिराज ही मिथ्यात्वादि को नाश करनेवाले हैं ।।२५५।।

विगत गाथा में शुद्ध निश्चय आवश्यक की प्राप्ति के उपाय का स्वरूप बताया गया है और अब इस गाथा में निश्चय आवश्यक करने की प्रेरणा दे रहे हैं ।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो श्रमण आवश्यक रहित चारित्र से अति भ्रष्ट वे ।
पूर्वोक्त क्रम से इसलिए तुम नित्य आवश्यक करो ।।१४८।।

आवश्यक से रहित श्रमण चारित्र से भ्रष्ट होते हैं; इसलिए पहले बताई गई विधि से आवश्यक अवश्य करना चाहिए ।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ शुद्धोपयोग के सन्मुख जीव को शिक्षा दी गई है । इस लोक में जब व्यवहारनय से भी समता, स्तुति, वन्दना, प्रत्याख्यान आदि षट् आवश्यकों से रहित श्रमण चारित्र से भ्रष्ट है ह्न ऐसा कहा जाता है तो फिर शुद्ध निश्चयनय से परम–अध्यात्म भाषा में निर्विकल्प समाधि स्वरूप परम आवश्यक क्रिया से रहित निश्चयचारित्र से भ्रष्ट श्रमण तो चारित्र भ्रष्ट हैं ही ह्न ऐसा अर्थ है ।

इत्यर्थः। पूर्वोक्तस्ववशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य निश्चयावश्यकक्रमेण स्वात्माश्रयनिश्चय-धर्मशुक्लध्यानस्वरूपेण सदावश्यकं करोतु परममुनिरिति।

(मंदाक्रांता)

आत्मावश्यं सहजपरमावश्यकं चैकमेकं
कुर्यादुच्चैरघकुलहरं निर्वृतेर्मूलभूतम्।
सोऽयं नित्यं स्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः
वाचां दूरं किमपि सहजं शाश्वतं शं प्रयाति ।।२५६।।

(अनुष्टुभ्)

स्ववशस्य मुनीन्द्रस्य स्वात्मचिन्तनमुत्तमम्।
इदं चावश्यकं कर्म स्यान्मूलं मुक्तिशर्मणः ।।२५७।।

इसलिए हे मुनिवरो ! पहले कहे गये स्ववश परमजिन योगीश्वर के स्वात्माश्रित निश्चय धर्मध्यान व शुक्लध्यानरूप निश्चय परम आवश्यक को सदा अवश्य करो।''

इस गाथा और उसकी टीका में यह कहा गया है कि जब लोक में व्यवहार आवश्यकों से भ्रष्ट सन्तों को भ्रष्ट कहा जाता है तो फिर निश्चय आवश्यकों से भ्रष्ट तो भ्रष्ट हैं ही। कदाचित् कोई व्यवहार आवश्यक बाह्य रूप में सही भी पालता हो; किन्तु निश्चय परम आवश्यक से रहित है तो वह भी भ्रष्ट ही है।।१४८।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव स्वयं दो छन्द लिखते हैं; जिनमें पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

आवश्यक प्रतिदिन करो अघ नाशक शिव मूल।
वचन अगोचर सुख मिले जीवन में भरपूर।।२५६।।

प्रत्येक आत्मा को अघ समूह के नाशक और मुक्ति के मूल एक सहज परम-आवश्यक को अवश्य करना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से निजरस के विस्तार से पूर्ण भरा होने से पवित्र एवं सनातन आत्मा, वचन-अगोचर सहज शाश्वत सुख को प्राप्त करता है।

इसप्रकार इस छन्द में यह कहा गया है कि यदि वचनातीत शाश्वत मुक्तिसुख की प्राप्ति करनी है तो इस निश्चय आवश्यक को अवश्य धारण करना चाहिए।।२५६।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

निज आतम का चिन्तवन स्ववश साधु के होय।
इस आवश्यक करम से उनको शिवसुख होय।।२५७।।

आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अंतरंगप्पा ।
आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा ।।१४९।।

आवश्यकेन युक्तः श्रमणः स भवत्यंतरंगात्मा ।
आवश्यकपरिहीणः श्रमणः स भवति बहिरात्मा ।।१४९।।

अत्रावश्यककर्माभावे तपोधनो बहिरात्मा भवतीत्युक्तः । अभेदानुपचाररत्नत्रयात्मक-स्वात्मानुष्ठाननियतपरमावश्यककर्मणानवरतसंयुक्तः स्ववशाभिधानपरमश्रमणः सर्वोत्कृष्टो-ऽन्तरात्मा, षोडशकषायाणामभावादयं क्षीणमोहपदवीं परिप्राप्य स्थितो महात्मा । असंयत-सम्यग्दृष्टिर्जघन्यांतरात्मा । अनयोर्मध्यमाः सर्वे मध्यमान्तरात्मानः । निश्चयव्यवहारनयद्वय-प्रणीतपरमावश्यकक्रियाविहीनो बहिरात्मेति ।

स्ववश मुनिराजों के उत्तम स्वात्मचिन्तन होता है और इस आत्म चिन्तनरूप आवश्यक कर्म से उन्हें मुक्तिसुख की प्राप्ति होती है ।

इस छन्द में स्वात्मचिन्तनरूप निश्चय आवश्यक को जीवन में निरंतर बनाये रखने की परम पावन प्रेरणा दी गई है ।।२५७।।

विगत गाथा में तो यह कहा था कि आवश्यक से रहित श्रमण चारित्र भ्रष्ट है; पर इस गाथा में तो यह कहा जा रहा है कि आवश्यक से रहित श्रमण बहिरात्मा है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

श्रमण आवश्यक सहित हैं शुद्ध अन्तर-आत्मा ।
श्रमण आवश्यक रहित बहिरातमा हैं जान लो ।।१४९।।

आवश्यक सहित श्रमण अन्तरात्मा है और आवश्यक रहित श्रमण बहिरात्मा है ।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ ऐसा कहा है कि आवश्यक कर्म के अभाव में तपोधन बहिरात्मा होता है ।

अभेद-अनुपचार रत्नत्रयस्वरूप स्वात्मानुष्ठान में नियत परमावश्यक कर्म से निरंतर संयुक्त स्ववश नामक परम श्रमण सर्वोत्कृष्ट अन्तरात्मा है । यह महात्मा सोलह कषायों के अभाव हो जाने से क्षीणमोह पदवी को प्राप्त करके स्थित है । असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा है और इन दोनों के मध्य में स्थित सभी मध्यम अन्तरात्मा हैं । निश्चय और व्यवहार ह्न इन दो नयों से प्रतिपादित परमावश्यक क्रिया से रहित बहिरात्मा हैं ।

तात्पर्य यह है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जघन्य अन्तरात्मा, बारहवें गुणस्थानवर्ती उत्कृष्ट अन्तरात्मा और इन के बीच रहनेवाले पंचम गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के सभी जीव मध्यम अन्तरात्मा हैं तथा प्रथम, द्वितीय व तृतीय गुणस्थानवाले बहिरात्मा हैं ।''

उक्तं च मार्गप्रकाशे ह्न

(अनुष्टुभ्)

बहिरात्मान्तरात्मेति स्यादन्यसमयो द्विधा।
बहिरात्मानयोर्देहकरणाद्युदितात्मधीः ।।६९।।[१]
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदादविरतः सुदृक्।
प्रथमः क्षीणमोहोन्त्यो मध्यमोमध्यस्तयोः ।।७०।।[२]

उक्त सम्पूर्ण कथन से तो यही प्रतिफलित होता है कि **यह निश्चय परम आवश्यक अर्थात् स्ववशपना मात्र मुनिराजों के ही नहीं होता; अपितु चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर १२वें गुणस्थानवर्ती क्षीणमोही भावलिंगी सन्तों तक सभी को अपनी-अपनी भूमिकानुसार होता है; क्योंकि ये सभी अन्तरात्मा हैं। पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थानवाले बहिरात्मा हैं।।१४९।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज '**उक्तं च मार्गप्रकाशे ह्न** मार्गप्रकाश नामक ग्रन्थ में भी कहा है' ह्न ऐसा कहकर दो अनुष्टुप् छन्द उद्धृत करते हैं; जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

परमातम से भिन्न सभी जिय बहिरातम अर।
अन्तर आतमरूप कहे हैं दो प्रकार के।।
देह और आतम में धारे अहंबुद्धि जो।
वे बहिरातम जीव कहे हैं जिन आगम में।।६९।।

अन्तरात्मा उत्तम मध्यम जघन कहे हैं।
क्षीणमोह जिय उत्तम अन्तर आतम ही है।।
अविरत सम्यग्दृष्टि जीव सब जघन कहे हैं।
इन दोनों के बीच सभी मध्यम ही जानो।।७०।।

अन्य समय अर्थात् परमात्मा को छोड़कर बहिरात्मा और अन्तरात्मा ह्न इसप्रकार जीव दो प्रकार के हैं। उनमें शरीर और आत्मा में आत्मबुद्धि धारण करनेवाला, अपनापन स्थापित करनेवाला बहिरात्मा है।

जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से अन्तरात्मा तीन प्रकार के हैं। उनमें अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा हैं और क्षीणमोही उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं और इनके मध्य में स्थित मध्यम अन्तरात्मा हैं।

---

१. मार्गप्रकाश ग्रंथ में उद्धृत श्लोक २. वही

तथा हि ह्न

(मंदाक्रांता)

योगी नित्यं सहजपरमावश्यकर्मप्रयुक्त:
संसारोत्थ–प्रबल–सुखदु:खाटवी–दूरवर्ती ।
तस्मात्सोऽयं भवति नितरामन्तरात्मात्मनिष्ठ:
स्वात्मभ्रष्टो भवति बहिरात्मा बहिस्तत्त्वनिष्ठ: ।।२५८ ।।

अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा ।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा ।।१५०।।

उक्त छन्दों का भाव एकदम स्पष्ट और सहज सरल है; अत: उक्त संदर्भ में कुछ कहना अभीष्ट नहीं है ।।६९–७०।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(रोला)

योगी सदा परम आवश्यक कर्म युक्त हो।
भव सुख दुख अटवी से सदा दूर रहता है।।
इसीलिए वह आत्मनिष्ठ अन्तर आतम है।
स्वात्मतत्त्व से भ्रष्ट आतमा बहिरातम है।।२५८।।

योगी सदा सहज परमावश्यक कर्म से युक्त रहता हुआ संसारजनित सुख–दुखरूपी अटवी (भयंकर जंगल) से दूरवर्ती होता है। इसलिए वह योगी अत्यन्त आत्मनिष्ठ अन्तरात्मा है। जो स्वात्मा से भ्रष्ट है, वह बाह्य पदार्थों में अपनापन करनेवाला बहिरात्मा है।

इसप्रकार इस छन्द में कहा गया है कि आत्मनिष्ठ योगी ही सच्चे योगी हैं, स्ववश सन्त हैं, निश्चय आवश्यक के धारी हैं। जो जीव स्वात्मा से भ्रष्ट हैं, वे बहिरात्मा हैं। तात्पर्य यह है कि **अपने आत्मा में अपनापन स्थापित करके, उसे ही निजरूप जानकर, जो योगी स्वयं में ही समा जाता है, वही सच्चा योगी है। जगतप्रपंचों में उलझे लोग स्ववश योगी नहीं हो सकते।।२५८।।**

विगत गाथा में बहिरात्मा और अन्तरात्मा का स्वरूप कहा है। अब इस गाथा में उसके ही स्वरूप को विशेष स्पष्ट करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जो रहे अन्तरबाह्य जल्पों में वही बहिरातमा।
पर न रहे जो जल्प में है वही अन्तर आतमा।।१५०।।

अन्तरबाह्यजल्पे यो वर्तते स भवति बहिरात्मा।
जल्पेषु यो न वर्तते स उच्यतेऽन्तरंगात्मा।।१५०।।

बाह्याभ्यन्तरजल्पनिरासोऽयम्। यस्तु जिनलिंगधारी तपोधनाभास: पुण्यकर्मकांक्षया स्वाध्यायप्रत्याख्यानस्तवनादिबहिर्जल्पं करोति, अशनशयनयानस्थानादिषु सत्कारादिलाभ-लोभस्सन्नन्तर्जल्पे मनश्चककारेति स बहिरात्मा जीव इति। स्वात्मध्यानपरायणस्सन् निरवशेषेणान्तर्मुख: प्रशस्ताप्रशस्तसमस्त विकल्पाजालकेषु कदाचिदपि न वर्तते अत एव परमतपोधन: साक्षादंतरात्मेति।

तथा चोक्तं श्रीमद्मृतचन्द्रसूरिभि: ह्न

(वसंततिलका)

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम्।
अन्तर्बहि: समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम्।।७१।।[१]

जो जिनलिंगधारी संत अन्तर्बाह्य जल्प में वर्तता है; वह बहिरात्मा है और जो जल्पों में नहीं वर्तता है; वह अन्तरात्मा कहलाता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह बाह्य और अन्तरजल्प का निराकरण है। जो जिनलिंगधारी तपोधनाभास पुण्य कर्म की वांछा से स्वाध्याय, प्रत्याख्यान और स्तवन आदि बहिर्जल्प करता है और अशन (भोजन) शयन (सोना) गमन (चलना) और स्थिति (स्थिर रहना-ठहरना) आदि में सत्कार आदि की प्राप्ति का लोभी वर्तता हुआ अन्तर्जल्प में मन को लगाता है; वह जीव बहिरात्मा है। निज आत्मा के ध्यान में परायण रहता हुआ सम्पूर्णत: अन्तर्मुख रहकर जो तपोधन प्रशस्त व अप्रशस्त समस्त विकल्पजालों में कभी भी नहीं वर्तता; वह परमतपोधन साक्षात् अन्तरात्मा है।''

गाथा में तो सीधी, सरल व सहज बात कही है कि **जो अन्तर्बाह्य जल्पों में वर्तता है, वह बहिरात्मा है और जो इनसे अलिप्त है, वह अन्तरात्मा है; पर टीका में अन्तर्बाह्य विकल्पों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए पुण्यकर्म की वांछा से स्वाध्याय, प्रत्याख्यान और स्तवनादि करने को बहिर्जल्प तथा भोजन, सोना, चलना और ठहरने आदि की प्राप्ति का लोभी होकर प्रवर्तने को अन्तर्जल्प कहा है। लगता है कि यहाँ वचनात्मक प्रवृत्ति को बहिर्जल्प और मानसिक चिन्तन को अंतर्जल्प कहना चाहते हैं।।१५०।।**

---

१. समयसार : आत्मख्याति, छन्द ९०

तथा हि ह्न

(मंदाक्रांता)

मुक्त्वा जल्पं भवभयकरं बाह्यमाभ्यन्तरं च
स्मृत्वा नित्यं समरसमयं चिच्चमत्कारमेकम् ।
ज्ञानज्योतिः प्रकटितनिजाभ्यन्तरांगान्तरात्मा
क्षीणे मोहे किमपि परमं तत्त्वमन्तर्ददर्श ।।२५९।।

इसके बाद टीकाकार '**तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः** ह्न तथा अमृतचन्द्र आचार्यदेव ने कहा है' ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द उद्धृत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

उठ रहा जिसमें अनन्ते विकल्पों का जाल है।
वह वृहद् नयपक्षकक्षा विकट है विकराल है।।
उल्लंघन कर उसे बुध अनुभूतिमय निजभाव को।
हो प्राप्त अन्तर्बाह्य से समरसी एक स्वभाव को।।७१।।

इसप्रकार जिसमें बहुत से विकल्पों का जाल अपने आप उठ रहा है ह्न ऐसी महती नय-पक्षकक्षा का उल्लंघन करके ज्ञानी जीव अन्तर्बाह्य से समतारस स्वभाववाले अनुभूतिमात्र अपने भाव को प्राप्त करते हैं।

ज्यों-ज्यों नयों के विस्तार में जाते हैं, त्यों-त्यों मन के विकल्प भी विस्तार को प्राप्त होते हैं, चंचलचित्त लोकालोक तक उछलने लगता है। ज्ञानी जीव इसप्रकार के नयों के पक्ष को छोड़कर, समरसी भाव को प्राप्त होकर, आत्मा के एकत्व में अटल होकर, महामोह का नाश कर, शुद्ध अनुभव के अभ्यास से निजात्मबल प्रगट करके पूर्णानन्द में लीन हो जाते हैं।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि नयविकल्पों के विस्तार से उपयोग समेट कर जब आत्मा स्वभावसन्मुख होकर, निर्विकल्पज्ञान रूप परिणमित होता है; तभी अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करता है।।७१।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **तथाहि** लिखकर एक छन्द स्वयं भी लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

संसारभयकर बाह्य-अंतरजल्प तज समरसमयी।
चित्चमत्कारी एक आतम को सदा स्मरण कर।।
ज्ञानज्योति से अरे निज आतमा प्रगटित किया।
वह क्षीणमोही जीव देखे परमतत्त्व विशेषतः।।२५९।।

जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो सो वि अंतरंगप्पा।
झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि ।।१५१।।

यो धर्मशुक्लध्यानयो: परिणत: सोप्यन्तरंगात्मा।
ध्यानविहीन: श्रमणो बहिरात्मेति विजानीहि ।।१५१।।

अत्र स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुक्लध्यानद्वितयमेवोपादेयमित्युक्तम्।

इह हि साक्षादन्तरात्मा भगवान् क्षीणकषाय:। तस्य खलु भगवत: क्षीणकषायस्य षोडश-कषायाणामभावात् दर्शनचारित्रमोहनीयकर्मराजन्ये विलयं गते अत एव सहजचिद्विलास-लक्षणमत्यपूर्वमात्मानं शुद्धनिश्चयधर्मशुक्लध्यानद्वयेन नित्यं ध्यायति। आभ्यां ध्यानाभ्यां

भवभय करनेवाले बाह्य और अभ्यन्तर जल्प को छोड़कर समतारसमय एक चैतन्य चमत्कार का सदा स्मरण करके ज्ञानज्योति द्वारा जिसने निज अभ्यन्तर अंग प्रगट किया है ह्न ऐसा वह अन्तरात्मा मोह क्षीण होने पर किसी अद्भुत परमतत्त्व को अन्तर में देखता है।

उक्त छन्द में मात्र यही कहा है कि सच्चे सन्त तो अन्तर्बाह्य जल्पों को, विकल्पों को छोड़कर समतारसमय चैतन्यचमत्कार का स्मरण करते हैं। ज्ञानज्योति द्वारा मोह क्षीण होने पर अन्तरात्मा अपने आत्मा को देखते हैं, उसी में जमते-रमते हैं।।२५९।।

विगत गाथाओं में आवश्यक रहित अन्तर्बाह्य विकल्पवाले श्रमणों को बहिरात्मा कहा था; अब यहाँ इस गाथा में धर्म और शुक्लध्यान रहित श्रमणों को भी बहिरात्मा कहा जा रहा है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

हैं धरम एवं शुकल परिणत श्रमण अन्तर आतमा।
पर ध्यान विरहित श्रमण है बहिरातमा यह जान लो ।।१५१।।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान में परिणत आत्मा अन्तरात्मा है और ध्यानविहीन श्रमण बहिरात्मा है ह्न ऐसा जानो।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ इस गाथा में स्वात्माश्रित निश्चय धर्मध्यान व निश्चय शुक्लध्यान ह्न यह दो ध्यान ही उपादेय हैं ह्न ऐसा कहा है।

इस लोक में वस्तुत: साक्षात् अन्तरात्मा तो क्षीणकषाय भगवान ही है। वस्तुत: उन क्षीणकषाय भगवान (बारहवें गुणस्थानवाले) के सोलह कषायों का अभाव होने से दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मरूपी योद्धाओं के दल विलय को प्राप्त हो गये हैं; अत: वे भगवान क्षीणकषाय सहज चिद्विलास लक्षण अति अपूर्व आत्मा को शुद्ध निश्चय

विहीनो द्रव्यलिंगधारी द्रव्यश्रमणो बहिरात्मेति हे शिष्य त्वं जानीहि।

(वसंततिलका)

कश्चिन्मुनिः सततनिर्मलधर्मशुक्ल-
ध्यानामृते समरसे खलु वर्ततेऽसौ।
ताभ्यां विहीनमुनिको बहिरात्मकोऽयं
पूर्वोक्तयोगिनमहं शरणं प्रपद्ये।।२६०।।

किं च केवलं शुद्धनिश्चयनयस्वरूपमुच्यते ह्न

(अनुष्टुभ्)

बहिरात्मान्तरात्मेति विकल्पः कुधियामयम्।
सुधियां न समस्त्येष संसाररमणीप्रियः।।२६१।।

धर्मध्यान और शुद्ध निश्चय शुक्लध्यान द्वारा नित्य ध्याते हैं। इन दो ध्यानों रहित द्रव्यलिंग धारी द्रव्य श्रमण बहिरात्मा हैं। हे शिष्य तू ऐसा जान।''

देखो, यहाँ आचार्यदेव और टीकाकार मुनिराज निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान को ही उपादेय बताने के लिए इन ध्यानों से रहित मुनिराजों को न केवल द्रव्यलिंगी, अपितु बहिरात्मा कह रहे हैं।

आशय यह है कि जिनके निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान बिल्कुल हैं ही नहीं; वे श्रावक और मुनिराज बहिरात्मा हैं; वे नहीं कि जिनके आहार-विहारादि के काल में निश्चय धर्मध्यान व शुक्लध्यान नहीं हैं।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव जो छन्द लिखते हैं; उसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(वीरछन्द)

धरम-शुकलध्यान समरस में जो वर्ते वे सन्त महान।
उनके चरणकमल की शरणा गहें नित्य हम कर सन्मान।।
धरम-शुकल से रहित तुच्छ मुनि कर न सके आतमकल्याण।
संसारी बहिरातम हैं वे उन्हें नहीं निज आतमज्ञान।।२६०।।

जो कोई मुनि वस्तुतः निर्मल धर्म व शुक्लध्यानामृतरूप समरस में निरन्तर वर्तते हैं; वे अन्तरात्मा हैं और जो तुच्छ मुनि इन दोनों ध्यानों से रहित हैं; वे बहिरात्मा हैं। मैं उन समरसी अन्तरात्मा मुनिराजों की शरण लेता हूँ।

इस छन्द में टीकाकार मुनिराज निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान में वर्तनेवाले उत्कृष्ट अंतरात्मा मुनिराजों की शरण में जाने की बात कर रहे हैं।।२६०।।

पडिकमणपहुदिकिरियं कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं।
तेण दु विरागचरिए समणो अब्भुट्ठिदो होदि।।१५२।।

प्रतिक्रमणप्रभृतिक्रियां कुर्वन् निश्चयस्य चारित्रम्।
तेन तु विरागचरिते श्रमणोभ्युत्थितो भवति।।१५२।।

परमवीतरागचारित्रस्थितस्य परमतपोधनस्य स्वरूपमत्रोक्तम्।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज लिखते हैं कि दूसरी बात यह है कि अब एक छन्द के माध्यम से केवल शुद्ध निश्चयनय का स्वरूप कहते हैं। शुद्ध निश्चयनय का स्वरूप बतानेवाले उक्त छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(वीरछन्द)

बहिरातम-अन्तरातम के शुद्धातम में उठें विकल्प।
यह कुबुद्धियों की परिणति है ये मिथ्या संकल्प-विकल्प।।
ये विकल्प भवरमणी को प्रिय इनका है संसार अनन्त।
ये सुबुद्धियों को न इष्ट हैं, उनका आया भव का अन्त।।२६१।।

शुद्ध आत्मतत्त्व में 'यह बहिरात्मा है, यह अन्तरात्मा है' ह्न ऐसा विकल्प कुबुद्धियों को होता है। संसाररूपी रमणी (रमण करानेवाली) को प्रिय यह विकल्प, सुबुद्धियों को नहीं होता।

देखो, आचार्यदेव अनेक गाथाओं में बहिरात्मा और अन्तरात्मा का भेद समझाते आ रहे हैं और यहाँ टीकाकार मुनिराज यह कह रहे हैं कि इसप्रकार के विकल्प कुबुद्धियों को होते हैं, सुबुद्धियों को नहीं। तात्पर्य यह है कि **इसप्रकार के विकल्प भी हेय ही हैं, उपादेय नहीं; ज्ञानी जीव इन विकल्पों को भी बंध का कारण ही मानते हैं, मुक्ति का कारण नहीं।**

विगत गाथाओं में बहिरात्मा और अंतरात्मा का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरांत अब इस गाथा में वीतराग चारित्र में आरूढ संत की बात करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(हरिगीत)

प्रतिक्रमण आदिक क्रिया निश्चयचरित धारक श्रमण ही।
हैं वीतरागी चरण में आरूढ़ केवलि जिन कहें।।१५२।।

स्ववश सन्त प्रतिक्रमणादि क्रियारूप निश्चयचारित्र निरन्तर धारण करता है; इसलिए वह श्रमण वीतरागचारित्र में स्थित है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ परम वीतराग चारित्र में स्थित परम तपोधन का स्वरूप कहा है।

यो हि विमुक्तैहिकव्यापारः साक्षादपुनर्भवकांक्षी महामुमुक्षुः परित्यक्तसकलेन्द्रियव्यापारत्वान्निश्चयप्रतिक्रमणादिसत्क्रियां कुर्वन्नास्ते, तेन कारणेन स्वस्वरूपविश्रान्तिलक्षणे परमवीतरागचारित्रे स परमतपोधनस्तिष्ठति इति।

(मंदाक्रांता)

आत्मा तिष्ठत्यतुलमहिमा नष्टदृक्शीलमोहो
यः संसारोद्भवसुखकरं कर्म मुक्त्वा विमुक्तेः।
मूले शीले मलविरहिते सोऽयमाचारराशिः
तं वंदेऽहं समरससुधासिन्धुराकाशशांकम्।।२६२।।

ऐहिक व्यापार अर्थात् सांसारिक कार्य छोड़ दिये हैं जिसने ह्न ऐसा जो मोक्ष का अभिलाषी महामुमुक्षु, सभी इन्द्रियों के व्यापार को छोड़ देने से निश्चय प्रतिक्रमण आदि सत् क्रियाओं को निरन्तर करता है। इसकारण वह परम तपोधन निजस्वरूप विश्रान्त लक्षण परम वीतराग चारित्र में स्थित है।''

इस गाथा और उसकी टीका में उत्कृष्ट अन्तरात्मा १२वें गुणस्थान वर्ती पूर्ण वीतरागी महामुमुक्षु मुनिराज का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। कहा गया है कि उन्होंने समस्त सांसारिक कार्यों को तिलांजलि दे दी है, उनका इन्द्रियों का व्यापार पूर्णतः रुक गया है, निश्चय प्रतिक्रमणादि समस्त आवश्यक क्रियायें विद्यमान हैं। इसप्रकार वे परम तपोधन निज स्वरूप में विश्रान्ति लक्षणवाले वीतराग चारित्र में पूर्णतः स्थित हैं।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छंद लिखते हैं; जो इसप्रकार हैह्न

(रोला)

दर्शन अर चारित्र मोह का नाश किया है।
भवसुखकारक कर्म छोड़ संन्यास लिया है।।
मुक्तिमूल मल रहित शील-संयम के धारक।
समरस-अमृतसिन्धु चन्द्र को नमन करूँ मैं।।२६२।।

नष्ट हो गये हैं दर्शनमोह और चारित्रमोह जिसके ह्न ऐसा अतुल महिमावाला बारहवें गुणस्थानवर्ती आत्मा; संसारजनित सुख के कारण भूत कर्म को छोड़कर, मुक्ति के मूल मलरहित चारित्र में स्थित है, चारित्र का पुंज है। समतारसरूपी अमृतसागर को उछालने में पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान उस आत्मा को मैं वंदन करता हूँ।

इस छन्द में भी बारहवें गुणस्थानवाले पूर्ण वीतरागी मुनिराजों की भक्तिभाव पूर्वक वंदना की गई है।।२६२।।

वयणमयं पडिकमणं वयणमयं पच्चखाण णियमं च।
आलोयण वयणमयं तं सव्वं जाण सज्झायं।।१५३।।

वचनमयं प्रतिक्रमणं वचनमयं प्रत्याख्यानं नियमश्च।
आलोचनं वचनमयं तत्सर्वं जानीहि स्वाध्यायम्।।१५३।।

सकलवाग्विषयव्यापारनिरासोऽयम्। पाक्षिकादिप्रतिक्रमणक्रियाकारणं निर्यापकाचार्य-मुखोद्गतं समस्तपापक्षयहेतुभूतं द्रव्यश्रुतमखिलं वाग्वर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यात्मकत्वान्न ग्राह्यं भवति, प्रत्याख्याननियमालोचनाश्च। पौद्गलिकवचनमयत्वात्तत्सर्वं स्वाध्यायमिति रे शिष्यं त्वं जानीहि इति।

विगत गाथा में वीतरागी चारित्र में स्थित मुनिराजों की अनुशंसा करने के उपरान्त अब इस गाथा में वचनमय प्रतिक्रमणादि का निराकरण करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

वचनमय प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान अर आलोचना।
बाचिक नियम अर ये सभी स्वाध्याय के ही रूप हैं।।१५३।।

वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान, वचनमय नियम और वचनमय आलोचना ह्न ये सब प्रशस्त अध्यात्मरूप शुभभावरूप स्वाध्याय जानो।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह समस्त वचनसंबंधी व्यापार का निराकरण है। पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण क्रिया का कारण, निर्यापक आचार्य के मुख से निकला हुआ, समस्त पापों के क्षय का कारण सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत, वचनवर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्यात्मक होने से ग्रहण करने योग्य नहीं है।

प्रत्याख्यान, नियम और आलोचना भी पुद्गलद्रव्यात्मक होने से ग्रहण करने योग्य नहीं है। वे सब पौद्गलिक वचनमय होने से स्वाध्याय हैं ह्न ऐसा हे शिष्य ! तू जान।''

इस गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है कि सर्वज्ञदेव की वाणी के अनुसार गणधरदेव द्वारा ग्रथित और भावलिंगी संतों द्वारा प्रतिपादित द्वादशांग श्रुत में कहे गये वचनरूप व्यवहार प्रतिक्रमणादि हेय हैं, बंध के कारण हैं; मुक्ति के कारण नहीं।।१५३।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

मुक्त्वा भव्यो वचनरचनां सर्वदात: समस्तां
निर्वाणस्त्रीस्तनभरयुगाश्लेषसौख्यस्पृहाढ्य: ।
नित्यानंदाद्यतुलमहिमाधारके स्वस्वरूपे
स्थित्वा सर्वं तृणमिव जगज्जालमेको ददर्श ।।२६३।।

तथा चोक्तम् ह्न

परियट्टणं च वायण पुच्छण अणुपेक्खणा य धम्मकहा ।
थुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होदि सज्झाउ ।।७२।।[१]

(रोला)

मुक्ति सुन्दरी के दोनों अति पुष्ट स्तनों।
के आलिंगनजन्य सुखों का अभिलाषी हो।।
अरे त्यागकर जिनवाणी को अपने में ही।
थित रहकर वह भव्यजीव जग तृणसम निरखे।।२६३।।

मुक्तिरूपी स्त्री के पुष्ट स्तन युगल के आलिंगन के सुख की इच्छा वाले भव्यजीव समस्त वचनरचना को सर्वदा छोड़कर, नित्यानन्द आदि अतुल महिमा के धारक निजस्वरूप में स्थित होकर सम्पूर्ण जगतजाल (लोकसमूह) को तृण समान तुच्छ देखते हैं।

इस छन्द में टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव मुक्ति को स्त्री के रूप में प्रस्तुत करते हुए जिसप्रकार के विशेषणों का प्रयोग करते हैं; उनसे कुछ रागी गृहस्थों को अनेक तरह के विकल्प खड़े होते हैं। उनके वे विकल्प उनकी ही कमजोरी को व्यक्त करते हैं; क्योंकि मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव तो पूर्ण ब्रह्मचारी भावलिंगी सन्त थे।

कहा जाता है कि महापुराण के कर्त्ता आचार्य जिनसेन के प्रति भी लोगों में इसप्रकार के भाव उत्पन्न हुए थे; क्योंकि उन्होंने महापुराण में नारी के वर्णन में शृंगार रस का विशेष वर्णन किया था। लोगों के विकल्पों को शान्त करने के लिए उन्होंने खड़े होकर उसी प्रकरण का गहराई से विवेचन किया; फिर भी उनके किसी भी अंग में कोई विकृति दिखाई नहीं दी; तो सभी के इसप्रकार के विकल्प सहज ही शान्त हो गये। अत: उक्त संदर्भ में किसी भी प्रकार के विकल्प खड़े करना समझदारी का काम नहीं है।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज '**तथा चोक्तं ह्न** तथा कहा भी है' ह्न ऐसा लिखकर एक गाथा उद्धृत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

---

१. श्रीमूलाचार, पंचाचार अधिकार, गाथा २१९

जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं।
सत्तिविहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्वं।।१५४।।

यदि शक्यते कर्तुम् अहो प्रतिक्रमणादिकं करोषि ध्यानमयम्।
शक्तिविहीनो यावद्यदि श्रद्धानं चैव कर्त्तव्यम्।।१५४।।

अत्र शुद्धनिश्चयधर्मध्यानात्मकप्रतिक्रमणादिकमेव कर्तव्यमित्युक्तम्। मुक्तिसुन्दरीप्रथम–

(हरिगीत)

परीवर्तन वाँचना अर पृच्छना अनुप्रेक्षा।
स्तुति मंगल पूर्वक यह पंचविध स्वाध्याय है।।७२।।

पढे हुए को दुहरा लेना, वाचना, पृच्छना (पूँछना), अनुप्रेक्षा और धर्मकथा ह्न ऐसे ये पाँच प्रकार का स्तुति व मंगल सहित स्वाध्याय है।

इस गाथा में जो स्वाध्याय के पाँच भेद गिनाये गये हैं; वे तत्त्वार्थसूत्र में समागत भेदों से कुछ भिन्न दिखाई देते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र में स्वाध्याय के पाँच भेद इसप्रकार दिये हैं ह्न वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश।

यहाँ प्रतिपादित पहला भेद परिवर्तन तत्त्वार्थसूत्र के चतुर्थ भेद आम्नाय से मिलता-जुलता है। इसीप्रकार यहाँ कहा गया अन्तिम भेद धर्मकथा तत्त्वार्थसूत्र में समागत अन्तिम भेद धर्मोपदेश से मिलता-जुलता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इनमें कोई अन्तर नहीं है।

विगत गाथा में वचनमय प्रतिक्रमणादि का निषेध किया था और यहाँ कहते हैं कि **निश्चय धर्मध्यान एवं शुक्लध्यानरूप निश्चय प्रतिक्रमण ही करने योग्य है।**

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

यदि शक्य हो तो ध्यानमय प्रतिक्रमण करना चाहिए।
यदि नहीं हो शक्ति तो श्रद्धान ही कर्त्तव्य है।।१५४।।

यदि किया जा सके तो ध्यानमय प्रतिक्रमण ही करो; यदि तू शक्ति विहीन हो तो तबतक श्रद्धान ही कर्त्तव्य है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ ऐसा कहा है कि शुद्धनिश्चयधर्मध्यानरूप प्रतिक्रमणादि ही करने योग्य हैं।

दर्शनप्राभृतात्मकनिश्चयप्रतिक्रमणप्रायश्चित्तप्रत्याख्यानप्रमुखशुद्धनिश्चयक्रियाश्चैव कर्तव्या: संहननशक्तिप्रादुर्भावे सति हंहो मुनिशार्दूल परमागमामकरंदनिष्पन्दिमुखपद्मप्रभ–सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणे परद्रव्यपराङ्मुखस्वद्रव्यनिष्णातबुद्धे पंचेन्द्रियप्रसर–वर्जितगात्रमात्रपरिग्रह। शक्तिहीनो यदि दग्धकालेऽकाले केवलं त्वया निजपरमात्मतत्त्व–श्रद्धानमेव कर्तव्यमिति।

सहजवैराग्यरूपी महल के शिखर के ही शिखामणि, परद्रव्य से परांगमुख और स्वद्रव्य में निष्णात बुद्धिवाले, पाँच इन्द्रियों के विस्तार से रहित देहमात्र परिग्रह के धारी एवं परमागमरूपी मकरंद झरते हुए मुख कमल से शोभायमान हे पद्मप्रभ मुनिशार्दूल ! संहनन और शक्ति का प्रादुर्भाव होने पर मुक्तिसुन्दरी के प्रथम दर्शन की भेंटस्वरूप निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रायश्चित्त, निश्चय प्रत्याख्यान आदि प्रमुख शुद्ध निश्चय क्रियाएँ ही कर्त्तव्य हैं।

यदि इस हीन दग्धकालरूप अकाल में तू शक्तिहीन हो तो तुझे केवल निज परमात्मतत्त्व का श्रद्धान ही कर्त्तव्य है।''

इसीप्रकार के भाव की पोषक एक गाथा अष्टपाहुड़ में आती है; जो इसप्रकार है ह्न

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दमाणस्स सम्मत्तं।।[१]

(हरिगीत)

जो शक्य हो वह करें और अशक्य की श्रद्धा करें।
श्रद्धान ही सम्यक्त्व है इस भाँति सब जिनवर कहें।।

जो शक्य हो वह करें और जो शक्य न हों, उसका श्रद्धान करें; क्योंकि केवली भगवान ने कहा है कि श्रद्धान करनेवाले को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

तत्त्वार्थसूत्र के अन्त में जो गाथायें छपी रहती हैं, उनमें भी इसप्रकार की एक गाथा आती है, जो इसप्रकार है ह्न

जं सक्कइ तं कीरइ जं ण सक्कइ तहेव सद्दहणं।
सद्दहभावो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं।।

जो शक्य है, वह करना चाहिए, पर जो शक्य नहीं है, उसका श्रद्धान करना चाहिए; क्योंकि श्रद्धान करनेवाला जीव अजर–अमर स्थान (मुक्ति) को प्राप्त करता है।

नियमसार की इस गाथा में अत्यंत स्पष्ट शब्दों में यह कहा है कि यदि शक्य है तो ध्यान मय प्रतिक्रमण आदि ही करना चाहिए; अन्यथा इनका श्रद्धान तो अवश्य करना ही चाहिए।

---

१. अष्टपाहुड़ : दर्शनपाहुड़, गाथा २२

(मंदाक्रांता)

असारे संसारे कलिविलसिते पापबहुले
न मुक्तिर्मार्गेऽस्मिन्नघजिननाथस्य भवति।
अतोऽध्यात्मं ध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधियां
निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतमिदम्।।२६४।।

यह बात साधारण मुनिराजों की ही नहीं है, अपितु महान वैरागी, परद्रव्य से विमुख, स्वद्रव्य ग्रहण में चतुर, देहमात्र परिग्रह के धारी पद्मप्रभमलधारिदेव जैसे मुनि शार्दूलों से यह बात कही जा रही है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव यह बात स्वयं को सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं। वे भले ही यह बात स्वयं से कहे रहे हों, तथापि सभी मुनिराजों के लिए अनुकरणीय है।।१५४।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

पापमय कलिकाल में जिननाथ के भी मार्ग में।
मुक्ति होती नहीं यदि निजध्यान संभव न लगे।।
तो साधकों को सतत आतमज्ञान करना चाहिए।
निज त्रिकाली आत्म का श्रद्धान करना चाहिए।।२६४।।

इस असार संसार में पाप की बहुलतावाले कलिकाल के विलास में निर्दोष जिननाथ के मार्ग में भी मुक्ति नहीं है। इसलिए इस काल में आत्मध्यान कैसे हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि ध्यान की विरलता है। शुक्लध्यान तो है ही नहीं, निश्चय धर्मध्यान भी विरल है।

ऐसी स्थिति में निर्मल बुद्धिवालों को भवभय को नाश करनेवाले निज के आत्मा का श्रद्धान करना चाहिए, उसे जानना चाहिए और उसमें ही अपनापन स्थापित करना चाहिए।

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि **जब इस पंचमकाल में जैनदर्शन में भी मुक्ति नहीं है तो फिर अन्यत्र होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में यदि हमें आत्मध्यान दुर्लभ लगता है तो फिर कम से कम हमें उक्त सही मार्ग का श्रद्धान तो करना ही चाहिए।।२६४।।**

विगत गाथा में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहने के उपरान्त कि यदि कर सको तो ध्यानमय प्रतिक्रमणादि करो, अन्यथा उसका श्रद्धान करो; अब इस गाथा में जिनागमकथित निश्चय प्रतिक्रमणादि करने की प्रेरणा दे रहे हैं।

जिणकहियपरमसुत्ते पडिकमणादि य परीक्खऊण फुडं।
मोणव्वएण जोई णियकज्जं साहए णिच्चं।।१५५।।

जिनकथितपरमसूत्रे प्रतिक्रमणादिकं परीक्षयित्वा स्फुटम्।
मौनव्रतेन योगी निजकार्यं साधयेन्नित्यम्।।१५५।।

इह हि साक्षादन्तर्मुखस्य परमजिनयोगिनः शिक्षणमिदमुक्तम्। श्रीमदर्हन्मुखारविन्दविनिर्गतसमस्तपदार्थगर्भीकृतचतुरसन्दर्भे द्रव्यश्रुते शुद्धनिश्चयनयात्मकपरमात्मध्यानात्मकप्रतिक्रमणप्रभृतिसत्क्रियां बुद्ध्वा केवलं स्वकार्यपरः परमजिनयोगीश्वरः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तवचनरचनां परित्यज्य निखिलसंगव्यासंगं मुक्त्वा चैकाकीभूयं मौनव्रतेन सार्धं समस्तपशुजनैः निंद्यमानोऽप्यभिन्नः सन् निजकार्यं निर्वाणवामलोचनासंभोगसौख्यमूलमनवरतं साधयेदिति।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जिनवरकथित जिनसूत्र में प्रतिक्रमण आदिक जो कहे।
कर परीक्षा फिर मौन से निजकार्य करना चाहिए।।१५५।।

जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गये परमागम में प्राप्त प्रतिक्रमणादि की भले प्रकार परीक्षा करके मौन होकर योगी को प्रतिदिन अपना कार्य साधना चाहिए।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ साक्षात् अन्तर्मुख परमजिन योगी को यह शिक्षा दी गई है। श्रीमद् अरहंत भगवान के मुखारविन्द से निकले हुए समस्त पदार्थ जिसके भीतर समाये हुए हैं ह्न ऐसी चतुर शब्द रचनारूप द्रव्यश्रुत में कही गई शुद्ध निश्चयनयात्मक परमात्म-ध्यानात्मक प्रतिक्रमणादि सत्क्रिया को जानकर, केवल स्वकार्य में परायण परमजिनयोगी-श्वर प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त वचन रचना को परित्याग कर, सम्पूर्ण संग (परिग्रह) की आसक्ति को छोड़कर, अकेला होकर, मौन व्रत सहित समस्त पशुजनों (पशु समान अज्ञानी मनुष्यों) द्वारा निन्दा किये जाने पर भी अव्यग्र रहकर निज कार्य को निरन्तर साधना चाहिए; क्योंकि वह आत्मध्यानरूप निजकार्य मुक्तिरूपी सुलोचना के सम्भोग के सुख का मूल है।''

इस गाथा और उसकी टीका में एक ही बात कही गई है कि **योगियों का एकमात्र कर्त्तव्य निज आत्मा की साधना-आराधना है; वह साधना एकमात्र केवली की वाणी में समागत द्रव्यश्रुत में ग्रथित निश्चय परम प्रतिक्रमणादिरूप है; क्योंकि प्रतिक्रमणादि सभी आवश्यक एकमात्र आत्मध्यान में समाहित हैं।।१५५।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज दो छन्द लिखते हैं, उनमें से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

हित्वा भीतिं पशुजनकृतां लौकिकीमात्मवेदी
शस्ताशस्तां वचनरचनां घोरसंसारकर्त्रीम् ।
मुक्त्वा मोहं कनकरमणीगोचरं चात्मनात्मा
स्वात्मन्येव स्थितिमविचलां याति मुक्त्यै मुमुक्षुः।।२६५।।

(वसंततिलका)

भींतिं विहाय पशुभिर्मनुजैः कृतां तं
मुक्त्वा मुनिः सकललौकिकजल्पजालम् ।
आत्मप्रवादकुशलः परमात्मवेदी
प्राप्नोति नित्यसुखदं निजतत्त्वमेकम् ।।२६६।।

(हरिगीत)

पशूवत् अल्पज्ञ जनकृत भयों को परित्याग कर।
शुभाशुभ भववर्धिनी सब वचन रचना त्याग कर।।
कनक-कामिनी मोह तज सुख-शांति पाने के लिए।
निज आतमा में जमें मुक्तीधाम जाने के लिए।।२६५।।

आत्मज्ञानी मुमुक्षु जीव, पशुजन (अज्ञानी जगत) कृत समस्त लौकिक भय को तथा घोर संसार करनेवाली समस्त प्रशस्त-अप्रशस्त वचररचना को छोड़कर और कनक-कामिनी संबंधी मोह तजकर मुक्ति के लिए स्वयं अपने से अपने में ही अचल स्थिति को प्राप्त होते हैं।

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि आतमज्ञानी मुमुक्षु जीव तो अज्ञानियों द्वारा उत्पन्न लौकिक भय, घोर संसार का कारण प्रशस्त और अप्रशस्त वचनरचना तथा कनक-कामिनी संबंधी मोह को छोड़कर मुक्ति प्राप्त करने के लिए अपने आत्मा में जम जाते हैं, रम जाते हैं, समा जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि यदि हम भी अपना कल्याण करना चाहते हैं तो मन, वचन और काय संबंधी समस्त प्रपंचों का त्याग कर हमें भी स्वयं में समा जाना चाहिए; **अपने में अपनापन स्थापित करके स्वयं के ज्ञान-ध्यान में लग जाना चाहिए; क्योंकि स्वयं के श्रद्धान और ज्ञान-ध्यान में सभी निश्चय परमावश्यक समाये हुए हैं।।२६५।।**

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो।।१५६।।

नानाजीवा नानाकर्म नानाविधा भवेल्लब्धिः।
तस्माद्वचनविवादः स्वपरसमयैर्वर्जनीयः।।१५६।।

वाग्विषयव्यापारनिवृत्तिहेतूपन्यासोऽयम्। जीवा हि नानाविधाः मुक्ता अमुक्ताः भव्या

(हरिगीत)

कुशल आत्मप्रवाद में परमात्मज्ञानी मुनीजन।
पशुजनों कृत भयंकर भय आत्मबल से त्याग कर।।
सभी लौकिक जल्प तज सुखशान्तिदायक आतमा।
को जानकर पहिचानकर ध्यावें सदा निज आतमा।।२६६।।

आत्मप्रवाद नामक श्रुत में कुशल परमात्मज्ञानी मुनि पशुजनों (अज्ञानीजनों) द्वारा किये जानेवाले भय को छोड़कर और सम्पूर्ण लौकिक जल्पजाल को तजकर शाश्वत सुखदायक एक निज तत्त्व को प्राप्त होता है।

इस छन्द में भी यही कहा गया है कि आत्मा के स्वरूप के प्रतिपादक शास्त्रों के अध्येता मुनिवर; अज्ञानियों द्वारा किये गये उपद्रवों की परवाह न करके, लौकिक जल्पजाल को छोड़कर शाश्वत सुख देनेवाले आत्मा की आराधना करते हैं। तात्पर्य यह है कि **यदि हमें आत्मकल्याण करना है तो हमें निज आत्मा की आराधना करना चाहिए।।२६६।।**

विगत गाथा में सब ओर से उपयोग हटाकर अपने आत्मा के हित में गहराई से लगना चाहिए ह्न ऐसा कहा था; अब इस गाथा में यह कहते हैं कि **स्वमत और परमतवालों के साथ वाद-विवाद में उलझना ठीक नहीं है।** गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

हैं जीव नाना कर्म नाना लब्धि नानाविध कही।
अतएव वर्जित वाद है निज पर समय के साथ भी।।१५६।।

जीव अनेक प्रकार के हैं, कर्म भी अनेक प्रकार के हैं और लब्धियाँ भी अनेक प्रकार की हैं; इसलिए साधर्मी और विधर्मियों के साथ वचन-विवाद वर्जनीय है, निषेध करने योग्य है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह वचनसंबंधी व्यापार से निवृत्ति के हेतु से किया गया कथन है। जीव अनेक प्रकार के हैं। मुक्त जीव-अमुक्त जीव (संसारी जीव), भव्य जीव-अभव्य जीव। संसारी

http://www.atrochatro.com/names_hindu_boy.html

अभव्याश्च, संसारिण: त्रसा: स्थावरा: । द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिभेदात् पंच त्रसा:, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय: स्थावरा: । भाविकाले स्वभावानन्तचतुष्टयात्मसहज–ज्ञानादिगुणै: भवनयोग्या भव्या:, एतेषां विपरीता ह्यभव्या: ।

कर्म नानाविधं द्रव्यभावनोकर्मभेदात्, अथवा मूलोत्तरप्रकृतिभेदाच्च, अथ तीव्र–तर तीव्रमंदमंदतरोदयभेदाद्वा । जीवानां सुखादिप्राप्तेर्लब्धि: कालकरणोपदेशोपशमप्रायोग्यता–भेदात् पञ्चधा । तत: परमार्थवेदिभि: स्वपरसमयेषु वादो न कर्त्तव्य इति ।

जीव ह्न त्रस और स्थावर । द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय में संज्ञी–असंज्ञी ह्न इसप्रकार त्रस जीव पाँच प्रकार के हैं । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ह्न ये पाँच प्रकार के स्थावर जीव हैं ।

भविष्यकाल में स्वभाव–अनन्तचतुष्टयात्मक सहज ज्ञानादि गुणों रूप से भवन–परिणमन के योग्य जीव भव्य हैं और उनसे विपरीत अभव्य हैं ।

द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म ह्न ऐसे भेदों के कारण अथवा आठ मूल प्रकृति और एक सौ अड़तालीस उत्तर प्रकृति के भेद से अथवा तीव्रतर, तीव्र, मंद और मन्दतर उदय भेदों के कारण अनेक प्रकार हैं ।

जीवों को सुखादि की प्राप्तिरूप लब्धि ह्न काल, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्यतारूप भेदों के कारण पाँच प्रकार की है ।

इसलिए परमार्थ के जाननेवालों को स्वसमयों और परसमयों के साथ वाद–विवाद करना योग्य नहीं है ।''

उक्त गाथा में तो मात्र यही कहा गया है कि जीव अनेक प्रकार हैं, उनके कर्म (ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भावकर्म और देहादि नोकर्म अथवा कार्य) अनेक प्रकार के हैं और उनकी लब्धियाँ, उपलब्धियाँ भी अनेक प्रकार की हैं; अत: सभी की समझ, मान्यता, विचारधारा एक कैसे हो सकती है ? यही कारण है कि सभी जीवों के परिणामों में विभिन्नता देखी जाती है, मतभेद पाया जाता है; इसकारण सभी को एकमत करना संभव नहीं है, समझाना भी संभव नहीं है; क्योंकि बहुत कुछ सामनेवाले की योग्यता पर ही निर्भर होता है ।

यदि तुझे समझाने का भाव आता है तो कोई बात नहीं; अपने विकल्प की पूर्ति कर ले; पर तेरे समझाने पर भी कोई न माने, स्वीकार न करे तो अधिक विकल्प करने से कोई लाभ नहीं । समझाने के विकल्प से किसी से वाद–विवाद करना तो कदापि ठीक नहीं है । न तो अपने मतवाले के साथ और न अन्यमतवालों के साथ विवाद करना कदापि ठीक नहीं है ।

टीकाकार मुनिराज ने नाना जीव का अर्थ करते हुए जीवों के मुक्त और संसारी, संसारियों के त्रस और स्थावरादि भेद गिना दिये अथवा भव्य–अभव्य की बात कर दी ।

(शिखरिणी)

विकल्पो जीवानां भवति बहुधा संसृतिकरः
तथा कर्मानेकविधमपि सदा जन्मजनकम् ।
असौ लब्धिर्नाना विमलजिनमार्गे हि विदिता
ततः कर्तव्यं नो स्वपरसमयैर्वादवचनम् ।।२६७।।

उनका स्वरूप भी संक्षेप में समझा दिया। कर्म में ज्ञानावरणादि ८ मूल प्रकृतियों और १४८ उत्तर प्रकृतियों की चर्चा कर दी। लब्धियों के भी पाँच भेद गिना दिये।

मैं क्षमायाचनापूर्वक अत्यन्त विनम्रता के साथ कहना चाहता हूँ कि मुझे ऐसा लगता है कि यहाँ इन सब की आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि एक तो नियमसार का अध्येता इन सब जैनदर्शन संबंधी प्राथमिक बातों से भलीभाँति परिचित ही है; दूसरे यहाँ मुख्य वजन तो स्वसमय और परसमय के साथ वाद-विवाद नहीं करने की बात पर है।

समझने-समझाने के विकल्प में पड़ कर वाद-विवाद में उलझ जाना समझदारी का काम नहीं है, केवल मनुष्यभव के कीमती समय को व्यर्थ में बर्बाद करना ही है।

गृहस्थों को भी उक्त महत्त्वपूर्ण सलाह अत्यन्त उपयोगी है, परन्तु मुनियों के लिए तो अत्यन्त आवश्यक है, अनिवार्य है।

नाना जीव का आशय विभिन्न रुचिवाले जीवों से है। आचार्य अकलंकदेव ने भी राजवार्तिक में इसप्रकार के प्रसंग में ऐसा ही कहा है। वे लिखते हैं ह्न **''विभिन्नरुचयः हि लोकाः ह्न** लौकिकजन भिन्न-भिन्न रुचिवाले होते हैं।''

इसीप्रकार कर्मों के उदय से होनेवाले जीव के औदयिक भाव भी अनेक प्रकार के होते हैं तथा लब्धि अर्थात् पर्यायगत योग्यता भी प्रत्येक जीव की प्रतिसमय भिन्न-भिन्न होती है। ऐसी स्थिति में सबका एकमत होना असंभव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है।

इसप्रकार यहाँ लब्धियों के माध्यम से क्षणिक उपादान के रूप में पर्यायगत योग्यता, अंतरंग निमित्त के रूप में कर्मोदय और जीवों के रूप में त्रिकाली उपादान को ले लिया गया है।

कहने का आशय यह है कि समझ में आने के लिए उसका द्रव्यस्वभाव, पर्यायस्वभाव और अंतरंग निमित्त जिम्मेवार हैं; यदि उसकी समझ में आ जावे तो भी तू मात्र बहिरंग निमित्त होगा। इसलिए समझाने के विकल्प से वाद-विवाद करना समझदारी नहीं है।।१५६।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज उक्त भाव का पोषक एक छन्द लिखते हैं, जिसमें गाथा की मूल बात को पूरी तरह दुहरा दिया है। उक्त छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

संसारकारक भेद जीवों के अनेक प्रकार हैं।
भव जन्मदाता कर्म भी जग में अनेक प्रकार हैं।।
लब्धियाँ भी हैं विविध इस विमल जिनमारगविषें।
स्वपरमत के साथ में न विवाद करना योग्य है।।२६७।।

जीवों के संसार के कारणभूत अनेक प्रकार के भेद हैं, जन्मोत्पादक कर्म भी अनेक प्रकार के हैं और निर्मल जैनमार्ग में लब्धियाँ भी अनेक प्रकार की प्रसिद्ध हैं। इसलिए स्वसमय और परसमय के साथ विवाद करना कर्त्तव्य नहीं है।

विकल्प शब्द का अर्थ भेद भी होता है; इसकारण **गाथा के अनुसार यहाँ विकल्प का अर्थ भेद मानकर ही अर्थ किया गया है। तथापि मन में उठनेवाले अनेक प्रकार के भावों को भी विकल्प कहते हैं।**

यदि इसके अनुसार अर्थ किया जाये तो ऐसा भी कर सकते हैं कि जीवों के संसार-वर्धक अनेक प्रकार के विकल्प होते हैं, मान्यताएँ होती हैं। इसीप्रकार कर्म का अर्थ कार्य भी होता है। तात्पर्य यह है कि लोगों के कार्य भी अनेक प्रकार के हैं। पर्यायगत योग्यता को लब्धि कहते हैं। 'लब्धियाँ अनेक प्रकार की हैं' ह्न का अर्थ यह भी हो सकता है कि **जीवों की पर्यायगत योग्यतायें भी अनेक प्रकार की हैं, विभिन्न प्रकार की हैं।**

इसप्रकार इस छन्द का एक सहज अर्थ यह भी किया जा सकता है कि जीवों के मन में अनेक प्रकार की विकल्प तरंगे उठती हैं, उनके अनेक प्रकार के कार्य देखे जाते हैं और उनकी पर्यायगत योग्यताएँ भी अलग-अलग होती हैं। इसकारण सब का एकमत हो पाना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। अत: आत्मार्थियों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे उक्त संदर्भ में किसी से भी वाद-विवाद में न उलझें।

ध्यान रहे, समझना-समझाना अलग बात है और वाद-विवाद करना अलग। समझने-समझाने का भाव ज्ञानीजनों को भी आ सकता है, आता भी है, वे समझाते भी हैं; पर वे किसी से वाद-विवाद में नहीं उलझते।

वाद-विवाद में जीत-हार की भावना रहती है; जबकि समझने में जिज्ञासा और समझाने में करुणाभाव रहता है। यही कारण है कि साधर्मी भाई-बहिनों में तत्त्वचर्चा तो होती है, पर वाद-विवाद नहीं।

यहाँ वाद-विवाद का निषेध है; चर्चा-वार्ता का नहीं, शंका-समाधान का नहीं, पठन-पाठन का भी नहीं; क्योंकि ये तो स्वाध्याय तप के भेद हैं।।२६७।।

विगत गाथा में किसी के भी साथ वाद-विवाद करने का निषेध किया गया है और अब

लद्धूणं णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते ।
तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं ।।१५७।।

लब्ध्वा निधिमेकस्तस्य फलमनुभवति सुजनत्वेन ।
तथा ज्ञानी ज्ञाननिधिं भुंक्ते त्यक्त्वा परततिम् ।।१५७।।

अत्र दृष्टान्तमुखेन सहजतत्त्वाराधनाविधिरुक्तः । कश्चिदेको दरिद्रः क्वचित् कदाचित् सुकृतोदयेन निधिं लब्ध्वा तस्य निधेः फलं हि सौजन्यं जन्मभूमिरिति रहस्ये स्थाने स्थित्वा अतिगूढवृत्त्यानुभवति इति दृष्टान्तपक्षः । दार्ष्टान्तपक्षेऽपि सहजपरमतत्त्वज्ञानी जीवः क्वचिदा-सन्नभव्यस्य गुणोदये सति सहजवैराग्यसम्पत्तौ सत्यां परमगुरुचरणनलिनयुगलनिरतिशय-भक्त्या मुक्तिसुन्दरीमुखमकरन्दायमानं सहजज्ञाननिधिं परिप्राप्य परेषां जनानां स्वरूप-विकलानां ततिं समूहं ध्यानप्रत्यूहकारणमिति त्यजति ।

इस गाथा में उदाहरण के माध्यम से यह कहते हैं कि यदि तुझे निधि मिल गई है तो उसे तू गुप्त रहकर क्यों नहीं भोगता ? गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

ज्यों निधी पाकर निजवतन में गुप्त रह जन भोगते ।
त्यों ज्ञानिजन भी ज्ञाननिधि परसंग तज के भोगते ।।१५७।।

जैसे कोई एक दरिद्र मनुष्य निधि (खजाना) को पाकर अपने वतन में गुप्त रहकर उसके फल को भोगता है; उसीप्रकार ज्ञानीजन भी परजनों की संगति को छोड़कर ज्ञाननिधि को भोगते हैं ।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ दृष्टान्त द्वारा सहज तत्त्व की आराधना की विधि बताई गई है । कोई एक दरिद्र मनुष्य क्वचित् कदाचित् पुण्योदय से निधि को पाकर, उस निधि के फल को जन्मभूमिरूप गुप्तस्थान में रहकर अति गुप्तरूप से भोगता है ह्न यह दृष्टांत का पक्ष है ।

दार्ष्टान्त पक्ष से भी सहज परमतत्त्वज्ञानी जीव क्वचित् आसन्न भव्यतारूप गुण का उदय होने से सहज वैराग्य सम्पत्ति होने पर, परमगुरु के चरणकमल युगल की निरतिशय भक्ति द्वारा मुक्ति सुन्दरी के मुख के पराग के समान सहज ज्ञाननिधि को पाकर स्वरूपप्राप्ति रहित जनों के समूह को ध्यान में विघ्न का कारण जानकर उन्हें छोड़ता है ।''

यह एक सीधी सहज सरल गाथा है, इसमें इतना ही कहा गया है कि जिसप्रकार लोक में यदि किसी को कोई गुप्त खजाना मिल जावे तो वह उसे अत्यन्त गुप्त रहकर भोगता है; किसी को भी नहीं बताता । उसीप्रकार ज्ञानीजन भी रत्नत्रयरूप निधि पाकर उसे गुप्त रहकर भोगते हैं, उसका प्रदर्शन नहीं करते ।

(शालिनी)

अस्मिन् लोके लौकिक: कश्चिदेक:
लब्ध्वा पुण्यात्कांचनानां समूहम् ।
गूढो भूत्वा वर्तते त्यक्तसंगो
ज्ञानी तद्वत् ज्ञानरक्षां करोति ।।२६८।।

मूल गाथा में तो परसंग छोड़कर ज्ञाननिधि को भोगने की बात अत्यन्त स्पष्टरूप से कही है; पर न जाने क्यों टीकाकार परसंग को छोड़ने की बात कहकर ही बात समाप्त कर देते हैं; ज्ञाननिधि को भोगने की बात ही नहीं करते।

'हम आत्मज्ञानी हैं' ह्न इस बात का ढिढ़ोरा पीटनेवालों को इस प्रकरण पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि यदि हमें आत्मानुभूतिरूप निधि की प्राप्ति हो गई है तो उसे गुप्त रहकर क्यों नहीं भोगते, उसका ढ़िढोरा क्यों पीटते हैं ?।।१५७।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव दो छन्द लिखते हैं; उनमें से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

पुण्योदयों से प्राप्त कांचन आदि वैभव लोक में।
गुप्त रहकर भोगते जन जिस तरह इस लोक में।।
उस तरह सद्ज्ञान की रक्षा करें धर्मातमा।
सब संग त्यागी ज्ञानीजन सद्ज्ञान के आलोक में।।२६८।।

इस लोक में कोई एक लौकिकजन पुण्योदय से प्राप्त स्वर्णादि धन के समूह को गुप्त रहकर वर्तता है, भोगता है; उसीप्रकार परिग्रह रहित ज्ञानी भी अपनी ज्ञाननिधि की रक्षा करता है।

यद्यपि उक्त छन्द में एक प्रकार से गाथा की बात को ही दुहरा दिया गया है; तथापि गाथा और छन्द की बात में कुछ अन्तर भी है।

गाथा में निजनिधि को भोगने की बात है, पर छन्द में निजनिधि की रक्षा करने की बात कही गई है और टीका में मात्र परसंग छोड़ने की ही बात आती है।

गाथा, टीका और कलश (छन्द) ह्न तीनों में जो बात मूलत: कही गई है; उसका भाव मात्र इतना ही है कि **सम्यक्त्व या आत्मानुभूति दर्शन की चीज है, प्रदर्शन की नहीं। तात्पर्य यह है कि यदि तुम्हें आत्मानुभूति हो गई है, अतीन्द्रिय-आनन्द की प्राप्ति हो गई है तो फिर शान्ति से एकान्त में उसे क्यों नहीं भोगते, उसका प्रदर्शन क्यों करते हो ?**

(मंदाक्रांता)

त्यक्त्वा संगं जननमरणांतकहेतुं समस्तं
कृत्वा बुद्ध्या हृदयकमले पूर्णवैराग्यभावम् ।
स्थित्वा शक्त्या सहजपरमानंदनिर्व्यग्ररूपे
क्षीणे मोहे तृणमिव सदा लोकमालोकयाम: ।।२६९।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(वीर छन्द)

जनम-मरण का हेतु परिग्रह अरे पूर्णत: उसको छोड़ ।
हृदय कमल में बुद्धिपूर्वक जगविराग में मन को जोड़।।
परमानन्द निराकुल निज में पुरुषारथ से थिर होकर ।
मोह क्षीण होने पर तृणसम हम देखें इस जग की ओर ।।२६९।।

जन्म-मरणरूपी रोग के कारणभूत समस्त परिग्रह को छोड़कर, हृदय कमल में बुद्धिपूर्वक पूर्ण वैराग्य भाव धारण करके, सहज परमानन्द से अव्यग्र अनाकुल निजरूप में पुरुषार्थपूर्वक स्थित होकर, मोह के क्षीण होने पर हम इस लोक को सदा तृण समान देखते हैं।

ध्यान देने की बात यह है कि टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इस छन्द में उत्तम पुरुष में अत्यन्त स्पष्टरूप से लिख रहे हैं कि हम सम्पूर्ण लोक को तृणवत देखते हैं। यद्यपि यह बात भी सत्य हो सकती है, होगी ही; तथापि छन्द का मूल भाव यही है कि जिसका मोह क्षीण हो गया है; उन वीतरागी भावलिंगी मुनिराजों की दृष्टि में यह सम्पूर्ण जगत तृणवत् तुच्छ है। उन्हें इस जगत से कोई अपेक्षा नहीं है।

जबतक किसी व्यक्ति को यह सम्पूर्ण जगत, उसका वैभव, घास के तिनके के समान तुच्छ भासित न हो 'उसमें रंचमात्र भी सुख नहीं है' ह्न यह बात अन्तर की गहराई से न उठे; तबतक वह जगत के इस वैभव को ठुकरा कर, सम्पूर्ण धन-सम्पत्ति का त्याग कर नग्न दिगम्बर मुनिदशा कैसे स्वीकार कर सकता है ?

यदि कोई व्यक्ति लौकिक सुख की कामना से, यश के लोभ से या अज्ञान से नग्न दिगम्बर दशा धारण करता है तो ऐसे व्यक्ति को अष्टपाहुड में नटश्रमण कहा है।

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार नट विभिन्न वेष धारण करता है; उसीप्रकार इसने भी नग्न दिगम्बर दशा धारण की है; अत: यह सच्चा दिगम्बर मुनि नहीं है।।२६९।।

यह निश्चय परमावश्यक अधिकार के उपसंहार की गाथा है। इसमें कहा गया है कि आजतक जो भी महापुरुष केवली हुए हैं; वे सभी उक्त निश्चय आवश्यक को प्राप्त करके ही हुए हैं।

सव्वे पुराणपुरिसा एवं आवासयं च काऊण।
अपमत्तपहुदिठाणं पडिवज्ज य केवली जादा ।।१५८।।

सर्वे पुराणपुरुषा एवमावश्यकं च कृत्वा।
अप्रमत्तप्रभृतिस्थानं प्रतिपद्य च केवलिनो जाता: ।।१५८।।

परमावश्यकाधिकारोपसंहारोपन्यासोऽयम्। स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुक्लध्यानस्वरूपं बाह्यावश्यकादिक्रियाप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयपरमावश्यकं साक्षादपुनर्भववारांगनानङ्गसुखकारणं कृत्वा सर्वे पुराणपुरुषस्तीर्थकरपरमदेवादय: स्वयंबुद्धा: केचिद् बोधितबुद्धाश्चाप्रमत्तादि-सयोगिभट्टारकगुणस्थानपंक्तिमारूढा: सन्त: केवलिन: सकलप्रत्यक्षज्ञानधरा: परमावश्यका-त्माराधनाप्रसादात् जाताश्चेति।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

यों सभी पौराणिक पुरुष आवश्यकों को धारकर।
अप्रमत्तादिक गुणस्थानक पार कर केवलि हुए ।।१५८।।

सभी पौराणिक महापुरुष इसप्रकार के आवश्यक करके, अप्रमत्तादि गुणस्थानों को प्राप्त करके केवली हुए हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह परमावश्यक अधिकार के उपसंहार का कथन है। स्वयंबुद्ध तीर्थंकर परमदेवादि एवं बोधित बुद्ध अप्रमत्तादि गुणस्थानों से लेकर सयोग केवली पर्यन्त गुणस्थानों की पंक्ति में आरूढ़ सभी पुराण पुरुष साक्षात् मुक्तिरूपी स्त्री के अशरीरी सुख के कारण को जानकर बाह्य व्यवहार आवश्यकादि क्रिया से प्रतिपक्ष (विरुद्ध) अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले निश्चय धर्मध्यान और शुक्ल ध्यानस्वरूप शुद्ध निश्चय परमावश्यकरूप आत्माराधना के प्रसाद से सकल प्रत्यक्ष ज्ञानधारी केवली हुए हैं।''

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि मुक्ति प्राप्त करने का एक ही उपाय है।

आजतक भूतकाल में जितने भी पौराणिक महापुरुषों ने मुक्ति प्राप्त की है, वर्तमान में विदेहादि क्षेत्र से जो निकट भव्य जीव मुक्ति प्राप्त कर रहे हैं और भविष्य में भी जो जीव मुक्ति प्राप्त करेंगे; वे सभी निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप परमावश्यक प्राप्त करके मुक्ति की प्राप्ति करेंगे। कहा भी है कि 'एक होय त्रयकाल में परमारथ को पंथ।' ।।१५८।।

(शार्दूलविक्रीडित)

स्वात्माराधनया पुराणपुरुषाः सर्वे पुरा योगिनः
प्रध्वस्ताखिलकर्मराक्षसगणा ये विष्णवो जिष्णवः ।
तान्नित्यं प्रणमत्यनन्यमनसा मुक्तिस्पृहो निस्पृहः
स स्यात् सर्वजनार्चितांघ्रिकमलः पापाटवीपावकः ।।२७०।।

(मंदाक्रांता)

मुक्त्वा मोहं कनकरमणीगोचरं हेयरूपं
नित्यानन्दं निरुपमगुणालंकृतं दिव्यबोधम् ।
चेतः शीघ्रं प्रविश परमात्मानमव्यग्ररूपं
लब्ध्वा धर्मं परमगुरुतः शर्मणे निर्मलाय ।।२७१।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज दो छन्द लिखते हैं, जिसमें से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(ताटंक)

अरे पुराण पुरुष योगीजन निज आतम आराधन से।
सभी करमरूपी राक्षस के पूरी तरह विराधन से।।
विष्णु-जिष्णु हुए उन्हीं को जो मुमुक्षु पूरे मन से।
नित्य नमन करते वे मुनिजन अघ अटवी को पावक हैं।।२७०।।

पुरातन काल में हुए सभी पुराणपुरुष योगीजन, निज आत्मा की आराधना से, समस्त कर्मरूपी राक्षसों के समुदाय का नाश करके, विष्णु अर्थात् व्यापक सर्वव्यापी ज्ञानवाले और जिष्णु अर्थात् जीतनेवाले जयवन्त हुए हैं; उनको मुक्ति की स्पृहावाला जगत से निष्प्रह जो जीव अनन्य मन से नित्य नमन करता है; वह जीव पापरूपी अटवी को जलाने में अग्नि समान है और उसके चरण कमलों की पूजा सर्वजन करते हैं।

इस छन्द में यह कहा गया है कि भूतकाल में जिन पुराणपुरुषों ने अपने भगवान आत्मा की आराधना करके कर्मों का नाश किया है, अनंतज्ञान और अनंतसुख प्राप्त किया है; वे सभी सम्पूर्ण लोक को जानने के कारण सर्वव्यापी विष्णु और कर्मों को जीतने के कारण जिष्णु अर्थात् जयवंत हुए हैं; उन्हें मुमुक्षु जीव नित्य नमन करते हैं। ऐसे जीव पापरूपी भयंकर जंगल को जलानेवाले हैं, पापभावों से रहित हैं।।२७०।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव-विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ निश्चयपरमावश्यकाधिकार एकादशमः श्रुतस्कन्धः।

(ताटंक)

कनक-कामिनी गोचर एवं हेयरूप यह मोह छली।
इसे छोड़कर निर्मल सुख के लिए परम पावन गुरु से ।।
धर्म प्राप्त करके हे आत्मन् निरुपम निर्मल गुणधारी।
दिव्यज्ञान वाले आतम में तू प्रवेश कर सत्वर ही।।२७१।।

हे चित्त ! तू हेयरूप कनक-कामिनी संबंधी मोह को छोड़कर, निर्मल सुख के लिए परमगुरु द्वारा धर्म को प्राप्त करके अव्यग्ररूप निरुपम गुणों से अलंकृत नित्य आनन्द और दिव्यज्ञानवाले, परमात्मा (अपने आत्मा) में शीघ्र प्रवेश कर।

निश्चय परम आवश्यक अधिकार के उपसंहार के इस छन्द में टीकाकार मुनिराज स्वयं अपने चित्त (मन) से यह कह रहे हैं कि हे चित्त ! तू हेयरूप स्त्री-पुत्रादि एवं धन-धान्यादि, सुवर्णादि परिग्रह के मोह को छोड़कर, आत्मिक सुख के लिए परम गुरु अरहंतदेव से प्राप्त धर्म को प्राप्त करके सर्व प्रकार की आकुलता से रहित अव्यग्र, अनुपम गुणों से अलंकृत, नित्यानन्द और दिव्य ज्ञानवाले अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मा में प्रवेश कर, अपने आत्मा का ध्यान कर, उसमें ही रम जा, जम जा; यहाँ-वहाँ क्यों भटकता है ? अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति तो अपने आत्मा के ज्ञान-ध्यान से ही होनेवाली है; किसी अन्य के आत्मा से नहीं।

अतः हे मुनिवरो ! तुम एकमात्र अपने आत्मा का ध्यान करो, उसमें ही जमे रहो, रमे रहो, उसमें समा जावो। अनन्त सुख प्राप्त करने का एकमात्र यही उपाय है।।२७१।।

निश्चयपरमावश्यक अधिकार की समाप्ति के अवसर पर टीकाकार जो पंक्ति लिखते हैं; उसका भाव इसप्रकार है ह्न

''इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में निश्चयपरमावश्यक अधिकार नामक ग्यारहवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।''

यहाँ नियमसार एवं उसकी तात्पर्यवृत्ति टीका के साथ-साथ डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत आत्मप्रबोधिनी हिन्दी टीका में निश्चयपरमावश्यक अधिकार नामक ग्यारहवाँ श्रुतस्कन्ध भी समाप्त होता है। ●●●

(१२)

शुद्धोपयोग अधिकार

(गाथा १५९ से गाथा १८७ तक)

अथ सकलकर्मप्रलयहेतुभूतशुद्धोपयोगाधिकार उच्यते ह्न

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं ।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ।।१५९।।

जानाति पश्यति सर्वं व्यवहारनयेन केवली भगवान् ।
केवलज्ञानी जानाति पश्यति नियमेन आत्मानम् ।।१५९।।

अत्र ज्ञानिन: स्वपरस्वरूपप्रकाशकत्वं कथंचिदुक्तम् । आत्मगुणघातकघातिकर्मप्रध्वंस-नेनासादितसकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शनाभ्यां व्यवहारनयेन जगत्त्रयकालत्रयवर्ति-

---

नियमसार परमागम में शुद्धोपयोगाधिकार का आरंभ करते हुए टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव लिखते हैं ह्न

''अब समस्त कर्मों के प्रलय करने के हेतुभूत शुद्धोपयोग अधिकार कहा जाता है ।''

शुद्धोपयोग अधिकार की तात्पर्यवृत्ति टीका की प्रथम पंक्ति में ही टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव घोषणा करते हैं कि 'यह शुद्धोपयोग समस्त कर्मों का नाश करनेवाला है ।'

अत: जिन्हें कर्मों से मुक्त होना हो, वे इस शुद्धोपयोगाधिकार की विषयवस्तु को गहराई से समझें ।

नियमसार परमागम की १५९वीं एवं शुद्धोपयोग अधिकार की पहली गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

निज आतमा को देखें-जानें केवली परमार्थ से ।
पर जानते हैं देखते हैं सभी को व्यवहार से ।।१५९।।

व्यवहारनय से केवली भगवान सभी पदार्थों को देखते-जानते हैं । निश्चयनय से केवली भगवान आत्मा को अर्थात् स्वयं को ही देखते-जानते हैं ।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ ज्ञानी को स्व-पर स्वरूप का प्रकाशकपना कथंचित् कहा है । व्यवहारनय से, परमभट्टारक परमेश्वर भगवान; आत्मगुण के घातक घातिकर्मों के नाश से प्राप्त सम्पूर्णत:

सचराचरद्रव्यगुणपर्यायान् एकस्मिन् समये जानाति पश्यति च स भगवान् परमेश्वर: परम-भट्टारक:, पराश्रितो व्यवहार: इति वचनात्। शुद्धनिश्चयत: परमेश्वरस्य महादेवाधिदेवस्य सर्वज्ञवीतरागस्य परद्रव्यग्राहकत्वदर्शकत्वज्ञायकत्वादिविविधविकल्पवाहिनीसमुद्भूतमूल-ध्यानाषाद:[1] स भगवान त्रिकालनिरुपाधिनिरवधिनित्यशुद्धसहजज्ञानसहजदर्शनाभ्यां निजकारणपरमात्मानं स्वयं कार्यपरमात्मापि जानाति पश्यति च।

किं कृत्वा ? ज्ञानस्य धर्मोऽयं तावत् स्वपरप्रकाशकत्वं प्रदीपवत्। घटादिप्रमिते: प्रकाशो दीपस्तावद्भिन्नोऽपि स्वयं प्रकाशस्वरूपत्वात् स्वं परं च प्रकाशयति; आत्मापि व्यवहारेण जगत्त्रयं कालत्रयं च परं ज्योति:स्वरूपत्वात् स्वयं प्रकाशात्मकनात्मानं च प्रकाशयति।

निर्मल केवलज्ञान और केवलदर्शन के द्वारा, त्रिलोक में रहनेवाले त्रिकालवर्ती सचराचर सभी द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक समय में जानते-देखते हैं; क्योंकि पराश्रितो व्यवहार: व्यवहारनय पराश्रित होता है ह्न ऐसा आगम का वचन है।

शुद्धनिश्चय से, महादेवादिदेव सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर के मूल ध्यान में; परद्रव्य के ग्राहकत्व-दर्शकत्व, ज्ञायकत्व आदि के विविध विकल्परूप सेना की उत्पत्ति का अभाव होने से; वे भगवान त्रिकाल निरुपाधि, अमर्यादित नित्य शुद्ध ह्न ऐसे सहज ज्ञान और सहज दर्शन द्वारा निज कारणपरमात्मा को; स्वयं कार्यपरमात्मा होने पर भी देखते-जानते हैं।

क्या करके या किसप्रकार ?

ज्ञान का धर्म तो दीपक के समान स्व-परप्रकाशक है। जिसप्रकार घटादि की प्रमिति से प्रकाश अर्थात् दीपक (कथंचित्) भिन्न होने पर भी स्वयं प्रकाशस्वरूप होने से स्व और पर को प्रकाशित करता है; उसीप्रकार आत्मा भी ज्योतिस्वरूप होने से व्यवहार से तीन लोक में रहनेवाले सभी परपदार्थों को तथा स्वयं प्रकाशस्वरूप आत्मा को, स्वयं को प्रकाशित करता है; जानता-देखता है।''

उक्त कथन का सार यह है कि व्यवहारनय से केवली भगवान पर-पदार्थों को जानते-देखते हैं और निश्चयनय से स्वयं के आत्मा को जानते-देखते हैं। इसप्रकार वे केवली भगवान दीपक के समान स्व-पर प्रकाशक हैं; क्योंकि ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है।

जिसप्रकार दीपक स्वयं को तो प्रकाशित करता ही है, घट-पटादि पदार्थों को भी प्रकाशित करता है; उसीप्रकार यह ज्योतिस्वरूप भगवान आत्मा स्वयं को जानता ही है, पर को भी जानता है। इसप्रकार यह आत्मा स्व-पर प्रकाशक है।

अपनी बात को पुष्ट करने के लिए टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'६९ पाखण्डियों**

---

१. **ध्यानाषाद:** के स्थान पर **ध्यानाभावात्** पद होना चाहिए; क्योंकि **ध्यानाषाद:** पद का क्या भाव है ह्न यह ख्याल में नहीं आता।

उक्त चं षण्णवतिपाखंडिविजयोपार्जितविशालकीर्तिभिर्महासेनपण्डितदेवैः ह्न

(अनुष्टुभ्)

यथावद्वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत् ।
तत्स्वार्थव्यवसायात्म कथंचित् प्रमितेः पृथक् ।।७३।।[१]

अथ निश्चयपक्षेऽपि स्वपरप्रकाशकत्वमस्त्येवेति सततनिरुपरागनिरंजनस्वभावनिरतत्वात्, स्वाश्रितो निश्चयः इति वचनात् । सहजज्ञानं तावत् आत्मनः सकाशात् संज्ञालक्षणप्रयोजनेन भिन्नाभिधानलक्षणलक्षितमपि भिन्नं भवति न वस्तुवृत्त्या चेति, अतःकारणात् एतदात्मगत-दर्शनसुखचारित्रादिकं जानाति स्वात्मानं कारणपरमात्मस्वरूपमपि जानातीति ।

पर विजय प्राप्त करनेवाले, विशालकीर्ति के धनी महासेन पण्डितदेव ने भी कहा है' ह्न ऐसा लिखकर टीका के बीच में ही एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

वस्तु के सत्यार्थ निर्णयरूप सम्यग्ज्ञान है।
स्व-पर अर्थों का प्रकाशक वह प्रदीप समान है ।।
वह निर्णयात्मक ज्ञान प्रमिति से कथंचित् भिन्न है।
पर आतमा से ज्ञानगुण से तो अखण्ड अभिन्न है ।।७३।।

वस्तु का यथार्थ निर्णयरूप सम्यग्ज्ञान है। वह सम्यग्ज्ञान दीपक की भाँति स्व और अर्थ अर्थात् परपदार्थों के व्यवसायात्मक (निर्णयात्मक) है तथा प्रमिति से कथंचित् भिन्न है।

ध्यान रहे उक्त छन्द में लेखक आत्मद्रव्य और ज्ञान-दर्शन गुणों के स्थान पर **सम्यग्ज्ञानरूप पर्याय को स्व-पर प्रकाशक बता रहे हैं ।।७३।।**

टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इस छन्द के उपरान्त टीका के शेष भाग को प्रस्तुत करते हैं; जिसका भाव इसप्रकार है ह्न

''सतत निर्विकार निरंजन स्वभाव में लीनता के कारण निश्चयनय के पक्ष से भी स्वपरप्रकाशकपना है ही; क्योंकि 'स्वाश्रितो निश्चयः ह्न निश्चयनय स्वाश्रित होता है' ह्न ऐसा आगम का वचन है। यद्यपि वह सहजज्ञान आत्मा से संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा भिन्न संज्ञा (नाम), भिन्न लक्षण से जाना जाता है; तथापि वस्तुवृत्ति से अर्थात् अखण्ड वस्तु की अपेक्षा से भिन्न नहीं है।

इसकारण से वह सहजज्ञान आत्मगत (आत्मा में स्थित) दर्शन, ज्ञान, सुख और चारित्र आदि को जानता है तथा स्वात्मा अर्थात् कारणपरमात्मा के स्वरूप को भी जानता है।''

---

१. महासेनदेव पण्डित द्वारा रचित श्लोक, ग्रंथ संख्या एवं श्लोक संख्या अनुपलब्ध है।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः ह्न

(मंदाक्रांता)

बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम् ।
एकाकार-स्वरस-भरतोत्यन्त-गंभीर-धीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ।।७४।।[१]

टीका के इस अंश में टीकाकार मुनिराज **सहज ज्ञान अर्थात् ज्ञान गुण या उसकी सम्यग्ज्ञानरूप पर्याय को निश्चयनय से स्व-पर प्रकाशक सिद्ध कर रहे हैं।** वे कहते हैं कि **ज्ञान स्वयं को जानता है ह्न यह उसका स्वप्रकाशकपना हुआ और ज्ञान से भिन्न सुख, श्रद्धा, चारित्रादि अपने गुणों और उनकी पर्यायों को जानता है ह्न यह उसका परप्रकाशकपना हुआ।** इसप्रकार वह अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर निश्चय से भी स्वपरप्रकाशक सिद्ध होता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि गाथा, टीका और टीका में समागत छन्द तथा आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के विवेचन से एक बात पूर्णत: स्पष्ट हो रही है कि केवली भगवान का पर को जानना असत्यार्थ नहीं है; उनके **पर को जानने को व्यवहार तो मात्र इसलिए कहा जाता है कि वे पर को तन्मय होकर नहीं जानते, वे उसमें लीन नहीं होते, उनका उनमें अपनापन नहीं है।**

वस्तुत: तन्मय होकर जानने का अर्थ उनमें अपनेपन पूर्वक जानना होता है। केवली भगवान का या किसी भी ज्ञानी धर्मात्मा का परपदार्थों में अपनापन नहीं होता; न तो वे उसे अपना जानते हैं, न अपना मानते हैं और न उनमें लीन होते हैं; मात्र जानते हैं। उनके इस स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए लगभग सर्वत्र ही यह कहा गया है कि वे परपदार्थों को तन्मय होकर नहीं जानते। उनके पर को जानने को व्यवहार तो मात्र इसीलिए कहा गया है। वे उन्हें जानते ही नहीं हैं ह्न ऐसा अभिप्राय उनका कदापि नहीं है।

निश्चय से स्व-पर प्रकाशक की बात आतमद्रव्य की अपेक्षा ज्ञान गुण या उसकी सम्यग्ज्ञानरूप पर्याय पर भली प्रकार घटित होता है; क्योंकि सुखादि गुण और उनकी पर्यायें ज्ञानगुण या उसकी सम्यग्ज्ञानरूप पर्याय से कथंचित् भिन्न हैं, पर आत्मा से नहीं; क्योंकि आत्मा में तो सभी स्व के रूप में ही समाहित हैं। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि जब ज्ञान व्यवहारनय से सभी को जानता है तो उसमें पर के साथ स्व भी आ जाता है। अत: वह व्यवहार से भी स्व-पर प्रकाशक है। इसप्रकार **ज्ञान निश्चय और व्यवहार ह्न दोनों से ही स्व-पर प्रकाशक है; प्रमाण से तो स्व-पर प्रकाशक है ही।।१५९।।**

१. समयसार : आत्मख्याति, छन्द १९२

तथा हि ह्न

(स्रग्धरा)

आत्मा जानाति विश्वं ह्यनवरतमयं केवलज्ञानमूर्तिः
मुक्तिश्रीकामिनीकोमलमुखकमले कामपीडां तनोति ।
शोभां सौभाग्यचिह्नां व्यवहरणनयाद्देवदेवो जिनेशः
तेनोच्चैर्निश्चयेन प्रहतमलकलिः स्वस्वरूपं स वेत्ति ।।२७२।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथा श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य के द्वारा भी कहा गया है'** ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

बंध-छेद से मुक्त हुआ यह शुद्ध आतमा,
निजरस से गंभीर धीर परिपूर्ण ज्ञानमय।
उदित हुआ है अपनी महिमा में महिमामय,
अचल अनाकुल अज अखंड यह ज्ञानदिवाकर ।।७४।।

नित्य उद्योतवाली सहज अवस्था से स्फुरायमान, सम्पूर्णतः शुद्ध और एकाकार निजरस की अतिशयता से अत्यन्त धीर-गंभीर पूर्णज्ञान कर्मबंध के छेद से अतुल अक्षय मोक्ष का अनुभव करता हुआ सहज ही प्रकाशित हो उठा और स्वयं की अचल महिमा में लीन हो गया।

इसप्रकार इस कलश में उस सम्यग्ज्ञानज्योति को स्मरण किया गया है कि जो स्वयं में समाकर, त्रिकालीध्रुव निज भगवान आत्मा का आश्रय कर, केवलज्ञानरूप परिणमित हो गई है। ज्ञानज्योति का केवलज्ञानरूप परिणमित हो जाना ही मोक्ष है।।७४।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथाहि'** लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

सौभाग्यशोभा कामपीड़ा शिवश्री के वदन की।
बढ़ावें जो केवली वे जानते सम्पूर्ण जग।।
व्यवहार से परमार्थ से मलक्लेश विरहित केवली।
देवाधिदेव जिनेश केवल स्वात्मा को जानते।।२७२।।

व्यवहारनय से यह केवलज्ञानमूर्ति आत्मा सम्पूर्ण विश्व को वस्तुतः जानता है तथा मुक्तिलक्ष्मीरूपी कामिनी के कोमल मुख कमल पर कामपीड़ा और सौभाग्यचिह्नवाली शोभा को फैलाता है। निश्चयनय से मल और क्लेश से रहित वे देवाधिदेव जिनेश निजस्वरूप अपने भगवान आत्मा को अत्यन्त स्पष्टरूप से जानते हैं।

जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयरपयासतावं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं।।१६०।।

युगपद् वर्तते ज्ञानं केवलज्ञानिनो दर्शनं च तथा।
दिनकरप्रकाशतापौ यथा वर्तेते तथा ज्ञातव्यम्।।१६०।।

इह हि केवलज्ञानकेवलदर्शनयोर्युगपद्वर्तनं दृष्टान्तमुखेनोक्तम्। अत्र दृष्टान्तपक्षे क्वचित्काले बलाहकप्रक्षोभाभावे विद्यमाने नभस्स्थलस्य मध्यगतस्य सहस्रकिरणस्य प्रकाशतापौ यथा युगपद् वर्तेते, तथैव च भगवत: परमेश्वरस्य तीर्थाधिनाथस्य जगत्त्रय-कालत्रयवर्तिषु स्थावरजंगमद्रव्यगुणपर्यायात्मकेषु ज्ञेयेषु सकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शने च युगपद् वर्तेते। किं च संसारिणां दर्शनपूर्वमेव ज्ञानं भवति इति।

उक्त छन्द में भी यही कहा गया है कि केवली भगवान निश्चय से निज भगवान आत्मा को और व्यवहार से लोकालोक को जानते हैं।।२७२।।

विगत गाथा में यह बताया गया था कि केवली भगवान निश्चयनय से स्वयं के आत्मा को देखते-जानते हैं और व्यवहारनय से लोकालोक को देखते-जानते हैं और अब इस गाथा में सोदाहरण यह बताते हैं कि केवली भगवान के दर्शन और ज्ञान एक साथ होते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

ज्यों ताप और प्रकाश रवि में एकसाथ रहें सदा।
त्यों केवली के ज्ञान-दर्शन एकसाथ रहें सदा।।१६०।।

जिसप्रकार सूर्य के प्रकाश और ताप एक साथ वर्तते हैं; उसीप्रकार केवलज्ञानी के ज्ञान और दर्शन एक साथ वर्तते हैं ह्न ऐसा जानना चाहिए।

उक्त गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ वस्तुत: केवलज्ञान और केवलदर्शन के एक साथ होने को दृष्टान्त के द्वारा समझाया गया है। दृष्टान्त पक्ष में जब बादलों की बाधा न हो, तब आकाश में स्थित सूर्य में जिसप्रकार प्रकाश और ताप एक साथ रहते हैं; उसीप्रकार तीर्थाधिनाथ परमेश्वर भगवान को तीन लोकवर्ती और तीन कालवर्ती स्थावर-जंगम द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक ज्ञेयों में पूर्णत: निर्मल केवलज्ञान व केवलदर्शन एक साथ वर्तते हैं।

दूसरी बात यह है कि संसारी जीवों के ज्ञान, दर्शन पूर्वक ही होता है। पहले दर्शन होता है, उसके बाद ज्ञान होता है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार मात्र इतना ही है कि क्षायिकज्ञानवालों के दर्शन और ज्ञान

तथा चोक्तं प्रवचनसारे ह्न

णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं।।७५।।[१]

अन्यच्च ह्न

दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा।
जुगवं जह्मा केवलिणाहे जुगवं तु ते दोवि।।७६।।[२]

स्व-पर पदार्थों को एक साथ देखते-जानते हैं; पर क्षायोपशमिकज्ञानवाले जीव जब किसी पदार्थ को देखते-जानते हैं तो देखना (दर्शन) पहले होता है, उसके बाद जानना (ज्ञान) होता है। **तात्पर्य यह है कि क्षायोपशमिकज्ञानवालों के देखना-जानना क्रमशः होता है और क्षायिकज्ञानवालों में देखना-जानना एक साथ होता है।।१६०।।**

इसके बाद '**तथा चोक्तं प्रवचनसारे** ह्न तथा प्रवचनसार में भी कहा गया है' ह्न ऐसा लिखकर टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक गाथा प्रस्तुत करते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

अर्थान्तगत है ज्ञान लोकालोक विस्तृत दृष्टि है।
हैं नष्ट सर्व अनिष्ट एवं इष्ट सब उपलब्ध हैं।।७५।।

केवलज्ञानी का ज्ञान पदार्थों के पार को प्राप्त है, दर्शन लोकालोक में विस्तृत है, सर्व अनिष्ट नष्ट हो चुके हैं और जो इष्ट हैं, वे सब प्राप्त हो गये हैं; इसकारण केवलज्ञान सुखस्वरूप ही है।

इस गाथा में यह कहा गया है कि **केवली भगवान के सर्व अनिष्ट नष्ट हो गये हैं और लोकालोक को एक साथ जानने-देखने की सामर्थ्य प्रगट हो गई है; इसकारण वे पूर्ण सुखी हैं, अनन्त सुखी हैं।।७५।।**

इसके बाद '**अन्यच्च** ह्न अन्य भी देखिये' ह्न ऐसा लिखकर एक गाथा प्रस्तुत करते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जिनवर कहें छद्मस्थ के हो ज्ञान दर्शनपूर्वक।
पर केवली के साथ हों दोनों सदा यह जानिये।।७६।।

छद्मस्थों (क्षायोपशमिकज्ञानवालों) के दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है; क्योंकि उनके दोनों

---

१. प्रवचनसार, गाथा ६१ २. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ४४

तथा हि ह्न

(स्रग्धरा)

वर्तेते ज्ञानदृष्टी भगवति सततं धर्मतीर्थाधिनाथे
सर्वज्ञेऽस्मिन् समंतात् युगपदसदृशे विश्वलोकैनाथे ।
एतावुष्णप्रकाशौ पुनरपि जगतां लोचनं जायतेऽस्मिन्
तेजोराशौ दिनेशे हतनिखिलमस्तोमके ते तथैवम् ।।२७३।।

(वसंततिलका)

सद्बोधपोतमधिरुह्य भवाम्बुराशि–
मुल्लंघ्य शाश्वतपुरी सहसा त्वयाप्ता ।
तामेव तेन जिननाथपथाधुनाहं
याम्यन्यदस्ति शरणं किमिहोत्तमानाम् ।।२७४।।

उपयोग एक साथ नहीं होते । केवली भगवान के ज्ञान और दर्शन ह्न दोनों उपयोग एक साथ होते हैं ।

इस गाथा में भी मात्र इतना ही कहा गया है कि क्षायोपशमिकज्ञान वालों के ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है और क्षायिकज्ञानवाले केवली भगवान को दर्शन और ज्ञान एक साथ होते हैं ।।७६।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथाहि'** लिखकर चार छन्द स्वयं लिखते हैं; उनमें से प्रथम छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

अज्ञानतम को सूर्यसम सम्पूर्ण जग के अधिपति ।
हे शान्तिसागर वीतरागी अनूपम सर्वज्ञ जिन ।।
संताप और प्रकाश युगपत् सूर्य में हों जिसतरह ।
केवली के ज्ञान-दर्शन साथ हों बस उसतरह ।।२७३।।

सम्पूर्ण जगत के एक नाथ, धर्मतीर्थ के नायक, अनुपम सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान और दर्शन चारों ओर से निरंतर एक साथ वर्तते हैं । अन्धकार समूह के नाशक, तेज की राशिरूप सूर्य में जिसप्रकार उष्णता और प्रकाश एक साथ वर्तते हैं और जगत के जीवों को नेत्र प्राप्त होते हैं अर्थात् जगत जीव प्रकाश हो जाने से देखने लगते हैं; उसीप्रकार सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं और सर्वज्ञ भगवान के निमित्त से जगत के जीव भी वस्तुस्वरूप देखने–जानने लगते हैं ।

(मंदाक्रांता)

एको देव: स जयति जिन: केवलज्ञानभानु:
कामं कान्तिं वदनकमले संततोत्येव कांचित् ।
मुक्तेस्तस्या: समरसमयानंगसौख्यप्रदाया:
को नालं शं दिशतुमनिशं प्रेमभूमे: प्रियाया: ।।२७५।।

यहाँ एक साथ देखने-जानने के स्वभाव के उल्लेखपूर्वक सर्वज्ञ भगवान की महिमा के गीत गाये गये हैं। उन्हें तीन लोक के नाथ, धर्मतीर्थ के नेता और अज्ञानान्धकार के नाशक बताया गया है।।२७३।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

सद्बोधरूपी नाव से ज्यों भवोदधि को पारकर।
शीघ्रता से शिवपुरी में आप पहुँचे नाथवर।।
मैं आ रहा हूँ उसी पथ से मुक्त होने के लिए।
अन्य कोई शरण जग में दिखाई देता नहीं।।२७४।।

हे जिननाथ सम्यग्ज्ञानरूपी नाव में सवार होकर आप भवसमुद्र को पारकर शीघ्रता से मुक्तिपुरी में पहुँच गये हैं। अब मैं भी आपके इसी मार्ग से उक्त मुक्तिपुरी में आता हूँ; क्योंकि इस लोक में उत्तम पुरुषों को उक्त मार्ग के अतिरिक्त और कौन शरण है ?

तात्पर्य यह है कि मुक्ति प्राप्त करने का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

इस छन्द में जिननाथ की स्तुति करते हुए कहा गया है कि **जिस मार्ग पर चलकर आपने शाश्वत शिवपुरी प्राप्त की है; अब मैं भी उसी मार्ग से शिवपुरी में आ रहा हूँ; क्योंकि इसके अलावा कोई मार्ग ही नहीं है।** उक्त छन्द में लेखक का आत्मविश्वास झलकता है। उन्हें पक्का भरोसा है कि जिनेन्द्र भगवान जिस मार्ग पर चलकर मुक्त हुए हैं; वे भी दृढ़तापूर्वक उसी मार्ग पर चल रहे हैं।।२७४।।

तीसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

आप केवलभानु जिन इस जगत में जयवंत हैं।
समरसमयी निर्देह सुखदा शिवप्रिया के कंत हैं।।
रे शिवप्रिया के मुखकमल पर कांति फैलाते सदा।
सुख नहीं दे निजप्रिया को है कौन ऐसा जगत में।।२७५।।

केवलज्ञानरूपी प्रकाश को धारण करनेवाले एक जिनदेव ही जयवन्त हैं। वे जिनदेव

(अनुष्टुभ्)

जिनेन्द्रो मुक्तिकामिन्याः मुखपद्मे जगाम सः ।
अलिलीलां पुनः काममनङ्गसुखमद्वयम् ।।२७६।।

णाणं परप्पयासं दिट्ठी अप्पप्पयासया चेव ।
अप्पा सपरपयासो होदि त्ति हि मण्णसे जदि हि ।।१६१।।

समरसमय अशरीरी सुख देनेवाली मुक्तिरूपी प्रिया के मुखकमल पर अवर्णनीय कान्ति फैलाते हैं; जगत में स्नेहमयी अपनी प्रिया को निरन्तर सुखोत्पत्ति का कारण कौन नहीं होता?

जिसप्रकार जगत के मोही जीव स्वयं की प्रिय प्रिया को प्रसन्न रखते हैं; उसीप्रकार हे प्रभो ! आप भी समतारसमय अशरीरी सुख देनेवाली अपनी मुक्ति प्रिया के मुखकमल पर अवर्णनीय कांति फैलाते हैं, उसे सब प्रकार अनुकूलता प्रदान करते हैं।।२७५।।

चौथे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

अरे भ्रमर की भांति तुम, शिवकामिनि लवलीन ।
अद्वितीय आत्मीक सुख, पाया जिन अमलीन ।।२७६।।

हे जिनेन्द्र ! आप मुक्तिरूपी कामिनी के मुखकमल पर भ्रमर की भांति लीन हो गये हो और आपने अद्वितीय आत्मिक सुख प्राप्त किया है ।

तात्पर्य यह है कि **जिसप्रकार भ्रमर कमल पुष्पों पर आकर्षित होकर लीन हो जाते हैं; उसीप्रकार हे जिनेन्द्र भगवान आप भी अपने आत्मा में लीन हैं और आत्मानन्द ले रहे हैं।।२७६।।**

इसप्रकार हम देखते हैं कि उक्त चारों छन्दों में टीकाकार मुनिराज विविध प्रकार से जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करते दृष्टिगोचर होते हैं।

अध्यात्म और भक्ति का इतना सुन्दर समन्वय अन्यत्र असंभव नहीं तो दुर्लभ तो है ही।

विगत गाथा में यह कहा था कि केवली भगवान के ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं और अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि यदि कोई ऐसा माने कि ज्ञान सर्वथा परप्रकाशक ही है और दर्शन स्वप्रकाशक तो उसका यह कथन सत्य नहीं है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

परप्रकाशक ज्ञान दर्शन स्वप्रकाशक इसतरह ।
स्वपरप्रकाशक आत्मा है मानते हो तुम यदि ।।१६१।।

ज्ञानं परप्रकाशं दृष्टिरात्मप्रकाशिका चैव।
आत्मा स्वपरप्रकाशो भवतीति हि मन्यसे यदि खलु ।।१६१।।

आत्मन: स्वपर प्रकाशकत्वविरोधोपन्यासोऽयम्। इह हि तावदात्मन: स्वपरप्रकाशकत्वं कथमिति चेत्। ज्ञानदर्शनादिविशेषगुणसमृद्धो ह्यात्मा, तस्य ज्ञानं शुद्धात्मप्रकाशकासमर्थत्वात् परप्रकाशकमेव, यद्येवं दृष्टिर्निरंकुशा केवलमभ्यन्तरे ह्यात्मानं प्रकाशयति चेत् अनेन विधिना स्वपरप्रकाशको ह्यात्मेति हंहो जडमते प्राथमिकशिष्य, दर्शनशुद्धेरभावात् एवं मन्यंसे, न खलु जडस्त्वत्तस्सकाशादपर: कश्चिज्जन:। अथ ह्यविरुद्धा स्याद्वादविद्यादेवता समभ्य-र्चनीया सद्भिरनवरतम्। तत्रैकान्ततो ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वं न समस्ति; न केवलं स्यान्मते दर्शनमपि शुद्धात्मानं पश्यति। दर्शनज्ञानप्रभृत्यनेकधर्माणामाधारो ह्यात्मा। व्यवहारपक्षेऽपि केवलं परप्रकाशकस्य ज्ञानस्य न चात्मसंबंध: सदा बहिरवस्थितत्वात्, आत्मप्रतिपत्तेरभावात् न सर्वगतत्वं; अत:कारणादिदं ज्ञानं न भवति, मृगतृष्णाजलवत् प्रतिभासमात्रमेव। दर्शन-

---

ज्ञान परप्रकाशक ही है और दर्शन स्वप्रकाशक ही है तथा आत्मा स्व-परप्रकाशक है ह्न ऐसा यदि तू वास्तव में मानता है तो उसमें विरोध आता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह आत्मा के स्व-परप्रकाशन संबंधी विरोध का कथन है। प्रथम तो आत्मा का स्वपरप्रकाशनपना किसप्रकार है ? ह्न यदि कोई ऐसा कहे तो उस पर विचार किया जाता है।

'आत्मा ज्ञानदर्शनादि गुणों से समृद्ध है। उसका ज्ञानगुण शुद्ध आत्मा को प्रकाशित करने में असमर्थ होने से केवल परप्रकाशक ही है। इसीप्रकार निरंकुश दर्शन भी केवल अभ्यन्तर में आत्मा को प्रकाशित करता है अर्थात् स्वप्रकाशक ही है। इस विधि से आत्मा स्वपरप्रकाशक है।' ह्न इसप्रकार हे जड़मति प्राथमिक शिष्य ! यदि तू दर्शनशुद्धि के अभाव से इसप्रकार मानता हो, तो वस्तुत: तुझ से अधिक जड़, मूर्ख अन्य कोई पुरुष नहीं है।

इसलिए अविरुद्ध स्याद्वादविद्यारूपी देवी की सत्पुरुषों द्वारा निरन्तर भली प्रकार आराधना करने योग्य है।

स्याद्वाद मत में ज्ञान को एकान्त परप्रकाशकपना नहीं है। इसीप्रकार स्याद्वाद मत में दर्शन भी केवल शुद्धात्मा को ही नहीं देखता।

आत्मा दर्शन, ज्ञान आदि अनेक गुणों का आधार है।

व्यवहार पक्ष से भी ज्ञान केवल परप्रकाशक हो तो; सदा बाह्य स्थितिपने के कारण ज्ञान का आत्मा के साथ संबंध ही नहीं रहेगा; इसलिए आत्मज्ञान के अभाव के कारण सर्वगतपना भी नहीं बनेगा। इसकारण ज्ञान का अस्तित्व ही नहीं रहेगा; मृगतृष्णा के जल की भाँति आभासमात्र ही होगा।

पक्षेऽपि तथा न केवलमभ्यन्तरप्रतिपत्तिकारणं दर्शनं भवति। सदैव सर्वं पश्यति हि चक्षुः, स्वस्याभ्यन्तरस्थितां कनीनिकां न पश्यत्येव। अतः स्वपरप्रकाशकत्वं ज्ञानदर्शनयोरविरुद्धमेव। ततः स्वपरप्रकाशको ह्यात्मा ज्ञानदर्शनलक्षण इति।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः ह्न

(स्रग्धरा)

जानन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भाविभूतं समस्तं
मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा।
तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीत–
ज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः ।।७७।।[१]

इसीप्रकार दर्शनपक्ष से भी दर्शन केवल आभ्यन्तर प्रतिपत्ति का ही कारण नहीं है, वह मात्र स्व को ही नहीं देखता; अपितु सबको देखता है; क्योंकि चक्षु सदा सबको देखती है, अपने भीतर स्थित कनीनिका[२] को नहीं देखती। इससे यह निश्चित होता है कि ज्ञान और दर्शन ह्न दोनों को ही स्वपरप्रकाशकपना अविरुद्ध ही है। इसप्रकार ज्ञानदर्शन लक्षणवाला आत्मा स्वपरप्रकाशक है।''

इस गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त दृढ़तापूर्वक यह कहा गया है कि दर्शन स्वप्रकाशक है और ज्ञान परप्रकाशक है ह्न इसप्रकार दोनों को मिलाकर आत्मा स्वपरप्रकाशक है ह्न यह बात सही नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि ज्ञान भी स्वपरप्रकाशक है, दर्शन भी स्वपरप्रकाशक है और आत्मा भी स्वपरप्रकाशक है।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'अमृतचन्द्राचार्य के द्वारा भी कहा गया है'** ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(मनहरण कवित्त)

जिसने किये हैं निर्मूल घातिकर्म सब।
अनंत सुख वीर्य दर्श ज्ञान धारी आतमा।।
भूत भावी वर्तमान पर्याय युक्त सब।
द्रव्य जाने एक ही समय में शुद्धातमा।।
मोह का अभाव पररूप परिणमें नहीं।
सभी ज्ञेय पीके बैठा ज्ञानमूर्ति आतमा।।
पृथक्-पृथक् सब जानते हुए भी ये।
सदा मुक्त रहें अरहंत परमातमा।।७७।।

---

१. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका, छन्द ४ २. आँख की पुतली

तथा हि ह्न

(मंदाक्रांता)

ज्ञानं तावत् सहजपरमात्मानमेकं विदित्वा
लोकालोकौ प्रकटयति वा तद्वतं ज्ञेयजालम् ।
दृष्टिः साक्षात् स्वपरविषया क्षायिकी नित्यशुद्धा
ताभ्यां देवः स्वपरविषयं बोधति ज्ञेयराशिम् ।।२७७।।

जिसने कर्मों को छेद डाला है ह्न ऐसा यह आत्मा विश्व के समस्त पदार्थों को उनकी भूत, भावी और वर्तमान पर्यायों के साथ ह्न सभी को एकसाथ जानता हुआ भी मोह के अभाव के कारण पररूप परिणमित नहीं होता; इसलिए अत्यन्त विकसित ज्ञप्ति के विस्तार से स्वयं पी डाला है समस्त ज्ञेयाकारों को जिसने ह्न ऐसा यह ज्ञानमूर्ति आत्मा तीनों लोकों के सभी पदार्थों के ज्ञेयाकारों को पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ कर्मबंधन से मुक्त ही रहता है ।

उक्त छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि लोकालोक को सहज भाव से जाननेवाला यह ज्ञानमूर्ति भगवान आत्मा मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण सबको सहजभाव से जानते हुए भी कर्मबंध को प्राप्त नहीं होता ।।७७।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथाहि'** लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(मनहरण कवित्त)

ज्ञान इक सहज परमातमा को जानकर ।
लोकालोक ज्ञेय के समूह को है जानता ।।
ज्ञान के समान दर्शन भी तो क्षायिक है ।
वह भी स्वपर को है साक्षात् जानता ।।
ज्ञान-दर्शन द्वारा भगवान आतमा ।
स्वपर सभी ज्ञेयराशि को है जानता ।।
ऐसे वीतरागी सर्वज्ञ परमातमा ।
स्वपरप्रकाशी निज भाव को प्रकाशता ।।२७७।।

ज्ञान एक सहज परमात्मा को जानकर लोकालोक संबंधी समस्त ज्ञेयसमूह को प्रगट करता है, जानता है । नित्य शुद्ध क्षायिकदर्शन भी साक्षात् स्वपरविषयक है; वह भी स्व-पर को साक्षात् प्रकाशित करता है । यह भगवान आत्मा ज्ञान-दर्शन के द्वारा स्व-पर संबंधी ज्ञेयराशि को जानता है ।

उक्त सम्पूर्ण प्रकरण में गाथा में, टीका में और टीका में उद्धृत किये गये छन्द में तथा

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णं।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ।।१६२।।

ज्ञानं परप्रकाशं तदा ज्ञानेन दर्शनं भिन्नम्।
न भवति परद्रव्यगतं दर्शनमिति वर्णितं तस्मात् ।।१६२।।

पूर्वसूत्रोपात्तपूर्वपक्षस्य सिद्धान्तोक्तिरियम्। केवलं परप्रकाशकं यदि चेत् ज्ञानं तदा परप्रकाशकप्रधानेनानेन ज्ञानेन दर्शनं भिन्नमेव। परप्रकाशकस्य ज्ञानस्य चात्मप्रकाशकस्य दर्शनस्य च कथं सम्बन्ध इति चेत् सह्याविंध्ययोरिव अथवा भागीरथीश्रीपर्वतवत्। आत्मनिष्ठं यत् तद् दर्शनमस्त्येव, निराधारत्वात् तस्य ज्ञानस्य शून्यतापत्तिरेव, अथवा यत्र तत्र गतं ज्ञानं तत्तद्द्रव्यं सर्वं चेतनत्वमापद्यते, अतस्त्रिभुवने न कश्चिदचेतनः पदार्थः इति महतो दूषणस्या-वतारः। तदेव ज्ञानं केवलं न परप्रकाशकम् इत्युच्यते हे शिष्य तर्हि दर्शनमपि न केवलमात्म-

---

टीकाकार द्वारा लिखे गये छन्द में ह्न सभी में इसी बात को तर्क और युक्ति से, पुष्ट प्रमाणों से यही सिद्ध किया गया है कि **ज्ञान स्वपरप्रकाशक है, दर्शन स्वपरप्रकाशक है और आत्मा भी स्वपरप्रकाशक है।**

इस गाथा में विगत गाथा में प्रतिपादित बात को ही आगे बढ़ा रहे हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

पर का प्रकाशक ज्ञान तो दृग भिन्न होगा ज्ञान से।
पर को न देखे दर्श ह्न ऐसा कहा तुमने पूर्व में ।।१६२।।

यदि ज्ञान परप्रकाशक ही हो तो ज्ञान से दर्शन भिन्न सिद्ध होगा; क्योंकि दर्शन परप्रकाशक नहीं है, तेरी मान्यता संबंधी ऐसा वर्णन पूर्व सूत्र में किया गया है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह पूर्वसूत्र अर्थात् १६१वीं गाथा में कहे गये पूर्वपक्ष के सिद्धान्त संबंधी कथन है। यदि ज्ञान केवल परप्रकाशक हो तो इस परप्रकाशन प्रधान ज्ञान से दर्शन भिन्न ही सिद्ध होगा; क्योंकि सह्याचल और विन्ध्याचल के समान अथवा गंगा और श्रीपर्वत के समान परप्रकाशक ज्ञान और स्वप्रकाशक दर्शन का संबंध किसप्रकार होगा ?

यदि कोई ऐसा कहे तो कहते हैं कि जो आत्मनिष्ठ (स्वप्रकाशक) है, वह तो दर्शन ही है। उस दर्शन और ज्ञान को निराधार होने से अर्थात् आत्मरूपी आधार न होने से शून्यता की आपत्ति आ जावेगी अथवा जहाँ-जहाँ ज्ञान पहुँचेगा; अर्थात् जिस-जिस द्रव्य को ज्ञान प्राप्त करेगा, ज्ञान जानेगा; वे-वे सभी द्रव्य चेतनता को प्राप्त होंगे। इसकारण तीन लोक में कोई अचेतन पदार्थ सिद्ध नहीं होगा ह्न यह महान दोष आयेगा।

गतमित्यभिहितम् । ततः खल्विदमेव समाधानं सिद्धान्तहृदयं ज्ञानदर्शनयोः कथंचित् स्वपर–प्रकाशत्वमस्त्येवेति ।

तथा चोक्तं श्रीमहासेनपंडितदेवैः ह्न

ज्ञानाद्भिन्नो न नाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन ।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः ।।७८।।[१]

तथा हि ह्न

(मंदाक्रांता)

आत्मा ज्ञानं भवति न हि वा दर्शनं चैव तद्वत्
ताभ्यां युक्तः स्वपरविषयं वेत्ति पश्यत्यवश्यम् ।
संज्ञाभेदादघकुलहरे चात्मनि ज्ञानदृष्ट्योः
भेदो जातो न खलु परमार्थेन वह्नायुष्णवत्सः ।।२७८।।

उक्त दोष के भय से हे शिष्य ! यदि तू ऐसा कहे कि ज्ञान केवल परप्रकाशक नहीं हैं तो दर्शन भी केवल आत्मगत नहीं है, स्वप्रकाशक नहीं है ह्न ऐसा भी कहा गया है । इसलिए वास्तविक समाधानरूप सिद्धान्त का हार्द यह है कि ज्ञान और दर्शन को कथंचित् स्वपरप्रकाशकपना ही है ।''

इस गाथा और उसकी टीका में ज्ञान, दर्शन और आत्मा ह्न तीनों को अनेक तर्क और युक्तियों से स्वपरप्रकाशक ही सिद्ध किया गया है ।।१६२।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथा श्री महासेन पण्डितदेव के द्वारा भी कहा गया है'** ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(कुण्डलिया)

अरे ज्ञान से आत्मा, नहीं सर्वथा भिन्न ।
अर अभिन्न भी है नहीं, यह है भिन्नाभिन्न ।।
यह है भिन्नाभिन्न कथंचित् नहीं सर्वथा ।
अरे कथंचित् भिन्न अभिन्न भी किसी अपेक्षा ।।
जैनधर्म में नहीं सर्वथा कुछ भी होता ।
पूर्वापर जो ज्ञान आतमा वह ही होता ।।७८।।

आत्मा ज्ञान से सर्वथा भिन्न नहीं है और सर्वथा अभिन्न भी नहीं है; कथंचित् भिन्नाभिन्न है; क्योंकि पूर्वापर ज्ञान ही आत्मा है ह्न ऐसा कहा है ।

---

१. महासेन पण्डितदेव , ग्रंथ नाम और श्लोक संख्या अनुपलब्ध है ।

अप्पा परप्पयासो तइया अप्पेण दंसणं भिण्णं।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा।।१६३।।

आत्मा परप्रकाशस्तदात्मना दर्शनं भिन्नम्।
न भवति परद्रव्यगतं दर्शनमिति वर्णितं तस्मात्।।१६३।।

उक्त छन्द में यह स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान-दर्शन और आत्मा में कथंचित् भिन्नता है और कथंचित् अभिन्नता है। इसप्रकार वे प्रमाण से भिन्नाभिन्न हैं।।७८।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज '**तथाहि**' लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

यह आतमा न ज्ञान है दर्शन नहीं है आतमा।
रे स्वपर जाननहार दर्शनज्ञानमय है आतमा।।
इस अघविनाशक आतमा अर ज्ञानदर्शन में सदा।
भेद है नामादि से परमार्थ से अन्तर नहीं।।२७८।।

आत्मा ज्ञान नहीं है, उसीप्रकार आत्मा दर्शन भी नहीं है। ज्ञान-दर्शन युक्त आत्मा स्व-परविषय को अवश्य जानता है और देखता है। अघ अर्थात् पुण्य-पाप समूह के नाशक आत्मा में और ज्ञान-दर्शन में संज्ञा (नाम) भेद से भेद उत्पन्न होता है; परमार्थ से अग्नि और उष्णता की भाँति आत्मा और ज्ञान-दर्शन में वास्तविक भेद नहीं है।

इस छन्द में यही कहा गया है कि यद्यपि दर्शन, ज्ञान और आत्मा में नामादि की अपेक्षा व्यवहार से भेद है; तथापि निश्चय से विचार करें तो उनमें अग्नि और उष्णता की भाँति कोई भेद नहीं है।।२७८।।

इस गाथा में भी विगत गाथा में प्रतिपादित विषय को ही आगे बढ़ाया जा रहा है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

पर का प्रकाशक आत्म तो दृग भिन्न होगा आत्म से।
पर को न देखे दर्श ह्न ऐसा कहा तुमने पूर्व में।।१६३।।

यदि आत्मा परप्रकाशक हो तो आत्मा से दर्शन भिन्न सिद्ध होगा; क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत अर्थात् परप्रकाशक नहीं है ह्न तेरी मान्यता संबंधी ऐसा वर्णन पूर्वसूत्र में किया गया है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

एकान्तेनात्मनः परप्रकाशकत्वनिरासोऽयम्। यथैकान्तेन ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वं पुरा निराकृतम्, इदानीमात्मा केवलं परप्रकाशश्चेत् तत्तथैव प्रत्यादिष्टं ह्न भावभाववतोरैकास्तित्व-निर्वृत्तत्वात्। पुरा किल ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वे सति तद्दर्शनस्य भिन्नत्वं ज्ञातम्। अत्रात्मनः पर-प्रकाशकत्वे सति तेनैव दर्शनं भिन्नमित्यवसेयम्। अपि चात्मा न परद्रव्यगत इति चेत् तद्दर्शन-मप्यभिन्नमित्यवसेयम्। ततः खल्वात्मा स्वपरप्रकाशक इति यावत्। यथा कथंचित्स्वपर-प्रकाशकत्वं ज्ञानस्य साधितम् अस्यापि तथा, धर्मधर्मिणोरेकस्वरूपत्वात् पावकोष्णवदिति।

(मंदाक्रांता)

आत्मा धर्मी भवति सुतरां ज्ञानदृग्धर्मयुक्तः
तस्मिन्नेव स्थितिमविचलां तां परिप्राप्य नित्यम्।
सम्यग्दृष्टि-र्निखिलकरण-ग्रामनीहार-भास्वान्
मुक्तिं याति स्फुटितसहजावस्थया संस्थितां ताम्।।२७९।।

''यह 'एकान्त से आत्मा परप्रकाशक है' ह्न इस बात का खण्डन है। जिसप्रकार पहले १६२वीं गाथा में एकान्त से ज्ञान के परप्रकाशकपने का निराकरण किया गया था; उसीप्रकार आत्मा का एकान्त से परप्रकाशकपना भी निराकृत हो जाता है; क्योंकि भाव और भाववान एक अस्तित्व से रचित होते हैं। यहाँ ज्ञान भाव है आत्मा भाववान है।

पहले १६२वीं गाथा में यह बतलाया था कि यदि ज्ञान एकान्त से परप्रकाशक हो तो ज्ञान से दर्शन भिन्न सिद्ध होगा।

अब यहाँ इस गाथा में ऐसा समझाया है कि यदि एकान्त से आत्मा परप्रकाशक हो तो आत्मा से दर्शन भिन्न सिद्ध होगा।

यदि आत्मा परद्रव्यगत अर्थात् आत्मा एकान्त से परप्रकाशक नहीं है, स्वप्रकाशक भी है तो आत्मा से दर्शन की अभिन्नता भलीभाँति सिद्ध होगी। अतः आत्मा स्वप्रकाशक भी है ह्न यह सहज सिद्ध है।

जिसप्रकार १६२वीं गाथा में ज्ञान कथंचित् स्वपरप्रकाशक है ह्न यह सिद्ध हुआ था; उसीप्रकार यहाँ आत्मा भी कथंचित् स्वपरप्रकाशक है ह्न ऐसा समझना चाहिए; क्योंकि अग्नि और उष्णता के समान धर्मी और धर्म का स्वरूप एक ही होता है।''

इसप्रकार हम देखते हैं कि न केवल इस गाथा में अपितु सम्पूर्ण प्रकरण में एक बात ही सिद्ध की गई है कि आत्मद्रव्य तो स्वपरप्रकाशक है ही, उसके साथ ही उसके ज्ञान व दर्शन गुण भी स्वपरप्रकाशक हैं।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

णाणं परप्पयासं ववहारणयेण दंसणं तम्हा ।
अप्पा परप्पयासो ववहारणयेण दंसणं तम्हा ।।१६४।।

ज्ञानं परप्रकाशं व्यवहारनयेन दर्शनं तस्मात् ।
आत्मा परप्रकाशो व्यवहारनयेन दर्शनं तस्मात् ।।१६४।।

व्यवहारनयस्य सफलत्वप्रद्योतनकथनमाह । इह सकलकर्मक्षयप्रादुर्भावसादितसकल-विमलकेवलज्ञानस्य पुद्गलादिमूर्तामूर्तचेतनाचेतनपरद्रव्यगुणपर्यायप्रकरप्रकाशकत्वं कथ-

---

(हरिगीत)

इन्द्रियविषयहिमरवि सम्यग्दृष्टि निर्मल आतमा।
रे ज्ञान-दर्शन धर्म से संयुक्त धर्मी आतमा।।
में अचलता को प्राप्त कर जो मुक्तिरमणी को वरें।
चिरकालतक वे जीव सहजानन्द में स्थित रहें।।२७९।।

ज्ञान-दर्शन धर्मों से युक्त होने से वस्तुत: आत्मा धर्मी है। सभी इन्द्रिय समूहरूपी हिम (बर्फ) को पिलघाने के लिए सूर्य समान सम्यग्दृष्टि जीव दर्शनज्ञानयुक्त आत्मा में सदा अविचल स्थिति को प्राप्त कर सहज दशारूप से सुस्थित मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

इस छन्द में यही कहा गया है कि ज्ञानदर्शनस्वभावी स्वपरप्रकाशक आत्मा में अविचल स्थिति धारण करनेवाले एवं पंचेन्द्रिय विषयोंरूपी बर्फ को पिलघाने में सूर्य के समान समर्थ सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा सहज दशारूप मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

अब इस गाथा में यह स्पष्ट करते हैं कि व्यवहारनय से ज्ञान और आत्मा के समान दर्शन भी परप्रकाशक है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

परप्रकाशक ज्ञान सम दर्शन कहा व्यवहार से।
अर परप्रकाशक आत्म सम दर्शन कहा व्यवहार से ।।१६४।।

व्यवहारनय से ज्ञान परप्रकाशक (पर को जाननेवाला) है; इसलिए व्यवहारनय से दर्शन भी परप्रकाशक (पर को देखनेवाला) है। व्यवहारनय से आत्मा परप्रकाशक (पर को देखने-जाननेवाला) है; इसलिए व्यवहारनय से दर्शन भी परप्रकाशक (पर को देखनेवाला) है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह व्यवहारनय की सफलता को प्रदर्शित करनेवाला कथन है। समस्त घातिकर्मों के क्षय से प्राप्त होनेवाला पूर्णत: निर्मल केवलज्ञान; पुद्गलादि मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन परद्रव्य और उनके गुण व उनकी पर्यायों के समूह का प्रकाशक (जाननेवाला) किसप्रकार है?

मिति चेत्, पराश्रितो व्यवहारः इति वचनात् व्यवहारनयबलेनेति। ततो दर्शनमपि तादृशमेव। त्रैलोक्यप्रक्षोभहेतुभूततीर्थकरपरमदेवस्य शतमखशतप्रत्यक्षवंदनायोग्यस्य कार्यपरमात्मनश्च तद्वदेव परप्रकाशकत्वम्। तेन व्यवहारनयबलेन च तस्य खलु भगवतः केवलदर्शनमपि तादृशमेवेति।

तथा चोक्तं श्रुतबिन्दौ ह्न

(मालिनी)

जयति विजितदोषोऽमर्त्यमर्त्येन्द्रमौलि–
प्रविलसदुरुमालाभ्यार्चितांघ्रिर्जिनेन्द्रः।
त्रिजगदजगती यस्येदृशौ व्यश्नुवाते
सममिव विषयेष्वन्योन्यवृत्तिं निषेद्धुम्।।७९।।[१]

ऐसा प्रश्न होने पर उसके उत्तर में कहते हैं कि 'पराश्रितो व्यवहारः ह्न व्यवहार पराश्रित होता है' ह्न आगम के उक्त कथन के आधार पर व्यवहारनय के बल से ऐसा है। तात्पर्य यह है कि आगम में व्यवहारनय से केवलज्ञान को परप्रकाशक (पर को जाननेवाला) कहा गया है। इसीप्रकार केवलदर्शन भी व्यवहारनय से परप्रकाशक (पर को देखने वाला) है।

तीन लोक में प्रक्षोभ के हेतुभूत एवं सौ इन्द्रों से वंदनीय कार्यपरमात्मा तीर्थंकर परमदेव अरहंत भगवान भी केवलज्ञान के समान ही व्यवहारनय से परप्रकाशक (पर को देखने–जाननेवाले) हैं। उसी के अनुसार व्यवहार नय के बल से उनके केवलदर्शन को परप्रकाशकपना (पर को देखनेरूप प्रकाशनपना) है।''

गाथा और उसकी टीका में यह बात स्पष्ट की गई है कि जिसप्रकार व्यवहारनय से केवलज्ञान परप्रकाशक (पर को जाननेवाला) है; उसीप्रकार केवलदर्शन भी परप्रकाशक (पर को देखनेवाला) है।

इसीप्रकार जैसे व्यवहारनय से आत्मा परप्रकाशक (पर को देखने–जाननेवाला) है; तैसे केवलदर्शन भी व्यवहार से परप्रकाशक (पर को देखनेवाला) है।।१६४।।

इसके बाद **'तथा चोक्तं श्रुतबिन्दौ ह्न** तथा श्रुतबिन्दु में भी कहा है' **ह्न** ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

---

१. श्रुतबिन्दु, श्लोक संख्या अनुपलब्ध है।

तथा हि ह्न

(मालिनी)

व्यवहरणनयेन ज्ञानपुंजोऽयमात्मा
प्रकटतरसुदृष्टिः सर्वलोकप्रदर्शी।
विदितसकलमूर्तामूर्ततत्त्वार्थसार्थः
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ।।२८०।।

(हरिगीत)

अरे जिनके ज्ञान में सब द्रव्य लोकालोक के।
इसतरह प्रतिबिंबित हुए जैसे गुंथे हों परस्पर।।
सुरपती नरपति मुकुटमणि की माल से अर्चित चरण।
जयवंत हैं इस जगत में निर्दोष जिनवर के वचन।।७९।।

जिन्होंने १८ दोषों को जीता है, जिनके चरणों में इन्द्र तथा चक्रवर्तियों के मणिमाला युक्त मुकुटवाले मस्तक झुकते हैं और जिनके ज्ञान में लोकालोक के सभी पदार्थ इसप्रकार ज्ञात होते हैं, प्रवेश पाते हैं; कि जैसे वे एक-दूसरे से गुंथ गये हैं; ऐसे जिनेन्द्र भगवान जयवन्त वर्तते हैं।

इसप्रकार इस छन्द में जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करते हुए यह कहा गया है कि वे १८ दोषों से रहित हैं, लोकालोक के सभी पदार्थों को जानते हैं और इन्द्र व चक्रवर्ती उनके चरणों में नतमस्तक रहते हैं; वे जिनेन्द्र भगवान जयवंत वर्तते हैं।।७९।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

ज्ञान का घनपिण्ड आतम अरे निर्मल दृष्टि से।
है देखता सब लोक को इस लोक में व्यवहार से।।
मूर्त और अमूर्त सब तत्त्वार्थ को है जानता।
वह आतमा शिववल्लभा का परम वल्लभ जानिये।।२८०।।

ज्ञानपुंज यह आत्मा अत्यन्त स्पष्ट दृष्टि (दर्शन) होने से अर्थात् केवलदर्शन होने से व्यवहारनय से सर्वलोक देखता है तथा केवलज्ञान से सभी मूर्त-अमूर्त पदार्थों को जानता है। ऐसा वह भगवान आत्मा परमश्रीरूपी कामिनी का, मुक्तिसुन्दरी का वल्लभ (प्रिय) होता है।

णाणं अप्पपयासं णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ।
अप्पा अप्पपयासो णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ।।१६५।।

ज्ञानमात्मप्रकाशं निश्चयनयेन दर्शनं तस्मात् ।
आत्मा आत्मप्रकाशौ निश्चयनयेन दर्शनं तस्मात् ।।१६५।।

निश्चयनयेन स्वरूपाख्यानमेतत् । निश्चयनयेन स्वप्रकाशकत्वलक्षणं शुद्धज्ञानमिहाभिहितं तथा सकलावरणप्रमुक्तशुद्धदर्शनमपि स्वप्रकाशकपरमेव । आत्मा हि विमुक्तसकलेन्द्रियव्यापारत्वात् स्वप्रकाशकत्वलक्षणलक्षित इति यावत् । दर्शनमपि विमुक्तबहिर्विषयत्वात्

इसप्रकार इस छन्द में जिनेन्द्र भगवान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उनकी स्तुति की गई है। शिववल्लभा (अत्यन्त प्रिय मुक्तिरूपी पत्नी) के अत्यन्त वल्लभ (प्रिय) अरहंत भगवान सम्पूर्ण लोकालोक को केवलदर्शन से देखते हैं और केवलज्ञान से जानते हैं। इसप्रकार वे व्यवहारनय से सम्पूर्ण लोकालोक को देखते-जानते हैं।।२८०।।

विगत गाथा में व्यवहारनय से ज्ञान, दर्शन और आत्मा के पर-प्रकाशकपने की बात की थी और अब इस गाथा में निश्चयनय से ज्ञान, दर्शन आत्मा के स्वप्रकाशकपने की बात करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

निजप्रकाशक ज्ञान सम दर्शन कहा परमार्थ से।
अर निजप्रकाशक आत्म सम दर्शन कहा परमार्थ से ।।१६५।।

निश्चयनय से ज्ञान स्वप्रकाशक (स्वयं को जाननेवाला) है; इसलिए निश्चयनय से दर्शन भी स्वप्रकाशक (स्वयं को देखनेवाला) है।

निश्चयनय से आत्मा स्वप्रकाशक (स्वयं को देखने-जाननेवाला) है; इसलिए दर्शन भी स्वप्रकाशक (स्वयं को देखनेवाला) है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह निश्चयनय से स्वरूप का कथन है। यहाँ जिसप्रकार स्व-प्रकाशनपने (अपने आत्मा को जानने) को निश्चयनय से शुद्धज्ञान का लक्षण कहा है; उसीप्रकार समस्त आवरण से युक्त शुद्ध दर्शन भी स्व-प्रकाशक (अपने आत्मा को देखनेवाला) ही है।

सर्व इन्द्रिय व्यापार को छोड़ा होने से आत्मा जिसप्रकार वस्तुत: स्वप्रकाशक (स्वयं को जानने-देखने) रूप लक्षण से लक्षित है; उसीप्रकार बहिर्विषयपना छोड़ा होने से दर्शन भी स्वप्रकाशकत्व (अपने आत्मा को देखनेरूप) प्रधान ही है।

इसप्रकार स्वरूपप्रत्यक्षलक्षण से लक्षित आत्मा; अखण्ड, सहज, शुद्धज्ञानदर्शनरूप

स्वप्रकाशकत्वप्रधानमेव। इत्थं स्वरूपप्रत्यक्षलक्षणलक्षिताक्षुण्णसहजशुद्धज्ञानदर्शनमयत्वात् निश्चयेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिस्थावरजंगमात्मकसमस्तद्रव्यगुणपर्यायविषयेषु आकाशा-प्रकाशकादिविकल्पविदूरस्सन् स्वस्वरूपे संज्ञालक्षणप्रकाशतया निरवेशेषेणान्तर्मुखत्वादनव-रतम् अखंडाद्वैतचिच्चमत्कारमूर्तिरात्मा तिष्ठतीति।

(मंदाक्रांता)

आत्मा ज्ञानं भवति नियतं स्वप्रकाशात्मकं या
दृष्टिः साक्षात् प्रहतबहिरालंबना सापि चैषः।
एकाकारस्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः
स्वस्मिन्नित्यं नियतवसतिर्निर्विकल्पे महिम्नि ।।२८१।।

होने के कारण, निश्चय से, त्रिलोक-त्रिकालवर्ती स्थावर-जंगमस्वरूप समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायरूप विषयों संबंधी प्रकाश्य-प्रकाशकादि विकल्पों से अति दूर वर्तता हुआ, स्वस्वरूप संचेतन लक्षण प्रकाश द्वारा सर्वथा अन्तर्मुख होने के कारण, निरन्तर अखण्ड, अद्वैत, चैतन्यचमत्कारमूर्ति रहता है।''

१६४ व १६५वीं गाथा में ज्ञान, दर्शन और आत्मा को समानरूप से परप्रकाशक एवं स्वप्रकाशक बताया गया है। इससे ऐसा लगता है कि जैसे तीनों का एक ही काम है, पर ऐसा नहीं है; क्योंकि **ज्ञान स्व और पर को जाननेरूप प्रकाशित करता है, दर्शन देखनेरूप प्रकाशित करता है और आत्मा देखने-जाननेरूप प्रकाशित करता है।**

इसीप्रकार दर्शन सामान्यग्राही है, ज्ञान विशेषग्राही है और आत्मा सामान्य-विशेषात्मक पदार्थग्राही है।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान रखने योग्य है कि इन गाथाओं में निश्चय-व्यवहारनय की संधिपूर्वक स्वपरप्रकाशी ज्ञान और आत्मा के माध्यम से दर्शन को स्वपरप्रकाशक सिद्ध किया गया है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान और आत्मा के स्वपरप्रकाशनपने को आधार बनाकर दर्शन को स्वपरप्रकाशी सिद्ध किया गया है।।१६५।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(हरिगीत)

परमार्थ से यह निजप्रकाशक ज्ञान ही है आतमा।
बाह्य आलम्बन रहित जो दृष्टि उसमय आतमा।।
स्वरस के विस्तार से परिपूर्ण पुण्य-पुराण यह।
निर्विकल्पक महिम एकाकार नित निज में रहे।।२८१।।

अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ।।१६६।।

आत्मस्वरूपं पश्यति लोकालोकौ न केवली भगवान्।
यदि कोपि भणत्येवं तस्य च किं दूषणं भवति।।१६६।।

शुद्धनिश्चयनयविवक्षया परदर्शनत्वनिरासोऽयम्। व्यवहारेण पुद्गलादित्रिकालविषय-द्रव्यगुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकलविमलकेवलावबोधमयत्वादिविविधमहिमा-धारोऽपि स भगवान् केवलदर्शनतृतीयलोचनोऽपि परमनिरपेक्षतया निःशेषतोऽन्तर्मुखत्वात्

निश्चय से स्वप्रकाशक ज्ञान आत्मा है। जिसने बाह्य आलम्बन का नाश किया है ह्न ऐसा स्वप्रकाशक दर्शन भी आत्मा है। निजरस के विस्तार पूर्ण होने के कारण जो पवित्र है तथा पुरातन है; ऐसा आत्मा सदा अपनी निर्विकल्प महिमा में निश्चितरूप से वास करता है।

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि निश्चयनय से स्वप्रकाशक (स्वयं को जाननेवाला) ज्ञान और स्वप्रकाशक (स्वयं को देखनेवाला) दर्शन ही आत्मा हैं। निश्चयनय से स्व को देखने-जाननेवाला यह ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मा पुरातन है, पवित्र है और अपने निर्विकल्पक महिमा में सदा मग्न है।।२८१।।

विगत गाथा में निश्चयनय से ज्ञान, दर्शन और आत्मा का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब बहुचर्चित आगामी गाथा में यह बताते हैं कि केवली भगवान आत्मा को ही देखते हैं, लोकालोक को नहीं; ह्न यदि कोई (निश्चयनय से) ऐसा कहता है तो इसमें क्या दोष है। तात्पर्य यह है कि उसमें कोई दोष नहीं है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

देखे-जाने स्वयं को पर को नहीं जिनकेवली।
यदि कहे कोई इसतरह उसमें कहो है दोष क्या ? ।।१६६।।

केवली भगवान आत्मस्वरूप को देखते हैं, लोकालोक को नहीं; ह्न यदि कोई (निश्चयनय) ऐसा कहता है तो उसमें क्या दोष है ?

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से पर को देखने का खण्डन है। यद्यपि यह आत्मा व्यवहारनय से एक समय में तीन काल संबंधी पुद्गलादि द्रव्यों के गुण, पर्यायों को जानने में समर्थ केवलज्ञानमात्र स्वरूप महिमा का धारक है; तथापि केवलदर्शनरूप तीसरी आँखवाला होने पर भी, परमनिरपेक्षपने के कारण पूर्णतः अन्तर्मुख होने से केवल स्वरूप

केवलस्वरूपप्रत्यक्षमात्रव्यापारनिरतनिरंजननिजसहजदर्शनेन सच्चिदानंदमयमात्मानं निश्चयत: पश्यतीति शुद्धनिश्चयनयविवक्षया य: कोपि शुद्धान्ततत्त्ववेदी परमजिनयोगीश्वरो वक्ति तस्य च न खलु दूषणं भवतीति ।

(मंदाक्रांता)

पश्यत्यात्मा सहजपरमात्मानमेकं विशुद्धं
स्वान्त:शुद्ध्यावसथमहिमाधारमत्यन्तधीरम् ।
स्वात्मन्युच्चैरविचलतया सर्वदान्तर्निमग्नं
तस्मिन्नैव प्रकृतिमहति व्यावहारप्रपंच: ।।२८२।।

प्रत्यक्षमात्र व्यापार में लीन निरंजन निज सहजदर्शन द्वारा सच्चिदानन्दमय आत्मा को वेदन करनेवाले परमजिनयोगीश्वर शुद्ध-निश्चयनय से कहते हैं तो उसमें कोई दोष नहीं है ।''

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में मात्र यही कहा गया है कि **यद्यपि शुद्धनिश्चयनय का उक्त कथन पूर्णत: सत्य है; तथापि केवली भगवान पर को जानते ही नहीं हैं ह्न यह बात नहीं है। वे उन पदार्थों में तन्मय नहीं होते, उनमें अपनापन नहीं करते; इसकारण उनके पर संबंधी परम सत्य ज्ञान को भी व्यवहार कहा गया है।।१६६।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

अत्यन्त अविचल और अन्तर्मग्न नित गंभीर है।
शुद्धि का आवास महिमावंत जो अति धीर है।।
व्यवहार के विस्तार से है पार जो परमातमा।
उस सहज स्वातमराम को नित देखता यह आतमा।।२८२।।

जो एक है, विशुद्ध है, निज अन्तशुद्धि का आवास होने से महिमावंत है, अत्यन्त धीर है और अपने आत्मा में अत्यन्त अविचल होने से पूर्णत: अन्तर्मग्न हैं; स्वभाव से महान उस आत्मा में व्यवहार का प्रपंच (विस्तार) है ही नहीं।

इसप्रकार इस कलश में मात्र इतना ही कहा गया है कि शुद्धनिश्चयनय के विषयभूत भगवान आत्मा में व्यवहार का प्रपंच नहीं है, व्यवहारनय के द्वारा निरूपित विस्तार नहीं है, गौण है।।२८२।।

विगत गाथा में यह कहा गया है कि केवली भगवान आत्मा को देखते-जानते हैं, पर को नहीं ह्न निश्चयनय के इस कथन में कोई दोष नहीं है। अब इस गाथा में केवलज्ञान का स्वरूप समझाते हैं।

मुत्तममुत्तं दव्वं चेयणमियरं सगं च सव्वं च।
पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमणिंदियं होइ।।१६७।।

मूर्तममूर्तं द्रव्यं चेतनमितरत् स्वकं च सर्वं च।
पश्यतस्तु ज्ञानं प्रत्यक्षमतीन्द्रियं भवति।।१६७।।

केवलबोधस्वरूपाख्यानमेतत्। षण्णां द्रव्याणां मध्ये मूर्तत्वं पुद्गलस्य पंचानाम् अमूर्तत्वम्; चेतनत्वं जीवस्यैवं पंचानामचेतनत्वम्। मूर्तामूर्तचेतनाचेतनस्वद्रव्यादिकमशेषं त्रिकालविषयम् अनवरतं पश्यतो भगवत: श्रीमदर्हत्परमेश्वरस्य क्रमकरणव्यवधानापोढं चातीन्द्रियं च सकलविमलकेवलज्ञानं सकलप्रत्यक्षं भवतीति।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे ह्न

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं।।८०।।[१]

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

चेतन-अचेतन मूर्त और अमूर्त सब जग जानता।
वह ज्ञान है प्रत्यक्ष अर उसको अतीन्द्रिय जानना।।१६७।।

मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन द्रव्यों को, स्व को, सभी को देखने-जाननेवालों का ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह केवलज्ञान के स्वरूप का व्याख्यान है। छह द्रव्यों में पुद्गल को मूर्तपना और शेष पाँच द्रव्यों को अमूर्तपना है तथा जीव को चेतनपना और शेष पाँच को अचेतनपना है। त्रिकालवर्ती मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन स्वद्रव्यादि समस्त द्रव्यों को निरन्तर देखने-जाननेवाले भगवान श्रीमद् अरहंत परमेश्वर का अतीन्द्रिय सकल विमल केवलज्ञान; क्रम, इन्द्रिय और व्यवधान रहित सकलप्रत्यक्ष है।''

इस गाथा और उसकी टीका में यह कहा गया है कि इन्द्रिय, क्रम और व्यवधान से रहित केवलज्ञान; मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन ह्न सभी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है; क्योंकि वह ज्ञान पूर्णत: निर्मल और अतीन्द्रिय है।।१६७।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथा प्रवचनसार में भी कहा गया है' ह्न** ऐसा लिखकर एक गाथा प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

१. प्रवचनसार, गाथा ५४

तथा हि ह्न

(मंदाक्रांता)

सम्यग्वर्ती त्रिभुवनगुरुः शाश्वतानन्तधामा
लोकालोकौ स्वपरमखिलं चेतनाचेतनं च।
तार्तीयं यन्नयनमपरं केवलज्ञानसंज्ञं
तेनैवायं विदितमहिमा तीर्थनाथो जिनेन्द्रः ।।२८३।।

(हरिगीत)

अमूर्त को अर मूर्त में भी अतीन्द्रिय प्रच्छन्न को।
स्व-पर को सर्वार्थ को जाने वही प्रत्यक्ष है।।८०।।

देखनेवाले आत्मा का जो ज्ञान अमूर्त को, मूर्त पदार्थों में भी अतीन्द्रिय पदार्थों को और प्रच्छन्न पदार्थों को तथा स्व और पर ह्न सभी को देखता है, जानता है; वह ज्ञान प्रत्यक्ष है।

उक्त गाथा और उसकी टीका का सार यह है कि **अतीन्द्रिय क्षायिक केवलज्ञान में स्व-पर और मूर्त-अमूर्त सभी पदार्थ अपनी सभी स्थूल-सूक्ष्म पर्यायों के साथ एक समय में जानने में आते हैं।।८०।।**

इसके बाद टीकाकार एक छन्द स्वयं प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

अनन्त शाश्वतधाम त्रिभुवनगुरु लोकालोक के।
रे स्व-पर चेतन-अचेतन सर्वार्थ जाने पूर्णतः।।
अरे केवलज्ञान जिनका तीसरा जो नेत्र है।
विदित महिमा उसी से वे तीर्थनाथ जिनेन्द्र हैं।।२८३।।

केवलज्ञानरूप तीसरे नेत्र से प्रसिद्ध महिमा धारक त्रैलोक्यगुरु हे तीर्थनाथ जिनेन्द्र ! आप अनन्त शाश्वतधाम हो और लोकालोक अर्थात् स्व-पर समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों को भलीभाँति जानते हो।

तीर्थंकर भगवान जिनेन्द्रदेव की महिमा के सूचक इस छन्द में यही कहा गया है कि हे जिनेन्द्र भगवान आप तीन लोक में रहनेवाले सभी भव्य आत्माओं के गुरु हो, अनन्त सुख के शाश्वत धाम हो और लोकालोक में रहनेवाले सभी चेतन-अचेतन पदार्थों को भलीभाँति जानते हो।।२८३।।

विगत गाथा में केवलज्ञान के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। अब इस गाथा में यह कहते हैं कि केवलदर्शन के अभाव में केवलज्ञान संभव नहीं है।

पुव्वुत्तसयलदव्वं णाणागुणपज्जएण संजुत्तं ।
जो ण य पेच्छइ सम्मं परोक्खदिट्ठी हवे तस्स ।।१६८।।

पूर्वोक्तसकलद्रव्यं नानागुणपर्यायेण संयुक्तम् ।
यो न पश्यति सम्यक् परोक्षदृष्टिर्भवेत्तस्य ।।१६८।।

अत्र केवलदृष्टेरभावात् सकलज्ञत्वं न समस्तीत्युक्तम् । पूर्वसूत्रोपात्तमूर्तादिद्रव्यं समस्तगुण-पर्यायात्मकं, मूर्तस्य मूर्तगुणाः, अचेतनस्याचेतनगुणाः, अमूर्तस्यामूर्तगुणाः, चेतनस्य चेतन-गुणाः, षड्ढानिवृद्धिरूपाः सूक्ष्माः परमागमप्रामाण्यादभ्युपगम्याः अर्थपर्यायाः षण्णां द्रव्याणां साधारणाः, नरनारकादिव्यंजनपर्याया जीवानां पंचसंसारप्रपंचानां, पुद्गलानां स्थूलस्थूलादि-स्कन्धपर्यायाः, चर्तुणां धर्मादीनां शुद्धपर्यायाश्चेति, एभिः संयुक्तं तद्द्रव्यजालं यः खलु न पश्यति, तस्य संसारिणामिव परोक्षदृष्टिरिति ।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

विविध गुण पर्याय युत वस्तु न जाने जीव जो ।
परोक्षदृष्टि जीव वे जिनवर कहें इस लोक में ।।१६८।।

अनेक प्रकार के गुणों और पर्यायों से सहित पूर्वोक्त समस्त द्रव्यों को जो भलीभाँति नहीं देखता; उसे परोक्ष दर्शन कहते हैं ।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ ऐसा कहा है कि केवलदर्शन (प्रत्यक्षदर्शन) के अभाव में सर्वज्ञपना संभव नहीं ।

पूर्वसूत्र अर्थात् १६७वीं गाथा में कहे गये समस्त गुणों और पर्यायों सहित मूर्तादि द्रव्यों को जो नहीं देखता; अर्थात् मूर्त द्रव्य के मूर्त गुण, अचेतन द्रव्य, अचेतन गुण, अमूर्त द्रव्य के अमूर्त गुण, चेतन द्रव्य के चेतन गुण; छह प्रकार की हानि-वृद्धिरूप सूक्ष्म, परमागम के अनुसार स्वीकार करने योग्य अर्थ पर्यायें जो कि सभी छह द्रव्यों में सामान्यरूप से रहती हैं, पाँच प्रकार की संसारी जीवों की नर-नारकादि व्यंजनपर्यायें; पुद्गलों की स्थूल-स्थूल आदि स्कंध पर्यायें और धर्मादि चार द्रव्यों की शुद्धपर्यायें ह्न इन गुण और पर्यायों से सहित द्रव्यसमूह को जो नहीं देखता; वह भले ही सर्वज्ञता के अभिमान से दग्ध हो; तथापि उसे संसारियों के समान परोक्ष दृष्टि ही है ।''

इस गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि केवलदर्शन के बिना केवलज्ञान नहीं होता। केवलदर्शन और केवलज्ञान ही क्रमशः प्रत्यक्षदर्शन और प्रत्यक्षज्ञान हैं। चक्षुदर्शन आदि अन्यदर्शन और मतिज्ञान आदि अन्य ज्ञान परोक्ष दर्शन-ज्ञान हैं।।१६८।।

(वसंततिलका)

यो नैव पश्यति जगत्त्रयमेकदैव
कालत्रयं च तरसा सकलज्ञमानी।
प्रत्यक्षदृष्टिरतुला न हि तस्य नित्यं
सर्वज्ञता कथमिहास्य जडात्मनः स्यात्।।२८४।।

लोयालोयं जाणइ अप्पाणं णेव केवली भगवं।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ।।१६९।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

'मैं स्वयं सर्वज्ञ हूँ' ह्न इस मान्यता से ग्रस्त जो।
पर नहीं देखे जगतत्रय त्रिकाल को इक समय में।।
प्रत्यक्षदर्शन है नहीं ज्ञानाभिमानी जीव को।
उस जड़ात्मन को जगत में सर्वज्ञता हो किसतरह? ।।२८४।।

सर्वज्ञता के अभिमानवाला जो जीव एक ही समय तीन लोक और तीन काल को नहीं देखता; उसे कभी भी अतुल प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता; उस जड़ आत्मा को सर्वज्ञता किसप्रकार होगी ? तात्पर्य यह है कि वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता।

इस छन्द में यही कहा गया है कि जो व्यक्ति स्वयं को सर्वज्ञ मानता है ह्न ऐसा सर्वज्ञाभिमानी जीव जब एक ही समय तीन लोक और तीन काल को नहीं देखता, नहीं जानता; तो वह सर्वज्ञ कैसे हो सकता है? **तात्पर्य यह है कि वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता; क्योंकि सर्वज्ञ कहते ही उसे हैं; जो लोक के सभी द्रव्यों, उनके सभी गुणों और उनकी सभी पर्यायों को बिना किसी के सहयोग देखे-जाने।।२८४।।**

विगत गाथा में यह कहा गया था कि केवलदर्शन के बिना केवलज्ञान संभव नहीं है और अब इस गाथा में व्यवहारनय संबंधी कथन को निर्दोष बता रहे हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

सब विश्व देखें केवली निज आत्मा देखें नहीं।
यदि कहे कोई इसतरह उसमें कहो है दोष क्या ?।।१६९।।

लोकालोकौ जानात्यात्मानं नैव केवली भगवान् ।
यदि कोऽपि भणति एवं तस्य च किं दूषणं भवति ।।१६९।।

व्यवहारनयप्रादुर्भावकथनमिदम् । सकलविमलकेवलज्ञानत्रितयलोचनो भगवान् अपुनर्भवकमनीयकामिनीजीवितेशः षड्द्रव्यसंकीर्णलोकत्रयं शुद्धाकाशमात्रालोकं च जानाति, पराश्रितो व्यवहार इति मानात् व्यवहारेण व्यवहारप्रधानत्वात्, निरुपरागशुद्धात्मस्वरूपं नैव जानाति, यदि व्यवहारनयविवक्षया कोपि जिननाथतत्त्वविचारलब्धः (दक्षः) कदाचिदेवं वक्ति चेत्, तस्य न खलु दूषणमिति ।

व्यवहारनय से केवली भगवान लोकालोक को जानते हैं, आत्मा को नहीं ह्न यदि कोई ऐसा कहे तो उसे क्या दोष है ? तात्पर्य यह है कि उसके उक्त कथन में कोई दोष नहीं है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह व्यवहारनय के प्रादुर्भाव का कथन है । 'व्यवहारनय पराश्रित है' ह्न ऐसे शास्त्र के अभिप्राय के कारण व्यवहारनय से, व्यवहारनय की प्रधानता से; सकलविमल केवलज्ञान है तीसरा नेत्र जिनका और अपुनर्भवरूपी कमनीय मुक्ति कामिनी के जीवितेश (प्राणनाथ) सर्वज्ञ भगवान, छह द्रव्यों से व्याप्त तीन लोक को और शुद्ध आकाशमात्र आलोक को जानते हैं और निर्विकार शुद्ध आत्मस्वरूप को नहीं जानते ह्न ऐसा यदि व्यवहारनय की विवक्षा से कोई जिनेन्द्र भगवान कथित तत्त्व में दक्ष जीव कदाचित् कहे तो उसे वस्तुतः उसे कोई दोष नहीं है ।''

१६६वीं गाथा में यह कहा था कि केवली भगवान निश्चयनय से आत्मा को जानते हैं, पर को नहीं ह्न यदि कोई व्यक्ति निश्चयनय की मुख्यता से ऐसा कथन करता है तो उसमें कोई दोष नहीं है। अब इस गाथा में ठीक उससे विरुद्ध कहा जा रहा है कि यदि कोई व्यक्ति व्यवहार नय की मुख्यता से यह कहता है कि व्यवहारनय से केवली भगवान मात्र पर को जानते हैं, लोकालोक को जानते हैं, आत्मा को नहीं तो उनका यह कथन भी पूर्णतः निर्दोष है।

यद्यपि निश्चय और व्यवहारनय की मुख्यता से किये दोनों कथन अपनी-अपनी दृष्टि से पूर्णतः सत्य हैं; तथापि प्रमाण की दृष्टि से केवली भगवान स्व और पर दोनों को एक साथ एक समय में देखते-जानते हैं ह्न यह कथन पूर्णतः सत्य है। जैनदर्शन की कथनपद्धति नहीं जानने से उक्त कथनों में अज्ञानीजनों को विरोध भासित होता है; पर स्याद्वाद शैली के विशेषज्ञों को इसमें कोई विरोध भासित नहीं होता।।१६९।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा स्वामी समन्तभद्र द्वारा भी कहा गया है'** ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः ह्न

(अपरवक्त्र)

स्थितिजननिरोधलक्षणं चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम् ।
इति जिन सकलज्ञलांछनं वचनमिदं वदतांवरस्य ते ।।८१।।[१]

तथा हि ह्न

(वसंततिलका)

जानाति लोकमखिलं खलु तीर्थनाथः
स्वात्मानमेकमनघं निजसौख्यनिष्ठम् ।
नो वेत्ति सोऽयमिति तं व्यवहारमार्गाद्
वक्तीति कोऽपि मुनिपो न च तस्य दोषः ।।२८५।।

(हरिगीत)

उत्पादव्ययध्रुवयुत जगत यह वचन हे वदताम्बरः ।
सर्वज्ञता का चिह्न है हे सर्वदर्शि जिनेश्वरः ।।८१।।

हे वक्ताओं में सर्वश्रेष्ठ मुनिसुव्रतनाथ भगवान ! 'जंगम और स्थावर यह चराचर जगत प्रतिक्षण उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणवाला है' ह्न ऐसा यह आपका वचन आपकी सर्वज्ञता का चिह्न है ।

आचार्य समन्तभद्र के उक्त छन्द में यह कहा गया है कि यह सम्पूर्ण जगत उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षणवाला है ह्न आपका यह कथन आपकी सर्वज्ञता का चिह्न है; क्योंकि सर्वज्ञ के अलावा कोई भी डंके की चोट यह बात नहीं कह सकता। सर्वज्ञ भगवान के प्रत्यक्ष ज्ञान में वस्तु का ऐसा स्वरूप आता है। क्षयोपशम ज्ञानवाले तो इसे सर्वज्ञ के वचनों के अनुसार लिखित आगम और अनुमान से ही यह जानते हैं। आगम और अनुमान प्रमाण परोक्षज्ञान हैं ।।८१।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

रे केवली भगवान जाने पूर्ण लोक-अलोक को ।
पर अनघ निजसुखलीन स्वातम को नहीं वे जानते ।।
यदि कोई मुनिवर यों कहे व्यवहार से इस लोक में ।
उन्हें कोई दोष न बोलो उन्हें क्या दोष है ।।२८५।।

---

१. बृहत्स्वयंभूस्तोत्र : भगवान मुनिसुव्रतनाथ की स्तुति, छन्द ११४

णाणं जीवसरूवं तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा।
अप्पाणं ण वि जाणदि अप्पादो होदि विदिरित्तं ।।१७०।।

ज्ञानं जीवस्वरूपं तस्माज्जानात्यात्मकं आत्मा।
आत्मानं नापि जानात्यात्मनो भवति व्यतिरिक्तम् ।।१७०।।

अत्र ज्ञानस्वरूपो जीव इति वितर्केणोक्त: । इह हि ज्ञानं तावज्जीवस्वरूपं भवति, ततो हेतोरखण्डाद्वैतस्वभावनिरतं निरतिशयपरमभावनासनाथं मुक्तिसुन्दरीनाथं बहिर्व्यावृत्तकौतूहलं निजपरमात्मानं जानाति कश्चिदात्मा भव्यजीव इति अयं खलु स्वभाववाद: । अस्य विपरीतो वितर्क: स खलु विभाववाद: प्राथमिकशिष्याभिप्राय: । कथमिति चेत्, पूर्वोक्तस्वरूपमात्मानं

'तीर्थंकर भगवान सर्वज्ञदेव निश्चयनय से सम्पूर्ण लोक को जानते हैं और वे पुण्य-पाप से रहित अनघ, निजसुख में लीन एक अपनी आत्मा को नहीं जानते' ह्न ऐसा कोई मुनिराज व्यवहारमार्ग से कहे तो उसमें उनका कोई दोष नहीं है।

उक्त छन्द में उसी बात को दुहराया गया है; जो गाथा और उसकी टीका में कही गई है। अत: उक्त छन्द में प्रतिपादित परम तत्त्व के संदर्भ में यहाँ कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है।।२८५।।

विगत गाथा में केवली भगवान के संदर्भ में व्यवहारनय के कथन को प्रस्तुत किया गया था। अब इस गाथा में 'जीव ज्ञानस्वरूप है' यह सिद्ध करते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

ज्ञान जीवस्वरूप इससे जानता है जीव को।
जीव से हो भिन्न वह यदि नहीं जाने जीव को ।।१७०।।

जीव का स्वरूप ज्ञान है, इसलिए आत्मा आत्मा को जानता है। यदि ज्ञान आत्मा को नहीं जाने तो वह आत्मा से भिन्न सिद्ध होगा।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''इस गाथा में 'जीव ज्ञानस्वरूप है' ह्न इस बात को तर्क की कसौटी पर कसकर सिद्ध किया गया है। प्रथम तो ज्ञान आत्मा का स्वरूप है; इसकारण जो अखण्ड-अद्वैत स्वभाव में लीन है, निरतिशय परम भावना से सनाथ है, मुक्ति सुन्दरी का नाथ है और बाह्य में जिसने कौतूहल का अभाव किया है; ऐसे निज परमात्मा को कोई भव्य आत्मा जानता है। वस्तुत: यह स्वभाववाद है। इसके विपरीत विचार (वितर्क) विभाववाद है, यह प्राथमिक शिष्य का अभिप्राय है।

खलु न जानात्यात्मा, स्वरूपावस्थित: संतिष्ठति। यथोष्ठस्वरूपस्याग्ने: स्वरूपमग्नि: किं जानाति, तथैव ज्ञानज्ञेयविकल्पाभावात् सोऽयमात्मात्मनि तिष्ठति। हंहो प्राथमिकशिष्य अग्नि वदयमात्मा किमचेतन:। किं बहुना। तमात्मानं ज्ञानं न जानाति चेद् देवदत्तरहितपरशुवत् इदं हि नार्थक्रियाकारि, अत एव आत्मन: सकाशाद् व्यतिरिक्तं भवति। तन्न खलु सम्मतं स्वभाववादिनामिति।

यदि कोई कहे कि यह विपरीत विचार (वितर्क) किसप्रकार है ? तो कहते हैं कि वह इसप्रकार है ह्न पूर्वोक्त ज्ञानस्वरूप आत्मा को आत्मा वस्तुत: जानता नहीं है, आत्मा तो मात्र स्वरूप में ही अवस्थित रहता है।

जिसप्रकार उष्णता स्वरूप में स्थित अग्नि को क्या अग्नि जानती है? नहीं जानती। उसीप्रकार ज्ञान-ज्ञेय संबंधी विकल्प के अभाव के कारण यह आत्मा तो मात्र आत्मा में स्थित रहता है, आत्मा को जानता नहीं है।

शिष्य के उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे प्राथमिक शिष्य ! क्या यह आत्मा अग्नि के समान अचेतन है ?

अधिक क्या कहें ? यदि उस आत्मा को ज्ञान नहीं जाने तो वह ज्ञान, देवदत्त रहित कुल्हाड़ी की भाँति अर्थक्रियाकारी[१] सिद्ध नहीं होगा; इसलिए वह ज्ञान, आत्मा से भिन्न सिद्ध होगा। यह बात अर्थात् ज्ञान और आत्मा की सर्वथा भिन्नता स्वभाववादियों को इष्ट (सम्मत) नहीं है। अत: यही सत्य है कि ज्ञान आत्मा को जानता है।''

इस गाथा और उसकी टीका में युक्ति के आधार से यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा ज्ञानस्वभावी है; अत: वह स्वयं को जानता है। प्राथमिक शिष्य का कहना यह है कि जिस प्रकार अग्नि अपने उष्णतारूप स्वभाव में अवस्थित तो रहती है, पर स्वयं को जानती नहीं है; उसीप्रकार यह आत्मा भी अपने ज्ञानस्वभाव में अवस्थित तो रहता है, पर स्वयं को जानता है। शिष्य को समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई ! आत्मा अग्नि के समान अचेतन नहीं है, आत्मा तो चेतन पदार्थ है। अत: यह अग्नि का उदाहरण घटित नहीं होता।

यहाँ तो कहते हैं कि जिसप्रकार कुल्हाड़ी रहित देवदत्त लकड़ी को काटने में समर्थ नहीं होता; क्योंकि वह कुल्हाड़ी से भिन्न है; उसीप्रकार स्वयं को जानने में असमर्थ आत्मा भी ज्ञान से भिन्न सिद्ध होगा। यह तो आप जानते ही हैं कि ज्ञान और आत्मा की सर्वथा भिन्नता स्याद्वादी जैनियों को स्वीकृत नहीं है। अत: यही सत्य है कि स्वभाव में अवस्थित आत्मा आत्मा को जानता है, ज्ञान आत्मा को जानता है।।१७०।।

---

१. प्रयोजनभूत क्रिया करने में समर्थ

तथा चोक्तं श्री गुणभद्रस्वामिभिः ह्न

(अनुष्टुभ्)

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः ।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम् ।।८२।।[१]

तथा हि ह्न

(मंदाक्रांता)

ज्ञानं तावद्भवति सुतरां शुद्धजीवस्वरूपं
स्वात्मात्मानं नियतमधुना तेन जानाति चैकम् ।
तच्च ज्ञानं स्फुटितसहजावस्थयात्मानमारात्
नो जानाति स्फुटमविचलाद्भिन्नमात्मस्वरूपात् ।।२८६।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथा गुणभद्रस्वामी द्वारा भी कहा गया है'** ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

ज्ञानस्वभावी आतमा स्वभावप्राप्ति है इष्ट ।
अतः मुमुक्षु जीव को ज्ञानभावना इष्ट ।।८२।।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है । स्वभाव की प्राप्ति अच्युति (अविनाशी दशा) है । अतः अच्युति को चाहनेवाले जीव को ज्ञान की भावना भानी चाहिए ।

उक्त छन्द का भाव यह है कि ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा को स्वभाव की प्राप्ति, अच्युति अर्थात् अविनाशी दशा है। उक्त अविनाशी दशा की प्राप्ति करने की भावना रखनेवालों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे सदा स्वभाव की प्राप्ति की भावना रखें ।।८२।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द स्वयं लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(रोला)

शुद्धजीव तो एकमात्र है ज्ञानस्वरूपी ।
अतः आतमा निश्चित जाने निज आतम को ।।
यदि साधक न जाने स्वातम को प्रत्यक्ष तो ।
ज्ञान सिद्ध हो भिन्न निजातम से हे भगवन् ।।२८६।।

ज्ञान तो शुद्धजीव का स्वरूप ही है । अतः हमारा आत्मा भी अभी साधक दशा में एक

---

१. आत्मानुशासन, छन्द १७४

तथा चोक्तम् ह्न

णाणं अव्विदिरित्तं जीवादो तेण अप्पगं मुणइ।
जदि अप्पगं ण जाणइ भिण्णं तं होदि जीवादो।।८३।।[१]

अप्पाणं विणु णाणं णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो।
तम्हा सपरपयासं णाणं तह दंसणं होदि।।१७१।।

अपने आत्मा को अवश्य जानता है। यदि यह ज्ञान प्रकट हुई सहज दशा द्वारा प्रत्यक्ष रूप से आत्मा को न जाने तो वह ज्ञान अविचल आत्मस्वरूप से भिन्न ही सिद्ध होगा।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि ज्ञान शुद्ध जीव का स्वरूप है। अत: यह आत्मा साधकदशा में स्वयं को अवश्य जानता है। यदि यह ज्ञान आत्मा को न जाने तो वह आत्मा से भिन्न सिद्ध होगा।।२८६।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथा कहा भी है'** ह्न ऐसा लिखकर एक गाथा उद्धृत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

ज्ञान अभिन है आत्म से अत: जाने निज आत्म।
भिन्न सिद्ध हो वह यदि न जाने निज आत्म।।८३।।

ज्ञान जीव से अभिन्न है; इसलिए आत्मा को जानता है। यदि ज्ञान आत्मा को न जाने तो वह आत्मा से भिन्न सिद्ध होगा।

इस गाथा में भी मात्र इतना ही कहा गया है कि **ज्ञान जीव से अभिन्न है; इसलिए वह अपने को जानता है। यदि वह ज्ञान आत्मा को न जाने तो वह ज्ञान आत्मा से भिन्न सिद्ध होगा।।८३।।**

विगत गाथा में ज्ञान को जीव का स्वरूप बताया गया है और अब इस गाथा में आत्मा और ज्ञान को अभेद बताया जा रहा है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

आत्मा है ज्ञान एवं ज्ञान आतम जानिये।
संदेह न बस इसलिए निजपरप्रकाशक ज्ञान दृग।।१७१।।

आत्मा को ज्ञान जानो और ज्ञान आत्मा है ह्न ऐसा जानो। इसमें संदेह नहीं है। इसलिए ज्ञान तथा दर्शन स्वपरप्रकाशक हैं।

---

१. गाथा कहाँ की है, इसका उल्लेख नहीं है।

आत्मानं विद्धि ज्ञानं ज्ञानं विद्ध्यात्मको न संदेहः ।
तस्मात्स्वपरप्रकाशं ज्ञानं तथा दर्शनं भवति ।।१७१।।

गुणगुणिनोः भेदाभावस्वरूपाख्यानमेतत् । सकलपरद्रव्यपराङ्मुखमात्मानं स्वस्वरूप-परिच्छित्तिसमर्थसहजज्ञानस्वरूपमिति हे शिष्य त्वं विद्धि जानीहि तथा विज्ञामात्मेति जानीहि । तत्त्वं स्वपरप्रकाशं ज्ञानदर्शनद्वितयमित्यत्र संदेहो नास्ति ।

(अनुष्टुभ्)

आत्मानं ज्ञानदृग्रूपं विद्धि दृग्ज्ञानमात्मकं ।
स्वं परं चेति यत्तत्त्वमात्मा द्योतयति स्फुटम् ।।२८७।।

जाणंतो पस्संतो ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो ।
केवलिणाणी तम्हा तेण दु सोऽबंधगो भणिदो ।।१७२।।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''सम्पूर्ण परद्रव्यों से पराङ्मुख, स्वस्वरूप जानने में समर्थ, सहज ज्ञानस्वरूप आत्मा को हे शिष्य ! तुम जानो और यह भी जानो कि आत्मा विज्ञानस्वरूप है । ज्ञान और दर्शन ह्न दोनों स्वप्रकाशक हैं । तत्त्व ऐसा ही है, इसमें संदेह नहीं है ।''

इस गाथा और उसकी टीका में मात्र यही स्पष्ट किया गया है कि **ज्ञान, दर्शन और आत्मा तीनों स्व-परप्रकाशक हैं।** तीनों अभेद-अखंड ही हैं । इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं है ।।१७१।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(सोरठा)

आतम दर्शन-ज्ञान दर्श-ज्ञान है आतमा ।
यह सिद्धान्त महान स्वपरप्रकाशे आतमा ।।२८७।।

आत्मा को ज्ञान-दर्शनरूप और ज्ञान-दर्शन को आत्मारूप जानो । स्व और पर ह्न ऐसे तत्त्वों को अर्थात् समस्त पदार्थों को आत्मा स्पष्टरूप से प्रकाशित करता है ।

इस छन्द में मात्र इतना ही कहा है कि आत्मा को ज्ञान-दर्शनरूप और ज्ञान-दर्शन को आत्मारूप जानो । तात्पर्य यह है कि **आत्मा तथा ज्ञान और दर्शन ह्न सब एक ही हैं। सभी स्वपरपदार्थों को यह आत्मा भलीभाँति प्रकाशित करता है ।।२८७।।**

विगत गाथा में ज्ञान और आत्मा में अभेद बताया था और अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि सर्वज्ञ-वीतरागी भगवान के इच्छा का अभाव है ।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

जानन् पश्यन्नीहापूर्वं न भवति केवलिनः।
केवलज्ञानी तस्मात् तेन तु सोऽबन्धको भणितः ।।१७२।।

सर्वज्ञवीतरागस्य वांछाभावत्वमत्रोक्तम्। भगवानर्हत्परमेष्ठी साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रिय-स्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतत्वात् विश्रमश्रान्तं जानन्नपि पश्यन्नपि वा मनःप्रवृत्तेरभावादीहापूर्वकं वर्तनं न भवति तस्य केवलिनः परमभट्टारकस्य, तस्मात् स भगवान् केवलज्ञानीति प्रसिद्धः, पुनस्तेन कारणेन स भगवान अबन्धक इति।

(हरिगीत)

जानते अर देखते इच्छा सहित वर्तन नहीं।
बस इसलिए हैं अबंधक अर केवली भगवान वे ।।१७२।।

जानते और देखते हुए भी केवली भगवान के इच्छापूर्वक वर्तन नहीं होता; इसलिए उन्हें केवलज्ञानी कहा है और इसीलिए उन्हें अबंध कहा गया है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ सर्वज्ञ-वीतरागी भगवान के इच्छा का अभाव होता है ह्न यह कहा गया है। भगवान अरहंत परमेष्ठी सादि-अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाव वाले, शुद्धसद्भूत व्यवहारनय से केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों के आधारभूत होने के कारण विश्व को निरन्तर जानते हुए भी और देखते हुए भी, उन परम भट्टारक केवली भगवान को मनप्रवृत्ति का अभाव होने से इच्छापूर्वक वर्तन नहीं होता, इसलिए वे भगवान केवलज्ञानीरूप से प्रसिद्ध हैं और उस कारण से वे भगवान अबन्धक हैं।''

इस गाथा और उसकी टीका में यह कहा गया है कि यद्यपि केवली भगवान शुद्धसद्भूत व्यवहारनय से अर्थात् अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय से सम्पूर्ण जगत को देखते-जानते हैं; तथापि उनके मन की प्रवृत्ति का अभाव होने से, भाव मन के अभाव होने से इच्छा का अभाव होता है, इच्छापूर्वक वर्तन नहीं होता है; यही कारण है कि सर्वज्ञरूप प्रसिद्ध उन केवली भगवान को बंध नहीं होता।

इच्छा के अभाव में भी उनके द्वारा जो योग का प्रवर्तन होता है, उसके कारण होनेवाले आस्रव और एक समय का प्रदेश बंध होता है; मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण उस बंध में स्थिति और अनुभाग नहीं पड़ने से एक समय में ही उसकी निर्जरा हो जाती है; इसलिए वे अबंधक ही हैं।।१७२।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथा प्रवचनसार में भी कहा गया है' ह्न** ऐसा लिखकर एक गाथा प्रस्तुत करते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

तथा चोक्तं श्रीप्रवचनसारे ह्न

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु ।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ।।८४।।[१]

तथा हि ह्न

(मंदाक्रांता)

जानन् सर्वं भुवनभवनाभ्यन्तरस्थं पदार्थं
पश्यन् तद्वत् सहजमहिमा देवदेवो जिनेशः ।
मोहाभावादपरमखिलं नैव गृह्णाति नित्यं
ज्ञानज्योतिर्हतमलकलिः सर्वलोकैकसाक्षी ।।२८८।।

(हरिगीत)

सर्वार्थ जाने जीव पर उनरूप न परिणमित हो ।
बस इसलिए है अबंधक ना ग्रहे ना उत्पन्न हो ।।८४।।

केवलज्ञानी आत्मा पदार्थों को जानता हुआ भी उनरूप परिणमित नहीं होता, उन्हें ग्रहण नहीं करता और उन पदार्थों के रूप में उत्पन्न भी नहीं होता; इसलिए उसे अबंधक कहा है ।

इस गाथा में यही बात कही गई है कि **सर्वज्ञ भगवान सबको जानते हुए भी जानने में आते हुए पदार्थोंरूप परिणमित नहीं होते, उन्हें ग्रहण नहीं करते और उन पदार्थों के रूप में उत्पन्न नहीं होते; इसलिए उन्हें अनन्त संसार बढानेवाला बंध भी नहीं होता ।।८४।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथाहि'** लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

सहज महिमावंत जिनवर लोक रूपी भवन में ।
थित सर्व अर्थों को अरे रे देखते अर जानते ।।
निर्मोहता से सभी को नित ग्रहण करते हैं नहीं ।
कलिमल रहित सद्ज्ञान से वे लोक के साक्षी रहें ।।२८८।।

सहज महिमावंत देवाधिदेव जिनेन्द्रदेव लोकरूपी भवन में स्थित सभी पदार्थों को जानते-देखते हुए भी, मोह के अभाव के कारण किसी भी पदार्थ को कभी भी ग्रहण नहीं करते; परन्तु ज्ञानज्योति द्वारा मलरूप क्लेश के नाशक वे जिनेन्द्रदेव सम्पूर्ण लोक के एकमात्र साक्षी हैं, केवल ज्ञाता-दृष्टा हैं ।

---

१. प्रवचनसार, गाथा ५२

परिणामपुव्ववयणं जीवस्स य बंधकारणं होइ।
परिणामरहियवयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो।।१७३।।
ईहापुव्वं वयणं जीवस्स य बंधकारणं होइ।
ईहारहियं वयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो।।१७४।।

परिणामपूर्ववचनं जीवस्य च बंधकारणं भवति।
परिणामरहितवचनं तस्माज्ज्ञानिनो न हि बंधः।।१७३।।
ईहापूर्वं वचनं जीवस्य च बंधकारणं भवति।
ईहारहितं वचनं तस्माज्ज्ञानिनो न हि बंधः।।१७४।।

इह हि ज्ञानिनो बंधाभावस्वरूपमुक्तम्। सम्यग्ज्ञानी जीवः क्वचित् कदाचिदपि स्वबुद्धि–

इस कलश में यही कहा गया है कि **सर्वज्ञ-वीतरागी जिनदेव जगत के सभी पदार्थों को देखते-जानते हैं; फिर भी मोह के अभाव में किसी भी परपदार्थ को ग्रहण नहीं करते। वे तो जगत के एकमात्र साक्षी हैं, सहज ज्ञाता-दृष्टा ही हैं।।२८८।।**

विगत गाथा में यह बताया गया था कि केवली भगवान के इच्छा का अभाव है और अब इन गाथाओं में यह बताया जा रहा है कि इच्छा का अभाव होने से उन्हें बंध नहीं होता।

गाथाओं का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

बंध कारण जीव के परिणामपूर्वक वचन हैं।
परिणाम विरहित वचन केवलिज्ञानियों को बंध न।।१७३।।
ईहापूर्वक वचन ही हों बंधकारण जीव को।
ईहा रहित हैं वचन केवलिज्ञानियों को बंध न।।१७४।।

परिणामपूर्वक होनेवाले वचन जीव के बंध के कारण हैं। केवलज्ञानी के परिणाम रहित वचन होता है; इसलिए उन्हें वस्तुतः बंध नहीं होता।

इच्छापूर्वक वचन जीव के बंध के कारण हैं। केवलज्ञानी को इच्छा रहित वचन होने से उन्हें वस्तुतः बंध नहीं है।

ये दोनों गाथायें लगभग एक समान ही हैं। इनमें परस्पर मात्र इतना ही अन्तर है कि प्रथम गाथा में प्राप्त परिणामपूर्वक वचन के स्थान पर दूसरी गाथा में ईहापूर्वक वचन कर दिया गया है। भाव दोनों का समान ही है।

इन गाथाओं के भाव को टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ वस्तुतः केवलज्ञानी को बंध नहीं होता ह्न यह कहा गया है। सम्यग्ज्ञानी अर्थात्

पूर्वकं वचनं न वक्ति स्वमन:परिणामपूर्वकमिति यावत्। कुत: ? अमनस्का: केवलिन: इति वचनात्। अत: कारणाज्जीवस्य मन:परिणतिपूर्वकं वचनं बंधकारणमित्यर्थ:, मन:परिणाम-पूर्वकं वचनं केवलिनो न भवति, ईहापूर्वं वचनमेव साभिलाषात्मकजीवस्य बंधकारणं भवति, केवलिमुखारविंदविनिर्गतो दिव्यध्वनिरनीहात्मक: समस्तजनहृदयाह्लादकारणं; तत: सम्य-ग्ज्ञानिनो बंधाभाव इति।

(मंदाक्रांता)

ईहापूर्वं वचनरचनारूपमत्रास्ति नैव
तस्मादेष: प्रकटमहिमा विश्वलोकैकभर्ता।
अस्मिन् बंध:कथमिव भवेद्रव्यभावात्मकोऽयं
मोहाभावान्न खलु निखिलं रागरोषादिजालम्।।२८९।।

केवलज्ञानी जीव कभी भी स्वबुद्धिपूर्वक अर्थात् स्वमनपरिणामपूर्वक वचन नहीं बोलते; क्योंकि केवली भगवान अमनस्क (मन रहित) होते हैं ह्न ऐसा शास्त्र का वचन है। इसलिए ऐसा समझना चाहिए कि जीवों के मनपरिणतिपूर्वक होनेवाले वचन बंध का कारण होते हैं ह्न ऐसा अर्थ है। केवली भगवान के मनपरिणतिपूर्वक वचन नहीं होते।

इसीप्रकार इच्छा सहित जीव को इच्छापूर्वक होनेवाले वचन भी बंध के कारण होते हैं। समस्त लोग हृदयकमल के आह्लाद के कारणभूत, केवली भगवान के मुखारबिन्द से निकली हुई दिव्यध्वनि तो इच्छा रहित है; अत: केवलज्ञानी को बंध नहीं होता।''

इन दोनों गाथाओं और उनकी टीका में मात्र इतना ही कहा गया है कि परिणामपूर्वक और इच्छापूर्वक वचन बंध के कारण होते हैं। केवलज्ञानी की दिव्यध्वनि परिणाम रहित और इच्छा रहित होने के कारण उन्हें बंध नहीं होता।।१७३-१७४।।

इन गाथाओं की टीका लिखने के उपरान्त टीकाकार मुनिराज तीन छन्द लिखते हैं, जिनमें से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

ईहापूर्वक वचनरचनारूप न बस इसलिए।
प्रकट महिमावंत जिन सब लोक के भरतार हैं।।
निर्मोहता से उन्हें पूरण राग-द्वेषाभाव है।
द्रव्य एवं भावमय कुछ बंध होगा किस तरह? ।।२८९।।

केवली भगवान के इच्छापूर्वक वचनों का अभाव होने से वे प्रगट महिमावंत हैं, समस्त लोक के एकमात्र नाथ हैं। मोह के अभाव के कारण समस्त राग-द्वेष के जाल का

(मंदाक्रांता)

एको देवस्त्रिभुवनगुरुर्नष्टकर्माष्टकार्धः
सद्बोधस्थं भुवनमखिलं तद्गतं वस्तुजालम्।
आरातीये भगवति जिने नैव बंधो न मोक्षः
तस्मिन् काचिन्न भवति पुनर्मूर्च्छना चेतना च।।२९०।।

न ह्येतस्मिन् भगवति जिने धर्मकर्मप्रपंचो
रागाभावाछदतुलमहिमा राजते वीतरागः।
एषः श्रीमान स्वसुखनिरतः सिद्धिसीमन्तिनीशो
ज्ञानज्योतिश्छुरितभुवनाभोगभागः समन्तात्।।२९१।।

अभाव होने से उन्हें द्रव्यबंध और भावबंध कैसे हो सकते हैं ? तात्पर्य यह है कि न तो मोह–राग–द्वेषरूप भावबंध होता है और न ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का बंध होता है।

उक्त छन्द में भी यही कहा गया है कि प्रकट महिमावंत, समस्त लोक के एकमात्र नाथ केवली भगवान के इच्छापूर्वक वचनों का अभाव है। मोह–राग–द्वेष के अभाव के कारण उन केवली भगवान को न तो द्रव्यबंध होता है और न भावबंध होता है।।२८९।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

अरे जिनके ज्ञान में सब अर्थ हों त्रयलोक के।
त्रयलोकगुरु चतुकर्मनाशक देव हैं त्रयलोक के।।
न बंध है न मोक्ष है न मूर्छा न चेतना।
वे नित्य निज सामान्य में ही पूर्णतः लवलीन हैं।।२९०।।

जिन्होंने चार घातिया कर्मों का नाश किया है, जो तीन लोक के गुरु हैं, समस्त लोक और उसमें स्थित पदार्थ समूह जिनके ज्ञान में स्थित हैं; वे जिनेन्द्र भगवान एक ही देव हैं, अन्य कोई नहीं। उन्हें न बंध है, न मोक्ष है, उनमें न तो कोई मूर्च्छा है, न चेतना; क्योंकि उनके द्रव्य सामान्य का आश्रय है।

उक्त छन्द में यह कहा गया है कि घातिकर्म के नाशक, समस्त पदार्थों के ज्ञायक, तीन लोक के गुरु हे जिनेन्द्र भगवान ! आप ही एकमात्र देव हैं। ऐसे देव को न तो बंध है, न मोक्ष है; उनमें न कोई मूर्च्छा है और न चेतना है; क्योंकि उनके तो द्रव्यसामान्य का ही आश्रय है।।२९०।।

तीसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

ठाणणिसेज्जविहारा ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो।
तम्हा ण होइ बंधो साक्खट्ठं मोहणीयस्स।।१७५।।

स्थाननिषण्णविहारा ईहापूर्वं न भवन्ति केवलिनः।
तस्मान्न भवति बंधः साक्षार्थं मोहनीयस्य।।१७५।।

केवलिभट्टारकस्यामनस्कत्वप्रद्योतनमेतत्। भगवतः परमार्हन्त्यलक्ष्मीविराजमानस्य

(हरिगीत)

धर्म एवं कर्म का परपंच न जिनदेव में।
रे रागद्वेषाभाव से वे अतुल महिमावंत हैं।।
वीतरागी शोभते श्रीमान् निज सुख लीन हैं।
मुक्तिरमणी कंत ज्ञानज्योति से हैं छा गये।।२९१।।

जिनेन्द्र भगवान में धर्म और कर्म का प्रपंच नहीं है। तात्पर्य यह है कि उनमें साधक दशा में होनेवाले शुद्धि-अशुद्धि के भेद-प्रभेद नहीं है। राग के अभाव के कारण वे जिनेन्द्र भगवान अतुल महिमावंत हैं और वीतरागभावरूप से विराजते हैं। वे श्रीमान् शोभावान भगवान निजसुख में लीन हैं, मुक्तिरमणी के नाथ हैं और ज्ञानज्योति द्वारा लोक के विस्तार में चारों ओर से पूर्णतः छा गये हैं।

इसप्रकार इस छन्द में यह कहा गया है कि **वीतरागी-सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान में न तो कर्म का प्रपंच है और न धर्म का विस्तार है; क्योंकि शुद्धि और अशुद्धि के भेदरूप धर्म और कर्म का विस्तार तो निचली भूमिका में होता है। अतुल महिमा के धारक जिनेन्द्र देव रागभाव के अभाव के कारण वीतरागभावरूप से विराजते हैं। वे वीतरागी भगवान निजसुख में लीन हैं और मुक्ति रमणी के नाथ हैं।।२९१।।**

विगत गाथाओं में ज्ञानी को बंध नहीं होता ह्न यह बताया है और अब इस गाथा में केवली भगवान के भावमन नहीं होता ह्न यह बतलाते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(हरिगीत)

खड़े रहना बैठना चलना न ईहापूर्वक।
बंधन नहीं अर मोहवश संसारी बंधन में पड़े।।१७५।।

केवली भगवान के खड़े रहना, बैठना और विहार करना इच्छापूर्वक नहीं होते; इसलिए उन्हें बंध नहीं होता। मोहनीयवश संसारी जीव को साक्षार्थ (इन्द्रिय विषय सहित) होने से बंध होता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''भट्टारक केवली भगवान के भावमन नहीं होता ह्न यहाँ यह बताया जा रहा है। अरहंत

केवलिन: परमवीतरागसर्वज्ञस्य ईहापूर्वकं न किमपि वर्तनम्; अत: स भगवान् न चेहते मन:प्रवृत्तेरभावात्; अमनस्का: केवलिन: इति वचनाद्वा न तिष्ठति नोपविशति न चेहापूर्वं श्रीविहारादिकं करोति। ततस्तस्य तीर्थकरपरम–देवस्य द्रव्यभावात्मकचतुर्विधबंधो न भवति। स च बंध: पुन: किमर्थं जात: कस्य संबंधश्च? मोहनीयकर्मविलासविजृम्भित:, अक्षार्थमि–न्द्रियार्थं तेन सह य: वर्तत इति साक्षार्थं मोहनीयस्य वशगतानां साक्षार्थप्रयोजनानां संसारिणामेव बंध इति।

तथा चोक्तं श्री प्रवचनसारे ह्न

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं।
अरहंताणं काले मायाचारो पव्व इत्थीणं।।८५।।[१]

भगवान के योग्य परमलक्ष्मी से विराजमान परम वीतराग सर्वज्ञदेव केवली भगवान का कुछ भी वर्तन इच्छापूर्वक नहीं होता। मनप्रवृत्ति के अभाव होने से वे कुछ भी नहीं चाहते। अथवा वे इच्छा पूर्वक खड़े नहीं रहते, बैठते भी नहीं हैं और न इच्छापूर्वक विहार ही करते हैं; क्योंकि 'अमनस्का: केवलिन: ह्न केवली भगवान मनरहित होते हैं' ह्न ये शास्त्र का वचन है। इसलिए उन तीर्थंकर परमदेव को द्रव्य–भावरूप चार प्रकार का बंध नहीं होता।

वह चार प्रकार का बंध क्यों होता है, किसे होता है ?

मोहनीय कर्म के विलास से वह बंध होता है तथा इन्द्रियों से सहित संसारी जीवों को मोहनीय के वश इन्द्रियविषयरूप प्रयोजन से वह बंध होता है।''

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि केवली भगवान के विहारादि इच्छापूर्वक नहीं होते; अत: उनको बंध भी नहीं होता। प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग ह्न **ये चार प्रकार के बंध मोहनीय कर्म के उदय से होनेवाले मोह-राग-द्वेष के कारण संसारी जीवों को होते हैं।।१७५।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'प्रवचनसार में कहा गया है' ह्न** ऐसा कहकर एक गाथा प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

यत्न बिन ज्यों नारियों में सहज मायाचार त्यों।
हो विहार उठना-बैठना अर दिव्यध्वनि अरहंत के।।८५।।

उन अरहंत भगवंतों के उस समय खड़े रहना, बैठना, विहार करना और धर्मोपदेश करना आदि क्रियायें स्त्रियों के मायाचार की भांति स्वाभाविक ही हैं, प्रयत्न बिना ही होती हैं।

---

१. प्रवचनसार, गाथा ४४

(शार्दूलविक्रीडित)

देवेन्द्रासन–कंपकारण–महत्कैवल्यबोधोदये
मुक्तिश्रीललनामुखाम्बुजरवेः सद्धर्मरक्षामणेः ।
सर्वं वर्तनमस्ति चेन्न च मनः सर्वं पुराणस्य तत्
सोऽयं नन्वपरिप्रमेयमहिमा पापाटवीपावकः ।।२९२।।

आउस्स खयेण पुणो णिण्णासो होइ सेसपयडीणं ।
पच्छा पावइ सिग्घं लोयग्गं समयमेत्तेण ।।१७६।।

प्रवचनसार की उक्त गाथा में भी यही कहा गया है कि जिसप्रकार **महिलाओं में मायाचार की बहुलता सहजभाव से पायी जाती है; उसीप्रकार केवली भगवान का खड़े रहना, उठना, बैठना और धर्मोपदेश देना आदि क्रियायें बिना प्रयत्न के सहज ही होती हैं ।।८५।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

इन्द्र आसन कंप कारण महत केवलज्ञानमय ।
शिवप्रियामुखपद्मरवि सद्धर्म के रक्षामणि ।।
सर्ववर्तन भले हो पर मन नहीं है सर्वथा ।
पापाटवीपावक जिनेश्वर अगम्य महिमावंत हैं ।।२९२।।

देवेन्द्रों के आसन कंपायमान होने के कारणभूत महान केवलज्ञान के उदय होने पर; जो मुक्तिलक्ष्मीरूपी ललना के मुखकमल के सूर्य और सद्धर्म के रक्षामणि पुराणपुरुष भगवान के भले ही सभी प्रकार का वर्तन हो; तथापि भावमन नहीं होता; इसलिए वे पुराणपुरुष अगम्य महिमावंत हैं एवं पापरूपी अटवी (भयंकर जंगल) को जलाने के लिए अग्नि के समान हैं ।

उक्त छन्द में भी केवली भगवान की स्तुति करते हुए यही कहा गया है कि **सच्चे धर्म की रक्षा करनेवाले केवलज्ञान के धनी अरहंत भगवान के उपदेशादि क्रियायें हों, पर उनके भावमन नहीं होता; अतः कर्मों का बंध नहीं होता ।।२९२।।**

विगत गाथा में यह बताया गया था कि केवली भगवान के खड़े रहना, बैठना, चलना आदि क्रियायें इच्छापूर्वक नहीं होतीं और अब इस गाथा में यह बताया जा रहा है कि आयु कर्म के साथ अन्य अघाति कर्मों का भी क्षय हो जाता है तथा केवली भगवान एक समय में सिद्धशिला पर विराजमान हो जाते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

आयुषः क्षयेण पुनः निर्नाशो भवति शेषप्रकृतीनाम् ।
पश्चात्प्राप्नोति शीघ्रं लोकाग्रं समयमात्रेण ।।१७६।।

शुद्धजीवस्य स्वभावगतिप्राप्त्युपायोपन्यासोऽयम् । स्वभावगतिक्रियापरिणतस्य षट्कापक्रमविहीनस्य भगवतः सिद्धक्षेत्राभिमुखस्य ध्यानध्येयध्यातृतत्फलप्राप्तिप्रयोजन-विकल्पशून्येन स्वस्वरूपाविचलस्थितिरूपेण परमशुक्लध्यानेन आयुःकर्मक्षये जाते वेदनीय-नामगोत्राभिधानशेषप्रकृतीनां निर्नाशो भवति । शुद्धनिश्चयनयेन स्वस्वरूपे सहजमहिम्नि लीनोऽपि व्यवहारेण स भगवान् क्षणार्धेन लोकाग्रं प्राप्नोतीति ।

(अनुष्टुभ्)

षट्कापक्रमयुक्तनां भविनां लक्षणात् पृथक् ।
सिद्धानां लक्षणं यस्मादूर्ध्वगास्ते सदा शिवाः ।।२९३।।

(हरिगीत)

फिर आयुक्षय से शेष प्रकृति नष्ट होती पूर्णतः ।
फिर शीघ्र ही इक समय में लोकाग्रथित हों केवली ।।१७६।।

फिर आयुकर्म के क्षय से शेष अघातिकर्मों की प्रकृतियों का भी क्षय हो जाता है और वे केवली भगवान शीघ्र समयमात्र में लोकाग्र में पहुँच जाते हैं ।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह शुद्धजीव को स्वभावगति की प्राप्ति होने के उपाय का कथन है । स्वभावगति-क्रियारूप से परिणत, छह अपक्रम से रहित, सिद्धक्षेत्र के सन्मुख अरहंत भगवान को; ध्यान-ध्येय-ध्याता संबंधी, ध्यान के फल प्राप्ति संबंधी तथा तत्संबंधी प्रयोजनसंबंधी विकल्पों से रहित एवं स्वस्वरूप में अविचल स्थितिरूप परमशुक्लध्यान द्वारा आयुकर्म के क्षय होने पर, वेदनीय, नाम और गोत्र नामक कर्म की प्रकृतियों का सम्पूर्ण नाश होता है ।

शुद्ध निश्चयनय से सहज महिमावान निज स्वरूप में लीन होने पर भी व्यवहारनय से वे अरहंत भगवान अर्ध क्षण में अर्थात् एक समय में लोकाग्र में पहुँच जाते हैं ।''

इस गाथा और उसकी टीका में यह कहा गया है कि अन्तिम शुक्ल ध्यान के प्रभाव से आयुकर्म के साथ ही नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म का भी नाश हो जाने से अरहंत परमात्मा एक समय में सिद्ध हो जाते हैं, सिद्धशिला में विराजमान हो जाते हैं ।।१७६।।

इसके बाद टीकाकार तीन छंद लिखते हैं; उनमें से पहले छंद का पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(दोहा)

छह अपक्रम से सहित हैं जो संसारी जीव ।
उनसे लक्षण भिन्न हैं सदा सुखी सिध जीव ।।२९३।।

(मंदाक्रांता)

बन्धच्छेदादतुलमहिमा देवविद्याधराणां
प्रत्यक्षोऽद्य स्तवनविषयो नैव सिद्धः प्रसिद्धः ।
लोकस्याग्रे व्यवहरणतः संस्थितो देवदेवः
स्वात्मन्युच्चैरविचलतया निश्चयेनैवमास्ते ।।२९४।।

(अनुष्टुभ्)

पंचसंसारनिर्मुक्तान् पंचसंसारमुक्तये ।
पंचसिद्धानहं वंदे पंचमोक्षफलप्रदान् ।।२९५।।

षट् अपक्रमों से रहित संसारी जीवों के लक्षण से सिद्धों का लक्षण भिन्न होता है। इसलिए वे सदाशिव अर्थात् सदासुखी सिद्धजीव ऊर्ध्वगामी होते हैं।

संसारी जीव अगले भव में जाते समय जो पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण और ऊपर-नीचे ह्न इन छह दिशाओं में गमन करते हैं; उसे छह अपक्रम कहते हैं। सिद्ध जीवों की गति ऊर्ध्व होने से छह अपक्रमों से रहित होती है। उक्त छह अपक्रमगति वाले संसारी जीवों से सिद्धों का लक्षण भिन्न है। यही कारण है कि वे ऊर्ध्वगामी और सदा शिवस्वरूप हैं।।२९३।।

(वीर)

देव और विद्याधरगण से नहीं वंद्य प्रत्यक्ष जहान।
बंध छेद से अतुलित महिमा धारक हैं जो सिद्ध महान।।
अरे लोक के अग्रभाग में स्थित हैं व्यवहार बखान।
रहें सदा अविचल अपने में यह है निश्चय का व्याख्यान।।२९४।।

कर्मबंध का छेदन हो जाने से अतुल महिमा के धारक सिद्ध भगवान सिद्धदशा प्राप्त होने पर देव और विद्याधरों के द्वारा प्रत्यक्ष स्तुति गान के विषय नहीं रहे हैं ह्न ऐसा प्रसिद्ध है; तथापि वे व्यवहार से लोकाग्र में स्थित हैं और निश्चय से निज आत्मा में अविचलरूप से रहते हैं।

अरहंत अवस्था में तो सौ इन्द्र उनके चरणों में नमते हैं, गणधरदेव आदि सभी मुनिराज भी उनकी आराधना करते हैं; किन्तु सिद्धदशा प्राप्त हो जाने पर यह सबकुछ नहीं होता; तथापि वे सिद्ध भगवान निज आत्मा में अविचलरूप से विराजमान रहकर अनन्तसुख का उपभोग करते हुए सिद्धशिला पर विराजमान रहते हैं।।२९४।।

(दोहा)

पंचपरावर्तन रहित पंच भवों से पार।
पंचसिद्ध बंदौ सदा पंचमोक्षदातार।।२९५।।

जाइजरमणरहियं परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं।
णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं।।१७७।।

जातिजरामरणरहितं परमं कर्माष्टवर्जितं शुद्धम्।
ज्ञानादिचतु:स्वभावं अक्षयमविनाशमच्छेद्यम्।।१७७।।

कारणपरमतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत्। निसर्गत: संसृतेरभावाज्जातिजरामरणरहितम्, परम-पारिणामिकभावेन परमस्वभावत्वात्परम्, त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपत्वात् कर्माष्टकवर्जितम्, द्रव्यभावकर्मरहितत्वाच्छुद्धम्, सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजचिच्छक्तिमयत्वा-ज्ज्ञानादिचतु:स्वभावम्, सादिसनिधनमूर्तेन्द्रियात्मकविजातीयविभावव्यंजनपर्यायवीत-

---

पाँच प्रकार के संसार से मुक्त होने के लिए, पाँच प्रकार के संसार से मुक्त, पाँच प्रकार के मोक्षरूपी फल को देनेवाले, पाँच प्रकार के सिद्धों की मैं वंदना करता हूँ।

उक्त छन्द का आशय यह है कि सिद्ध भगवान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पंचपरावर्तनरूप संसार से मुक्त हैं, उक्त पाँच प्रकार रूप संसार से मुक्त करने रूप फल को देनेवाले हैं; अत: उक्त पाँच प्रकार के संसार से मुक्त होने के लिए मैं उक्त पाँच प्रकार की उपलब्धि से युक्त सिद्धों की वंदना करता हूँ।।२९५।।

अब इस गाथा में कारणपरमतत्त्व का स्वरूप समझाते हैं।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

शुद्ध अक्षय करम विरहित जनम मरण जरा रहित।
ज्ञानादिमय अविनाशि चिन्मय आतमा अक्षेद्य है।।१७७।।

वह कारणपरमतत्त्व; जन्म-जरा-मरण और आठ कर्मों से रहित, परम, शुद्ध, अक्षय, अविनाशी, अच्छेद्य और ज्ञानादि चार स्वभाव वाला है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह कारणपरमतत्त्व के स्वरूप का निरूपण है। वह कारणपरमतत्त्व; स्वभाव से ही संसार का अभाव होने से जन्म-जरा-मरण रहित है; परमपारिणामिकभाव से परमस्वभाववाला होने से परम है; त्रिकाल निरुपाधि स्वरूप होने से आठ कर्मों से रहित है; द्रव्यकर्म और भावकर्मों से रहित होने से शुद्ध है; सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और सहज चित्शक्तिमय होने से ज्ञानादिक चार स्वभाव वाला है; सादि-सान्त, मूर्त इन्द्रियात्मक विजातीय विभाव व्यंजनपर्याय रहित होने से अक्षय है; प्रशस्त-अप्रशस्त गति के हेतुभूत

त्वादक्षयम्, प्रशस्ताप्रशस्तगतिहेतुभूतपुण्यपापकर्मद्वन्द्वाभावादविनाशम्, वधबन्धच्छेदयोग्य-मूर्तिमुक्तत्वादच्छेद्यमिति।

(मालिनी)

अविचलित-मखंड-ज्ञानमद्वन्द्वनिष्ठं
निखिल-दुरित-दुर्गव्रातदावाग्निरूपम्।
भज भजसि निजोत्थं दिव्यशर्मामृतं त्वं
सकलविमलबोधस्ते भवत्येव तस्मात्।।२९६।।

अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं।
पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालंबं।।१७८।।

अव्याबाधमतीन्द्रियमनुपमं पुण्यपापनिर्मुक्तम्।
पुनरागमनविरहितं नित्यमचलमनालंबम्।।१७८।।

पुण्य-पाप कर्मरूप द्वन्द का अभाव होने से अविनाशी है; तथा वध, बन्धन और छेदन के योग्य मूर्तिकपने से रहित होने के कारण अच्छेद्य है।''

उक्त गाथा में त्रिकाली ध्रुव कारणपरमतत्त्व के, कारणपरमात्मा के जो भी विशेषण दिये गये हैं; टीकाकार ने उन सभी को कारण सहित परिभाषित किया है। वे विशेषण टीका में पूरी तरह स्पष्ट हो गये हैं; अत: कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है।।१७७।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(वीर)

राग-द्वेष के द्वन्द्वों में जो नहीं रहे अघनाशक है।
अखिल पापवन के समूह को दावानल सम दाहक है।।
अविचल और अखण्ड ज्ञानमय दिव्य सुखामृत धारक है।
अरे भजो निज आतम को जो विमलबोध का दायक है।।२९६।।

अविचल, अखण्डज्ञानरूप, अद्वन्द्वनिष्ठ और सम्पूर्ण पाप के दुस्तर समूह को जलाने के लिए दावानल के समान स्वयं से उत्पन्न दिव्यसुख रूपी अमृतरूप भजने योग्य आत्मतत्त्व को भजो, आत्मतत्त्व का भजन करो; क्योंकि उससे ही तुम्हें सम्पूर्णत: निर्मल केवलज्ञान प्राप्त होगा।

उक्त छंद में अपने आत्मतत्त्व को भजने की प्रेरणा दी गई है।।२९६।।

जिस कारणपरमतत्त्व की चर्चा विगत गाथा में की गई थी, इस गाथा में भी उसी परमतत्त्व की बात कही जा रही है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

अत्रापि निरुपाधिस्वरूपलक्षणपरमात्मतत्त्वमुक्तम्। अखिलदुरघवीरवैरीवरूथिनीसंभ्रमागोचरसहजज्ञानदुर्गनिलयत्वादव्याबाधम्, सर्वात्मप्रदेशभरितचिदानन्दमयत्वादतीन्द्रियम्, त्रिषु तत्त्वेषु विशिष्टत्वादनौपम्यम्, संसृतिपुरंध्रिकासंभोगसंभवसुखदुःखाभावात्पुण्यपापनिर्मुक्तम्, पुनरागमनहेतुभूतप्रशस्ताप्रशस्तमोहरागद्वेषाभावात्पुनरागमनविरहितम्, नित्यमरणतद्भवमरकारणकलेवरसंबन्धाभावान्नित्यम्, निजगुणपर्यायप्रच्यवनाभावादचलम्, परद्रव्यावलम्बनाभावादनालम्बमिति।

(हरिगीत)

पुणपापविरहित नित्य अनुपम अचल अव्याबाध है।
अनालम्ब अतीन्द्रियी पुनरागमन से रहित है।।१७८।।

वह कारणपरमतत्त्व; अव्याबाध है, अतीन्द्रिय है, अनुपम है, पुण्य-पाप से रहित है, पुनरागमन से रहित है, नित्य है, अचल है और अनालंबी है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ भी निरुपाधिस्वरूप है लक्षण जिसका ह्न ऐसा परमात्मतत्त्व ही कहा जा रहा है। वह परमात्मतत्त्व; सम्पूर्ण पुण्य-पापरूप दुष्ट अघरूपी वीर शत्रुओं की सेना के उपद्रवों को अगोचर सहजज्ञानरूपी गढ में आवास होने के कारण अव्याबाध है; सर्व आत्मप्रदेशों में भरे हुए चिदानन्दमय होने से अतीन्द्रिय हैं; बहिरात्मतत्त्व, अन्तरात्मतत्त्व और परमात्वतत्त्व ह्न इन तीनों में विशिष्ट होने के कारण अनुपम है; संसाररूपी स्त्री के संभोग से उत्पन्न होनेवाले सुख-दुख का अभाव होने के कारण पुण्य-पाप से रहित है; पुनरागमन के हेतुभूत प्रशस्त-अप्रशस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होने के कारण पुनरागमन से रहित हैं; नित्यमरण (प्रतिसमय होनेवाले मरण) तथा उस भवसंबंधी मरण के कारणभूत शरीर के संबंध का अभाव होने के कारण नित्य है; निजगुणों और पर्यायों से च्युत न होने के कारण अचल है और परद्रव्य के अवलम्बन का अभाव होने के कारण अनालम्ब है।''

मूल गाथा में त्रिकाली ध्रुव आत्मा के जितने विशेषण दिये गये हैं; उन सभी की सहेतुक सार्थकता टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव ने स्पष्ट कर दी है; उसे यदि रुचिपूर्वक गंभीरता से पढें तो सब कुछ स्पष्ट हो जाता है। अत: उक्त टीका के भाव को गहराई से समझने का विनम्र अनुरोध है।

रही-सही कसर स्वामीजी ने पूरी कर दी है। ध्यान रहे स्वामीजी ने उक्त सभी विशेषणों को आत्मा के साथ-साथ सिद्धदशा पर भी गठित किया है। अत: अब कुछ कहने को शेष नहीं रह जाता। सच्चे आत्मार्थी को इतना ही पर्याप्त है।।१७८।।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः ह्न

(मंदाक्रांता)

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः ।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ।।८६।।[१]

तथा हि ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

भावाः पंच भवन्ति येषु सततं भावः परः पंचमः
स्थायी संसृतिनाशकारणमयं सम्यग्दृशां गोचरः ।
तं मुक्त्वाखिलरागरोषनिकरं बुद्ध्वा पुनर्बुद्धिमान्
एको भाति कलौ युगे मुनिपतिः पापाटवीपावकः ।।२९७।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा अमृतचन्द्र आचार्यदेव के द्वारा भी कहा गया है'** ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(हरिगीत)

अपदपद में मत्त नित अन्धे जगत के प्राणियो।
यह पद तुम्हारा पद नहीं निज जानकर क्यों सो रहे।।
जागो इधर आओ रहो नित मगन परमानन्द में।
हो परमपदमय तुम स्वयं तुम स्वयं हो चैतन्यमय।।८६।।

आचार्यदेव संसार में मग्न जीवों को संबोधित करते हुए कह रहे हैं कि हे जगत के अन्धे प्राणियो! अनादि संसार से लेकर आजतक पर्याय-पर्याय में ये रागी जीव सदा मत्त वर्तते हुए जिस पद में सो रहे हैं; वह पद अपद है, अपद है ह्न ऐसा तुम जानो।

हे भव्यजीवो ! तुम इस ओर आओ, इस ओर आओ; क्योंकि तुम्हारा पद यह है, यह है; जहाँ तुम्हारी शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु स्वयं के रस से भरी हुई है और स्थाईभावत्व को प्राप्त है, स्थिर है, अविनाशी है।

उक्त छन्द में तीन पद दो-दो बार आये हैं ह्न १. अपद है, अपद है; इधर आओ, इधर आओ; और शुद्ध है, शुद्ध है। इन पदों की पुनरावृत्ति मात्र छन्द के अनुरोध से नहीं हुई है; अपितु इस पुनरावृत्ति से कुछ विशेष भाव अभिप्रेत है।

---

१. समयसार : आत्मख्याति, छन्द १३८

णवि दुक्खं णवि सुक्खं णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा।
णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं।।१७९।।

इसमें शुद्ध है, शुद्ध है; पद की पुनरावृत्ति से द्रव्यशुद्धता और भावशुद्धता की ओर संकेत किया गया है। अपद है, अपद है और इधर आओ, इधर आओ पदों से अत्यधिक करुणाभाव सूचित होता है।।८६।।

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज **'तथा हि'** लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(वीर)

भाव पाँच हैं उनमें पंचम परमभाव सुखदायक है।
सम्यक् श्रद्धा धारकगोचर भवकारण का नाशक है।।
परमशरण है इस कलियुग में एकमात्र अघनाशक है।
इसे जान ध्यावें जो मुनि वे सघन पापवन पावक हैं।।२९७।।

भाव पाँच हैं; जिनमें संसार के नाश का कारण यह परम पंचमभावपरम-पारिणामिकभाव निरन्तर रहनेवाला स्थायी भाव है और सम्यग्दृष्टियों के दृष्टिगोचर है। समस्त राग-द्वेष को छोड़कर तथा उस परमपंचमभाव को जानकर जो मुनिवर उसका उग्र आश्रय करते हैं; वे मुनिवर ही इस कलियुग में अकेले पापरूपी भयंकर जंगल जलाने में, भस्म कर देने में समर्थ अग्नि के समान हैं।

इस छन्द में यह कहा गया है कि औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक ह्न इन पाँच भावों में परम-परिणामिकभाव नामक सदा स्थायी रहनेवाला सम्यग्दृष्टियों के गोचर पंचमभाव भव का अभाव करनेवाला है। **एकमात्र वे मुनिवर ही इस कलियुग में पापरूपी भयंकर जंगल को जलाने में, भस्म कर देने में अग्नि के समान हैं; जो समस्त राग-द्वेष छोड़कर, उस परम पंचमभाव को जानकर उस परमपारिणामिकभाव का उग्र आश्रय करते हैं; क्योंकि उक्त परमपरिणामिकभावरूप पंचमभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है, मुक्ति की प्राप्ति होती है।।२९७।।**

विगत गाथा में जिस परमतत्त्व का स्वरूप समझाया है; अब इस गाथा में यह कहते हैं कि निर्वाण का कारण होने से वह परमतत्त्व ही निर्वाण है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

न जनम है न मरण है सुख-दुख नहीं पीड़ा नहीं।
बाधा नहीं वह दशा ही निर्बाध है निर्वाण है।।१७९।।

नापि दु:खं नापि सौख्यं नापि पीडा नैव विद्यते बाधा।
नापि मरणं नापि जननं तत्रैव च भवति निर्वाणम्।।१७९।।

इह हि सांसारिकविकारनिकायाभावान्निर्वाणं भवतीत्युक्तम्। निरुपरागरत्नत्रययात्मक-परमात्मन: सततान्तर्मुखाकारपरमाध्यात्मस्वरूपनिरतस्य तस्य वाऽशुभपरिणतेभावान्न चाशुभकर्म अशुभकर्माभावान्न दु:खम्, शुभपरिणतेरभावान्न शुभकर्म शुभाकर्माभावान्न खलु संसारसुखम्, पीडायोग्ययातनाशरीराभावान्न पीडा, असातावेदनीयकर्माभावान्नैव विद्यते बाधा, पंचविधनोकर्माभावान्न मरणम्, पंचविधनोकर्महेतुभूतकर्मपुद्गलस्वीकाराभावान्ने जननम्। एवंलक्षणलक्षिताक्षुण्णविक्षेपविनिर्मुक्तपरमतत्त्वस्य सदा निर्वाणं भवतीति।

(मालिनी)

भवभवसुखदु:खं विद्यते नैव बाधा
जननमरणपीडा नास्ति पस्येह नित्यम्।
तमहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि
स्मरसुखविमुखस्सन् मुक्तिसौख्याय नित्यम्।।२९८।।

जहाँ अर्थात् जिस आत्मा में दुख नहीं है, सुख नहीं है, पीड़ा नहीं है, बाधा नहीं है, मरण नहीं है, जन्म नहीं है; वहाँ ही अर्थात् उस आत्मा में ही, वह आत्मा ही निर्वाण है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''सांसारिक विकार समूह के अभाव के कारण उक्त परमतत्त्व वस्तुत: निर्वाण है ह्न यहाँ ऐसा कहा गया है। निरन्तर अन्तर्मुखाकार परम अध्यात्मस्वरूप में निरत उस निरुपराग रत्नत्रयात्मक परमात्मा के अशुभ परिणति के अभाव के कारण अशुभ कर्म नहीं है और अशुभ कर्म के अभाव के कारण दुख नहीं है; शुभ परिणति के अभाव के कारण शुभकर्म नहीं है और शुभकर्म के अभाव के कारण वस्तुत: सांसारिक सुख नहीं है; पीड़ा योग्य यातना शरीर के अभाव के कारण पीड़ा नहीं है; असाता वेदनीय कर्म के अभाव के कारण बाधा नहीं है; पाँच प्रकार शरीररूप नोकर्म के अभाव के कारण मरण नहीं है और पाँच प्रकार के नोकर्म के हेतुभूत कर्म पुद्गल के स्वीकार के अभाव के कारण जन्म नहीं है। ह्न ऐसे लक्षणों से लक्षित, अखण्ड, विक्षेपरहित परमतत्त्व को सदा निर्वाण है।''

यहाँ मूल गाथा में मो मात्र यही कहा गया है कि परमतत्त्व में सांसारिक सुख-दु:ख, जन्म-मरण तथा पीड़ा और बाधा नहीं है। अन्तिम पद में कहा कि ऐसा आत्मा ही निर्वाण है; किन्तु टीका में उक्त परमतत्त्व के प्रत्येक विशेषण को सकारण समझाया गया है। अन्त में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उक्त विशेषणों से विशिष्ट परमतत्त्व ही निर्वाण है।

गाथा और टीका में परमतत्त्व की उक्त विशेषताओं में पूर्णत: स्पष्ट हो जाने के उपरान्त

(अनुष्टुभ्)

आत्माराधनया हीनः सापराध इति स्मृतः।
अहमात्मानमानन्दमंदिरं नौमि नित्यशः।।२९९।।

स्वामीजी उक्त सभी विशेषणों को उक्त परमतत्त्व के साथ-साथ निर्वाण पर भी घटित करते गये हैं।।१७९।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज दो छन्द लिखते हैं; जिनमें से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(वीर)

भव सुख-दुख अर जनम-मरण की पीड़ा नहीं रंच जिनके।
शत इन्द्रों से वंदित निर्मल अद्भुत चरण कमल जिनके।।
उन निर्बाध परम आतम को काम कामना को तजकर।
नमन करूँ स्तवन करूँ मैं सम्यक् भाव भाव भाकर।।२९८।।

इस लोक में जिसे सदा ही भव-भव के सुख-दुख नहीं हैं, बाधा नहीं है, जन्म-मरण व पीड़ा नहीं है; उस कारणपरमात्मा एवं कार्य-परमात्मा को कामसुख से विमुख वर्तता हुआ मुक्तिसुख की प्राप्ति हेतु नित्य नमन करता हूँ, उनका स्तवन करता हूँ और भलीभाँति भावना भाता हूँ।

इस छन्द में सांसारिक सुख-दुःख से रहित, जन्म-मरण की पीड़ा से रहित, सर्वप्रकार बाधा से रहित, कारणपरमात्मा एवं कार्यपरमात्मा की कामसुख से विमुख होकर वन्दना की गई है, उनका स्तवन करने की भावना भाई गई है।।२९८।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

आत्मसाधना से रहित है अपराधी जीव।
नमूँ परम आनन्दघर आतमराम सदीव।।२९९।।

आत्मा की आराधना से रहित आत्मा को अपराधी माना गया है; इसलिए मैं आनन्द के मन्दिर आत्मा को नित्य नमन करता हूँ।

इस छन्द में भी आत्मा की आराधना से रहित जीवों को अपराधी बताते हुए ज्ञानानन्दमयी भगवान आत्मा और अरहंत-सिद्धरूप कार्य-परमात्मा को नमस्कार किया गया है।।२९९।।

विगत गाथा में जिस परमतत्त्व को निर्वाण बताया गया है। इस गाथा में भी उस निर्वाण के योग्य परमतत्त्व का स्वरूप समझाया जा रहा है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

णवि इंदिय उवसग्गा णवि मोहो विम्हिओ ण णिद्दा य।
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाणं।।१८०।।

नापि इन्द्रिया: उपसर्गा: नापि मोहो विस्मयो न निद्रा च।
न च तृष्णा नैव क्षुधा तत्रैव च भवति निर्वाणम्।।१८०।।

परमनिर्वाणयोग्यपरमतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत्। अखंडैकप्रदेशज्ञानस्वरूपत्वात् स्पर्शन-रसनघ्राणचक्षु:श्रोत्राभिधानपंचेन्द्रियव्यापार: देवमानवतिर्यगचेतनोपसर्गाश्च न भवन्ति, क्षायिकज्ञानयथाख्यातचारित्रमयत्वान्न दर्शनचारित्रभेदविभिन्नमोहनीयद्वितयमपि, बाह्य-प्रपंचविमुखत्वान्न विस्मय:, नित्योन्मीलितशुद्धज्ञानस्वरूपत्वान्न निद्रा, असातावेदनीयकर्म-निर्मूलनान्न क्षुधा तृषा च। तत्र परमब्रह्मणि नित्यं ब्रह्म भवतीति।

(हरिगीत)

इन्द्रियाँ उपसर्ग एवं मोह विस्मय भी नहीं।
निद्रा तृषा अर क्षुधा बाधा है नहीं निर्वाण में।।१८०।।

जहाँ इन्द्रियाँ नहीं हैं, उपसर्ग नहीं हैं, मोह नहीं है, विस्मय नहीं है, निद्रा नहीं है, तृषा नहीं है, क्षुधा नहीं है; वही निर्वाण है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह परम निर्वाण के योग्य परमतत्त्व के स्वरूप का कथन है। उक्त परमतत्त्व अखण्ड, एकप्रदेशी, ज्ञानस्वरूप होने से उसे स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण नामक पाँच इन्द्रियों का व्यापार नहीं है; देव, मानव, तिर्यंच और अचेतन कृत उपसर्ग नहीं है; क्षायिक ज्ञान और यथाख्यात चारित्रमय होने के कारण दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के भेद से दो प्रकार का मोहनीय नहीं है; बाह्यप्रपंच से विमुख होने के कारण विस्मय नहीं है, नित्य प्रगटरूप शुद्धज्ञानस्वरूप होने से उसे निद्रा नहीं है; असाता वेदनीय कर्म को निर्मूल कर देने से उसे क्षुधा और तृषा नहीं है; उस परमात्मतत्त्व में सदा ब्रह्म (निर्वाण) है।''

इस गाथा और उसकी टीका में भी विगत गाथा और उसकी टीका के समान गाथा में तो मात्र इतना ही कहा है कि उक्त परमतत्त्व में इन्द्रियाँ नहीं हैं, उपसर्ग नहीं है, मोह नहीं है, विस्मय, निद्रा, क्षुधा-तृषा नहीं है; अत: वही निर्वाण है; किन्तु टीका में उक्त विशेषणों को सहेतुक सिद्ध किया गया है।।१८०।।

इसके बाद **'तथा अमृताशीति में भी कहा है'** ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

तथा चोक्तममृताशीतौ ह्न

(मालिनी)

ज्वरजननजराणां वेदना यत्र नास्ति
परिभवति न मृत्युर्नागतिर्नो गतिर्वा ।
तदतिविशदचित्तैर्लभ्यतेऽङ्गेऽपि तत्त्वं,
गुणगुरुगुरुपादाम्भोजसेवाप्रसादात् ।।८७।।[१]

तथा हि ह्न

(मंदाक्रांता)

यस्मिन् ब्रह्मण्यनुपमगुणालंकृते निर्विकल्पे–
ऽक्षानामुच्चैर्विविधविषमं वर्तनं नैव किंचित् ।
नैवान्ये वा भविगुणगणाः संसृतेर्मूलभूताः
तस्मिन्नित्यं निजसुखमयं भाति निर्वाणमेकम् ।।३००।।

(रोला)

जनम जरा ज्वर मृत्यु भी है पास न जिसके ।
गती–अगति भी नाहिं है उस परमतत्त्व को ।।
गुरुचरणों की सेवा से निर्मल चित्तवाले ।
तन में रहकर भी अपने में पा लेते हैं ।।८७।।

जिस परमतत्त्व में ज्वर, जन्म और जरा (बुढापा) की वेदना नहीं है; मृत्यु नहीं है और गति–अगति नहीं है; उस परमतत्त्व को अत्यन्त निर्मल चित्तवाले पुरुष, शरीर में स्थित होने पर भी गुण में बड़े ह्न ऐसे गुरु के चरण कमल की सेवा के प्रसाद से अनुभव करते हैं ।

इस छन्द में ज्वर, जरा, जन्म और मरण की वेदना से रहित, गति–आगति से रहित निज भगवान आत्मारूप परमतत्त्व को तन में स्थित होने पर भी निर्मल चित्तवाले पुरुष गुणों से महान गुरु के चरणों की सेवा के प्रसाद से प्राप्त कर लेते हैं । **तात्पर्य यह है कि देशनालब्धिपूर्वक सम्यक् पुरुषार्थ के बल से आत्मार्थी पुरुष निज आत्मा को प्राप्त कर लेते हैं ।।८७।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथा हि'** लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

---

१. योगीन्द्रदेवकृत अमृताशीति, छन्द ५८

णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि।
णवि धम्मसुक्कझाणे तत्थेव य होइ णिव्वाणं।।१८१।।

नापि कर्म नोकर्म नापि चिन्ता नैवार्तरौद्रे।
नापि धर्मशुक्लध्याने तत्रैव च भवति निर्वाणम्।।१८१।।

सकलकर्मविनिर्मुक्तशुभाशुभशुद्धध्यानध्येयविकल्पविनिर्मुक्तपरमतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत्। सदा निरंजनत्वान्न द्रव्यकर्माष्टकं, त्रिकालनिरुपराधिस्वरूपत्वान्न नोकर्मपंचकं च, अमन–

(रोला)

अनुपम गुण से शोभित निर्विकल्प आतम में।
अक्षविषमवर्तन तो किंचित्मात्र नहीं है।।
भवकारक गुणमोह आदि भी जिसमें न हों।
उसमें निजगुणरूप एक निर्वाण सदा है।।३००।।

अनुपम गुणों से अलंकृत और निर्विकल्प ब्रह्म में इन्द्रियों का अति विविध और विषम वर्तन किंचित् मात्र भी नहीं है तथा संसार के मूलभूत अन्य मोह–विस्मयादि सांसारिक गुण समूह नहीं है; उस ब्रह्म में सदा निज सुखमय एक निर्वाण शोभायमान है।

इस छन्द में यह कहा गया है कि इन्द्रियों के विविध प्रकार के विषम वर्तन से रहित, अनुपम गुणों से अलंकृत, संसार के मूल (जड़) मोह–राग–द्वेषादि सांसारिक गुणों (दोषों) से रहित निज निर्विकल्पक आत्मा में निर्वाण (मुक्ति) सदा विद्यमान ही है।।३००।।

विगत दो गाथाओं में परमपारिणामिकभावरूप परमतत्त्व ही निर्वाण है ह्न यह कहा गया है। इस गाथा में भी उसी बात को आगे बढा रहे हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

कर्म अर नोकर्म चिन्ता आर्त्त रौद्र नहीं जहाँ।
ध्यान धरम शुकल नहीं निर्वाण जानो है वहाँ।।१८१।।

जहाँ कर्म और नोकर्म नहीं हैं, चिन्ता नहीं है, आर्त और रौद्र ध्यान नहीं है तथा धर्म और शुक्लध्यान भी नहीं है; वहाँ निर्वाण है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह सर्व कर्मों से विमुक्त तथा शुभ, अशुभ और शुद्धध्यान तथा ध्येय के विकल्पों से मुक्त परमतत्त्व के स्वरूप का व्याख्यान है। जहाँ (जिस परमतत्त्व में) सदा निरंजन होने से आठ द्रव्यकर्म नहीं हैं; त्रिकाल निरुपाधि स्वभाववाला होने से पाँच प्रकार के नोकर्म

स्कत्वान्न चिंता, औदयिकादिविभावभावानामभावादार्तरौद्रध्याने न स्तः, धर्मशुक्लध्यानयोग्य चरमशरीराभावात्तद्द्वितयमपि न भवति। तत्रैव च महानंद इति।

(मंदाक्रांता)

निर्वाणस्थे प्रहतदुरितध्वान्तसंघे विशुद्धे
कर्माशेषं न च नच पुनर्ध्यानकं तच्चतुष्कम्।
तस्मिन्सिद्धे भगवति परंब्रह्मणि ज्ञानपुंजे
काचिन्मुक्तिर्भवति वचसां मानसानां च दूरम्।।३०१।।

(शरीर) नहीं हैं; मन रहित होने के कारण चिन्ता नहीं है; औदयिकादि विभाव भावों का अभाव होने से आर्त और रौद्र ध्यान नहीं है तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान के योग्य चरम शरीर न होने से ये दोनों उत्कृष्ट ध्यान भी नहीं है; वहाँ ही महानंद है।''

उक्त गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि उक्त परमतत्त्व में; सदा निरंजन होने से ज्ञानावरणादि आठ कर्म नहीं हैं, त्रिकाल निरुपाधि स्वभाववाला होने से औदारिकरूप पाँच शरीररूप नोकर्म नहीं है, औदयिक आदि विभावभावों का अभाव होने से चार प्रकार के आर्त और चार के प्रकार के रौद्रध्यान नहीं हैं, चरम शरीर का अभाव होने से चरम शरीरी के होने वाले चार धर्मध्यान और चार शुक्लध्यान नहीं हैं तथा मन नहीं होने से चिन्ता भी नहीं है।

इसप्रकार महानन्दस्वरूप उक्त परमतत्त्व के न तो कर्म हैं, न नोकर्म हैं, न चिन्ता है, न आर्त-रौद्रध्यान है तथा धर्म और शुक्लध्यान भी नहीं है। इसप्रकार हम देखते हैं कि आश्रय करने योग्य वह परमतत्त्व ही है।।१८१।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

जिसने घाता पापतिमिर उस शुद्धातम में।
कर्म नहीं हैं और ध्यान भी चार नहीं हैं।।
निर्वाण स्थित शुद्ध तत्त्व में मुक्ति है वह।
मन-वाणी से पार सदा शोभित होती है।।३०१।।

जिसने पापरूपी अंधकार के समूह का नाश किया है, जो विशुद्ध है; उस निर्वाण में स्थित परम ब्रह्म में सम्पूर्ण कर्म नहीं है और चार प्रकार के ध्यान भी नहीं हैं। उन सिद्धरूप ज्ञानपुंज भगवान परम ब्रह्म में कोई ऐसी मुक्ति है, जो वचन और मन से दूर है।

विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं।
केवलदिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ।।१८२।।

विद्यते केवलज्ञानं केवलसौख्यं च केवलं वीर्यम्।
केवलदृष्टिरमूर्तत्वमस्तित्वं सप्रदेशत्वम् ।।१८२।।

भगवत: सिद्धस्य स्वभावगुणस्वरूपाख्यानमेतत्।

निरवशेषेणान्तर्मुखाकारस्वात्माश्रयनिश्चयपरमशुक्लध्यानबलेन ज्ञानावरणाद्यष्टविध-कर्मविलये जाते ततो भगवत: सिद्धपरमेष्ठिन: केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलवीर्यकेवलसौख्य-मूर्तत्वास्तित्वसप्रदेशत्वादिस्वभावगुणा भवन्ति इति।

जो बात गाथा और उसकी टीका में कही गई है, वही बात इस छन्द में भी कही गई है। कहा गया है कि पापरूपी अंधकार का नाश करनेवाले, निर्वाणदशा को प्राप्त, विशुद्ध परमब्रह्म में ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्म नहीं है; चार प्रकार के ध्यान भी नहीं हैं। उन सिद्धदशा को प्राप्त, ज्ञान के पुंज परमब्रह्म में मन-वचन से दूर कोई ऐसी मुक्ति प्रगट हुई है; जिसकी कामना सभी आत्मार्थी मुमुक्षु भाई-बहिन करते हैं।।३०१।।

विगत गाथाओं में यह कहा था कि परमतत्त्व ही निर्वाण है और अब इस गाथा में उक्त निर्वाण अर्थात् सिद्ध भगवान के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(हरिगीत)

अरे केवलज्ञानदर्शन नंतवीरजसुख जहाँ।
अमूर्तिक अर बहुप्रदेशी अस्तिमय आतम वहाँ।।१८२।।

सिद्ध भगवान के केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवल वीर्य तथा अमूर्तत्व, अस्तित्व और सप्रदेशत्व होते हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह सिद्ध भगवान के स्वभावगुणों के स्वरूप का कथन है। सम्पूर्णत: अन्तर्मुखाकार स्वात्माश्रित निश्चयपरमशुक्लध्यान के बल से ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का विलय होने पर; उक्त कारण से सिद्ध भगवान के केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलवीर्य और अमूर्तत्व, अस्तित्व तथा सप्रदेशत्व आदि स्वभावगुण होते हैं।''

इस गाथा में सिद्ध भगवान के अनन्त चतुष्टय और अमूर्तत्व, अस्तित्व और सप्रदेशत्व की चर्चा है। टीका में यह भी स्पष्ट किया गया है कि इन गुणों की प्राप्ति निश्चय परम शुक्लध्यान के बल से होती है।।१८२।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

बन्धच्छेदाद्भगवति पुनर्नित्यशुद्धे प्रसिद्धे
तस्मिन्सिद्धे भवति नितरां केवलज्ञानमेतत् ।
दृष्टिः साक्षादखिलविषया सौख्यमात्यंतिकं च
शक्त्याद्यन्यद्गुणमणिगणं शुद्धशुद्धश्च नित्यम् ।।३०२।।

णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा ।
कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्गपज्जंतं ।।१८३।।

निर्वाणमेव सिद्धाः सिद्धाः निर्वाणमिति समुद्दिष्टाः ।
कर्मविमुक्त आत्मा गच्छति लोकाग्रपर्यन्तम् ।।१८३।।

सिद्धिसिद्धयोरेकत्वप्रतिपादनपरायणमेतत् ।

(रोला)

बंध-छेद से नित्य शुद्ध प्रसिद्ध सिद्ध में ।
ज्ञानवीर्यसुखदर्शन सब क्षायिक होते हैं ।।
गुणमणियों के रत्नाकर नित शुद्ध शुद्ध हैं ।
सब विषयों के ज्ञायक दर्शक शुद्ध सिद्ध हैं ।।३०२।।

त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा और नित्य शुद्ध प्रसिद्ध सिद्धपरमेष्ठी में बंधछेद के कारण सदा के लिए केवलज्ञान होता है, सभी को देखनेवाला केवलदर्शन होता है, अनन्तसुख होता है और शुद्ध-शुद्ध अनन्तवीर्य आदिक अनन्त गुणमणियों समूह होता है ।

जो बात गाथा में कही गई है, उसी बात को इस छन्द में दुहरा दिया गया है ।।३०२।।

विगत गाथा में सिद्ध भगवान का स्वरूप समझाया था और अब इस गाथा में यह कह रहे हैं कि निर्वाण ही सिद्धत्व है और सिद्धत्व ही निर्वाण है । गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार हैह्न

(हरिगीत)

निर्वाण ही सिद्धत्व है सिद्धत्व ही निर्वाण है ।
लोकाग्र तक जाता कहा है कर्मविरहित आतमा ।।१८३।।

निर्वाण ही सिद्ध है और सिद्ध ही निर्वाण है ह्न ऐसा शास्त्रों में कहा गया है । कर्म से मुक्त आत्मा लोकाग्र पर्यन्त अर्थात् सिद्धशिला तक जाता है ।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह सिद्धि और सिद्ध के एकत्व के प्रतिपादन की प्रवीणता है ।

निर्वाणशब्दोऽत्र द्विष्ठो भवति। कथमिति चेत्, निर्वाणमेव सिद्धा इति वचनात्। सिद्धाः सिद्धक्षेत्रे तिष्ठंतीति व्यवहारः, निश्चयतो भगवंतः स्वस्वरूपे तिष्ठंति। ततो हेतोर्निर्वाणमेव सिद्धाः सिद्धा निर्वाणम् इत्यनेन क्रमेण निर्वाणशब्दसिद्धशब्दयोरेकत्वं सफलं जातम्।

अपि च यः कश्चिदासन्नभव्यजीवः परमगुरुप्रसादासादितपरमभावभावनया सकल कर्मकलंकपंकविमुक्तः स परमात्मा भूत्वा लोकाग्रपर्यन्तं गच्छतीति।

(मालिनी)

अथ जिनमतमुक्तेर्मुक्तजीवस्य भेदं
क्वचिदपि न च विद्मो युक्तितश्चागमाच्च।
यदि पुनरिह भव्यः कर्म निर्मूल्य सर्वं
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ।।३०३।।

यहाँ निर्वाण शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है। यदि कोई कहे कि किसप्रकार तो उसके उत्तर में कहते हैं कि 'निर्वाणमेव सिद्धा ह्न निर्वाण ही सिद्ध हैं' ह्न इस आगम के वचन से यह बात सिद्ध होती है। 'सिद्ध भगवान सिद्धक्षेत्र में रहते हैं' ह्न ऐसा व्यवहार है। निश्चय से तो सिद्ध भगवान निज स्वरूप में ही रहते हैं; इसकारण 'निर्वाण ही सिद्ध है और सिद्ध ही निर्वाण है' ह्न इसप्रकार निर्वाण शब्द और सिद्ध शब्द में एकत्व सिद्ध हुआ।

दूसरी बात यह है कि कोई आसन्न भव्य जीव परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त परमभाव की भावना द्वारा सम्पूर्ण कर्मकलंकरूपी कीचड़ से मुक्त होते हैं; वे आसन्नभव्यजीव परमात्मतत्त्व प्राप्त कर लोक के अग्र भाग तक जाते हैं, सिद्धशिला तक पहुँचकर अनन्त काल तक के लिए वहीं ठहर जाते हैं।''

इस गाथा में निर्वाण ही सिद्धत्व है और सिद्धत्व ही निर्वाण है ह्न यह निर्वाण और सिद्धत्व में एकत्व स्थापित किया गया है। गाथा की दूसरी पंक्ति में यह कहा गया है कि आत्मा की आराधना करनेवाले पुरुष अष्टकर्मों का अभाव करके लोकाग्र में जाकर ठहर जाते हैं, अनन्त काल तक के लिए वहीं विराजमान हो जाते हैं।।१८३।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार हैह्न

(रोला)

जिनमत संमत मुक्ति एवं मुक्तजीव में।
हम युक्ति आगम से कोई भेद न जाने।।
यदि कोई भवि सब कर्मों का क्षय करता है।
तो वह परमकामिनी का वल्लभ होता है।।३०३।।

जैनदर्शन में मुक्ति और मुक्त जीव में युक्ति और आगम से हम कहीं भी कोई भेद नहीं

जीवाण पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी।
धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति।।१८४।।

जीवानां पुद्गलानां गमनं जानीहि यावद्धर्मास्तिकः।
धर्मास्तिकायाभावे तस्मात्परतो न गच्छंति।।१८४।।

अत्र सिद्धक्षेत्रादुपरि जीवपुद्गलानां गमनं निषिद्धम्। जीवानां स्वभावक्रिया सिद्धिगमनं, विभावक्रिया षट्कापक्रमयुक्तत्वं, पुद्गलानां स्वभावक्रिया परमाणुगतिः, विभावक्रिया द्व्यणुकादिस्कन्धगतिः। अतोऽमीषां त्रिलोकशिखरादुपरि गतिक्रिया नास्ति, परतो गतिहेतो–र्धर्मास्तिकायाभावात्; यथा जलाभावे मत्स्यानां गतिक्रिया नास्ति। अत एव यावद्धर्मास्ति–

देखते। इस लोक में यदि कोई भव्य जीव सर्व कर्मों का निर्मूलन करता है तो भव्यजीव मुक्तिलक्ष्मीरूपी वल्लभा का वल्लभ होता है।

इस छन्द में यह कहा गया है कि मुक्ति और मुक्त जीव में हमें कोई अन्तर दिखाई नहीं देता। तात्पर्य यह है कि ये दोनों एक ही हैं। जो भव्यजीव अष्टकर्मों का नाश करते हैं; वे भव्यजीव मुक्तिरूपी लक्ष्मी के पति होते हैं, मुक्ति को प्राप्त करते हैं।।३०३।।

विगत गाथा में कहा था कि सिद्धत्व और निर्वाण एक ही है और इस गाथा में यह कहा जा रहा है कि जहाँ तक धर्मद्रव्य है, जीव और पुद्गलों का गमन वहीं तक है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जीव अर पुद्गलों का बस वहाँ तक ही गमन है।
जहाँ तक धर्मास्ति है आगे न उनका गमन है।।१८४।।

जहाँ तक धर्मास्तिकाय है; वहाँ तक जीव और पुद्गलों का गमन होता है ह्न ऐसा जानो। धर्मास्तिकाय के अभाव में उसके आगे वे जीव और पुद्गल नहीं जाते।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ इस गाथा में सिद्धक्षेत्र के ऊपर जीव और पुद्गलों के गमन का निषेध किया गया है। जीवों की स्वभावक्रिया सिद्धिगमन है अर्थात् सिद्धक्षेत्र तक जाने की है और विभावक्रिया अगले भव जाते समय छह दिशाओं में गमन है। पुद्गलों की स्वभावक्रिया परमाणु की गति है, गतिप्रमाण है और विभावक्रिया दो अणुओं से अनंत परमाणुओं तक के स्कंधों की गति प्रमाण है। इसलिए इन जीव और पुद्गलों की गतिक्रिया त्रिलोक के शिखर के ऊपर नहीं है; क्योंकि आगे गति के निमित्तभूत धर्मास्तिकाय का अभाव है।

जिसप्रकार जल के अभाव में मछलियों की गतिक्रिया नहीं होती; उसीप्रकार जहाँ तक

कायतिष्ठति तत्क्षेत्रपर्यन्तं स्वभावविभावगतिक्रियापरिणतानां जीवपुद्गलानां गतिरिति ।

(अनुष्टुभ्)

त्रिलोकशिखरादूर्ध्वं जीवपुद्गलयोर्द्वयोः ।
नैवास्ति गमनं नित्यं गतिहेतोरभावतः ।।३०४।।

णियमं णियमस्स फलं णिद्दिट्ठं पवयणस्स भत्तीए ।
पुव्वावरविरोधो जदि अवणीय पूरयंतु समयण्हा ।।१८५।।

नियमो नियमस्य फलं निर्दिष्टं प्रवचनस्य भक्त्या ।
पूर्वापरविरोधो यद्यपनीय पूरयंतु समयज्ञाः ।।१८५।।

धर्मास्तिकाय है, उस क्षेत्र तक ही स्वभावगतिक्रिया और विभावगतिक्रियारूप से परिणत जीव-पुद्गलों की गति होती है ।''

इस गाथा और उसकी टीका में मात्र यही कहा गया है कि जीव और पुद्गलों का गमन वहीं तक होता है, जहाँ तक धर्मद्रव्य का अस्तित्व है। उसके आगे इनका गमन नहीं होता ।।१८४।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

तीन लोक के शिखर सिद्ध स्थल के ऊपर।
गति हेतु के कारण का अभाव होने से।।
अरे कभी भी पुद्गल जीव नहीं जाते हैं।
आगम में यह तथ्य उजागर किया गया है।।३०४।।

गति हेतु के अभाव के कारण जीव और पुद्गलों का गमन त्रिलोक के शिखर के ऊपर कभी भी नहीं होता ।

जो बात गाथा में कही गई है, वही बात इस छन्द में दुहरा दी गई है ।।३०४।।

यह गाथा नियम और उसके फल के उपसंहार की गाथा है।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

नियम एवं नियमफल को कहा प्रवचनभक्ति से।
यदी विरोध दिखे कहीं समयज्ञ संशोधन करें।।१८५।।

प्रवचन की भक्ति से यहाँ नियम और नियम का फल दिखाये गये हैं। यदि इसमें कुछ पूर्वापर विरोध हो तो आगम के ज्ञाता उसे दूर कर पूर्ति करें।

शास्त्रादौ गृहीतस्य नियमशब्दस्य तत्फलस्य चोपसंहारोऽयम्। नियमस्तावच्छुद्धरत्नत्रय-व्याख्यानस्वरूपेण प्रतिपादितः। तत्फलं परमनिर्वाणमिति प्रतिपादितम्। न कवित्वदर्पात् प्रवचनभक्त्या प्रतिपादितमेतत् सर्वमिति यावत्। यद्यपि पूर्वापरदोषो विद्यते चेत्तद्दोषात्मकं लुप्त्वा परमकवीश्वरास्समयविदश्चोत्तमं पदं कुर्वन्विति।

(मालिनी)

जयति नियमसारस्तत्फलं चोत्तमानां
हृदयसरसिजाते निर्वृत्तेः कारणत्वात्।
प्रवचनकृतभक्त्या सूत्रकृद्भिः कृतो यः
स खलु निखिलभव्यश्रेणिनिर्वाणमार्गः ।।३०५।।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह इस नियमसार शास्त्र के आरंभ में लिये नियम शब्द और उसके फल का उपसंहार है। पहिले तो नियम शुद्धरत्नत्रय के व्याख्यान के रूप में प्रतिपादित किया गया और उसका फल निर्वाण के रूप में प्रतिपादित किया गया। यह सब कवित्व के अभिमान से नहीं किया गया; किन्तु प्रवचन की भक्ति से किया गया है। यदि इसमें कुछ पूर्वापर दोष हो तो आत्मा के जानकार परमकवीश्वर दोषात्मक पद का लोप करके उत्तम पद नियोजित करें।''

उपसंहार की इस गाथा व उसकी टीका में कहा गया है कि मैंने शुद्ध रत्नत्रयरूप नियम और मुक्तिरूप उसका फल का निरूपण जिनागम की भक्ति से किया है। **इसमें कहीं कोई पूर्वापर विरोध दिखाई दे तो आत्मस्वरूप के जानकार इसमें उचित संशोधन अवश्य करें।**

भाव में तो कोई गलती होने की संभावना नहीं है; यदि शब्दादि प्रयोगों में कुछ कमी रह गई हो तो उसकी पूर्ति का अनुरोध परम्परानुसार आचार्यदेव ने किया है।।१८५।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(रोला)

नियमसार अर तत्फल यह उत्तम पुरुषों के।
हृदय कमल में शोभित है प्रवचन भक्ति से।।
सूत्रकार ने इसकी जो अद्भुत रचना की।
भविकजनों के लिए एक मुक्तीमारग है।।३०५।।

निवृति (मुक्ति) का कारण होने से यह नियमसार और उसका फल उत्तम पुरुषों के हृदयकमल में जयवंत है। प्रवचन भक्ति से सूत्रकार ने जो किया है, वह वस्तुतः समस्त भव्यसमूह को निर्वाण का मार्ग है।

ईसाभावेण पुणो केई णिंदंति सुंन्दरं मग्गं।
तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे ।।१८६।।

ईर्षाभावेन पुनः केचिन्निन्दन्ति सुन्दरं मार्गम्।
तेषां वचनं श्रुत्वा अभक्तिं मा कुरुध्वं जिनमार्गे ।।१८६।।

इह हि भव्यस्य शिक्षणमुक्तम्। केचन मंदबुद्धयः त्रिकालनिरावरणनित्यानन्दैकलक्षण-निर्विकल्पकनिजकारणपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानरूपशुद्धरत्नत्रयप्रतिपक्ष-मिथ्यात्वकर्मोदयसामर्थ्येन मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रपरायणाः ईर्ष्याभावेन समत्सरपरिणामेन सुन्दरं मार्गं सर्वज्ञवीतरागस्य मार्गं पापक्रियानिवृत्तिलक्षणं भेदोपचाररत्नत्रयात्मकमभेदोपचार-रत्नत्रयात्मकं केचिन्निन्दन्ति, तेषां स्वरूपविकलानां कुहेतुदृष्टान्तसमन्वितं कुतर्कवचनं श्रुत्वा

इस छन्द में टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि **मुक्ति का कारण होने से यह रत्नत्रयरूप धर्म और नियमसार नामक शास्त्र तथा उसका मुक्तिरूप फल सभी उत्तम पुरुषों के हृदय कमल में जयवंत रहे।** सूत्रकार अर्थात् गाथायें लिखनेवाले आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने परमागम की भक्ति से यह शास्त्र लिखा है। उनका इसमें कोई अन्य प्रयोजन नहीं है, स्वार्थ नहीं है। **यह शास्त्र सभी भव्यजीवों के लिए मुक्ति का मार्ग दिखानेवाला है। अतः सभी भव्यजीवों को इसका सच्चे दिल से पठन-पाठन करना चाहिए।।३०५।।**

उपसंहार की विगत गाथा के उपरान्त लिखी जानेवाली इस गाथा में यह अनुरोध किया जा रहा है कि निन्दकों की बात पर ध्यान देकर इसके अध्ययन से विरक्त मत हो जाना।

गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

यदि कोई ईर्ष्याभाव से निन्दा करे जिनमार्ग की।
छोड़ो न भक्ति वचन सुन इस वीतरागी मार्ग की।।१८६।।

यदि कोई ईर्ष्याभाव से इस सुन्दरमार्ग की निन्दा करता है तो उसके वचन सुनकर जिनमार्ग के प्रति अभक्ति नहीं करना।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ भव्यजीवों को शिक्षा दी है। यदि कोई मंदबुद्धि त्रिकाल निरावरण, नित्यानन्द लक्षणवाले, निर्विकल्प, निजकारणपरमात्मतत्त्व के सम्यक् ज्ञान-श्रद्धान-अनुष्ठानरूप शुद्धरत्नत्रय से प्रतिपक्षी मिथ्यात्व कर्मोदय की सामर्थ्य से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र परायण वर्तते हुए ईर्ष्याभाव से/मत्सरयुक्त परिणाम से पापक्रिया से निवृत्ति जिसका लक्षण है ह्न ऐसे भेदोपचार रत्नत्रयात्मक तथा अभेदोपचार रत्नत्रयात्मक सर्वज्ञवीतरागदेव के इस सुन्दर मार्ग की निन्दा करते हैं तो उन स्वरूप विकल लोगों के कुत्सित हेतु और खोटे उदाहरणों से

ह्यभक्तिं जिनेश्वरप्रणीतशुद्धरत्नत्रयमार्गे हे भव्य मा कुरुष्व, पुनर्भक्तिः कर्तव्येति।

(शार्दूलविक्रीडित)

देहव्यूहमहीजराजिभयदे दुःखावलीश्वापदे
विश्वाशातिकरालकालदहने शुष्यन्मनीयावने।
नानादुर्णयमार्गदुर्गमतमे दृङ्मोहिनां देहिनां
जैनं दर्शनमेकमेव शरणं जन्माटवीसंकटे।।३०६।।

युक्त कुतर्क वचनों को सुनकर जिनेश्वर प्रणीत शुद्धरत्नत्रय मार्ग के प्रति हे भव्यजीवो! अभक्ति नहीं करना, परन्तु भक्ति करना ही कर्त्तव्य है।''

उक्त गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त करुणाभाव से आचार्यदेव एवं टीकाकार मुनिराज कह रहे हैं कि हे भव्यजीवो ! इस जगत में ऐसे अज्ञानियों की कमी नहीं है कि जो ईर्ष्याभाव के कारण एकदम सच्चे रत्नत्रयरूप धर्म की निन्दा करते देखे जाते हैं; उनके भड़कावे में आकर, उनके मुख से इस पवित्रमार्ग की निन्दा सुनकर बिना विचार किये इस पवित्र मार्ग से च्युत नहीं हो जाना; अन्यथा तुम्हें भव-भव में भटक कर अनंत दुःख उठाने पड़ेंगे। **सभी आत्मार्थी भाई-बहिनों को आचार्यदेव के उक्त करुणा से सने वचनों पर ध्यान देना चाहिए, उनकी शिक्षा का पूरी तरह से पालन करना चाहिए।।१८६।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव दो छन्द लिखते हैं; जिनमें से पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

देहपादपव्यूह से भयप्रद बसें वनचर पशु।
कालरूपी अग्नि सबको दहे सूखे बुद्धिजल।।
अत्यन्त दुर्गम कुनयरूपी मार्ग में भटकन बहुत।
इस भयंकर वन विषैं है जैनदर्शन इक शरण।।३०६।।

देहरूपी वृक्षों की पंक्ति की व्यूहरचना से भयंकर, दुःखों की पंक्ति रूपी जंगली पशुओं का आवास, अति करालकालरूपी अग्नि जहाँ सबको सुखाती है, जलाती है और जो दर्शनमोह युक्त जीवों को अनेक कुनयरूपी मार्गों के कारण अत्यन्त दुर्गम है; उस जन्मरूपी भयंकर जंगल के विकट संकट में जैनदर्शन ही एक शरण है।

जिसप्रकार गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त करुणाभाव से भव्य जीवों को संबोधित किया गया है; उसीप्रकार इस छन्द में भी अत्यन्त करुणापूर्वक समझाया जा रहा है कि इस दुःखों के घर संसार में एकमात्र जैनदर्शन शरणभूत है; क्योंकि सच्चा वीतरागी मार्ग जैनदर्शन में ही है, अन्यत्र कहीं भी नहीं है।।३०६।।

तथा हि ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

लोकालोकनिकेतनं वपुरदो ज्ञानं च यस्य प्रभो–
स्तं शंखध्वनिकंपिताखिलभुवं श्रीनेमितीर्थेश्वरम् ।
स्तोतुं के भुवनत्रयेऽपि मनुजाः शक्ताः सुरा वा पुनः
जाने तत्स्तवनैककारणमहं भक्तिर्जिनेऽत्युत्सुका ।।३०७।।

णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं ।
णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं ।।१८७।।

निजभावनानिमित्तं मया कृतं नियमसारनामश्रुतम् ।
ज्ञात्वा जिनोपदेशं पूर्वापरदोषनिर्मुक्तम् ।।१८७।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

सम्पूर्ण पृथ्वी को कंपाया शंखध्वनि से आपने ।
सम्पूर्ण लोकालोक है प्रभु निकेतन तन आपका ।।
हे योगि! किस नर देव में क्षमता करे जो स्तवन ।
अती उत्सुक भक्ति से मैं कर रहा हूँ स्तवन ।।३०७।।

जिन प्रभु का ज्ञानरूपी शरीर लोकालोक का निकेतन है; जिन्होंने शंख की ध्वनि से सारी पृथ्वी को कंपा दिया था; उन नेमिनाथ तीर्थेश्वर का स्तवन करने में तीन लोक में कौन मनुष्य या देव समर्थ है ? फिर भी उनका स्तवन करने का एकमात्र कारण उनके प्रति अति उत्सुक भक्ति ही है ह्न ऐसा मैं जानता हूँ ।

उक्त छन्द में नेमिनाथ भगवान की स्तुति की गई है। कहा गया है कि जिन्होंने गृहस्थावस्था में शंखध्वनि से सबको कंपा दिया था और सर्वज्ञ दशा में जिनके ज्ञान में लोकालोक समाहित हो गये थे; उन नेमिनाथ की स्तुति कौन कर सकता है; पर मैं जो कर रहा हूँ, वह तो एकमात्र उनके प्रति अगाध भक्ति का ही परिणाम है ।।३०७।।

नियमसार की इस अन्तिम गाथा में यह कहा गया है कि मैंने यह नियमसार नामक ग्रंथ स्वयं की अध्यात्म भावना के पोषण के लिए लिखा है। गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

जान जिनवरदेव के निर्दोष इस उपदेश को ।
निज भावना के निमित मैंने किया है इस ग्रंथ को ।।१८७।।

शास्त्रनामधेयकथनद्वारेण शास्त्रोपसंहारोपन्यासोऽयम् ।

अत्राचार्याः प्रारब्धस्यान्तगमनत्वात् नितरां कृतार्थतां परिप्राप्य निजभावनानिमित्तम-शुभवंचनार्थं नियमसाराभिधानं श्रुतं परमाध्यात्मशास्त्रशतकुशलेन मया कृतम् ।

किं कृत्वा? पूर्वं ज्ञात्वा अवंचकपरमगुरुप्रसादेन बुद्ध्वेति ।

कम् ? जिनोपदेशं वीतरागसर्वज्ञमुखारविन्दविनिर्गतपरमोपदेशम् ।

तं पुनः किं विशिष्टम् ? पूर्वापरदोषनिर्मुक्तं पूर्वापरदोषहेतुभूतसकलमोहरागद्वेषाभावा-दाप्तमुखविनिर्गतत्वान्निर्दोषमिति ।

किच्च अस्य खलु निखिलागमार्थसार्थप्रतिपादनसमर्थस्य नियमशब्दसंसूचितविशुद्ध-मोक्षमार्गस्य अंचितपंचास्तिकायपरिसनाथस्य संचितपंचाचारप्रपंचस्य षड्द्रव्यविचित्रस्य सप्ततत्त्वनवपदार्थगर्भीकृतस्य पंचभावप्रपंचप्रतिपादनपरायणस्य निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यान

जिनेन्द्रदेव के पूर्वापर दोष रहित उपदेश को भलीभाँति जानकर यह नियमसार नामक शास्त्र मेरे द्वारा अपनी भावना के निमित्त से किया गया है ।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह शास्त्र के नामकथन द्वारा शास्त्र के उपसंहार संबंधी कथन है ।

यहाँ आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव प्रारंभ किये गये कार्य के सफलतापूर्वक अन्त को प्राप्त हो जाने से अत्यन्त कृतार्थता को पाकर कहते हैं कि सैंकड़ों परम-अध्यात्मशास्त्रों में कुशल मेरे द्वारा अशुभ भावों से बचने के लिए अपनी भावना के निमित्त से यह नियमसार नामक शास्त्र किया गया है ।

क्या करके यह शास्त्र किया गया है ?

अवंचक परमगुरु के प्रसाद से पहले अच्छी तरह जानकर यह शास्त्र लिखा गया है ।

क्या जानकर ?

जिनोपदेश को जानकर । वीतराग-सर्वज्ञ भगवान के मुखारविन्द से निकले हुए परम उपदेश को जानकर यह शास्त्र लिखा है ।

कैसा है यह उपदेश ?

पूर्वापर दोष से रहित है । पूर्वापरदोष के हेतुभूत सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेष के अभाव से जिन्होंने आप्तता प्राप्त की है; उनके मुख से निकला होने से वह जिनोपदेश पूर्णतः निर्दोष है ।

दूसरी बात यह है कि वस्तुतः समस्त आगम के अर्थ को सार्थकता पूर्वक प्रतिपादन करने में समर्थ, नियम शब्द से संसूचित विशुद्ध मोक्षमार्ग, पंचास्तिकाय के प्रतिपादन में समर्थ, पंचाचार के विस्तृत प्रतिपादन से संचित, छह द्रव्यों से विचित्र, सात और नौ पदार्थों का निरूपण है गर्भ में जिसके, पाँच भावों के विस्तृत प्रतिपादन में परायण, निश्चय

प्रायश्चित्तपरमालोचनानियमव्युत्सर्गप्रभृतिसकलपरमार्थक्रियाकांडाडंबरसमृद्धस्य उपयोग-त्रयविशालस्य परमेश्वरस्य शास्त्रस्य द्विविधं किल तात्पर्यं, सूत्रतात्पर्यं शास्त्रतात्पर्यं चेति।

सूत्रतात्पर्यं पद्योपन्यासेन प्रतिसूत्रमेव प्रतिपादितम्, शास्त्रतात्पर्यं त्विदमुपदर्शयेत्।

भागवतं शास्त्रमिदं निर्वाणसुन्दरीसमुद्भवपरमवीतरागात्मकनिर्व्याबाधनिरन्तरानंग-परमानन्दप्रदं निरतिशयनित्यशुद्धनिरंजननिजकारणपरमात्मभावनाकारणं समस्तनयनिचयांचितं पंचमगतिहेतुभूतं पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहेण निर्मितमिदं ये खलु निश्चयव्यवहार-नययोरविरोधेन जानन्ति ते खलु महान्तः समस्ताध्यात्मशास्त्रहृदयवेदिनः परमानन्दवीतराग-सुखाभिलाषिणः परित्यक्तबाह्याभ्यन्तरचतुर्विंशतिपरिग्रहप्रपंचाः त्रिकालनिरुपाधिस्वरूप-निरतनिजकारणपरमात्मस्वरूपश्रद्धानपरिज्ञानाचरणात्मकभेदोपचारकल्पनानिरपेक्षस्वस्थ-रत्नत्रयपरायणाः सन्तः शब्दब्रह्मफलस्य शाश्वतसुखस्य भोक्तारो भवन्तीति।

प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त, परमालोचना, नियम, व्युत्सर्ग आदि सभी परमार्थ क्रियाकाण्ड के आडम्बर से समृद्ध, तीन उपयोगों के कथन से सम्पन्न ह्न ऐसे इस परमेश्वरकथित नियमसार नामक शास्त्र के तात्पर्य को दो प्रकार से निरूपित किया जाता है ह्न सूत्रतात्पर्य और शास्त्रतात्पर्य।

सूत्रतात्पर्य तो गाथारूप पद्य कथन के माध्यम से प्रत्येक गाथा सूत्र में यथास्थान प्रतिपादित किया गया है और अब शास्त्र तात्पर्य यहाँ टीका में प्रतिपादित किया जा रहा है; जो इसप्रकार है ह्न

यह नियमसार शास्त्र भागवत शास्त्र है, भगवान द्वारा प्रतिपादित शास्त्र है। जो महापुरुष; निर्वाण सुन्दरी से उत्पन्न होनेवाले परम वीतरागात्मक, अव्याबाध, निरन्तर अतीन्द्रिय परमानन्द देनेवाले; निरतिशय, नित्य शुद्ध, निरंजन, निज कारणपरमात्म की भावना के कारण; समस्त नय समूह से शोभित, पंचमगति के हेतुभूत, पाँच इन्द्रियों के विस्तार से रहित, देहमात्र परिग्रहधारी निर्ग्रन्थ मुनिवर से रचित इस नियमसार नामक भागवत शास्त्र को निश्चयनय और व्यवहारनय के अविरोध से जानते हैं; वे महापुरुष समस्त अध्यात्मशास्त्रों के हृदय को जाननेवाले और परमानन्दरूप वीतराग सुख के अभिलाषी, बाह्याभ्यन्तर चौबीस परिग्रहों के प्रपंच के त्यागी, त्रिकाल, निरुपाधि स्वरूप में लीन निज कारणपरमात्मा के स्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान-आचरणात्मक भेदोपचार कल्पना निरपेक्ष स्वस्थ रत्नत्रय में परायण होकर वर्तते हुए शब्द ब्रह्म के फलरूप शाश्वत सुख के भोक्ता होते हैं।''

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में कहा गया है कि यह शास्त्र मैंने अपनी भावना की पुष्टि के निमित्त से बनाया है। कहा जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव स्वयं प्रतिदिन इस ग्रन्थ का पाठ करते थे। वे कहते हैं कि मैंने यह शास्त्र अपनी कल्पना से नहीं बनाया है;

(मालिनी)

सुकविजनपयोजानन्दिमित्रेण शस्तं
ललितपदनिकायैर्निर्मितं शास्त्रमेतत् ।
निजमनसि विधत्ते यो विशुद्धात्मकांक्षी
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूप: ।।३०८।।

पूर्वापर दोष से रहित जिनेन्द्रदेव के उपदेशानुसार बनाया है। अत: यह पूर्णत: निर्दोष शास्त्र है।

इस गाथा की टीका में टीकाकार **किंच** कहकर अनेक विशेषण लगाकर कहते हैं कि इस नियमसार नामक शास्त्र के तात्पर्य को दो प्रकार से जाना जा सकता है ह्न सूत्रतात्पर्य और शास्त्रतात्पर्य।

सूत्रतात्पर्य तो प्रत्येक गाथा में बता दिया गया है और शास्त्रतात्पर्य शाश्वत सुख की प्राप्ति है।

इस अंश की विशेषता यह है कि इसके पूर्वार्ध में तो सभी अधिकारों में प्रतिपादित वस्तु का संक्षेप में उल्लेख किया गया है और उत्तरार्ध में नियमसार शास्त्र की महिमा के साथ इसके अध्ययन का फल भी बता दिया गया है। हम सभी आत्मार्थी भाई-बहिनों का कर्त्तव्य है कि इसका स्वाध्याय अत्यन्त भक्तिभाव से गहराई से अवश्य करें।।१८७।।

इसप्रकार इस नियमसार शास्त्र की तात्पर्यवृत्ति टीका की पूर्णाहुति करते हुए टीकाकार मुनिराज चार छन्द लिखते हैं; जिसमें पहले छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

सुकविजन पंकजविकासी रवि मुनिवर देव ने।
ललित सूत्रों में रचा इस परमपावन शास्त्र को।।
निज हृदय में धारण करे जो विशुद्ध आतमकांक्षी।
वह परमश्री वल्लभा का अती वल्लभ लोक में।।३०८।।

सुकविजनरूपी कमलों को आनन्द देने, विकसित करनेवाले सूर्य श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव के द्वारा ललित पद समूहों में रचे हुए इस उत्तम शास्त्र को जो विशुद्ध आत्मा का आकांक्षी जीव निज मन में धारण करता है; वह परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होता है।

इस छन्द में भी यही कहा गया है कि इस परमपावन शास्त्र में प्रतिपादित मर्म को अपने चित्त में धारण करनेवाले आत्मार्थियों को मुक्ति की प्राप्ति होती है।।३०८।।

दूसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

पद्मप्रभाभि–धानोद्घ–सिन्धुनाथ–समुद्भवा।
उपन्यासोर्मिमालेयं स्थेयाच्चेतसि सा सताम् ।।३०९ ।।
अस्मिन् लक्षणशास्त्रस्य विरुद्धं पदमस्ति चेत् ।
लुप्त्वा तत्कवयो भद्राः कुर्वन्तु पदमुत्तमम् ।।३१०।।

(वसंततिलका)

यावत्सदागतिपथे रुचिरे विरेजे
तारागणैः परिवृतं सकलेन्दुबिंबम् ।
तात्पर्यवृत्तिरपहस्तितहेयवृत्तिः
स्थेयात्सतां विपुलचेतसि तावदेव ।।३११।।

(हरिगीत)

पद्मप्रभमलधारि नामक विरागी मुनिदेव ने।
अति भावना से भावमय टीका रची मनमोहनी।।
पद्मसागरोत्पन्न यह है उर्मियों की माल जो।
कण्ठाभरण यह नित रहे सज्जनजनों के चित्त में ।।३०९।।

पद्मप्रभ नाम के उत्तम समुद्र से उत्पन्न होनेवाली यह उर्मिमाला–लहरों की माला–कथनी सत्पुरुषों के चित्त में स्थित रहो।

टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि जिसप्रकार समुद्र में लहरें उठती हैं, उछलती हैं; उसीप्रकार यह शास्त्र नियमसार पढकर मेरे मनरूपी समुद्र में उसकी टीका लिखने के भाव उछलते हैं; अतः मैंने यह टीका लिखी है। मेरी एकमात्र भावना यह है कि इससे लाभ लेनेवाले आत्मार्थी सत्पुरुषों के हृदय में यह सदा स्थित रहे।।३०९।।

तीसरे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(दोहा)

यदि इसमें कोइ पद लगे लक्षण शास्त्र विरुद्ध।
भद्रकवि रखना वहाँ उत्तम पद अविरुद्ध।।३१०।।

यदि इस टीका में कोई पद लक्षणशास्त्र के विरुद्ध हो तो भद्र कविगण उसका लोप करके उसके स्थान पर उत्तमपद रख देवें ह्न ऐसा मेरा अनुरोध है।

ध्यान रहे यहाँ टीकाकार मुनिराज भाव की भूल स्वीकार नहीं कर रहे हैं; क्योंकि उन्हें पक्का भरोसा है कि उनकी लेखनी से भाव संबंधी भूल तो हो ही नहीं सकती। उनका तो मात्र इतना ही कहना है कि किसी छन्द में छन्द शास्त्र के विरुद्ध कुछ लिखा गया हो तो सज्जन पुरुष उसे सुधार लेवें।।३१०।।

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव–विरचितायां नियमसारव्याख्यां तात्पर्यवृत्तौ शुद्धोपयोगाधिकारो द्वादशमः श्रुतस्कन्धः ।।
समाप्ता चेयं तात्पर्यवृत्तिः ।

चौथे छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(हरिगीत)

तारागण से मण्डित शोभे नील गगन में।
अरे पूर्णिमा चन्द्र चाँदनी जबतक नभ में।।
हेयवृत्ति नाशक यह टीका तबतक शोभे।
नित निज में रत सत्पुरुषों के हृदय कमल में ।।३११।।

जबतक तारागणों से घिरा हुआ पूर्णचन्द्रबिम्ब सुन्दर आकाश में शोभायमान रहे; तबतक यह हेयवृत्तियों को निरस्त करनेवाली तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका सत्पुरुषों के विशाल हृदय में स्थित रहे।

यह मंगल आशीर्वादात्मक अंतमंगल है; जिसमें '*यावद् चन्द्रदिवाकरौ*' की शैली में यह कहा गया है कि जबतक आकाश में तारागण से वेष्टित पूर्ण चन्द्र रहे, तबतक अर्थात् अनंतकाल तक यह टीका सज्जनों के हृदय कमल में विराजमान रहे।।३११।।

अधिकार के अन्त में टीकाकार मुनिराज स्वयं लिखते हैं कि **इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में शुद्धोपयोगाधिकार नामक बारहवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।**

और यहाँ यह तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका भी समाप्त होती है।

यहाँ नियमसार एवं उसकी तात्पर्यवृत्ति टीका के साथ–साथ डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत आत्मप्रबोधिनी हिन्दी टीका में शुद्धोपयोगाधिकार नामक बारहवाँ श्रुतस्कंध समाप्त होता है।

(दोहा)

टीका आत्मप्रबोधिनी हिन्दी भाषा माँहि।
आठ नवम्बर दो सहस बारह सन के ताँहि।।
पूर्ण हुई जयपुर नगर विना विघ्न सानन्द।
प्रमुदित मन पुलकित वदन सब विधि सहजानन्द।।

हिन्दी भाषा में लिखी गई यह आत्मप्रबोधिनी नाम की टीका आठ नवम्बर दो हजार बारह सन् को जयपुर नगर में निर्विघ्न पूर्ण हुई है। इसकारण मेरा मन प्रमुदित है और तन पुलकित हो रहा है तथा सर्वप्रकार से सहजानन्द है।

इसप्रकार यह आचार्य कुंदकुंद कृत **नियमसार** नामक मूलग्रंथ और उसकी मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कृत **तात्पर्यवृत्ति** रूप संस्कृत टीका तथा दोनों की यह डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत **आत्मप्रबोधिनी** नामक हिन्दी टीका यहाँ समाप्त होती है। ●

श्री नियमसार की वर्णानुक्रम गाथा सूची

	गाथा	पृष्ठ
अ		
अइथूलथूल थूलं	२१	६३
अणुखंधवियप्पेण दु	२०	६२
अण्णणिरावेक्खो जो	२८	७५
अत्तागमतच्चाणं	५	१८
अत्तादि अत्तमज्झं	२६	७१
अप्पसरूवं पेच्छदि	१६६	४३४
अप्पसरूवालंबण	११९	३०७
अप्पाणं विणु णाणं	१७१	४४५
अप्पा परप्पयासो	१६३	४२७
अरसमरूवमगंधं	४६	१२१
अव्वाबाहमणिंदिय	१७८	४५८
असरीरा अविणासा	४८	१२७
अंतरबाहिरजप्पे	१५०	३८८
आ		
आउस्स खयेण पुणो	१७६	४५४
आदा खु मज्झ णाणे	१००	२३८
आराहणाइ वट्टइ	८४	१९७
आलोयणमालु छण	१०८	२६७
आवासं जह इच्छसि	१४७	३८१
आवासएण जुत्तो	१४९	३८६
आवासएण हीणो	१४८	३८४
ई		
ईसाभावेण पुणो	१८६	४७४
ईहापुव्वं वयणं	१७४	४४९
उ		
उक्किट्ठो जो बोहो	११६	३००
उत्तमअट्ठं आदा	९२	२१७
उम्मग्गं परिचत्ता	८६	२०२
उसहादिजिणवरिंदा	१४०	३५६
ए		
एगो मे सासदो अप्पा	१०२	२४६
एगो य मरदि जीवो	१०१	२४३
एदे छद्दव्वाणि य	३४	८९
एदे सव्वे भावा	४९	१२९
एयरसरूवगंधं	२७	७३
एरिसभेदब्भासे	८२	१९२
एरिसय भावणाए	७६	१८२
एवं भेदब्भासं	१०६	२५६
क		
कत्ता भोत्ता आदा	१८	५२
कदकारिदाणुमोदण	६३	१५३
कम्ममहीरुहमूल	११०	२७३
कम्मादो अप्पाणं	१११	२७७
कायकिरियाणियत्ती	७०	१६८
कायाईपरदव्वे	१२१	३१२
कालुस्समोहसण्णा	६६	१६२
किं काहदि वणवासो	१२४	३२०
किं बहुणा भणिएण दु	११७	३०१
कुलजोणिजीवमग्गण	५६	१३९
केवलणाणसहावो	९६	२२८
केवलमिंदियरहियं	११	३५
कोहं खमया माणं	११५	२९५
कोहादिसगब्भाव-	११४	२९३
ग		
गमणणिमित्तं धम्म-	३०	७९
गामे वा णयरे वा	५८	१४२
घ		
घणघाइकम्मरहिया	७१	१७०
च		
चउगइभवसंभमणं	४२	१०७
चउदहभेदा भणिदा	१७	४८
चक्खु अचक्खु ओही	१४	४२
चत्ता अगुत्तिभावं	८८	२०७
चल मलिणमगाढत्त-	५२	१३३
छ		
छायातवमादीया	२३	६३
छुहतण्हभीरुरोसो	६	२०

	गाथा	पृष्ठ
ज		
जं किंचि मे दुच्चरित्त	१०३	२४८
जदि सक्कदि कादुं जे	१५४	३९७
जस्स रागो दु दोसो दु	१२८	३३१
जस्स सण्णिहिदो अप्पा	१२७	३२९
जाइजरमरणरहियं	१७७	४५७
जाणंतो पस्संतो	१७२	४४६
जाणदि पस्सदि सव्वं	१५९	४१२
जा रायादिणियत्तीं	६९	१६७
जारिसिया सिद्धप्पां	४७	१२५
जिणकहियपरमसुत्ते	१५५	४००
जीवाण पुग्गलाणं	१८४	४७१
जीवादिबहित्तच्चं	३८	९६
जीवादीदव्वाणं	३३	८८
जीवादु पोग्गलादों	३२	८५
जीवा पोग्गलकाया	९	३०
जीवो उवओगमओ	१०	३३
जुगवं वट्टइ णाणं	१६०	४१७
जो चरदि संजदो खलु	१४४	३७१
जो ण हवदि अण्णवसो	१४१	३६२
जो दु अट्टं च रुद्दं च	१२९	३३३
जो दुगंछा भयं वेदं	१३२	३३८
जो दु धम्मं च सुक्कं च	१३३	३३९
जो दु पुण्ण च पावं च	१३०	३३४
जो दु हस्सं रई सोगं	१३१	३३७
जो धम्मसुक्कझाण	१५१	३९१
जो पस्सदि अप्पाणं	१०९	२६८
जो समो सव्वभूदेसु	१२६	३२५
झ		
झाणणिलीणो साहू	९३	२२०
ठ		
ठाणणिसेज्जविहारां	१७५	४५२
ण		
णट्ठट्ठकम्मबंधा	७२	१७४
णमिऊण जिणं वीरं	१	९
णरणारयतिरियसुरा	१५	४५
ण वसो अवसो अवस-	१४२	३६५
णवि इंदिय अवसग्गा	१८०	४६४
णवि कम्मं णोकम्मं	१८१	४६६
णवि दुक्खं णवि सुक्खं	१७९	४६१
णंताणंतभवेण स-	११८	३०५
णाणं अप्पपयासं	१६५	४३२
णाणं जीवसरूवं	१७०	४४२
णाणं परप्पयासं	१६१	४२१
णाणं परप्पयासं	१६२	४२५
णाणं परप्पयासं	१६४	४२९
णाणाजीवा णाणा-	१५६	४०२
णाहं कोहो माणो	८१	१८८
णाहं णारयभावों	७७	१८७
णाहं बालो वुड्ढो	७९	१८७
णाहं मग्गणठाणो	७८	१८७
णाहं रागो दोसो	८०	१८७
णिक्कसायस्स दंतस्स	१०५	२५४
णिग्गंथो णीरागो	४४	११९
णिद्दंडो णिद्दंद्दो	४३	११२
णियभावणाणिमित्तं	१८७	४७६
णियभावं णवि मुच्चइ	९७	२३०
णियमं णियमस्स फलं	१८५	४७२
णियमं मोक्खउवाओ	४	१७
णियमेण य जं कज्जं	३	१४
णिव्वाणमेव सिद्धा	१८३	४६९
णिस्सेसदोसरहिओ	७	२४
णोकम्मकम्मरहियं	१०७	२६४
णो खइयभावठाणा	४१	१०३
णो खलु सहावठाणा	३९	९७
णो ठिदिबंधट्ठाणा	४०	१००
त		
तस्स मुहग्गदवयणं	८	२७
तह दंसणउवओगो	१३	४०
थ		
थीराजचोरभत्तक-	६७	१६३
द		
दट्ठूण इच्छिरूवं	५९	१४४
दव्वगुणपज्जायाणं	१४५	३७५

	गाथा	पृष्ठ
दव्वत्थिएण जीवा	१९	५७
ध		
धाउचउक्कस्स पुणो	२५	६८
प		
पडिकमणणामधेये	९४	२२२
पडिकमणपहुदिकिरियं	१५२	३९३
पयडिट्ठिदिअणुभाग-	९८	२३४
परिचत्ता परभावं	१४६	३७७
परिणामपुव्ववयणं	१७३	४४९
पंचाचारसमग्गा	७३	१७७
पासुगभूमिपदेसे	६५	१५९
पासुगमग्गेण दिवा	६१	१४८
पोग्गलदव्वं मोत्तं	३७	९३
पुव्वुत्तसयलदव्वं	१६८	४३८
पुव्वुत्तसयलभावा	५०	१३१
पेसुण्णहासकक्कस-	६२	१५१
पोग्गलदव्वं उच्चइ	२९	७७
पोत्थइकमंडलाइं	६४	१५७
ब		
बंधणछेदणमारण	६८	१६५
भ		
भूपव्वदमादीया	२२	६३
म		
मग्गो मग्गफलं ति य	२	११
मदमाणमायलोहवि-	११२	२८३
ममत्तिं परिवज्जामि	९९	२२६
माणुस्सा दुवियप्पा	१६	४८
मिच्छत्तपहुदिभावा	९०	२१२
मिच्छादंसणणाण-	९१	२१५
मुत्तममुत्तं दव्वं	१६७	४३६
मोक्खपहे अप्पाणं	१३६	३४९
मोक्खंगयपुरिसाणं	१३५	३४५
मोत्तूण अट्टरुद्दं	८९	२०९
मात्तूण अणायारं	८५	२००
मोत्तूण वयणरयणं	८३	१९४
मात्तूण सयलजप्पम-	९५	२२५
मोत्तूण सल्लभावं	८७	२०५
र		
रयणत्तयसंजुत्ता	७४	१७९
रागेण व दोसेण व	५७	१४१
रायादीपरिहारे	१३७	३५१
ल		
लद्धणं णिहि एक्को	१५७	४०६
लोयासासे ताव	३६	९२
लोयालोयं जाणइ	१६९	४३९
व		
वट्टदि जो सो समणो	१४३	३६७
वण्णरसगंधफासा	४५	१२१
वदसमिदिसीलसंजम-	११३	२९१
वयणमयं पडिकमणं	१५३	३९५
वयणोच्चारणकिरियं	११२	३१७
ववहारणयचरित्ते	५५	१३३
वावारविप्पमुक्का	७५	१८०
विज्जदि केवलणाणं	१८२	४६८
विरदो सव्वसावज्जे	१२५	३२२
विवरीयाभिणिवेसवि-	५१	१३३
विवरीयभिणिवेसं	१३९	३५४
स		
सण्णाणं चउभेयं	१२	३५
समयावलिभेदेण दु	३१	८२
सम्मत्तणाणचरणे	१३४	३४३
सम्मत्तस्स णिमित्तं	५३	१३३
सम्मत्तं सण्णाणं	५४	१३३
सम्मं मे सव्वभूदेसु	१०४	२५१
सव्वविअप्पाभावे	१३८	३५३
सव्वे पुराणपुरिसां	१५८	४०९
सव्वेसिं गंथाणं	६०	१४५
संखेज्जासंखेज्जा-	३५	९२
संजमणियमतवेण दु	१२३	३१९
सुहअसुहवयणरयणं	१२०	३०९
सुहुमा हवंति खंधा	२४	६४

कलशकाव्यों की वर्णानुक्रम सूची

	कलश	पृष्ठ
अ		
अक्षय्यान्त-	१६३	२७८
अखंडितमनारतं	१४९	२६१
अचेतने पुद्गल	४५	७९
अत एव भाति नित्यं	२४४	३७१
अतितीव्रमोहसंभव-	१११	१९६
अत्यपूर्वनिजात्मोत्थ-	२३६	३५९
अथ जिनपतिमार्गा-	१७१	२८४
अथा जिनमतमुक्ते-	३०३	४७
अथ तनुमनोवाचां	११८	२०८
अथ नययुगयुक्तिं	३६	६०
अथ निजपरमानंदै-	११३	२०१
अथ नियतमनोवा-	१३४	२३८
अथ भवजलराशौ	१२१	२१४
अथ मम परमात्मा	१३८	२४७
अथ विविधविकल्पं	१६८	२८१
अथ सकलजिनोक्त-	१७	३४
अथ सति परभावे	२४	४४
अथ सति परमाणो-	४१	७५
अथ सुललितवाचां	१६९	२८२
अद्वन्द्वनिष्ठमनघं	२३७	३६०
अध्यात्मशास्त्रा-	१८७	३०४
अनवरतमखण्ड-	६०	१११
अनवरतमखण्डा-	१९२	३१०
अनशनादि-	१८४	३०२
अनशनादि-	२०२	३२२
अनशनादि-	२५१	३८०
अनादिममसंसार-	१६७	२८१
अनिशमतुलबोधा-	६४	११६
अन्यवशः संसारी	२४३	३७०
अपगतपरमात्म-	११२	१९९
अपरिस्पंदरूपस्य	९५	१६९
अपवर्गाय भव्यानां	४	६
अपि च बहुविभावे	२७	४८
अपि च सकलराग-	३०	५४
अपुनर्भवसुख-	२३३	३५८
अप्यात्मनि स्थितिं बुद्ध्वा	४०	७२
अभिनवमिदमुच्चै-	२४०	३६८
अभिनवमिदं पाप	१७५	२८७
अयं जीवो जीव-	२१७	३३७
अविचलितमखंड-	२९६	४५८
असति च सति बन्धे	७०	१२५
असति सति विभावे	३४	५६
असारे संसारे	२६४	३९९
अस्माकं मानसान्युच्चैः	६	७
अस्मिन् लक्षणशास्त्रस्य	३१०	४८०
अस्मिन् लोके	२६८	४०७
अहमात्मा सुखाकांक्षी	२०७	३२७
अं		
अंचितपंचमगतये	५८	१०६
आ		
आकर्षति रत्नानां	७८	१४३
आत्मज्ञानाद्भवति	१८६	३०३
आत्मध्यानाद-	१२३	२१९
आत्मन्युच्चैर्भवति	२३८	३६४
आत्मा जानाति विश्वं	२७२	४१६
आत्मा ज्ञानं भवति	२७८	४२६
आत्मा ज्ञानं भवति	२८१	४३३
आत्मा तिष्ठत्य-	२६२	३९४
आत्मा धर्मी भवति	२७९	४२८
आत्मानमात्मनात्मायं	२२८	३५२
आत्मानमात्मनि	१२९	२३२
आत्मा नित्यं तपसि	२१२	३३१
आत्मानं ज्ञानदृग्रूपं	२८७	४४६
आत्मा भिन्नो भवति	१६२	२७८
आत्माराधनया हीनः	२९९	४६३
आत्मावश्यं सहज-	२५६	३८५
आत्मा स्पष्टः	१५५	२७०
आत्मा ह्यात्मानमा-	१५४	२६९
आत्मा ह्यात्मानमा-	२२७	३५०
आद्यन्तमुक्तमनघं	६८	११८
आलोचनाभेद-	१५३	२६८

	कलश	पृष्ठ
आलोचना सतत-	१७२	२८५
आलोच्यालोच्य	१५२	२६६
आसंसारादखिल-	१६१	२७६
इ		
इति जिनमार्गाम्भोधे-	५१	९१
इति जिनपति मार्गाद्	४३	७८
इति जिनपतिमार्गा-	१६	३२
इति जिनशासनसिद्धं	२१४	३३४
इति निगदितभेद-	१८	३८
इति परगुणपर्या-	२५	४४
इति ललितपदाना-	५३	९४
इति विपरीतविमुक्तं	१०	१६
इति विरचितमुच्चै-	५०	८९
इति विविधविकल्पे	३८	६७
इति सति मुनिनाथ	११०	१९४
इत्थं निजज्ञेन	६७	११७
इत्थं बुद्ध्वा जिनेन्द्रस्य	२४९	३७९
इत्थं बुद्ध्वा परम-	८१	१४९
इत्थं बुद्ध्वोपदेशं	६१	१११
इत्थं मुक्त्वा	२०३	३२४
इदमिदमघसेना-	२१०	३२८
इदं ध्यानमिदं ध्येय-	१९३	३११
इह गमननिमित्तं	४६	८२
ई		
ईहापूर्वं वचन-	२८९	४५०
उ		
उद्धू तकर्मसंदोहान्	२२१	३४६
ए		
एक एव सदा धन्यो	२५४	३८१
एको देवस्त्रिभुवन-	२९०	४५१
एको देव: स जयति	२७५	४२०
एको भाव: स जयति	१६०	२७५
एको याति प्रबल-	१३७	२४६
क		
कश्चिन्मुनि सतत-	२०७	३२२
कषायकलिरजितं	११७	२०७
कायोत्सर्गो भवति	१९५	३१३
कांक्षत्यद्वैतमन्येपि	२०६	३२६
केचिदद्वैतमार्गस्था:	२०५	३२६
को नाम वक्ति विद्वान्	१३२	२३४
कोपि क्वापि मुनिर्बभूव	२४१	३६९
क्वचिद्व्रजति कामिनी-	९	१३
क्वचिल्लसति निर्मलं	१३६	२४२
क्वचिल्लसति सद्गुणै:	२६	४५
क्ष		
क्षमया क्रोधकषायं	१८२	२९९
ग		
गलनादणुरित्युक्त:	३७	६३
गुणधरगणधररचितं	५	७
गुप्तिर्भविष्यति सदा	९१	१६२
घ		
घोरसंसृति-	१४४	२५८
च		
चित्तत्त्वभावनासक्त-	१३९	२५१
ज		
जगदिदमजगच्च	१४	२७
जयति जगति वीर:	८	११
जयति नियमसार-	३०५	४७३
जयति परमतत्त्वं-	६३	११५
जयति विदितगात्र:	९६	१७१
जयति विदितमोक्ष:	९९	१७३
जयति शांत-	१७८	२८९
जयति सततं	१४२	२५६
जयति स परमात्मा	१२८	२२९
जयति समता नित्यं	१४१	२५४
जयति समयसार:	५४	९७
जयति समितिरेषा	८२	१४९
जयति सहजतत्त्वं	१४८	२६०
जयति सहजते:-	१९६	३१४
जयति सहजते:-	१७०	२८२
जयति सहजतेजो-	२५२	३८०
जयति सहजबोध-	७५	१३७
जयति सहज तत्त्वं	१७६	२८८
जयत्यनघचिन्मय	१५६	२७१

	कलश	पृष्ठ
जयत्यनघमात्म-	२११	३२९
जयत्ययमुदारधी:	२४७	३७८
जानन् सर्वं भुवन-	२८८	४४८
जानाति लोकमखिल	२८५	४४१
जितरतिपतिचाप:	९८	१७२
जिनप्रभुमुखारविन्द-	१५०	२६२
जिनेन्द्रो मुक्तिकामिन्या:	२७६	४२१
ज्ञ		
ज्ञानज्योति:प्रहत-	६९	१२१
ज्ञानं तावत् सहज-	२७७	२२४
ज्ञानं तावद्भवति	२८६	४४४
त		
तत्त्वेषु जैनमुनिनाथ-	२३०	३५५
तपस्या लोकेस्मिन्नि-	२४२	३७०
त्यक्त्वा वाचं	९२	१६५
त्यक्त्वा विभावमखिलं	१५९	२७३
त्यक्त्वा विभावमखिलं	१२२	२१६
त्यक्त्वा सर्वं सुकृत-	२१५	३३६
त्यक्त्वा संगं जनन-	२६९	४०८
त्यजतु भवभीरु-	८०	१४७
त्यजतु सुरलोकादि	२४५	३७४
त्यजाम्येतत्सर्वं	२१८	३३९
त्रसहतिपरिणाम-	७६	१४०
त्रसहतिपरिमुक्तं	२०४	३२६
त्रिलोकशिखरादूर्ध्वं	३०४	४७२
त्रैलोक्याग्रनिकेतनान्	२२५	३४८
त्वयि सति परमात्म-	१	३
द		
दुरघवनकुठार:	६२	११५
दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-	२३	५६
देवेन्द्रासनकंपकारण-	२९२	४५४
देहव्यूहमहीजराजि-	३०६	४७५
ध		
ध्यानावलीमपि	११९	२११
न		
नमामि नित्यं	१८८	३०५
नमोऽस्तु ते	१०८	१८६
न ह्यस्माकं	७४	१३३
न ह्ये तस्मिन्	२९१	४५१
नानानूननराधिनाथ-	२९	५१
नाभेयादिजिनेश्वरान्	२३१	३५७
निजात्मगुणसंपदं	१९८	३१५
नित्यशुद्ध चिदानन्द-	५६	१०२
नियतमिह जनानां	८३	१५०
निर्द्वन्द्वं निरुपद्रवं	१३१	२३३
निर्मुक्तसंगनिकरं	१५८	२७२
निर्यापकाचार्य-	१२५	२२३
निर्वाणस्थे प्रहतदुरित-	३०१	४६७
निर्विकल्पे समाधौ	२०१	३२०
निर्वृतेन्द्रियलौल्यानां	२३५	३५८
निश्चयरूपां समिति	८४	१५७
नि:शेषदोषदूरं	२२३	३४६
नीत्वास्तान्	१०२	१७६
प		
पदार्थरत्नाभरणं	५२	९३
पद्मप्रभाभिधानो	३०९	४८०
परपरिणतिदूरे	४२	७६
परब्रह्मण्यनुष्ठान-	८५	१५३
परिग्रहाग्रहं मुक्त्वा	१९	३८
पश्यत्यात्मा सहज-	२८२	४३५
पंचसंसारनिर्मुक्तान्	२९५	४५६
पंचास्तिकायषड्द्रव्य-	७	८
पुद्गलोऽचेतनो जीव-	४४	७८
प्रतीतिगोचरा: सर्वे	४९	८७
प्रत्याख्यानं भवति	१४५	२५८
प्रत्याख्यानाद्भवति	१४७	२६०
प्रध्वस्तपंचबाणस्य	२४८	३७८
प्रनष्टदुरितोत्करं	१५१	२६२
प्रपद्येऽहं सदाशुद्ध-	१६६	२८०
प्रागेव शुद्धता येषां	७१	१२६
प्रायश्चित्तमुक्त-	१८१	३९४
प्रायश्चित्तं न पुन-	१८९	३०६
प्रायश्चित्तं भवति	१८०	२९२
प्रायश्चित्तं ह्युत्तमाना-	१८५	३०३
प्रीत्यप्रीतिविमुक्त	५५	९९
प्रेक्षावद्भि: सहज-	१३३	२३५

	कलश	पृष्ठ
ब		
बन्धच्छेदादतुल-	२९४	४५६
बन्धच्छेदाद्भगवति	३०२	४६९
बहिरात्मान्तरात्मेति	२६१	३९२
भ		
भवति तनुविभूतिः	७९	१४५
भवभयभेदिनि भगवति	१२	१९
भवभवसुखदुःखं	२९८	४६२
भवभवसुखमल्पं	१९७	३१४
भवभोगपराङ्मुख	६५	११७
भविनां भवसुखविमुखं	१०६	१८२
भविनि भवगुणाः स्युः	३५	५६
भवसंभवविषभूरुह-	१९९	३१६
भव्यः समस्त-	१०९	१९१
भावकर्मनिरोधेन	३१	५४
भावाः पंच भवन्ति	२९७	४६०
भाविकालभव-	१४३	२५७
भीति विहाय पशुभि-	२६६	४०१
भुक्त्वा भक्तं	८६	१५६
भेदवादाः कदाचित्स्यु-	१९४	३११
भेदाभावे सतीयं	२२९	३५४
म		
मत्स्वान्तं मयि	१३०	२३२
मदननगसुरेशः	१००	१७३
मम सहजसुदृष्टौ	१३५	२४१
महानंदानंदो	१४६	२५९
मुक्तः कदापि	१६५	२८०
मुक्तयङ्गनालि-	१४०	२५३
मुक्त्वा कायविकारं	९३	१६६
मुक्त्वा जल्पं	२५९	३९०
मुक्त्वानाचारमुच्चै-	११४	२०२
मुक्त्वा भव्यो वचनरचनां	२६३	३९६
मुक्त्वा मोहंकनक-	२७१	४१०
मोक्षे मोक्षं जयति	२१	३९
मोक्षोपायो भवति	११	१८
य		
यद्येवं चरणं निजात्म	२५५	३८३
यस्मिन् ब्रह्मण्यनुपम-	३००	४६५
यस्य प्रतिक्रमणमेव	१२६	२२३
यः कर्मशमनिकरं	३३	५५
यः शुद्धात्मज्ञान-	१८३	३०१
यः शुद्धात्मन्यविचल-	१९०	३०८
यः सर्वकर्मविषभू-	५७	१०२
यावच्चिन्तास्ति जन्तूनां	२४६	३७६
यावत्सदा गतिपथे	३११	४८०
ये मर्त्यदैवनिकुरम्ब-	२२६	३४८
ये लोकाग्रनिवासिनो	२२४	३४७
योगी कश्चित्स्वहित-	२३९	३६६
योगी नित्यं सहज-	२५८	३८८
यो नैव पश्यति जगत्त्रय	२८४	४३९
र		
रत्नत्रयमयान् शुद्धान्	१०५	१८०
रागद्वेषपरंपरापरिणतं	२३४	३५८
रागद्वेषौ विकृतिमिह	२१३	३३२
ल		
ललितललितं	१५	२९
लोकालोकनिकेतनं	३०७	४७६
व		
वक्तिव्यक्तं	७७	१४२
वचनरचनां त्यक्त्वा	१९१	३१०
वर्तनाहेतुरेषः स्यात्	४८	८७
वर्तेतेज्ञानदृष्टी	२७३	४१९
वाचं वाचंयमीन्द्राणां	२	४
विकल्पो जीवानां	२६७	४०४
विकल्पोपन्यासै-	२०८	३२७
विजितजन्म-	१७९	२८९
विषयसुखविरक्ताः	११५	२०४
वृषभादिवीरपश्चिम-	२३२	३५८
व्यवहरणनयेन	१०१	१७५
व्यवहरणनयेन	२८०	४३१
व्यवहारनयस्येत्थं	२२२	३४६
श		
शतमखशतपूज्यः	१३	२४
शल्यत्रयं परित्यज्य	११६	२०६
शस्ताशस्तमनो-	९४	१६७
शस्ताशस्तसमस्त-	२०	३८
शीलमपवर्गयोषिद-	१०७	१८४
शुक्लध्यानप्रदीपोऽयं	१२४	२२१
शुक्लध्याने परिणतमतिः	२१९	३४०

	कलश	पृष्ठ
शुद्धनिश्चयनयेन	७३	१३१
शुद्धं तत्त्वं	१७३	२८६
शुद्धात्मानं निजसुख-	१५७	२७१
शुद्धाशुद्धविकल्पना	७२	१२८
ष		
षट्कापक्रमयुक्तानां	२९३	४५५
स		
सकलकरणग्रामा-	१०४	१७८
सद्बोधपोतमधिरुह्य	२७४	४१९
सद्बोधमंडनमिदं	१२०	२११
समयनिमिषकाष्ठा	४७	८४
समयसार-	६६	११७
समाधिना	२००	३१८
समितिरिह यतीनां	८८	१६०
समितिषुसमीतीयं	८७	१५८
समितिसमितिं	८९	१६१
समितिसंहतितः	९०	१६१
सम्यक्त्वेऽस्मिन्	२२०	३४४
सम्यग्दृष्टिस्त्यजति	१२७	२२७
समयग्वर्ती त्रिभुवनगुरुः	२८३	४३७
सर्वज्ञवीतरागस्य	२५३	३८१
सहजज्ञानसाम्राज्य-	२२	२०३
सहजपरमं तत्त्वं	१७७	२८८
संज्ञानभावपरिमुक्त-	३२	५५
संसारघोर-	१६४	२७९
सानन्दं तत्त्वमज्ज	१७४	२८६
सिद्धान्तोद्घश्रीधवं	३	५
सुकविजनपयोजा	३०८	४७९
सुकृतमपि समस्तं	५९	१०६
सुखं दुःख योनौ	२०९	३२८
स्कन्धैस्तैः षट्प्रकारैः	३९	७०
स्मरकरिमृगराजः	९७	१७२
स्वतःसिद्धं ज्ञानं	२१६	३३६
स्वर्गे वास्मिन्मनुज-	२८	५०
स्ववशयोगि-	२५०	३७९
स्ववशस्य मुनिन्द्रस्य	२५७	३८५
स्वस्वरूपस्थितान्	१०३	१७६
स्वात्माराधनया पुराण-	२७०	४१०
ह		
हित्वा भीतिं पशुजनकृतां	२६५	४०१

धर्म विज्ञान का विरोधी नहीं, किन्तु मार्गदर्शक है। धर्म के मार्गदर्शन में चलनेवाले विज्ञान का विकास विनाश नहीं, निर्माण करेगा। घोड़ा और घुड़सवार एक-दूसरे के प्रतिद्वन्दी नहीं, पूरक हैं; घुड़दौड़ में दौड़ेगा तो घोड़ा ही, जीतेगा भी घोड़ा ही, पर घुड़सवार के मार्गदर्शन बिना घोड़े का जीतना संभव नहीं। दौड़ना तो घोड़े को ही है, पर कहाँ दौड़ना, कब दौड़ना, कैसे दौड़ना ? ह्न इस सबका निर्णय घोड़ा नहीं, घुड़सवार करेगा। योग्य घुड़सवार के बिना घोड़ा उपद्रव ही करेगा, महावत के बिना हाथी विनाश ही करेगा, निर्माण नहीं। जिसप्रकार घोड़े को घुड़सवार और हाथी को महावत के मार्गदर्शन की आवश्यकता है, उसीप्रकार विज्ञान को धर्म के मार्गदर्शन की आवश्यकता है, किन्तु दुर्भाग्य से आज धर्म को अपनी उपयोगिता और आवश्यकता की सिद्धि के लिए विज्ञान का सहारा लेना पड़ रहा है।

जो कुछ भी, यदि हमें सुख और शान्ति चाहिए तो धर्म को अपने जीवन का अंग बनाना ही होगा।

ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-२६-२७

उद्धृत गाथा व श्लोकों की वर्णानुक्रम सूची

अ		
अनवरतमनन्तै	४०	१९८
अन्यूनमनतिरिक्तं	५	२९
अभिमतफलसिद्ध-	२	२३
अलमलमतिजल्पै-	३८	१९६
अस्मिन्ननादिनि	९	६६
अहिंसा भूतानां	२७	१४०
आ		
आचारश्च तदेवैकं	५३	२४०
आत्मकार्यं परित्यज्य	६७	३७६
आत्मप्रयत्नसापेक्षा	६५	३५२
आत्मा धर्मः	६६	३६३
आत्मा भिन्न-	२३	१२४
आलोच्य सर्वमेनः	५९	२५५
आसंसारात्प्रतिपद-	८६	४६०
इ		
इत्युच्छेदात्परपरिणतेः	२२	१२०
इत्येवं चरणं	४१	२०४
उ		
उत्सृज्य कायकर्माणि	३४	१६९
उभयनयविरोध-	६	५९
ए		
एकस्त्वमाविशसि	५५	२४५
एयरसवण्णगंधं	१२	७४
एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं	३३	१६४
क		
कालाभावेन भावानां	१७	८६
कांत्यैव स्नपयंति	४	२६
कुसूलगर्भ-	३६	१८३
केवलज्ञानदृक्सौख्य-	४८	२२९
ग		
गिरिगहनगुहा-	६४	३२१
च		
चक्रंविहाय निज-	६१	२९७
चिच्छक्तिव्याप्त-	२०	११०
चित्तस्थमप्यनव-	६०	२९६
ज		
जघन्यमध्यमोत्कृष्ट-	७०	३८७
जयति विजितदोषो-	७९	४३०
जस्स अणेसणमप्पा	३१	१५५
जं पेच्छदो अमुत्तं	८०	४३६
जानन्नप्येष विश्वं	७७	४२३
ज्वरजननजराणां	८७	४६५
ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा	८२	४४४
ज्ञानाद्भिन्नो न नाभिन्नो	७८	४२६
ठ		
ठाणणिसेज्जविहारा	८५	४५३
ण		
ण वि परिणमदि ण	८४	४४८
णाणं अत्थंतगयं	७५	४१८
णाणं अव्विदिरित्तं	८३	४४५
णिद्धत्तणेण दुगुणो	११	७०
णिद्धा वा लुक्खा वा	१०	७०
णोकम्मकम्महारो	३०	१५५
त		
तदेकं परमं ज्ञानं	५१	२४०
तेजो दिट्ठी णाणं	३	२५
द		
दर्शनं निश्चयः पुंसि	२६	१३७
दंसणपुव्वं णाणं	७६	४१८
द्रव्यानुसारि चरणं	५६	२५१
न		
नमस्यं च तदेवैकं	५२	२४०
न हि विदधति	१८	१०१
निषिद्धं सर्वस्मिन्	५०	२३७
निष्क्रियं करणातीतं	४२	२१०
प		
पडिकमणं पडिसरणं	४४	२१८
परियट्टणं च वायण	७२	३९६
पंचाचारपरान्नकिंचन-	३५	१७८
पुढवी जलं च छाया	७	६६
प्रत्याख्याय भविष्य-	४७	२२७

ब		
बन्धच्छेदात्कलयदतुलं	७४	४१५
बहिरात्मान्तरात्मेति	६९	३८७
भ		
भावयामि भवावर्ते	४३	२१३
भेदविज्ञानत: सिद्धा:	३७	१९३
भेयं मायामहागर्ता-	६२	२९८
म		
मज्झं परिग्गहो जदि	२८	१४६
मुक्त्वालसत्व-	५७	२५३
मोहविलासविजृम्भित-	५८	२५५
य		
यथावद्वस्तुनिर्णीति:	७३	४१४
यत्र प्रतिक्रमणमेव	४५	२१८
यदग्राह्यं न गृह्णाति	४९	२३१
यदि चलति कथञ्चि-	६८	३८३
यमनियमनितान्त:	३२	१५६
ल		
लोयायासपदेसे	१६	८६
व		
वनचरभयाद्धावन्	६३	२९८
वसुधान्त्यचतु:स्पर्शेषु	१३	७४
व्यवहरणनय: स्या-	२४	१३०
स		
सकलमपि विहाया-	१९	१०९
समओ णिमिसो कट्ठा	१४	८४
समओ दु अप्पदेसो	१५	८६
समधिगतसमस्ता:	२९	१५२
सव्वे भावे जह्मा	४६	२२६
संसिद्धिराधसिद्धं	३९	१९८
सिद्धान्तोऽयमुदात्त-	२५	१३२
सो धम्मो जत्थ दया	१	२२
स्थितिजननिरोधलक्षणं	८१	४४१
स्थूलस्थूलास्तत:	८	६६
स्वयं कर्म करोत्यात्मा	५४	२४४
स्वरनिकरविसर्ग-	२१	११४
स्वेच्छासमुच्छलद-	७१	३८९

वस्तु तो पर से निरपेक्ष ही है। उसे अपने गुण-धर्मों को धारण करने में किसी पर की अपेक्षा रंचमात्र भी नहीं है। उसमें नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता आदि सब धर्म एक साथ विद्यमान रहते हैं। द्रव्यदृष्टि से वस्तु जिस समय नित्य है, पर्याय दृष्टि से उसी समय अनित्य भी है, वाणी से जब नित्यता का कथन किया जायेगा, तब अनित्यता का कथन सम्भव नहीं है।

अत: जब हम वस्तु की नित्यता का प्रतिपादन करेंगे, तब श्रोता यह समझ सकता है कि वस्तु नित्य ही है, अनित्य नहीं। अत: हम 'किसी अपेक्षा नित्य भी हैं,' ऐसा कहते हैं। ऐसा कहने से उसके ज्ञान में यह बात सहज आ जावेगी कि किसी अपेक्षा अनित्य भी है। भले ही वाणी के असामर्थ्य के कारण वह बात कही नहीं जा रही है।

अत: वाणी में स्याद्-पद का प्रयोग आवश्यक है, स्याद्-पद अविवक्षित धर्मों को गौण करता है, पर अभाव नहीं। उसके प्रयोग बिना अभाव का भ्रम उत्पन्न हो सकता है।

ह्न तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-१४४

श्रीमद् पद्मप्रभमलधारिदेवकृत तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका सहित

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत

नियमसार

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत

(गाथाओं और कलशों के हिन्दी पद्यानुवाद सहित)

आत्मप्रबोधिनी

हिन्दी टीका

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५ (राज.)

फोन : ०१४१-२७०७४५८, २७०५५८१ फैक्स : २७०४१२७

प्रथम संस्करण : २ हजार
(१३ नवम्बर २०१२, भगवान महावीर निर्वाणोत्सव)

लागत मूल्य : **१०५ रुपये**
विक्रय मूल्य : **५० रुपये**

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

विषयानुक्रमणिका

१.	**जीव अधिकार** (गाथा १ से गाथा १९ तक)	३
२.	**अजीव अधिकार** (गाथा २० से गाथा ३७ तक)	६२
३.	**शुद्धभाव अधिकार** (गाथा ३८ से गाथा ५५ तक)	९६
४.	**व्यवहारचारित्र अधिकार** (गाथा ५६ से गाथा ७६ तक)	१३९
५.	**परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार** (गाथा ७७ से गाथा ९४ तक)	१८६
६.	**निश्चयप्रत्याख्यान अधिकार** (गाथा ९५ से गाथा १०६ तक)	२२५
७.	**परम आलोचना अधिकार** (गाथा १०७ से गाथा ११२ तक)	२६४
८.	**शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त अधिकार** (गाथा ११३ से गाथा १२७ तक)	२९१
९.	**परमसमाधि अधिकार** (गाथा १२२ से गाथा १३३ तक)	३१७
१०.	**परमभक्ति अधिकार** (गाथा १३४ से गाथा १४० तक)	३४३
११.	**निश्चयपरमावश्यक अधिकार** (गाथा १४१ से गाथा १५९ तक)	३६२
१२.	**शुद्धोपयोग अधिकार** (गाथा १५९ से गाथा १८७ तक)	४१२
	गाथानुक्रमणिका	४८२
	छन्दानुक्रमणिका	४८५
	उद्धृत गाथा व श्लोकों की वर्णानुक्रम सूची	४९०

प्रकाशकीय

समयसार की डॉ. भारिल्ल कृत ज्ञायकभावप्रबोधिनी हिन्दी टीका एवं प्रवचनसार की ज्ञानज्ञेय-प्रबोधिनी हिन्दी टीका के प्रकाशनोपरान्त अब यह नियमसार की आत्मप्रबोधिनी हिन्दी टीका प्रस्तुत करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

डॉ. भारिल्ल जितने कुशल प्रवक्ता हैं, लेखन के क्षेत्र में भी उनका कोई सानी नहीं है। यही कारण है कि आज उनके साहित्य की देश की प्रमुख आठ भाषाओं में लगभग ४५ लाख से अधिक प्रतियाँ प्रकाशित होकर जन-जन तक पहुँच चुकी हैं। आपने अबतक ७८ कृतियों के माध्यम से साढे तेरह हजार (१३,५००) पृष्ठ लिखे हैं और लगभग १५ हजार पृष्ठों का सम्पादन किया है, जो सभी प्रकाशित हैं। आपकी प्रकाशित कृतियों की सूची इसमें यथास्थान दी गई है।

प्रात:स्मरणीय आचार्य कुन्दकुन्द के पंच परमागम ह्न समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय और अष्टपाहुड़ आदि ग्रंथों पर आपका विशेषाधिकार है। आपके द्वारा लिखित और पाँच भागों में २२६१ पृष्ठों में प्रकाशित समयसार अनुशीलन के अतिरिक्त ४०० पृष्ठों का समयसार का सार व ६३८ पृष्ठों की समयसार की ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका जन-जन तक पहुँच चुकी है।

इसीप्रकार १२५३ पृष्ठों का प्रवचनसार अनुशीलन तीन भागों में, ४०७ पृष्ठों का प्रवचनसार का सार एवं ५७२ पृष्ठों की प्रवचनसार की ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी टीका भी प्रकाशित होकर आत्मार्थी जगत में धूम मचा चुकी हैं।

नियमसार अनुशीलन तीनों भागों में ९१८ पृष्ठों में तथा ५०० पृष्ठों की नियमसार ग्रंथ की प्रस्तुत आत्मप्रबोधिनी टीका ह्न इसप्रकार कुन्दकुन्दाचार्य की अमरकृति समयसार, प्रवचनसार और नियमसार पर ही आप कुल मिलाकर ७१४९ पृष्ठ लिख चुके हैं।

डॉ. भारिल्ल ने आजतक जिन भी विषयों पर अपनी लेखनी चलाई है, उसे न केवल मुमुक्षु समाज अपितु सम्पूर्ण जैन समाज ने हाथों-हाथ लिया है। डॉ. भारिल्ल कृत समयसार की ज्ञायकभावप्रबोधिनी हिन्दी टीका और प्रवचनसार की ज्ञानज्ञेयप्रबोधिनी हिन्दी टीका का मुमुक्षु समाज में जो आदर हुआ, उससे प्रेरित होकर मैंने डॉ. भारिल्ल से कहा कि आपका नियमसार पर भी वैसा ही अधिकार है, जैसाकि समयसार एवं प्रवचनसार पर। अत: यदि आप समयसार एवं प्रवचनसार के समान ही नियमसार की भी हिन्दी भाषा में सरल और सुबोध एक टीका लिखें तो मुमुक्षु समाज का बहुत उपकार होगा। मुझे प्रसन्नता है कि डॉ. भारिल्ल ने मेरे द्वारा बार-बार अनुरोध किये जाने पर नियमसार ग्रंथाधिराज पर हिन्दी टीका लिखना स्वीकार कर लिया; परिणामस्वरूप आज यह **आत्मप्रबोधिनी** हिन्दी टीका आपके करकमलों में प्रस्तुत है।

इस टीका में कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं; जो इसे अन्य टीकाओं से पृथक् स्थापित करती हैं और उन टीकाओं के रहते हुए भी इसकी आवश्यकता और उपयोगिता को रेखांकित करती हैं।

आत्मप्रबोधिनी टीका की विशेषताएँ इसप्रकार हैं ह्न

१. भाषा सरल, सहज, सुलभ, स्पष्ट भाववाही है।

२. मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कृत तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका का अनुवाद शब्दश: न देकर भावानुवाद दिया गया है; जिससे विषयवस्तु को समझने में पाठकों को विशेष लाभ होगा।

३. गाथा एवं कलशों का पद्यानुवाद भी सरस है, पद्य भी गद्य जैसा ही है, अन्वय लगाने की आवश्यकता नहीं है।

४. टीका, गाथा एवं कलशों के भाव को व्यक्त करनेवाला हिन्दी टीकाकार का विशेष स्पष्टीकरण मूल ग्रंथ के प्राणभूत विषय को स्पष्ट करने में पूर्णत: समर्थ है।

५. महत्त्वपूर्ण गाथाओं का भाव विस्तार से सोदाहरण समझाया गया है।

६. टीका में उद्धृत गाथाएँ एवं श्लोकों का संदर्भ देकर पद्यानुवाद भी दिया है।

७. इस ग्रन्थ की ऐसी कोई हिन्दी, गुजराती, मराठी और कन्नड़ टीका उपलब्ध नहीं है, जिसमें टीकाकार द्वारा ही किया गया गाथाओं और कलशों का पद्यानुवाद दिया गया हो; पर इस टीका में टीकाकार द्वारा ही किया गया गाथाओं और कलशों का हिन्दी पद्यानुवाद दिया गया है।

८. सरलता इसकी सबसे बड़ी विशेषता है, जिसके कारण साधारण से साधारण अनभ्यासी पाठकों का भी प्रवेश नियमसार और तात्पर्यवृत्ति टीका में सहज हो जायेगा।

९. लागत मूल्य १०५/- होने पर भी दातारों के सहयोग से ५०/- में जितनी चाहे, उतनी संख्या में सर्वत्र सहज उपलब्ध होना भी एक ऐसा कारण है कि जिसके कारण यह कृति प्रत्येक मंदिर में प्रतिदिन के स्वाध्याय में रखी जावेगी और न केवल वक्ता के हाथ में, अपितु प्रत्येक श्रोता के हाथ में भी यह उपलब्ध रहेगी।

इसके अतिरिक्त प्रस्तावना के रूप में ग्रन्थ और ग्रन्थकार का विस्तृत परिचय भी डॉ. भारिल्ल ने स्वयं लिखा है। मैं एक छोटी सी बात लिखने में भी गौरव का अनुभव करता हूँ कि मैं डॉ. भारिल्ल की प्रत्येक कृति का अध्ययन प्रकाशन से पूर्व ही कर लेता हूँ। इस नियमसार की आत्मप्रबोधिनी टीका को भी मैंने प्रकाशन से पूर्व सूक्ष्मता से अनेक बार स्वयं पढा है।

इस ग्रंथ के बाह्य सौन्दर्य को बढाने के लिए भी हमने ७ प्रकार के जिन टाइपों का प्रयोग किया है; वे इसप्रकार हैं ह्न १. मूल गाथा एकदम बड़े-बड़े टाइप में दी है। २. गाथा की संस्कृत छाया का टाइप अलग है। ३. गाथा के अर्थ के लिए बोल्ड-इटैलिक टाइप का प्रयोग किया है। ४. गाथा पद्यानुवाद भिन्न-भिन्न प्रकार के टाइप में है। ५. मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेवकृत तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका का टाइप अपने में स्वतंत्र है। ६. तात्पर्यवृत्ति के संस्कृत गद्य का हिन्दी अनुवाद का टाइप स्वतंत्र है। ७. हिन्दी टीकाकार डॉ. भारिल्ल के विवेचन का टाइप तो अलग है ही, उसमें भी जो भाग अति महत्त्वपूर्ण है, उसे और भी भिन्न तथापि बड़े अक्षरों में देने का प्रयास किया गया है।

इतनी सशक्त, सरल, सुबोध और सार्थक टीका की रचना के लिए हिन्दी टीकाकार डॉ. भारिल्ल; सुन्दरतम प्रकाशन के लिए प्रकाशन विभाग के प्रभारी अखिल बंसल; शुद्ध मुद्रण, कम्पोजिंग और सेटिंग के लिए दिनेश शास्त्री और लगभग आधी से भी कम कीमत में उपलब्ध कराने वाले आर्थिक सहयोगियों के हम हृदय से आभारी हैं और सभी को कोटिश: धन्यवाद देते हैं।

जिनवाणी के सार नियमसार का हार्द समझने में यह कृति अत्यन्त उपयोगी है। हमें विश्वास है कि पाठकगण नियमसार की विषयवस्तु को समझने के लिए इस कृति का भरपूर उपयोग अवश्य करेंगे।

१३ नवम्बर २०१२ ई. **ह्न ब्र. यशपाल जैन एम.ए.**

(महावीर निर्वाणोत्सव) प्रकाशन मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (राज.)

डॉ. भारिल्ल के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. समयसार : ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका	५०.००
२-६. समयसार अनुशीलन भाग १ से ५	११०.००
७. समयसार का सार	३०.००
८. गाथा समयसार	१०.००
९. प्रवचनसार : ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी टीका	५०.००
१०-१२. प्रवचनसार अनुशीलन भाग १ से ३	९५.००
१३. प्रवचनसार का सार	३०.००
१४. नियमसार : आत्मप्रबोधिनी टीका	५०.००
१५-१७. नियमसार अनुशीलन भाग १ से ३	७०.००
१८. छहढाला का सार	१५.००
१९. मोक्षमार्गप्रकाशक का सार	३०.००
२०. ४७ शक्तियाँ और ४७ नय	८.००
२१. पंडित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व	२०.००
२२. परमभावप्रकाशक नयचक्र	२०.००
२३. चिन्तन की गहराइयाँ	३०.००
२४. तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	२०.००
२५. धर्म के दशलक्षण	१६.००
२६. क्रमबद्धपर्याय	१५.००
२७. बिखरे मोती	१६.००
२८. सत्य की खोज	२५.००
२९. अध्यात्म नवनीत	१५.००
३०. आप कुछ भी कहो	१२.००
३१. आत्मा ही है शरण	१५.००
३२. सुक्ति-सुधा	१८.००
३३. बारह भावना : एक अनुशीलन	१६.००
३४. दृष्टि का विषय	१०.००
३५. गागर में सागर	७.००
३६. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	१२.००
३७. णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन	११.००
३८. रक्षाबन्धन और दीपावली	५.००
३९. आचार्य कुंदकुंद और उनके पंचपरमागम	५.००
४०. युगपुरुष कानजीस्वामी	५.००
४१. वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	१५.००
४२. मैं कौन हूँ	७.००
४३. रहस्य : रहस्यपूर्ण चिट्ठी का	१०.००
४४. निमित्तोपादान	३.५०
४५. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	५.००
४६. मैं स्वयं भगवान हूँ	४.००
४७. ध्यान का स्वरूप	४.००
४८. रीति-नीति	३.००
४९. शाकाहार	३.००
५०. भगवान ऋषभदेव	४.००
५१. तीर्थंकर भगवान महावीर	३.००
५२. चैतन्य चमत्कार	४.००
५३. गोली का जवाब गाली से भी नहीं	२.००
५४. गोम्मटेश्वर बाहुबली	२.००
५५. वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	२.००
५६. अनेकान्त और स्याद्वाद	२.००
५७. शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर	५.००
५८. बिन्दु में सिन्धु	२.५०
५९. जिनवरस्य नयचक्रम्	१०.००
६०. पश्चात्ताप खण्डकाव्य	७.००
६१. बारह भावना एवं जिनेन्द्र वंदना	२.००
६२. कुंदकुंदशतक पद्यानुवाद	२.५०
६३. शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद	१.००
६४. समयसार पद्यानुवाद	३.००
६५. योगसार पद्यानुवाद	०.५०
६६. समयसार कलश पद्यानुवाद	३.००
६७. प्रवचनसार पद्यानुवाद	३.००
६८. द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद	१.००
६९. अष्टपाहुड़ पद्यानुवाद	३.००
७०. नियमसार पद्यानुवाद	२.५०
७१. नियमसार कलश पद्यानुवाद	५.००
७२. अर्चना जेबी	१.५०
७३. कुंदकुंदशतक (अर्थ सहित)	५.००
७४. शुद्धात्मशतक (अर्थ सहित)	५.००
७५-७६. बालबोध पाठमाला भाग २ से ३	६.००
७७-७८. वीतराग विज्ञान पाठमाला भाग १ से ३	१२.००
७९-८०. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ से २	११.००

डॉ. भारिल्ल पर प्रकाशित साहित्य

१. तत्त्ववेत्ता डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल (अभिनंदन ग्रंथ)	१५०.००
२. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : व्यक्तित्व और कृतित्व - डॉ. महावीरप्रसाद जैन	३०.००
३. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल और उनका कथा साहित्य ह्न अरुणकुमार जैन	१२.००
४. डॉ. भारिल्ल के साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन - अखिल जैन बंसल	२५.००
५. गुरु की दृष्टि में शिष्य	५.००
६. मनीषियों की दृष्टि में : डॉ. भारिल्ल	५.००

प्रकाशनाधीन

७. शिक्षाशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के शैक्षिक विचारों का समीक्षात्मक अध्ययन ह्न नीतू चौधरी

८. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के साहित्य का समालोचनात्मक अनुशीलन ह्न सीमा जैन

९. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व ह्न शिखरचन्द जैन

१०. धर्म के दशलक्षण एक अनुशीलन ह्न ममता गुप्ता